प्रसाद वाङ्मय

(रचनावली)

द्वितीय खण्ड

पुण्यश्लोक श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' के वाङ्मय का नाटक भाग

समायोजन एवम् सम्पादन

श्री रत्नशङ्कर प्रसाद

प्रसाद न्यास के तत्त्वावधान मे

प्रसाद प्रकाशन

प्रसाद मन्दिर, गोवर्द्धनसराय, वाराणसी के द्वारा प्रकाशित

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' का समग्र नाटक साहित्य
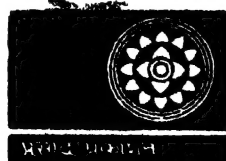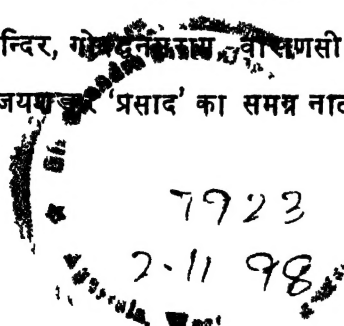
प्रसाद जन्मशती संवत्सर में संकलित

समस्त पाँचों खण्डों का सम्मिलित मूल्य सात सौ पचास रुपये मात्र

श्रीगोविन्ददास माहेश्वरी के द्वारा श्री माहेश्वरी प्रेस, भाट की गली,
गोलघर, वाराणसी में मुद्रित

अनुक्रमणी एवं अन्य विवरण

●

पुरोवाक्

प्रसाद वाङ्मय के इस द्वितीय खण्ड (नाटक भाग) में भी पूर्ववर्त्ती प्रथम खण्ड (काव्य भाग) के अनुसार नाटकों को काल-क्रमानुसार रखा गया है। करुणालय और राज्यश्री पहले 'इन्दु' में प्रकाशित हो चुके थे इसलिए क्रमानुसार उन पूर्व रूपों को भी यहाँ संकलित किया गया है। 'कल्याणी परिणय' का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका (अगस्त १९१२) में हुआ था, वहाँ से एकांकी संकलन 'अग्निमित्र' में उद्धृत किया गया है। इसे उसी रूप में रखा गया है। यह कल्याणी परिणय 'चन्द्रगुप्त' नाटक के अंगभूत हो गया (किंचित परिवर्तन पूर्वक)। किन्तु, शिल्प-विकास पर मनन के लिए इसको मूल रूप में रखना आवश्यक था। अतः कालानुरोधेन--सज्जन और प्रायश्चित्त के बाद इसे समावेशित किया गया है।

इन तीन नाटकों के बाद उस राज्यश्री का प्रणयन हुआ जिसे पूज्य पिताश्री ने अपना प्रथम ऐतिहासिक नाटक बताया है। सज्जन और प्रायश्चित्त में भी यद्यपि इतिहास के चरित्र और उसकी घटनाएँ हैं किन्तु वे रूपक—शिक्षा प्रधान है इसलिए अपने ऐतिहासिक नाटकों में उन्हें नही माना। इतिहास की वस्तुता उनकी दृष्टि मे भिन्न थीं—जिसका उल्लेख आगे यथास्थल होगा। 'सज्जन' का कथानक पाण्डवों के बनवास से संबंधित है। जिसमें उनकी हत्या के उद्देश्य से आये दुर्योधन, कर्ण आदि का गंधर्व राज चित्रसेन से युद्ध होता है कौरव पक्ष परास्त होकर बन्दी होता है। कौरवों का उद्देश्य ज्ञात होने पर भी युधिष्ठिर अर्जुन को आदेश देते हैं। तदनुसार अर्जुन और चित्रसेन कौरवों को बाँधकर युधिष्ठिर के सम्मुख लाते हैं : यह स्पष्ट होने पर भी कि वे पाण्डवों की हत्या के लिए वे आये थे—युधिष्ठिर उन्हें शिक्षा देकर मुक्त कराते हैं ; युधिष्ठिर में मानवीय गुण-धर्म के ऐसे उत्कर्ष ने उन्हें धर्मराज की पदवी दी—और, आगे चलकर 'यतोधर्मस्ततोजयः' अन्वित हुआ।

उसके पश्चात् 'प्रायश्चित्त' आता है। ये उभय नाटक इन्दु में प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें और 'चित्राधार' में संकलित इनके रूपों में अधिक अन्तर नही है अतः यत्र तत्र के पाठान्तर पादटिप्पणियों में संकेतित हैं। यद्यपि 'रासो' में पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गजनी ले जाया जाना और वहाँ उसका वध होना वर्णित है-- किन्तु ऐतिहासिक खोज ने तराइन के युद्ध में उसकी वीरगति को प्रमाणित किया। इस नाटक में उस ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है। 'ट्रैजेडी' को पश्चिम की ही वस्तु मानने के उपक्रम में लोग भारतीय मनीषा के दो आलोक स्तंभों—रामायण और

महाभारत से आँखे बन्द रखते है। हाँ, अभिनय देखने के बाद दर्शक के मन पर त्रास, भय और अवसाद की छाया न रहे इसका विचार यहाँ प्रमुख रहा। प्रायश्चित्त की वस्तुता भारत के जातीय पराभव के तीसरे आवर्त्त की देन है—और, वह आवर्त्त लेखन काल में भी विद्यमान रहा, जबकि राष्ट्रीयता अज्ञात हो गई थी और सांस्कृतिक वर्चस्व उपहृत हो गया था—'प्रायश्चित्त' का आशय पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना है।

इन्हीं तीन नाटकों के उपरान्त राज्यश्री का प्रणयन हुआ और ऐतिहासिक नाटकों की शृंखला चली—यद्यपि, इसी बीच दो आन्यापदेशिक (ऐलिगरिकल) नाटक 'कामना' और 'एक घूंट' भी लिखित हैं। इनमें समाज की वे ऐतिहासिक फल श्रुतियाँ हैं जिनकी वस्तुता कामना के अर्थान्ध समाज के चित्र में है और वैसे समाज के खोखलेपन पर 'एक घूंट' व्यंग करता है।

राज्यश्री में उस जातीय पराभव के दूसरे आवर्त्त के दृश्य है जो शकों हूणों के आक्रमण मे प्रथित हुआ था। पहला आवर्त्त सिकन्दर के आक्रमण से चला किन्तु वह अधिक समय नही टिका। राज्यश्री में राष्ट्रीयता और शौर्य के साथ ही त्याग एवं तितिक्षा के मानवीय गुणों का भी उत्कर्ष है।

इसके पश्चात् 'विशाख' की रचना हुई जिसका कथानक राजतरंगिणी में वर्णित एक घटना है। किन्तु ऐतिहासिकता को ठीक रखने के लिए उस नाटक के 'परिचय' में कल्हण की उस भूल का सुधार किया गया है जो उन्होंने गोनर्दीय वंश की प्राचीनता दिखाने के लिए किया है।

अब, बुद्ध के जीवन काल के महाजनपदो के सन्धि विग्रह के निदर्शन करानेवाले 'अजातशत्रु' की रचना हुई। इसके 'कथा प्रसंग' मे इतिहास के प्रति लेखकीय दृष्टि मिलती है। इतिहास मे घटनाओं की पुनरावृत्ति के प्रसंग मे रूपक-दर्शन का मौलिक सूत्र वहां प्राप्त है। कथाप्रसंग का वह अंश यहाँ उद्धृत है—

'इतिहास मे घटनाओं की प्रायः पुनरावृत्ति देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नही कि कोई नई घटना होती ही नही, किन्तु असाधारण नई घटना भी भविष्यत् में फिर होने की आशा रखती है। मानव-समाज की कल्पना का भण्डार अक्षय है, क्योंकि वह 'इच्छा-शक्ति का विकास' है। इन कल्पनाओं का, इच्छाओं का मूल सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्फुट होता है। जब वह इच्छा-शक्ति किसी व्यक्ति या जाति मे केन्द्रीभूत होकर अपना सफल विकसित रूप धारण करती है, तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व मे कल्पना जब तक इयत्ता को नही प्राप्त होती तब तक वह रूप परिवर्त्तन करती हुई पुनरावृत्ति करती ही जाती है। मानव-समाज की अभिलाषा अनन्त-स्रोत वाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते-होते एक नई कल्पना उसका विरोध करने लगती है और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहर कर फिर होने के लिए अपना

क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव-समाज के इतिहास का इसी प्रकार संकलन होता है।' (कथाप्रसंग—अजातशत्रु)

इन उद्धृत पंक्तियों से इतिहास के प्रति वह लेखकीय दृष्टि स्पष्ट है जो इतिहास के पदार्थ-सत्य और उसकी प्रति-कल स्फुरत्ता—भावसत्य का युगपत् स्पर्श करती है। इसी दृष्टि के प्रतिफलन में - पदार्थ-सत्य का स्पर्श करने वाली पंक्ति 'कामायनी' में मिलती है—'युगों के चट्टानों पर सृष्टि डाल पद चिह्न चली गम्भीर' : तथा, भाव-सत्य के प्रकटीकरण में--कामायनी में—जहाँ मानव इतिहास का आदि विन्दु है, वे कहते हैं—'चेतना का सुन्दर इतिहास निखिल मानव भावों का सत्य, विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य'। यद्यपि यह प्रसंग अधिक विस्तार चाहता है, किन्तु, त्वरागत बाध्यतावशात् संक्षिप्त-सा एक इंगितमात्र आवश्यक रहा। प्रसंगवशात् एक संक्षिप्त टिप्पणी पृष्ठ ४२१–४२३ पर स्कन्दगुप्त के आरंभ मे दी गई है।

तत्पश्चात 'जनमेजय का नागयज्ञ' रचित हुआ। भारतीय इतिहास के ज्ञात विन्दु पर उसका कथानक अधिष्ठित है। इसके नायक (जनमेजय) के प्रपितामह अर्जुन को भारत-युद्ध में श्रीकृष्ण ने 'त्रैगुण्यो विषया वेदा: निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' के द्वारा वैदिक कर्म-काण्ड क प्रतिकूल जो मन्त्र दिया वह ज्ञाताज्ञात किसी भी कारण से जनमेजय के माध्यम से सिद्ध हुआ और अश्वमेध—जो राष्ट्रीय वर्चस्व का सर्वोच्च प्रतिमान था—सहसा एक राजाज्ञा के द्वारा समाप्त हो गया। किन्तु राष्ट्रीय वर्चस्व जब विदेशी आक्रमणों से हीन हो उठा तब शुंग-काल में पतंजलि की प्रेरणा से अश्वमेध का पुनरुद्धार हुआ : और, गुप्तों—भारशिवो ने उसका अनुसरण भी किया।

अब, ऐतिहासिक नाटकों के क्रम मे दो प्रमुख नाटक आते है—'स्कन्दगुप्त' जो लेखन की दृष्टि से 'कामायनी' का समकालीन है और भावदृष्टि से सजातीय भी है : तथा, वह 'चन्द्रगुप्त' है जिसका प्रकाशन १९३१ में हुआ किन्तु उस पर मनन-चिन्तन संवत् १९६६ अर्थात ईसवीय १९०८-९ से अग्रसर था। 'चन्द्रगुप्त' का कथानक भारत पर प्रथम विदेशी आक्रमण से सम्बन्धित है।

'सज्जन' के द्वारा आर्य जाति का उदात्त सामाजिक दर्शन द्योतित हुआ है, और 'प्रायश्चित' में आर्य जाति के पराभव के उस तीसरे आवर्त्त का चित्रण हुआ है जो आनुषंगिक हेतुओं के चलते अद्यापि आर्य-वर्चस्व को घर्षित करता सांस्कृतिक शून्यता का कारण बना है, उसी शून्य में आर्य-भाव और उसके रक्त का—मूल्य विलीन होता जा रहा है। इसके पूर्व पराभव का दूसरा आवर्त्त शक-हूण आक्रमण-काल में उठा और पहला आवर्त्त सिकन्दर के नेतृत्व वाले यवन (ग्रीक) आक्रमण के समय से प्रथित हुआ था। किन्तु उन दोनों आवर्त्तों में सांस्कृतिक क्षतियाँ उतनी न हो सकी क्योंकि आक्रामकों ने यहाँ की संस्कृति को यथाशक्य आत्मसात् करने की चेष्टा

की, यहाँ घुलमिल कर वे यहीं के हो गए। किन्तु, जातीय पराभव के इस तीसरे आवर्त्त की बात सर्वथा भिन्न है : तुर्क, मंगोल, तातार जातियों के आक्रामकों में दो प्रकार रहे। एक तो वे जो 'सोने की चिड़िया' के पंख नोच कर ले भागे, उन्होंने साम्पत्तिक क्षतियाँ ही पहुचाईं : दूसरे वे रहे जिन्होंने यहाँ रहकर शासन करने की बात निश्चित कर ली थी, उनके लिए सम्पदा के आहरण के साथ-साथ अपने जीवन-दर्शन को आरोपित करने के लिए शस्य-श्यामला भारत-भूमि को वैसा मरुकान्तार बनाना आवश्यक हो गया जहाँ उनके जीवन-दर्शन की उत्पत्ति हुई थी। फिर तो सांस्कृतिक प्रदूषण ही नही विनाश भी अवश्यंभावी बन गया। 'प्रायश्चित्त' के नायक जयचन्द और अनुनायक मुहम्मदगोरी का द्वन्द्व एक कार्य भी है और कारण भी —वैसा कारण जो निरन्तर कार्यशील बना है।

ज्ञातव्य होगा कि प्रायश्चित्त मे उठा प्रश्न अन्य नाटकों में अपना समाधान खोजता-उकेरता चल रहा है। यह खोज ही इस समग्र नाट्य-रचना-समुच्चय को प्रासंगिक बनाए हैं : यही नही अपितु वे दो नाटक--'कामना' तथा 'एक घूंट' भी जिन्हें आन्यापदेशिक कहा जाता है, जो इतिहास से सीधा तात्पर्य नहीं रखते वे—आज और भी प्रासंगिक बने है। समाज ने अपनी जो अच्छी-बुरी उपलब्धियाँ अतीत को सौंप दीं—उनसे इतिहास का निर्माण हुआ। किन्तु, वर्तमान की भोग-दशा को उद्भावित करने वाले प्रश्नों पर जो लेखकीय दृष्टि है वह कितनी सार्वायुषी अथवा अधुनापि प्रासंगिक है—यह कामना एवं एक घूंट से भलीभाँति उजागर है। 'कामना' में जो अर्थ प्रमुखता का विकसित होता बिन्दु है वह अपने विकास की उग्रदशा में एक शून्य बन गया किंवा एक सामाजिक खोखलापन प्रस्तुत हो गया उसी खोखलेपन का व्यंग्यात्मक निदर्शन 'एक घूंट' कराता है। अस्तु।

पाँचवें ऐतिहासिक नाटक स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य और कामायनी का लेखन समकालीन है। उभय कृतियों का आरंभ ईसवीय १९२७ में हुआ। स्कन्दगुप्त उसी वर्ष पूरा होकर १९२८ में प्रकाशित हो गया किन्तु कामायनी आठ वर्षों के बाद पूरी हो सकी। इसके दो कारण रहे : प्रथम तो इसी के बीच अवान्तर लेखन, कंकाल समाप्त हो रहा था और तितली का लेखन भी उसी आठ वर्षों के अन्तराल की बात है। आँधी, इन्द्रजाल, आकाशदीप की कहानियाँ 'एक घूंट' और ध्रुवस्वामिनी की रचना लहर के गीत और निबन्ध ये सभी तो उसी अष्ट-वर्षीय अन्तराल की देन हैं : उनके जीवन के उस कालखण्ड को कामायनी युग कहना होगा। जिसमें चेतना के उच्च शिखर से चली काव्य सरस्वती के प्रखर वेग से इन रचनाओं की शाखा-सरिताएँ बन गईं।

अन्य कारण था उनके क्रमशः गिरते स्वास्थ्य का। किन्तु, प्रतीत होता है कि उनके ध्रुव संकल्प में भगीरथ का पुरुषार्थ और दधीचि का अस्थि-बल दोनों ही एकायन

रहे। अन्यथा, उन अवान्तर कृतियों के प्रकल्पन का सम्भार, क्षीण होता जा रहा स्वास्थ्य एवं पैतृक व्यवसाय को संभाले रहने की चिन्ता—इन सभी का सन्तुलन, समन्वयन और यथा-नियुक्त का नियोजन—कैसे शक्य था ? अस्तु। स्कन्दगुप्त और कामायनी में समस्वरता के स्थल सुधीजन देख सकते हैं।

स्कन्दगुप्त से सम्बन्धित दो शिलालेख महत्त्वपूर्ण हैं—एक जूनागढ़ का गुप्त संवत् १३६-१३३-१३८ (ईसवीय ४५५-४५८) का है जिसकी छठवीं पंक्ति में टंकित है 'स्वभुज जनितवीर्यो राजराजाधिराजः'. फिर आगे हैं 'पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्वात्मशक्त्या'। ज्ञातव्य है कि अपने पिता के जीवन काल में जब वह दक्षिणी मालव से पश्चिमी सौराष्ट्र पर्यन्त के क्षेत्र मे राज-प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त रहा तभी उसे पिता (कुमार गुप्त) के निधन और अनन्त देवी के षड्यन्त्र-पूर्वक अपनी माता के कारावास, पुरुगुप्त की हूणों से दुरभिसन्धि और मगध की दुरवस्था तथा चुपके-चुपके हूणों का बौद्ध स्थविरों की सहायता से उत्तरापथ मे दूर तक प्रवेश के—चिन्ता-जनक समाचार मिले और वह तत्काल मगध की ओर चल पड़ा। यदि उस समय वह यहाँ पहुँच कर हूण-निष्कासनार्थ युद्ध न करता तो पाटलिपुत्र का सिंहासन हूणों के वशवर्ती पुरगुप्त से हूणों के हाथ लगने मे बिलम्ब न होता। दूसरा भितरी (सैदपुर-गाजीपुर) का वह स्तंभ-लेख है जिसमें कहा गया है—'विचलित कुललक्ष्मी स्तंभनायोद्यतेन क्षितितल शयनीयेयेननीता त्रियामा'। फिर, 'हूणैर्यस्यसमागतस्य समरे दोर्म्या धरा कम्पिता' 'जितामितिपरितोषान्मातरं सास्र-नेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः' (ईसवीय ४५५-४६७)।

जूनागढ़ स्तम्भ-लेख के 'स्वभुजजनितवीर्यो राज राजाधिराजः' से स्पष्ट होता है कि मालव-अवन्ति-सौराष्ट्र के क्षेत्र मे अपने पुरुषार्थ से उसने शासन स्थापित किया था। किन्तु, उसी समय हूणों के कंटकशोधनार्थ उत्तरापथ को देखना पड़ा। भितरी का स्तम्भ हूण-प्रत्यावर्तन के स्थल की सूचना देता है। यही उसने यह संकल्प लिया कि जब तक भारत भूमि से हूणोच्छेद नही कर लूगा शयनासन, धातुपात्र, भृत्यसेवा आदि से विरत रहूँगा। इसीलिए चटाई पर सोनेवाले अपने हाथ से पीने का पानी तुम्बी में भरकर लानेवाले स्कन्दगुप्त का वर्णन है। उसने मगध में कुसुमपुर पहुंच कर अपनी माता का उद्धार किया, पुरगुप्त को अनुशासित किया और शासन व्यवस्था, सैन्यसंगठन करके हूणों से युद्ध करके उन्हें कुभा के पार कर दिया। उसका निधन ४६७ ईसवीय में बताया जाता है। जिसके पूर्व उसने चाँदी के सिक्के ढलवाए, जिसमें से एक सिक्के का उल्लेख एलेन के कैटलाग में पृष्ठ १२२ पर ४५१ संख्या के अन्तर्गत है। इसमें अंकित है—'परम भागवत-श्री विक्रमादित्य-स्कन्दगुप्तः'। दक्षिण मालव-अवन्ति-सौराष्ट्र के क्षेत्र की व्यवस्था में जब वह लगा था—उसके पूर्व पुष्यमित्रों का दलन हो गया था। मध्य भारत की यह एक गणशासित दुर्द्धर्ष जाति

थी। उसका सैन्य बल और अर्थ बल पुष्कल रहा। कुमार गुप्त के अन्तिम काल में वे सिर उठाने लगे थे इनके दमनार्थ स्कन्दगुप्त गए या भेजे गए थे। अनुभव सिक्त सेनानी पुष्यमित्र और उनके पुत्र चक्रपालित साथ रहे। उभय व्यक्ति ऐतिहासिक हैं जिनका उल्लेख सुदर्शन तटाक-ग्रन्थ में है जो जूनागढ़ प्रस्तर-अभिलेख में टंकित है।

इस प्रकार पाँचवें ऐतिहासिक नाटक की ऐतिहासिकता समृद्ध है। उसमें कवि कालिदास के सम्बन्ध में भी एक शोधपूर्ण उपपत्ति है (अवलोक्य स्कन्दगुप्त परिचय-प्रसाद वाङ्मय पंचम खण्ड) स्कन्दगुप्त में मातृगुप्त की आराध्या-प्रणायिनी को मालिनी कहा गया है। शारदादेश (कश्मीर—सतीसर) के म्लेच्छाक्रान्त होने से पूर्व प्रचलित वाङ्मय-व्यवहार दूषित हो गया था। मातृगुप्त कहते हैं—'संस्कृत को कोई पूछता नही'। इधर मातृगुप्त के श्रीनगर छोड़ देने के बाद उनकी आराध्या-प्रणियिनी अनाभृत—और प्रदूषित हो गई—उसके उज्वल मुख पर मलिन छाया पड़ गई। मालिनी तो कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व नही फिर मातृगुप्त की प्रणयिनी को मालिनी संज्ञा ही क्यों मिली ?

वर्णों की संहृति को वर्णमाला कहते हैं और वर्णों की प्राणसत्ता मातृकाओं मे निहित है सुतरां वाग्रूपा भगवती की आख्या मातृका-मालिनी है उसी का बोध मालिनी शब्द के द्वारा भी होता है। काश्मीरिक साधन परम्परा मे श्रीपूर्वशास्त्र अथवा पूर्वाम्नाय का विशिष्ट स्थान है उसमे वर्णमाला का क्रम भी सामान्य से कुछ भिन्न है 'नादि फान्ता च मालिनी' कहा गया है वर्णो का क्रम 'न' से आरम्भ होकर 'फ' पर समाप्त होता है। इसकी परम्परा को 'मालिनी मतम्' कहा गया है। यह उत्तर मालिनी क्रम है और पूर्व मालिनी क्रम वह है जो सामान्य व्यवहार की वर्णमाला है। उत्तर मालिनी की वर्ण व्यवस्था रहस्य साधन के न्यासक्रम मे और उसकी विशिष्ट शाखा मे ही व्यवहृत होती रही, सुतरां अन्यथा व्यवहार्य नही। मालिनी विजयोतरतन्त्र के परिचय मे विद्वान मधुसूदन कौल कहते हैं—"Malini is of greatest utility in infusing devine life into the practisers."

तब, क्या आश्चर्य कि मातृगुप्त पूर्वाम्नाय के साधक रहे हों। उनकी प्रखर प्रतिमा के मूल मे साधना का बल अवश्य निहित रहा अन्यथा वसुबन्धु के परमगुरु मनोरथ को शास्त्रार्थ में परास्त करना क्या शक्य था।

शारदा देश (काश्मीर) को जब हूणो ने पादाक्रांत कर दिया, ब्राह्मणों के विद्या-केन्द्र और साधकों के आश्रय मठों-मठिकाओं को उन्होने उजाड़ दिया, बौद्ध-विहारों को ध्वस्त कर दिया तब शारदा देश की संस्कृति की चिताएं—मठों और विहारों में जलने लगी। वहाँ से लोगों के सामूहिक पलायन हुए। मातृगुप्त का कथन है 'काश्मीर मंडल में हूणों का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत विद्या को कोई पूछने वाला नहीं। म्लेच्छाक्रान्त देश छोड़कर राजधानी में चला आया—काश्मीर, जन्मभूमि,

जिसकी धूल में लोटकर खड़े होना सीखा, जिसमें खेल खेलकर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु संगठित हुए थे वही छूट गया। और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न आह वही जो मेरे इस जीवन पथ का पाथेय रहा।' (स्कंदगुप्त प्रथम अंक तृतीय दृश्य)। 'मैं आज तक तुम्हें पूजता था तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाए रहा। मूर्ख मैं—आह मालिनी मेरे शून्य भाग्याकाश के मंदिर का द्वार खोल कर तुम्हीं ने उनीदी उषा के सदृश झांका था और मेरे भिखारी संसार पर स्वर्ण बिखेर दिया था—तुम्ही ने मालिनी।' (स्कन्दगुप्त चतुर्थ अंक तृतीय दृश्य)। स्कन्दगुप्त के द्वारा काश्मीर का शासक नियुक्त होकर लौटने पर—अपनी प्रदूषित-मालिनी को शारदा देश में पाने पर—मातृगुप्त का खिन्न होना स्वाभाविक रहा : किन्तु, इस पर भी उसने उद्बोधन-गीत गाया और देश को जगाया। आज भी यह स्कन्दगुप्त कितना और प्रासंगिक है—यह कहना न होगा। मातृगुप्त की प्रणयिनी को कोई और नाम भी मिल सकता था। कदाचित्, यहां परम्परा का स्पर्श रहस्यपूर्ण और कौशल से हुआ है। मातृगुप्त का यह प्रसंग इतिहास का पदार्थ पक्ष और चेतना का पक्ष उभय को युगपत स्पर्श कर रहा है।

इसके अनन्तर छठवाँ ऐतिहासिक नाटक वह चन्द्रगुप्त है जिस पर १९०८ ईसवीय से चिन्तन अग्रसर रहा। यद्यपि, इसका लेखन स्कन्दगुप्त से पहले हो चुका था। किन्तु, प्रकाशन संवत् १९८८ (ई० १९३१) मे हुआ। दो वर्ष पूर्व इसे प्रेस में दे दिया गया था। सरस्वती प्रेस की दशा भी कुछ ऐसी नही थी कि वह बड़े काम शीघ्र कर दे दैनंदिन व्यय छोटी-छोटी छपाइयों से चलते थे इसलिए उन्हें पहले करने की बाध्यता रहती थी। वहाँ से अन्यत्र चन्द्रगुप्त को देना भी संभव न था क्योंकि वह मुंशी प्रेमचन्द का प्रेस था जिनसे लेखक और प्रकाशक भारती भण्डार के स्वामी रायकृष्णदास के निजी सम्बन्ध रहे। टाइप कुछ विशिष्ट प्रकार के संभवतः मद्रास की नार्टन टाइप फाउण्ड्री से मंगाने की बात थी। यतः, टाइप थोड़े परिमाण में आवश्यकतानुसार प्रेस लेना चाहता था और फाउण्ड्री का कहना था कि इस प्रकार के टाइप के और आदेश आ जायंगे तब ढलाई होगी, इसी कारण वहां पाण्डुलिपि १९२९ से दो वर्षों तक अमुद्रित पड़ी रही और १९३१ के मध्य में छप सकी। लेखन में भी पर्याप्त समय लगा संभव है कुछ नए तथ्यों के उजागर होने की प्रतीक्षा रही हो। एक निबन्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य संवत् १९६६ में प्रकाशित हुआ था उसे प्रकाशकों ने 'मौर्यवंश' नाम से भूमिका के रूप में सम्मिलित कर लिया। निश्चय ही यदि चन्द्रगुप्त की कोई भूमिका लिखी गई होती तो वह कुछ भिन्न वस्तु होती।

चन्द्रगुप्त के पश्चात् ध्रुवस्वामिनी ई० १९३२ में लिखी गई— कलकत्ता-पुरी की यात्रा के बाद। वास्तविकता यह है कि कृतियों के अनेक प्राग्रूप अथवा उनके रेखांकन मनोमुकुर में मातृका-भूमि का स्पर्श करते रहते थे। अनुभूति-घट से

उच्छलित बिन्दु कालान्तर में विधानियत होते थे। कोई बिन्दु-विशेष काव्य की रेखा बनेगा अथवा नाटक की या गद्यात्मक कथा में आधान ग्रहण करेगा यह कदाचित उस बिन्दु की लोलायित लीला पर निर्भर था। एक कृती जब अनुभूति की अभिव्यक्ति अनेकविध कर रहा हो तब विधा विशेष की अनुसारिणी अनुभूति न होगी प्रत्युत अनुभूति ही अनुकूल विधा का चयन करेगी। किन्तु पश्चिमीय दृष्टि (क्रोशे) जहाँ अनुभूति की आद्यता और स्वात्मसंवेद्यता देखी नहीं जा सकी—विश्व प्रपंच में अनुभूति की स्फुरत्ता को कोई स्थान नही दिया गया—वह अभिव्यक्त के पीछे कोई अनभिव्यक्त और अनुभूतिमात्र इयत्ता भी है—यह कैसे स्वीकार करेगी। किन्तु वहाँ भी इस प्रत्यक्ष-मात्रता-वाद के जाड्य से मुक्ति की व्याकुलता है।

अस्तु ध्रुवस्वामिनी की ऐतिहासिकता उसकी 'सूचना' में विवक्ष्य है (पंचमखण्ड अवलोक्य). किन्तु, उसमें जातीय पराभव के दूसरे आवर्त्त में समुद्रगुप्त के दिग्विजय के बाद कृतकृत्यता जनित अकर्मण्य-भाव विलासिता और क्लैव्य में परिणत हो चला था। धन सम्पत्ति की भाति स्त्रियों को भी विदेशी आक्रामकों से छिपा कर रखने की प्रवृत्ति ने स्त्रियों को पूर्णतः पशु-सम्पत्ति का रूप दे दिया था। ध्रुवस्वामिनी उपहार में मिली वस्तु है अतः उसे शकराज को उपहार में देना असंगत नही—तदानीतनसमाज के इस विकृत चित्र को ध्रुवस्वामिनी सम्मुख रखते नारी पक्ष के अधिवाचन में शास्त्रीय प्रमाण देती है। क्लैव्य और विलासिता की प्रतिमूर्त्तिरामगुप्त, प्रवंचना का अवतार शिखर स्वामी, दैन्य की प्रतिमा ध्रुवदेवी, मिथ्याशील का निचोल डाले वीर चन्द्रगुप्त—पराभव के दूसरे आवर्त्त मे उन बर्बर विदेशी आक्रमणों की फलश्रुतियाँ हैं। मन्दाकिनी, नारीवर्चस्व को—स्त्रीत्व को उसका उचित प्राप्य दिलाने और चन्द्रगुप्त में स्वाभिमान जगाने में उद्युक्त है। उसने अपने समय में अलका (चन्द्रगुप्त) और देवसेना (स्कन्दगुप्त) के समकक्ष कार्य किया है। इन्हीं प्रमुख चरित्रो से ध्रुवस्वामिनी का गठन हुआ है। उसमें महत्त्व का विषय पुनर्भूप्रसंग है।

पश्चिम में भी शोषित और शोषक के मीमांसन में नारी को आदि शोषित बताया गया है (फ्वेर बाख शोध प्रसंग में एंगल्स की टिप्पणी)। समाज के इस गंभीरतम प्रश्न पर कामायनी में समुचित मीमांसन हुआ है।

नारी समुदाय के आदि शोषित वर्ग वाले मानव समाज में दाम्पत्य केवल पुरुष की इच्छा पर निर्भर चला आ रहा है (जब से मातृ-सत्तात्मकता निरस्त हुई) इसका अकरुण और अमानवीय रूप ध्रुवस्वामिनी में प्रस्तुत हुआ और उसके प्रतिकरण में शास्त्रीय पक्ष भी प्रस्तुत हुआ (अवलोक्य ध्रुवस्वामिनी—-सूचना, पंचम खण्ड)। पुनर्भूव्यवस्था सामाजिक सन्तुलन की वस्तु है जो अति प्राचीन काल से चलकर कुछ उप जातियों में अद्यावधि वर्तमान है : संयोगवश ध्रुवस्वामिनी के लेखक वैश्यों की

एक उपजाति उस कान्यकुब्ज हलवाई वर्ग में उत्पन्न हुए जिसमें पुनर्भू प्रथा प्रचलित रही। कलकत्ता प्रवास में कुछ जातीय प्रसंग भी उभरे और उच्च वर्ण वाले महानुभाव ने किसी से इस पुनर्भू प्रसंग की व्यंग्यात्मक चर्चा की—उन्होंने आकर कहा—'प्रसादजी अमुक ऐसा कहते थे'। एक सामान्य स्मिति से उन्होंने कहा कि वे जाबालि, वसिष्ठ और कृष्ण द्वैपायन जैसे महर्षियों की कथा भूल गए? यह बात यद्यपि वहीं समाप्त हो गई : किन्तु कहावत है—कान्यकुब्ज और करैत सांप—भूलते नहीं। यदि ध्रुवस्वामिनी में वैसी कोई वस्तुता भी हो तो विस्मय नहीं। यद्यपि, यह एक संयोग की बात थी कि १९३२ की जनवरी में कलकत्ता प्रवास से उनके लौटने के बाद ही ध्रुवस्वामिनी की रचना हुई। प्रकाशन के बाद उनके जीवनकाल में ही इसकी भी वैसी रंगमंच-प्रस्तुतियां हुईं—जैसी चन्द्रगुप्त-स्कन्दगुप्त की।

ऐतिहासिक नाटकों की शृंखला की अन्तिम कड़ी—'अग्निमित्र' (अपरिसमाप्त) है जो इरावती उपन्वास में विधान्तरित हुआ। बारह और ऐतिहासिक नाटकों की लेखकीय योजना रही जिसका काल विस्तार शुंगकाल से मध्यकाल तक होता और सबके बाद उस महानाटक इन्द्र को लिखने की बात मन में रही जिसका सामग्री-संचयन प्राय· १९२२–२३ से ही वे कर रहे थे उसी के परिणाम रूप उनके दो निबन्ध हमें प्राप्त हैं—'आर्यावर्त्त और उसका प्रथम सम्राट इन्द्र' जो कोशोत्सव स्मारक संग्रह में सं० १९८५ में प्रकाशित हुआ दूसरा 'दाशराज्ञ युद्ध' जो गंगा के वेदांक में छपा। मेरु पर भी एक लेख त्याग भूमि छपा किन्तु वह इन्ही के अन्तर्भुक्त है। ऊपर लिखी बारह नाटको की योजना बदल गई और नाटकों का स्थान उपन्यासों ने लिया, उसकी पहली कृति अधूरी इरावती के रूप में है। इस सन्दर्भ में 'अग्निमित्र' की 'अर्चिका' में विस्तार से लिखा गया है अतः यहां दुहराना आवश्यक नहीं।

'ध्रुवस्वामिनी' के प्रायः तीन वर्ष बाद 'अग्निमित्र' लिखा जाने लगा। बाहु पीड़ा (Writer's Cramp) के कारण स्वयं न लिख कर वे बोल कर इसे लिखाने लगे। यह बात १९३५ के ग्रीष्म काल की है। इस तीन वर्ष के अन्तराल में बारह नाटकों की योजना पर मनन सामग्री-अवलोकन होते रहे। उसी संभावित शृंखला का यह पहला नाटक अग्निमित्र आरंभ ही हुआ था कि योजना बदल गई और नाटकों के स्थान पर उपन्यास लिखना निश्चित हुआ। और, यह 'अग्निमित्र' तभी से विधान्तरित हो इरावती उपन्यास में परिणत होने लगा। किन्तु, उस बारह अंकों में रचित होने वाले महा नाटक इन्द्र के अनुभूति परक अनुभावन अभिव्यक्ति की सीमा को स्पर्श करने लगे थे। आचार्य केशव प्रसाद मिश्र की मार्फत विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से वे ग्रन्थ मँगा लिया करते थे। जब एक दिन उन्होंने वृहद्देवता लाने को कहा तब केशवजी ने पूछा 'अब इसकी क्या आवश्यकता कामायनी तो पूरी हो

गई'। 'अब इन्द्र लिखना है बहुत दिनों से टलता आ रहा है उसी के कुछ प्रसंग देखने हैं'। 'और वह रूपक द्वादशी जिसकी योजना बन चुकी है ?' 'उसके स्थान पर उपन्यास लिखूंगा प्रेमचन्द का भी कुछ ऐसा ही आग्रह है—' 'आग्रह है या चुनौती' 'चाहे जो हो लेकिन मुंशीजी की 'बहस काबिल मानने के रही', इन्द्र चलता रहेगा और संग संग ये भी चलेंगे मसाला तो पूरा तैयार है।' इससे प्रतीत होता है कि जैसे कामायनी के ८ वर्ष के लेखन काल मे स्कन्दगुप्त प्रभृति अनेक रचनाएँ होती गईं वैसे ही इन्द्र नाटक के लेखन काल मे भी प्रस्तावित योजना की अन्य कृतियाँ प्रस्तुत होती जाती। किन्तु वाग्देवी को कामायनी के बाद और सेवा नही लेनी थी अतएव 'ऊधो मन की मन ही मो रही'।

पश्चिम से बढकर अयोध्या तक पहुँचे यवन दिमित्र (Demitrius) (अरुण यवन साकेत —महाभाष्य) और दक्षिण से बढकर शोण तट पर किंवा पाटलिपुत्र के सुगाग प्रासाद के समीप तक कलिंगराज खारवेल की सेना पहुँच गई थी। —"मागधाना चविपुलं भय जनयन् हस्त्यश्व गगाया पाययति" (खारवेल का हाथी गुम्फा लेख)। दोनो ही अवैदिक शक्तियाँ मगध के उस बौद्ध राजतन्त्र को निगलने के लिए प्रस्तुत रही जो मनुष्यता-हीन धर्माडम्बर मे विलास-क्लीव राजन्य सस्कृति का वैसा छाया पुरुष था जो भीतर से अपनी शक्ति हीनता मे अवसन्न और बाहर से दप्ति की चेष्टा मे व्यस्त था। वह भारतीय इतिहास की विषम घडी थी। किन्तु, उसी मे आर्य संस्कृति के नवोत्थान का अवसर भी प्रतीक्षा कर रहा था। और भगवान पतजलि उस अवसर को सावधानी से देख रहे थे। आर्य वर्चस्व के प्रतीक इन्द्र ध्वज की प्रतिष्ठा के लिए उन्होने ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र को प्रेरणा दी। मगध की रक्षा ही नही हुई प्रत्युत पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध भी किए 'द्विरश्वमेध याजिनः सेनापते पुष्यमित्रस्य' (अयोध्यास्तभ लेख—धनदेव) अश्वमेधयाजी पुष्यमित्र अपने को सदैव सेनापति कहता है -राजा नही, क्योकि उस समय सेना का महत्व सिंहासन से अधिक हो गया था।

पुष्यमित्र के द्वारा वृहद्रथ का सैन्य निरीक्षण के समय वध हर्षचरित और वायु पुराण मे कहा गया है। इस परिवेश मे अग्निमित्र की प्रस्तावना मात्र ही हुई थी कि उसने इरावती का रूप ग्रहण कर लिया किन्तु इतिहासगत वस्तुता वही रही, परन्तु बात अधूरी भी पूरी न हुई।

नर-नारी सबध की कामायनी मे जो प्रस्तावना हुई है उसकी फलश्रुति अग्निमित्र और ध्रुवस्वामिनी मे है। वहाँ आदि नारी श्रद्धा मनु से पूछती है—'किन्तु बोली क्या समर्पण आजका हे देव बनेगा चिर बन्ध नारी हृदय हेतु सदैव ? जैसी उसकी आशंका रही पितृ सत्तात्मक समय मे पुष्टतर होते होते हजारो वर्षों बाद ध्रुवस्वामिनी और इरावती मे प्रत्यक्ष होती गई पुरुष का पौरुष-परुष-क्रूराचार एव उसके अन्तर्जात

वाक्छल से वह प्रवंचित होती आई। नारी 'अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर सबसे हारी' किंवा छलित होती आई। यह प्रसंग युग भेद से प्रकार भिन्न होकर भी अपनी इयत्ता में यथावत रहा। ध्रुवस्वामिनी उपहार में मिली वस्तु है अतः रामगुप्त उसे शकराज को उपहार में दे सकता है। इरावती अनाश्रुत मालव कन्या है इसलिए छल पूर्वक हस्तगत करने के लिए बृहद्रथ उसे संघाराम में रक्षित कर सकता है।

इस शताब्दी के दूसरे तीसरे दशक में नारी समुदाय की प्रतारणा के विरुद्ध ऐसे मुखर स्वर विरल है।

रचनाओं के अनुक्रम से ज्ञात होगा कि इस रूपक शृंखला का आरम्भ और अन्त अश्वमेध पराक्रम वाले पुरुषों पर केन्द्रित है। युधिष्ठिर नायक है सज्जन के, जिनका अश्वमेध लोक विश्रुत है। अन्तिम नाटक है अग्निमित्र ! वह पहली नाट्य-कृति है। और, यह अंतिम अग्निमित्र—अपने अश्वमेधयाजी पिता सेनानी पुष्यमित्र को दिग्विजय (विशेषतः शको के उन्मूलन) के लिए मुक्त रखते देश की आन्तरिक व्यवस्था को बनाए है। पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य सम्राट् बौद्ध बृहद्रथ को एक सैनिक सत्ता परिवर्त्तन मे निहत कर उस पाटलिपुत्र का नियन्त्रण अब हाथ मे लिया जिसके पश्चिम मे यवनदिमित्र खड़ा था, दक्षिण पश्चिम से चेदिवशी जैन खारवेल की सेना शोण के तट तक प्राय. सुगाग प्रासाद तक पहुँच रही थी। नन्द के द्वारा कलिंग से ले जाई गई जिन प्रतिभा को वापस लाने के बहाने मगध को आत्मसात कर उसे प्रति शोध लेना था, मगध के लिए यह भारी संकट-काल था वहाँ का अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ बौद्ध था और असन्तुष्ट सेना ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र के हाथों मे थी। अन्तत, सेना के सम्मुख सैन्य प्रदर्शन के बहाने बृहद्रथ को बुलाया गया था। दिमित्र और खारवेल की समस्या सम्मुख थी। कलिंग के दूतो का आवागमन तो जारी था ही उनकी सेना का एक अंश गोरथ गिरि तक जिन मूर्त्ति लाने के बहाने पहुँच गया था। आन्तरिक दुर्बलता और बाहरी दबाव से बृहद्रथ ने जिन मूर्त्ति की वापसी स्वीकार कर ली। उसे यह भी आशा थी कि दिमित्र के विरुद्ध कलिंग-बल से सहायता मिलेगी। ऐसी कुछ सन्धि था स्वीकृति न रहती तो कलिंग के लोग इतनी सरलता से गोरथ गिरि न पहुँच जाते, कुछ प्रतिरोधात्मक युद्ध तो होता ही। किन्तु वैसा कुछ न हुआ और पाटलिपुत्र से राजगृह का राजपथ कलिग सेना से संकुल हो गया। जिन मूर्त्ति वापस लेकर खारवेल को तो लौटना ही था। दिमित्र के विरुद्ध सहायता का आश्वासन दे मगधराज से अपनी पाद वन्दना कराके खारवेल लौटे, किन्तु उसका सैन्य स्कन्धावार शोण के तट से हटा नहीं। मगध की इस वर्चस्व हीनता से क्षात्रधर्मा ब्राह्मण सेनानी और श्रौत समुदाय ने खिन्न होकर नन्द के बाद दूसरी बार विद्रोह किया। पहली बार भी ब्राह्मण चाणक्य विद्रोह का सूत्रधार था इस बार भी ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र ने वैसा विप्लव

प्रवर्त्तित किया जिसमें सेना के सम्मुख बृहद्रथ का वध हुआ। हर्षचरित में इस घटना को वर्णित करते कहा गया है—

'प्रतिज्ञा दुर्बलं च बल दर्शन व्यपदेश दर्शिताऽशेष सैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेश पुष्यमित्रः स्वामिनम्।' किन्तु, पुष्यमित्र ने कभी अपने को दो अश्वमेध करने पर भी सम्राट् नही कहा—वह अपने पूर्व पद सेनानी से अधिक सन्तुष्ट रहा। कदाचित, उस अस्थिर राष्ट्र दशा मे सिंहासन से अधिक महत्त्व सेना का रहा। अवन्ति के समीपवर्त्ती विदिशा मे उसका वंशमूल था। संवत् १९६२-६३ से संस्कृत नाटकों और काव्यों का पूज्य पिताश्री का संकलन है, उसमे विक्रमोर्वशीय की निर्णय सागर द्वारा १८९० ई० मे मुद्रित प्रति के पृष्ठ संख्या १०३ पर उनके द्वारा रेखांकित संवाद इस प्रकार है—राजा—(उपविश्य सोपचारं गृहीत्वा वाचयति।) स्वस्ति यज्ञ शरणात्सेनापति पुष्यमित्रो वैदिशस्तत्रत्यमायुष्यन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्र शत परिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्त नियमो निरर्गलस्तुरंगो विसृष्टः, स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थित.। तत उभयो सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।) इससे प्रत्यक्ष है कि प्राय तीन दशक पूर्व शुग काल के इस पुष्यमित्र-अग्निमित्र प्रसंग पर, अग्निमित्र-इरावती के लेखक का ध्यान जा चुका था।

अपनी पुरी यात्रा में भी खारवेल के हाथीगुम्फा (उदयगिरि) वाले गुहा लेख को भी १९३२ के जनवरी मे उन्होने मोमबत्ती जला-जलाकर ध्यान से देखा था। आशा है ये तथ्यपरक सूचनाएँ अध्येताओ के काम की होगी।

—रत्नशंकर प्रसाद

सज्जन

●

'इन्दु' संवत् १९६७ फाल्गुन-ज्येष्ठ के सयुक्ताक (किरण ८-११) मे इस नाटक का सर्वप्रथम प्रकाशन हुआ। अनन्तर मार्जित होकर 'चित्राधार' मे यह सकलित हुआ। जहाँ पाठान्तर है वहाँ 'इन्दु' के पाठ पाद टिप्पणियो म दर्शित है।

पात्र सूची

•

नटी

सूत्रधार

युधिष्ठिर

भीम

अर्जुन

नकुल

सहदेव

द्रौपदी

दुर्योधन

दु:शासन

कर्ण

शकुनी

चित्रसेन (गन्धर्वराज)

सेनापति (गन्धर्व सेना का)

विद्याधर सैनिक

राक्षस

विदूषक

सज्जन

नान्दी—

[छप्पय]

अजय किरातहिं देखि चकित ह्वै कै निज छन मैं।
पूजन लाग्यो करन सुमन चुनि सुन्दर घन मैं॥
लखि किरात के गले सोइ कुसुमन की माला।
अर्जुन तब करि जोरि कह्यो अस कौन दयाला॥
गुन गहत जौन शठता किये, सो क्षमहु नाथ वितरहु विजय।
इमि प्रमुदित पूजित विजय, सो जयशंकर जय जयति जय॥

[सूत्रधार आता है]

(चारो ओर देख कर)—अहा, आज कैसा मङ्गलमय दिवस है, हमारे प्यारे सज्जनों की मण्डली बैठी हुई है, और सत्प्रबन्ध देखने की इच्छा प्रकट कर रही है। तो मैं भी अपनी प्यारी को क्यों बुलाऊँ। **(नेपथ्य की ओर देख कर)** प्यारी, अरी मेरी प्रानप्यारी!

[नेपथ्य में से आती हुई]

नटी—क्या है क्या?

सूत्रधार—यही है कि, जो है सो····**(शिर खुजलाता है)**

नटी—कुछ कहोगे कि, केवल जो है सो।

सूत्रधार—यह कि, तुम्हारा नाक-भौंह चढ़ाना देख कर हमारे चित्त में यह इच्छा होती है कि, कोई वीर-रस का अभिनय आज इन सज्जनों को दिखाऊँ, क्योंकि—

सत्कविता हितकर वचन, सज्जनहीं के हेत।
विधुलखि चन्द्रमणी द्रवै, काँच ध्यान नहिं देत॥

नटी—तो कौन प्रबन्ध?

सूत्रधार—यह भी हमहीं से पूछोगी, हमने तो तुम्हीं से मंत्रणा करना विचारा था, क्योंकि—

दुख में मित्र समान अरु गृह में गृहिणी होत।
जीवन की सहचरी सों[1] रमणी रस की सोत॥

---

१. शिष्या ललित कलान में

नटी—(हँसकर)—आज तो बड़ी सज्जनता सूझी है। अच्छा तो "सज्जन" नामक प्रबन्ध क्यों न दिखाया जाय ? प्रबन्ध भी छोटा और मनोरम है।

सूत्रधार—[2]अच्छा सोचा। पर प्रिये ! कुछ अपने मधुर कण्ठ से गाकर सुनाओ, क्योंकि--

पशुहूँ मोहत जाहि सुनि, उपजावत अनुराग।
चित्त प्रफुल्लित करन हित, और कौन जस राग ॥

और ऋतु भी शरद का कैसा मनोहर है !

भयो विमल जल लोल नलिनि की अवली फूली।
सारस करत कलोल मयूरी बोलन भूली[3] ॥
निर्मल नील अकाम कास फूलै कूलन में।
शीतल मंद सुवास पवन खेलै फूलन में ॥

[नेपथ्य में से मृदंग का शब्द सुनाई पड़ता है]

नटी—अब तो महाराज दुर्योधन के सभा ही मे गाना आरम्भ हुआ है।

सूत्रधार—क्या अभिनय आरम्भ हुआ ? तो चलो जल्दी चले। **(दोनों जाते हैं)**

प्रथम दृश्य

[द्वैत सरोवर का निकटवर्ती कानन]

[पट-मंडप में दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, शकुनी प्रभृति बैठे हैं और उनकी स्त्रियाँ भी पार्श्व में बैठी हैं। नृत्य हो रहा है]

गाने वाली गाती है -

सदा जुग जुग जीओ **महाराज** ।[4]
सुखी रहो सब भाँति अनन्दित, भोगो सब सुख **साज** ।[5]
नित नव उत्सव होय मगन मन, विनवै **राज समाज** ॥[6]

कर्ण —वाह ! वाह ! क्या अच्छा गाया !

[दुर्योधन अँगूठी देता है]

---

२. सूत्रधार—वाह प्रिये वाह ! अच्छा विचारा। वही न जो श्री जयशंकर प्रसाद ने अभी नया-नया बना कर हम लोगो को खेलने को दिया है।
नटी—हाँ हाँ वही सज्जनताकुमुमदाम के प्रधान कुसुम, श्रीधर्मावतार युधिष्ठिर की सज्जनता और उन्ही के अनुगत अनुज विजयी विजय के वीरता से भरा हुआ मनोहर अभिनय।

३. झूली   ४. महराजा   ५. साजा   ६. तोंहि सब राजा

कर्ण—'कुछ और गाओ।

दुर्योधन—मित्र कर्ण ! पाण्डवों को हमारे आने का पता लगा कि नहीं ?

कर्ण—अवश्य ही उन्हें ज्ञात होगा।

दुःशासन वे पाँचों इस समय अकेले होंगे, समय तो अच्छा है।

कर्ण—चुप···हाँ हमारे विभव को देखकर वे अवश्य ईर्ष्या से जलते होंगे, और हम लोगों के आने का तात्पर्य भी तो यही है।

दुर्योधन—**(ऊर्ध्व साँस ले कर)**—जब से अर्जुन के अस्त्र-प्राप्ति की बात हमने सुनी है, तब से हमारे मन में बड़ी आशंका है।

कर्ण—कुछ आशंका नहीं है।

जो चण्ड आप भुजदण्ड रहे सहारे।
है नित्य नूतन हिये महँ ओज धारे॥
उद्योग सों विरत होय कबौ न हेली।
लक्ष्मी सदा रहत तासु बनी सुचेली॥

दुर्योधन—क्यों न हो मित्र कर्ण ! तुम ऐसा न कहोगे तो कौन कहेगा **(कर्ण सिर हिलाता है)**।

विदूषक—**(स्वगत)**—देखो केवल कर्ण से सलाह लेने वाले मनुष्यों की क्या दशा होती है। मनुष्यों ! तुम्हें ईश्वर ने आँख भी दिया है, उससे कार्य लिया करो, हमारे राजा दुर्योधन का तो केवल कर्ण ही मित्र है, और होना भी चाहिए, क्योंकि धृतराष्ट्र का पुत्र है।

कर्ण—ओ बतोलिये ! क्या बड़बड़ाता है ?

विदूषक **(हाथ जोड़ कर)** जी धर्मावतार ! कुछ नहीं।

कर्ण—झूठ बोलता है, और मुंह के सामने।

दुर्योधन—चला जा सामने से।

कर्ण—जा मुंह मत दिखा।

[विदूषक मुँह बना कर मुँह फेर लेता है]

---

७. **[गाने वाली पुरस्कार लेकर गाती है]**

पियो प्रिय प्रेमपूर प्याला।
सुन्दर रूप सुजान तैसही, अहै सुगन्धित हाला।
हिय की दरद मिटाव वेगही, काहे करत बेहाला॥
पियो प्रिय०—

[नाचती हुई गाती है। दुर्योधन पुरस्कार में हार देता है। अभिवन्दन करके गाने वाली चली जाती है]

दुर्योधन—(झिड़क कर) बाहर जाओ।

विदूषक—जाता हूँ सरकार ! (विदूषक बाहर जाता है)

कर्ण—इसके सामने मंत्रणा करना ठीक नहीं है।

शकुनी—मंत्रणा क्या है ? मृगया खेलने चलोगे न ? (इंगित करता है) पशु भी तो इसी वन में हैं।

कर्ण और दुर्योधन—हाँ, हाँ, ठीक है।

(आपस में इंगित कर चुप रह जाते हैं)

[नेपथ्य में]

"अरे छोड़ छोड, गरदन दुखती है, धीरे से पकड़े रह, बतलाता हूँ"।

[सब आश्चर्य से देखते हैं। विदूषक को पकड़े हुए एक राक्षस आता है]

कर्ण—(क्रोधित होकर)—तू कौन है ?[८] नही जानता कि किसके सामने खड़ा है ?

राक्षस—(उसे छोड़ कर)—जानता हूँ ! बुद्धि की जिसे अजीर्ण[९] है और जिसे केवल कर्ण ही का सहारा है, उस कौरवाधिपति के सामने।

कर्ण—(उठ कर)

रे नीच मीच तव कंध नगीच आई
जो कौरवाधिप समीप करै ढिठाई,
क्यों ह्वै अभीत इत आवन दुष्ट कीन्ह्यों,
वेगै बताव मम खड्ग कबौं न चीन्ह्यो,

दुःशासन—(राक्षस से) क्यों, तू क्यों यहाँ आया है ?

राक्षस—महाराज गन्धर्वाधिराज चित्रसेन ने कहा है कि दुर्योधन से कहो कि मृगया खेलने का विचार यहाँ न करें। उत्सव कर चुके, अब यदि अपना कुशल चाहें तो यहाँ से हस्तिनापुर को प्रयाण करें।

कर्ण—(क्रोधित होकर) जा जा, अपने स्वामी से कह दे कि हमलोग अवश्य मृगया खेलेंगे।

राक्षस—अच्छा (सिर हिलाता हुआ जाता है, और विदूषक की टाँग पकड़कर खींचता जाता है)

विदूषक अरे छोड़ दुख मत दे,[१०] मैं तो जिसकी विजय होगी, उसी के पक्ष में रहूँगा।

[राक्षस उसे छोड़ कर चला जाता है]

[पट परिवर्तन]

---

८. छोड़ उसको ९. हो गई १०. मत दुख दें

द्वितीय दृश्य

[स्थान—द्वैत सरोवर। मृगया के वेश में दुर्योधन और कर्ण इत्यादि बाण धनुष पर चढ़ाए हुए एक मृग के पीछे चले आते हैं]

दुर्योधन—(चारो ओर देखता हुआ) है ! मृग कहाँ भागा ?

मृग की बात कहाँ कहो, वीर देखि डरि जात।
अस्त्र सामुहे दृढ़ हृदय, किये कौन ठहरात ॥

दुःशासन—हाँ, हाँ, ठीक है **('मृग की बात' इत्यादि फिर से पढ़ता है)**

दुर्योधन—अहा हा ! यह स्थान भी कैसा मनोरम है, सरोवर खिले हुए कमलों के पराग से सुरभित समीर इस वन्य प्रदेश को आमोदमय कर रहा है—

दुःशासन—नीलसरोवर बीच
इन्दीवर अवली खिली।

कर्ण—मनु कामिनि कनवीच,
नीलम की वेदी लसै ॥

दुर्योधन—जलमहँ परसि सुहान,
कुसुमित शाखा तरुन की।

कर्ण—मनु दरपन दरसात,
निज मुख चूमत कामिनी ॥

दुर्योधन—सारस करत कलोल,
सारस की अवलीन में।

कर्ण—मनु नरपति के गोल,
चक्रवर्ति विहरण करै ॥

शकुनी—वाह ! अंगराज[11] ने तो आज उपमा की झड़ी लगा दी **(कुछ सुनकर)** वे कौन है। **(नेपथ्य में से)** यही है यही है **(सब चकित होकर देखते हैं)**

[यक्षगण की सेना का प्रवेश]

सेनापति—तुम लोग यहाँ से शीघ्र चले जाओ।

कर्ण—(तलवार पर हाथ रख कर) तू कौन है ?

सेनापति—मैं स्वामी के आज्ञानुसार शिष्टता के साथ कह रहा हूँ, नहीं तो दूसरी प्रकार से आप लोगों का आदर किया जायगा। क्योंकि—

प्रथम राखि महामति मान को।
शुचि बतावहिं नीति विधान को ॥

---

११. अनंगराज

यदि न मानहिं मूरख टेक सों।
तब करे हठि दण्ड अनेक सों॥

[दुर्योधन क्रोध दिखलाता है]

कर्ण - **(तलवार निकाल कर)** अपनी चपल जीभ को रोक और अपनी रक्षा कर! **(दोनों तलवार निकालकर युद्ध करते हैं। इतने में विद्याधरों को साथ में लिए हुए चित्रसेन का प्रवेश)**

[गन्धर्वों को ससैन्य देखकर सब का खड़े हो जाना। आगे बढ़कर और मुँह फेर कर दुर्योधन टहलने लगता है और उसकी सेना श्रेणीबद्ध खड़ी हो जाती है]

चित्रसेन कौरवपति! तुमको बहुत समझाया गया, परन्तु तुमने हठ न छोड़ा।

[दुर्योधन अनसुनी करता है]

चित्रसेन है, इतना घमण्ड?

बार बार सानुनय कह्यो यद्यपि मम अनुचर।
तबहु न मान्यो मूढ़ आइ[12] सन्निकट द्वैत सर॥
मृगया खेलन लग्यो जहाँ मम विहरण को थल।
प्रहरी वर्जन करयो तिन्है मारयो तेहि पै खल॥
जानत नाहिं प्रचण्ड भुजन को पामर! मेरे।
चञ्चल दृढ़ कोदण्ड और नाराच करेरे?
अबहुँ न क्यो हटि जात, मानि के आज्ञा मेरी।
क्षमा किये[13] बहु बार, अवज्ञा को हम तेरी॥

[दुर्योधन क्रोध से तलवार खींचता है]

दु.शासन—महाराज! सावधान रहिये।

कर्ण--बस, बहुत बडबड़ा मत, नही तो ये अँगुलियाँ वीणा बजाने योग्य न रह जाएँगी। अह ह ह ह दुष्ट!

सुघर साजि मनोहर रूप को
नित रिझावहि जो सुर भूप को,
तिनहि मग बजावहु वीन को,
तुमहि संगर की मति दीन को?

और यदि न मानेगा तो **(दाँत पीस कर)**

क्रोधानलज्ज्वलित भीम करालिका-सी,
संहारकारिणि हँसै जिमि कालिका-सी।

---

१२. आइ १३. कियो

सो चञ्चला असि जबै चमकै लगैगी,
तेरो सुरक्त करि पान महा पगैगी ॥

गन्धर्व—अच्छा फिर बचाओ अपने को ! **(सब तलवार निकाल कर लड़ते हैं। युद्ध में कर्ण सबको भगाने का साहस करता है और विक्रम दिखाता है। इतने में पीछे से राक्षसों की सेना आती है और सबको घेर लेती है)**

[पट-परिवर्तन]

तृतीय दृश्य

[स्थान—कानन, पर्ण-कुटीर]

[चारों ओर शान्ति विराज रही है। एक सघन वृक्ष के नीचे युधिष्ठिर और अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी के सहित बैठे हुये हैं]

युधिष्ठिर -अहा ! प्रकृति की गति कैसी अनोखी है -

मध्याह्न में महत तेज लखात जाको,
आकाश मध्य कोउ देखि सकै न जाको।
सो दिव्य देव दिननाथ लहै प्रतीची,
ह्वै कै सुरञ्जित लखात सबै नगीची।

अर्जुन—महाराज, यह तो ठीक ही है -

जो जाइ पश्चिम दिशा महँ मोद माते,
ह्वै वारुणी विवस मोह तरंग राते।
देखे तिन्हैं पतित लोग सबै हँसाहीं,
प्राची दिशा शशि मिसै हँसती सदा हीं ॥

द्रौपदी—तो इससे क्या—

आदित्य के उदय के पहले निशा मे।
घोरान्धकार बढ़ि जात लखौ अमा मे ॥
उद्योग में तदपि घूमत आस धारे।
ह्वै अस्त हूँ उदय होत प्रभू सहारे ॥

नकुल और सहदेव आर्य ! प्यास लगी है।

युधिष्ठिर —(मुँह फेर कर) हा दैव ![14] यही सब देखना है। हाय हाय ! ये सुकुमार राजकुमार और यह कराल कानन—

जिन कबहुँ न दीन्हें पाँवहू को धरा मे।
तिन समिध बटोरैं औ फिरैं मृत्यका में ॥

---

१४. इस नीच को

समुन्नत रतनों को भार सों जे उतारें।
वह कुसुम जुहा के भूषनों को सुधारें ॥

(उसास लेकर) हे विश्वम्भर !

जिनहिं बढ़ायो मान सों, न करु तासु अपमान।
कुलवारन को कुल यही, रहै जगत सनमान ॥

नकुल और सहदेव—आर्य ! अभी जल नही आया ?

युधिष्ठिर—(नेपथ्य की ओर देखकर) बच्चा घबराओ मत, वह भीम आते है।

[भीम का जल लिए प्रवेश। भीम लोटा रख कर जोर से हँसता है। युधिष्ठिर और अर्जुन पूछते हैं, पर वह केवल हँसता है]

युधिष्ठिर—(हँस कर) वत्स भीम ! क्या है ?[15]

भीम—(हँसते हुए) आर्य ! कुछ नही, बहुत अच्छा हुआ।

युधिष्ठिर—अरे सुनूं भी, क्या अच्छा हुआ ?

भीम—अच्छा कहूँ, नही नही नही नही. आपसे नही। धनंजय ! इधर आओ तुमसे कह दे। महाराज से तुम्ही कहो, हमको तो हँसी रोके से नही रुकती है। **(हंसता है। युधिष्ठिर इङ्गित करते हैं। अर्जुन उठ कर जाते हैं। भीम कुछ कान में कहता है)**

अर्जुन—(युधिष्ठिर[16] के पास आकर) आर्य ![17] भीम जल लेने के लिये द्वैत सरोवर पर गये थे, वहाँ देखा तो दुर्योधन और गन्धर्वों मे घोर युद्ध हो रहा है, फिर परिणाम यह हुआ कि वे सब दुर्योधन को पकड़ ले गये।

युधिष्ठिर—(खड़े होकर) वत्स भीम ! तुम वहाँ रहो[18] और तुम्हारे[19] सन्मुख दुर्योधन को पकड कर वे सब ले जायँ[20] और तुम कुछ[21] न—करो[22] ! छिः छिः !

भीम—महाराज ! इसी सज्जनता के कारण तो आपकी यह दशा है। मैं तो ऐसी बातों का पक्षपाती नही हूँ।

युधिष्ठिर—

विपत्ति मे मानव को निरेखि के,
सुखी करै चित्त मुमोद लेखि के।
अहै वही नीच महान नारकी,
तजो यही वात बुरे विचार की ॥

---

१५ है क्या ? १६. महाराज १७. महाराज
१८. तू वहाँ रहा १९. तेरे २०. गये
२१. तूने २२. नहीं दिगा

वत्स भीम ! शत्रु को दुःखी देखना और घृणित उपाय से बल-प्रयोग करने को क्रूरता कहते हैं। तुम वीर हो, वीरता को ग्रहण करो —

अरिहूँ से छल करैं नहीं सन्मुख रन रोपैं।
दृढ़ कर में करवाल गहै मिथ्या पर कोपैं॥
दुखी करैं नहिं द्विज, सुरभी, अबला नारी को।
लक्षण ये सब सत्य-वीर-व्रत के धारी को॥

[भीम कुछ कहना चाहता है, इतने में रोते हुए दासी और रानियों का प्रवेश]

दासी और रानी—धर्मावतार ! रक्षा करिये !

युधिष्ठिर—क्या है क्या ?

दासी—भीष्मादि गुरुजनों के मना करने पर भी कौरवनाथ विहार करने के हेतु यहाँ आये थे, सो अकारण गन्धर्वों के साथ युद्ध हो गया, गन्धर्व लोग कौरवपति को समित्र बाँधे लिये जाते हैं, रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये !

युधिष्ठिर—वत्स अर्जुन ! जाओ, उन्हें शीघ्र छुड़ा लाओ—**(दासियों से)**— क्यों, वे कितनी दूर गये हैं ?

दासी—अभी वह वहीं होंगे महाराज ! रक्षा कीजिये !

[अर्जुन जाते हैं]

[पट-परिवर्तन]

चतुर्थ दृश्य

(स्थान—द्वैत सरोवर)

[दुर्योधन को पकड़े हुए विद्याधर ले जाने को उत्सुक हैं]

विद्याधर—चल, अब चलता क्यों नहीं, लड़ने के लिए तो बहुत बल था।

दूसरा—शकुनी, कोई जुए की चाल यहाँ भी सोच रहे हो क्या ?

तीसरा—यह न समझना कि निकल भागेगे।

कर्ण—**(क्रोध से)**—क्या बकबक करता है, अपना काम कर, चलते है न[२३]।

विद्याधर—ओ हो ![२४] इन्हें अपमान के साथ नहीं ले चलना होगा, उचित मान की आवश्यकता है।

चित्रसेन—क्यों दुष्टों ! अब छल से पाण्डवों को मारने का विचार न करोगे[२५] **(विद्याधरों से)**—आओ, अब इन सबको ले चलें **(इतना कह कर चित्रसेन ज्यों ही चलने को उद्यत होता है, वैसे ही अर्जुन प्रवेश करता है)**

अर्जुन—ठहरो, ठहरो, तुम लोगों का प्रधान कौन है ?

---

२३. दास कहीं का ! २४. आह ! स्वामी है स्वामी २५. फिर मारोगे ?

सेनापति –(आगे निकल कर, [26]खड़ा हो जाता है) हम हैं हम। तुम्हें क्या कहना है ?

अर्जुन – यही कि यदि अपनी कुशल चाहते हो, तो इन लोगों को छोड़ दो।

सेनापति –वाह ! वाह ! आप छुड़ाने आये हैं, दर्पण तो यहाँ मिलेगा नहीं, द्वैत सरोवर के जल में जरा मुँह देख आओ !

अर्जुन - (क्रोधित होकर)—

कंटक नहि पददलित होत मारग में जौ लौं।
मुख की तीछनता को त्यागत है नहि तौ लौं।
नीच प्रकृति जन मानत नाहिन[27] हैं बातन ते।
य[28] पूजा के जोग[29] सदा ही है लातन ते।

दुष्टों ! फिर भी समझाता हूँ --मान लो। इन लोगों को छोड़ दो।

दुर्योधन - मैं तुम्हारी दया नही चाहता।

कर्ण –(सगर्व)—

सहै अनेकन कष्ट पै, लहैं सदा ही मान।
अरि सों दया न चाहते, साँचे वीर महान।

अर्जुन—(शिर हिलाकर)—मैं तुमसे कुछ नही कहना चाहता। (विद्याधरों से) हाँ इतनी देर मे क्या सोचा ?

सेनापति —जा जा, अपना काम कर।

अर्जुन –(दाँत पीस कर)—

ह्वै सावधान सत्र रक्षहु आपने को।
देखो प्रचण्ड भुजदण्ड बलै घनों को॥
बैरी कराल वन दाहन ज्वालिका-सी।
मेरी अहै सुअसि विद्युत मालिका-सी॥

[अर्जुन तलवार निकाल कर आक्रमण करता है, और[30] सब दुर्योधनादि को घेर कर लड़ते हैं। किन्तु घोर युद्ध के उपरान्त अर्जुन[31] से व्यथित होकर सब भागते हैं, और उसी समय चित्रसेन का प्रवेश होता है। अर्जुन उस पर भी झपटता है। चित्रसेन हट कर वार करता है। दोनों में द्वन्द्व युद्ध होता[32] है।]

चित्रसेन—बस मित्र बस, बहुत हुआ।

---

२६. तनकर   २७. नाहि   २८. यह   २९. योग   ३०. वे

३१. की तलवार   ३२. अन्त में अर्जुन चित्रसेन को पटक कर छाती पर सवार हो जाता है

अर्जुन –(**छोड़ कर**)—हैं, मित्र चित्रसेन ! तुम कहाँ ?

[दोनों गले से गले मिलते हैं। सब आश्चर्य से देखते हैं]

अर्जुन —मित्र ! क्षमा करना, युद्ध-विप्लव में सहसा आपको न पहिचान सका।

चित्रसेन—मित्र ! कुछ नहीं, यह केवल संयोग था। कहो, तुम कैसे यहाँ आये ? युद्ध क्यों हुआ ?

अर्जुन महाराज की आज्ञा हुई कि दुर्योधनादिकों को गन्धर्व लोग पकड़े लिए जाते हैं, अतएव उन्हें शीघ्र जाकर छुड़ाओ।

चित्रसेन – (**आश्चर्य से**) महाराज ने आज्ञा दी ! (**सोचकर**) अहा ! यह बात सिवा धर्मराज के किसके हृदय में आ सकती है ! देखो –

लाक्षागृह मे जारन चाह्यो, जूआ खेल्यो।
छल सों सब करि हरण, दियो बनवास अकेल्यो॥
कानन हूँ मे आयो छल से जो मारन को।
त्यहि अरिहू पै दया करैं, अस मतिधारन को॥

अच्छा चलिये। (**विद्याधरों से**)—चलो, इन्हें इसी प्रकार से महाराज के सन्मुख ले चलो। (**अर्जुन से**) आओ मित्र[33] धनंजय ! हम लोग भी चलें।

[दोनों आगे-आगे हाथ में हाथ मिला कर जाते हैं। पीछे-पीछे विद्याधर लोग दुर्योधनादि को बाँध कर ले चलते हैं]

[पट परिवर्तन]

पंचम दृश्य

[महाराज युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेवादि द्रौपदी के सहित बैठे हुए हैं]

युधिष्ठिर—प्रिये कृष्णा ! कुमुदिनीनायक के सुप्रकाश मे कानन कैसा प्रतीयमान हो रहा है –

युधिष्ठिर –तिमिर गगन माही, चन्द्र आभा प्रकासै।
द्रौपदी—जिमि सुमति लहते चित्त मे धर्म भासै॥
युधिष्ठिर - उदय रजनी मे[34] जो[35] सदा तेज धारै।
द्रौपदी—जिमि सुजन कुसंगी में परे पुण्य धारै॥
युधिष्ठिर कुमुदिनि विकसानी इन्दु की मूर्ति देखे।
द्रौपदी –शुभमति सुधरैहै ज्यों विवेकै सुपेखे॥
युधिष्ठिर– उडुगन जुरि आगे चन्द्र को चारु घेरे।
द्रौपदी - जिमि शुभ फल आवै सज्जनों पै घनेरे॥[36]

---

३३. विजय ३४. मैं ३५ तो ३६. युधिष्ठिर –धन्य प्रिये ! धन्य !

[सबको लिए अर्जुन का प्रवेश]

अर्जुन—आर्य के चरणकमलों में सेवक का नमस्कार।

युधिष्ठिर—वत्स धनंजय ![37] निरन्तर विजयी हो !

[सब अभिनन्दन करते हैं]

[युधिष्ठिर उठ कर दुर्योधनादिक का बंधन खोलते हैं। नेपथ्य में धर्मराज की जय-जय की ध्वनि होती है। फूलों की वर्षा होती है। सब यथोचित बैठते हैं]

युधिष्ठिर—वत्स[38] दुर्योधन, सब कुशल है।

दुर्योधन—(लज्जित होकर)—महाराज की कृपा से।

चित्रसेन—महाराज सुरेन्द्र ने आपको आशीर्वाद कहा है[39] उन्हें कौरवपति का असत्परामर्श ज्ञात हो गया था, इस कारण उन्होने हमको भेजा। हमने इन्हें बहुत बार समझाया पर इन्होंने न माना, इस कारण इनके साथ हमें ऐसा व्यवहार करना पड़ा, अतएव क्षमा चाहते हैं।

युधिष्ठिर—जाने दो उस बात को। देवराज से हमारा अभिवादन कहना और कहना हम उनकी कृपा के लिये कृतज्ञ हैं।

चित्रसेन—[40]अच्छा महाराज ! (एक विद्याधर को इंगित करता है, और वह चला जाता है)

युधिष्ठिर—वत्स सुयोधन ! तुम गुरुजनों की आज्ञा के अनुकूल नहीं चलते, यह अच्छा नहीं करते। देखो, साम्राज्य का भार तुम्हारे ऊपर है, यह संसार में कैसा गुरुतर कार्य है ? यह स्वयं जानते हो किन्तु फिर भी ऐसी चूक तुमसे क्यों होती है, सो ज्ञात नहीं होता। संसार में राजा ईश्वर का प्रतिनिधि-स्वरूप समझा जाता है, अतएव तुम्हें बहुत समझ कर चलना चाहिए।

खल को शासन करै शरासन दृढ़ करि धारे।
अनुचर आस न रहै सिंहासन नित्य सुधारे॥
पास न राखै नीच, तिन्हैं नाशन हित सोचै।
जासन मानै प्रजा सदा विश्वास न मोचै॥
सबहीं सों नहिं लड़ै अड़ै नहिं नीचजनों से।
नहिं आलस में पड़ै कड़ै बरतै न जनों से॥

३७. विजय ३८. वत्स सुयोधन, अच्छी तरह से रहे ? सब कुशल है
३९. अभिवादन किया है ४०. (नम्र होकर)

तजि मर्याद न बढ़ै चढ़ै आभा नित दूनी।
सबहिं मोद सो मढ़ै बढ़ै कीरति चौगूनी।।

और—

नीति प्रीति युत प्रजा सों, पालत है जो राज।
सिंहासन सोहत सदा, ताही को सुख साज।।"[41]

युधिष्ठिर—जाओ राज्य करो।

[विद्याधरी गण माला लिये हुये आती हैं और गाती हुई नाचती हैं]

धर्म को राज सदा जग होवै।
सुख सों पूरि रहै पुहुमी यह —
नित नव मंगल होवै।।
सत्कविता सज्जनता ही पर
प्रेम सबहि को होवै।
सज्जन की जय धर्मराज की —
विजय सदा ही होवै।।
धर्म को राज सदा जग होवै —

[युधिष्ठिर के गले में सब माला पहिराती हैं, सब धर्म की जय कहते हैं]

[पटाक्षेप]

४१. [दुर्योधन सिर झुका लेता है]

प्रायश्चित्त

•

इन्दु पौष संवत् १९७० कला ५ खण्ड १ किरण १ जनवरी १९१४

पात्र-सूची

•

जयचन्द

मन्त्री

सेनापति

मुहम्मद गोरी

शफकत

चर

गोरी के दरबारी

दो विद्याधरियाँ-विहारिणी, विलासिनी

प्रायश्चित्त

प्रथम दृश्य

[समय—रात्रि : स्थान—कगार, नदी का किनारा—रण-भूमि]

[दो विद्याधरियों का प्रवेश]

पहली—"क्योंरी विहारिणी ! आज कहाँ घूमने आयी है। यह तो बडा भयानक दृश्य है। यह कोई रण-भूमि है क्या ?"

दूसरी—"विलासिनी ! तुझे तो अपने गधमादन-विलास से छुट्टी ही नही। क्या मालूम कि संसार मे क्या हो रहा है ?"

पहली—"मुझे तो सचमुच इधर का हाल कुछ भी नही मालूम। हाँरी सखी ! भला [illegible] हुआ है ?"

दूसरी—"हा ! तुझसे क्या कहे, और तुझे इतना भी नही ज्ञात है कि हिन्दू-साम्राज्य-सूर्य्य इसी रण-भूमि-अस्ताचल मे डूबा है। चौहान-कुल-भूषण पृथ्वीराज का इसी युद्ध मे सर्व्वस्वांत हुआ ?"

पहली—"विहारिणी ! भला कह तो, यह वीर कैसे गिराया गया ? क्या उसके हाथ मे लोहे की कमान नही थी ? क्या उसका साहस क्षीण हो गया था ? आश्चर्य्य ! जिस पृथ्वीराज के भुजबल से अनेक बार यवनसमूह पराजित हुआ है, उसका यह परिणाम ?"

दूसरी—"विलासिनी ! यदि भाई का शत्रु भाई न हो—यदि शैलवासिनी सरिता ही शृंग को न तोडे—तो भला दूसरा क्या कर सकता है।"

पहली—'क्या यह किसी नीच भारतवासी का ही काम है ?"

दूसरी—"हाँ, पृथ्वीराज के श्वसुर जयचंद का।"

पहली—"भला सखी ! मैने तो सुना था कि जयचद ने अपनी कन्या का पाणिग्रहण उनके साथ करा दिया और फिर कोई वैमनस्य न रहा, तब ऐसा क्यों हुआ ?"

दूसरी—"प्रतिहिंसा, आत्मसम्मान और दुर्दमनीय वृत्ति के वशीभूत होकर यह सब हुआ है। स्वयं लड नही सकता था, लड़ने के लिए साधन चाहिये। और फिर किसके साथ ! जामाता से प्रकाश्य युद्ध कैसे हो, इसलिये यवन बुलाये गये और आर्य्यसाम्राज्य का नाश किया गया।"

पहली—"सखी ! हिंसा कैसी बुरी वस्तु है। देख, इसने कैसा भयंकर कार्य्य किया।"

दूसरी—"सीधी ! इस रही-सही "प्रतिहिंसा" को भी भारतवासियों के लिए ईश्वर की दया समझ। जिस दिन इसका लोप होगा, उस दिन से तो इनके भाग्य में दासत्व करना लिखा ही है।"

पहली—"विहारिणी ! तेरी बातें तो सब बेसिर-पैर की होती हैं। भला, प्रतिहिंसा भी कोई अच्छी वस्तु है, जिस पर तू इतना कह गई है।"

दूसरी—"विलासिनी ! जिस दिन से कोई जाति, अपने आत्मगौरव का अपने शत्रु से बदला लेना भूल जाती है, उसी दिन उसका मरण होता है। सब, जब अपने व्यक्तिगत सम्मान की रक्षा करते है, तब उस समष्टि रूपी जाति या समाज की रक्षा स्वयं हो जाती है, और नही तो अपमान सहते-सहते उसकी आदत ही वैसी पड़ जाती है। फिर शक्ति का उपयोग नही हो सकता, और शक्ति के उपयोग न होने से वह भी धीरे-धीरे उत्पन्न हो जाती है। इसलिए मैं कहती हूँ कि यह थोड़ी बची हुई प्रतिहिंसा यदि जागृत रही, तो फिर भी मनुष्य अपने को समझ सकता है।"

पहली—"तू तो ज्ञान छाँटने लगती है और ऐसी रूखी बन जाती है कि दया का लेश भी छू नहीं जाता। देख, वह प्यास से एक आहत तड़प रहा है। चल, उसे नदी का जल पिला कर तृप्त करें।"

दूसरो—"ठहर, देख, यह कौन है। अरे, यह तो दुष्ट जयचंद ही है। सखी, तू भी अन्तरिक्ष में हो जा और मैं भी अन्तरिक्ष होकर इस चाण्डाल से कुछ प्रायश्चित कराना चाहती हूँ। उसी ओर चलें।" (प्रस्थान)

द्वितीय दृश्य

[स्थान—रणभूमि का ही एक हिस्सा। श्मशान—बुझती हुई चिता, अन्धकार]

[जयचंद का प्रवेश]

जयचंद—"ह ह ह ह ह, मैं आज पिशाचों की क्रीड़ा देखने आया हूँ। और इस बुझती हुई पृथ्वीराज की चिता को देख कर अपनी हिंसा की आग भी बुझाना चाहता हूँ (**ठहर कर**) उसके मस्तक को तो नही पा सकता, पर उसकी राख को मैं अवश्य अपने पैरों से कुचलूँगा।"

(आकाश से शब्द)—"हाँरे हाँ, पृथ्वीराज के साथ अपनी त्रैलोक्यसुन्दरी, कन्या की राख को भी तू कुचलेगा।"

जयचंद—**(भीत होकर—साहस के साथ)** नही, मैं तो अपने शत्रु की राख को बिखेरना चाहता हूँ।"

(आकाश से)—"भला, यह तो बता, तूने अपनी कन्या को कैसा सुख दिया।

जयचंद—(गर्व से) "अरे तू है कौन, जो व्यर्थ बक-बक करता है। वह, जब तक कुमारी रही, फूलों में पली, जब युवती हुई, योग्य पति को वरण किया, इससे बढ़ कर स्त्री को कौन सुख मिलेगा ?"

(आकाश से)—"नराधम ! अब उसकी क्या दशा है ?"

जयचंद—"जो आर्य्य ललनाओं की होती है। सुन चुकी होगी, तो मर गई होगी, नही तो सुनते ही प्राणत्याग करने का उद्योग करेगी।"

(आकाश से)—'दुष्ट इसी चिता की धूलि में उस फूल का भी पराग मिला हुआ है, जिसे तूने बड़े स्नेह से अपने हाथ में रखा था।"

जयचंद—"क्या कहा ?"

(आकाश से)—"यही कि इसी चिता की राख में संयोगिता की राख भी मिली है, जिसे तू कुचलेगा।"

जयचंद—(करुणार्द्र स्वर से) "क्या संयोगिता सती हो गयी ?"

(आकाश से)—"हाँ, तूने ही तो अपने हाथ से उसके सती होने की तैयारी की थी।"

जयचंद "क्षत्राणी थी। यही ठीक भी था। पर हाय संयोगिता ! तू अभी बिना कली की आशालता थी, यही दुःख है—(मोह)

(आकाश से)—"अब क्यों रोने लगा ? कुचल, उस राख को कुचल, अपनी छाती ठंढी कर !"

जयचंद—(आकाश की ओर देखकर) "हाय, संयोगिते ! मैंने तुझे कुछ भी सुख न दिया ! अपने स्वार्थ के लिए, अपनी जिघांसावृत्ति की तृप्ति के लिए, अपने पाले हुए हरिणशावक पर ही शर-सन्धान किया।"

(आकाश से)—"अभी क्या रोता है, अभी तो तुझे बहुत रोना पड़ेगा। तू ही नहीं, तेरे इस कार्य्य से सारे भारतवासियों को रोना पड़ेगा और उनके घृणा-प्रकाश करने पर तेरी आत्मा सदा रोती रहेगी। पहले, अपने लगाये हुए विष-वृक्ष के फल को चख, फिर तू उसी की लकड़ी से जलाया जायगा कि नहीं, इसकी खोज पीछे करना। अपनी प्रतिहिंसा से तृप्त हो जा। इस राख को, जिसमे संयोगिता और पृथ्वीराज की राख मिली हुई है, अपने पवित्र चरणों से पवित्र तो कर दे।"

जयचंद—"भाई तुम कौन हो, क्यों मुझे सता रहे हो !"

(आकाश से)—"अभी तो तू यहाँ पिशाचों की क्रीड़ा देखने आया था और मैंने भी सोच रक्खा था कि तू भी किसी नरपिशाच से कम नहीं। देखें किसकी क्रीड़ा अच्छी होती है। पृथ्वीराज की खोपड़ी एक पिशाच के हाथ में दे और संयोगिता की तू लेले। दोनों लड़ा कर देख, कौन फूटती है।"

जयचंद—"हाय हाय ! मुझसे घोर दुष्कर्म हुआ।"

(आकाश से)—"और तुझे घोर प्रायश्चित भी करना होगा।"

जयचंद—"हाथ जोड़कर। तुम सच में कोई देवदूत हो। कृपाकर यह बतलाओ कि इसका क्या प्रायश्चित्त है। मैं उसे अवश्य करूँगा।"

(आकाश से)—"जामातृवध के लिए शत्रुवध, और देशद्रोह के लिए आत्मवध।"

[जयचंद मूर्च्छित होता है। एक मन्द प्रकाश के साथ पटाक्षेप]

तृतीय दृश्य

[राजभवन-कन्नौज]

जयचंद—"मन्त्रिवर, उस छली यवन ने क्या विजित भूमि देना अस्वीकार किया ?"

मंत्री—"हाँ महाराज ! वह कहता है कि यदि महाराज को फिर दिल्ली का राज्य मिल जायगा, तो उसको कई बार दिल्ली विजय करनी पड़ेगी। इसलिए, वह झंझट नही बढ़ाना चाहता।"

जयचंद—"मन्त्रिवर ! क्या सारे पाप का यही परिणाम हुआ ?"

मंत्री—"सो तो हुआ महाराज !"

जयचंद—"नही मन्त्री महाशय, ऐसा नही होगा। देखो, जब दिल्लीराज ने इस पृथ्वीराज को अपना महाराज्य समर्पित किया था, उसी समय मेरे हृदय-वन में एक विषवृक्ष का बीज, बड़े विषैले काँटे से खोद कर गाडा गया। अब उस वृक्ष को उखाड़ कर क्या उसका सुख न भोग सकूँगा ?"

मंत्री—"महाराज के हाथों भारत-दुर्भाग्य ने सब कुछ कराया। क्या आश्चर्य है कि यह भी हो जाय।"

जयचंद—(खड़ा होकर) "नही, नही ! खड्गबल से सहायता मिलेगी। जयचंद निरा कायर नही है। इस थके हुए लुटेरे को, जिसका बल क्षीण हो गया है, विजय कर लेना कौन-सी बड़ी बात है।"

मंत्री—"आप जो न करें सो थोडा है। मैं आपको सलाह क्या दे सकता हूँ, पर इतना अवश्य कहूँगा कि आप भी सन्नद्ध रहिये। यवन भी इसी ध्यान में है कि अभी पृथ्वीराज अधमरा है।"

जयचंद—"मन्त्री महाशय, सैन्य सुसज्जित रखने के लिये सेनापति के पास आज्ञापत्र भेद दो। किन्तु फिर युद्ध····अच्छा। (चमक उठता है) हैं, यह क्या ! वह दूर कैसा धुँधला उजाला हो रहा है ? अरे····इसमें कोई आकृति, हाँ हाँ वही तो है, संयोगिता····"।

मंत्री—"महाराज ! क्या आपको भ्रम हो रहा है ? कहाँ ध्यान है।"

जयचंद—"भ्रम नहीं, मंत्रिवर, भ्रम नहीं होता है। मैंने प्रायश्चित्त करने की प्रतिज्ञा की है।"

मंत्री—"कैसा प्रायश्चित्त महाराज ?"

जयचंद—"पाप का। मन्त्री, जिसे मैंने किया है। देखो मंत्रिवर, एक पुच्छ-मर्दिता सिंहिनी-मूर्ति प्रायश्चित्त करने को अपनी उँगली उठा कर मुझे चिताती है। देखो, वह...."।

मंत्री—"महाराज ! आप कैसी उन्मत्त की-सी बातें कर हैं ? यह समय धैर्य्य का है। आपको एक प्रबल शत्रु से सामना करना है, उसके सामने क्या आप इसी तरह से अपनी रक्षा करेंगे ?"

जयचंद--"क्या कहा, शत्रु नहीं है। सभी तो हैं। तुम भी हमारे शत्रु हो। क्या तुम नही हो ? मंसार ही शत्रु है, उससे क्या करें। बोलो, कहो कौन मित्र है ?"

मंत्री—"महाराज मावधान हूजिये, बड़ा विपम समय है।"

जयचंद —"हाँ मन्त्री, क्या कहा विप ? हाँ, यह भी तो प्रायश्चित्त का एक उपकरण है।"

मंत्री—"हा शोक !" (जाता है)

[राजा जयचंद स्तब्ध बैठ जाता है]

[पट-परिवर्तन]

चतुर्थ दृश्य

[दिल्ली दरबार, मुहम्मद गोरी सिंहासनासीन]

दरबारी —"शाहंशाह को तख्ते हिंदोस्तान मुबारक हो।"

मुहम्मदगोरी—"बहादुर सर्दारों ! दीन इस्लाम को तख्ते हिंदोस्तान मुबारक हो।"

दरबारी—"आमीं, आमीं।"

मुहम्मदगोरी—"बहादुर शफ़कत ! आज सचमुच हिन्दोस्तान हलाली झंडे के नीचे आ गया। और यह सब तो एक वात है, दर असल खुदाये पाक को अपने पाक मजहब को ज़ीनत देना मंज़र है। नही तो भला इन फौलादी देवजादे हिंदुओं पर फतह पाना क्या मुमकिन था ?"

दरबारी—"कभी नहीं, हरगिज़ नहीं।"

शफ़क़त—"लेकिन हुजूर, रायपिथौरा भी एक ही देवसूरत और बहादुर शख्स था। बेहोश होने पर ही कब्जे में आया।"

एक दरबारी —"अजी, क्या उस मूजी की तारीफ करते हो।"

मुहम्मदगोरी—"नहीं अनवर ! तुम भूल करते हो। हकीकत में वह शख्स काबिले तारीफ था। और मुसलमानों को भी वैसा ही मज़हब का पक्का होना चाहिये। देखो, कितनी बेरहमी से उसका कत्ल किया गया, मगर, उस काफिर ने पाक दीन इस्लाम को नहीं कुबूल किया। वाकई बहादुर था।"

दरबारी—(सर झुकाकर) "बजा इर्शाद।"

शफकत—"मगर हुजूर ! कम्बख्त, काफिर जयचंद भी खूब ही छका। उसने समझ रक्खा था कि 'तख्ते देहली हमी को मिलेगा।' आपके जवाब ने तो उस पर कोह ढहा दिया होगा। चकनाचूर कर दिया होगा।"

मुहम्मदगोरी—(हँसकर) "एक ही बेवकूफ है। पूरा उल्लू बना। (कुछ सोचकर) मगर शफकत, इस दुश्मन को भी लगे हाथ न कमजोर करेंगे तो यह भारी नुकसान पहुँचावेगा।"

दरबारी—(खड़े होकर तलवार निकालकर) "शाहंशाहे आलम ! जंग ! फतेह !!"

मुहम्मदगोरी—"बहादुर सरदारो ! बैठो। आज फतेह की खुशी मनाओ। कल इसका बहुत जल्द इन्तेज़ाम होगा।" (इनाम देता है)

[पटाक्षेप]

पंचम दृश्य

[दुर्ग का एक भाग]

[जयचंद और मन्त्री]

जयचंद—"मन्त्री ! उन दुष्ट राजाओं ने क्या उत्तर दिया ?

मत्री—"महाराज ! किसी ने कहा कि—'क्या महाराज फिर कोई राजसूय यज्ञ करेंगे, जो बुलावा हो रहा है ? अच्छा उपहार की सामग्री एकत्र करके आता हूँ।" किसी ने कहा—मैंने महाराज की आज्ञा से सेना घटा दी है। जब सब सेना एकत्र होगी, तब आऊँगा।' किसी ने उत्तर दिया कि—'जहाँ तक हो सकेगा शीघ्र आऊँगा'।"

जयचंद—"कहो, कहो, सत्य और शीघ्र कहो।"

मंत्री—"महाराज ! किसी-किसी ने यह भी कहा है कि हम देशद्रोही का साथ न देंगे। यदि यवन लोग आपसे चढ़ आते, तो अवश्य हम उनकी सहायता करते, पर जब उन्होंने स्वयं उसे बुलाया है, तब हमलोग कुछ नहीं कर सकते।"

जयचंद—"हाँ ! मंत्री ! जयचंद के अधीन राजाओं और सरदारों को

ऐसा कहने का हौसला हो गया ? चलो अच्छा हुआ। तुमने रक्षा का क्या उपाय सोचा है ?"

मंत्री—"महाराज ! चौहान और राठौर के युद्ध में साहसी, शूर और राजभक्त सेना कट चुकी है, यह तो महाराज को मालूम ही होगा। जो कुछ है, तैयार हो रही है।"

[चर का प्रवेश]

चर—"महाराज की जय हो ! मंत्री महाशय ! अभिवादन करता हूँ।"

मंत्री—"कुशल तो है ? कहो क्या समाचार है ?"

चर—"महाराज ! यवनों की एक बड़ी सेना, इसी ओर चुप-चाप बढ़ती चली आ रही है। संभव है कि पहर-दो-पहर में वह कन्नौज तक पहुँच जाय।"

जयचंद—"मंत्री ! क्या होगा ?"

मंत्री—"महाराज ! आप वीर हैं, युद्ध के लिए प्रस्तुत होइए।"

जयचंद—**(सोचकर)** "नही मंत्री ! इन मेरी पाप-भूषित भुजाओं में अब वह बल नहीं है कि युद्ध करूँ। लो, शीघ्र राजकुमार को बुलाओ। यह राज्य उनका है, अब वही इसकी रक्षा करे। मुझसे कोई संसर्ग नही है।"

मंत्री—"महाराज ! वह नये राजकुमार है, भला ऐसे संकट में उनसे रक्षा होगी ?"

जयचंद—"भला मंत्री ! तुम नही जानते कि मुझे प्रायश्चित्त करना है। **(आकाश की ओर)** देखो, देखो, वह कौन मूर्ति है ! हाँ हाँ, देवि ! क्रुद्ध न हो, मैं अवश्य प्रायश्चित्त करूँगा। लो मै जाता हूँ **(मन्त्री से)** मंत्री ! तुम जानो, राजकुमार जाने। कन्नौज राज्य से मेरा कुछ सम्बन्ध नही। मैं प्रायश्चित्त करने जाता हूँ।"

[प्रस्थान, पटाक्षेप]

छठा दृश्य

[स्थान—गंगा तट]

[जयचंद और साथी]

जयचंद—"सैनप ! तुम मेरे साथ क्यों आ रहे हो ? क्या यहाँ भी कोई सेना है ? जाओ, यदि तुम्हारे किये कुछ हो सके, तो कन्नौज की रक्षा करो। और नहीं तो मरने ही की ठीक प्रतिज्ञा हो, तो चलो। गंगा-तट से बढ़कर कौन-सी भूमि है !"

सैनप—"महाराज, वीरों के लिए रण-गंगा से बढ़ कर दूसरा पुण्यतीर्थ नहीं है। परन्तु करूँ क्या, मेरे ऊपर आपकी रक्षा का भार है।"

जयचंद—"ह ह ह ह, पर यह भी जानते हो कि मेरे ऊपर कितने पापों का

भार है ? भला सब तुम्हारे उठाये उठेगा ? मैं तो प्रायश्चित्त करने जाता हूँ, तुम्हारा तो कोई पापकर्म्म प्रकट नहीं है। फिर तुम क्यों चलते हो ? जाओ, जल्दी अपने देश के कार्य्य में, अपने हाथों को लगाओ !"

सैनप—"महाराज आप !"

जयचंद—"बोलो मत, मैं एक बार फिर उसी गजेंद्र पर चढ़ कर प्रायश्चित्त करूँगा, जिस मदांध पर चढ़ कर मैं भी मदांध हो गया था। हाँ, सैनप, एक बात कहना मैं भूल गया था। कन्नौज निवासियों से कह देना कि तुम्हारे पापी राजा ने, जिनकी तुम लोगों ने बहुत-सी आज्ञाएँ मानी हैं, एक अंतिम प्रार्थना यह की है कि यदि हो सके, तो शहाबुद्दीन का वध करके उसकी रक्तधारा से दो एक अँजुली, जयचंद के नाम पर देना क्योंकि पापियों को नरक में यही पीने को मिलता है। बस, जाओ।"

[सैनप का प्रस्थान, जयचंद का गजारोहण और गंगा में धँसना]

जयचंद—बस महाशय ठहरो ! (आकाश की ओर देख कर) देवि ! एक तो मैं नहीं कर सका; पर दूसरा तो मेरे वश में है, वह प्रायश्चित्त करता हूँ। देश-द्रोह के लिए आत्मवध। हाँ फिर, इससे बढ़कर दूसरा स्थान कहाँ है ? पतितपावनी, प्रणाम (कूद पड़ता है)

[पटाक्षेप]

●

कल्याणी परिणय

•

नागरी प्रचारिणी पत्रिका ई० १९१२ में सर्वप्रथम प्रकाशित

पात्र-परिचय

•

चाणक्य

चन्द्रगुप्त

इन्दुशर्मा

चण्डविक्रम

सिल्यूकस

मेगास्थनीज़

साइर्बटियस

दौवारिक

चर

•

कार्नेलिया (कल्याणी)

एलिस

तरलिका, चार नर्त्तकियाँ

कल्याणी परिणय

पहला दृश्य

[सिंधुतट-कानन। चाणक्य टहलता हुआ दिखाई देता है]

चाणक्य—वाह ! प्रभात का समय भी कैसा सुंदर होता है, देखो।

(पद्य)

अंधकार हट रहा जगत जागृत हुआ।
रजनी का भी स्तब्ध भाव अपसृत हुआ ॥
नीलाकाश प्रशांत स्वच्छ होने लगा।
दक्षिण-पवन-स्पर्श सुखद होने लगा ॥
क्लांत निशा जो जगी रात भर मोद में।
चली लेटने आप नींद की गोद में ॥
ऊषा का पट ओढ़ लिया अति चाव से।
अंतरिक्ष में सोने को शुचि भाव से ॥
पर जीवों को जगा दिया कलनाद से।
जो तंद्रा-सुख भोग रहे आह्लाद से ॥

(कुछ ठहर कर) पर मुझे भी दिन-रात राज-काज के झगड़ों ने दूसरा ही बना डाला। चाणक्य ! तेरी वह शांति कहाँ गयी ? इस क्रूर कार्य में क्यों तूने हाथ डाला ? हाय, सब कहते है कि चाणक्य बड़ा ही दुष्ट है पर उन्हें यह ध्यान ही नहीं कि यह कार्य ही ऐसा है ! संसार ! संसार !! तेरी लीला अपरंपार है। मनुष्य को ध्यान भी नहीं रहता कि वह क्या से क्या हो गया। अनिर्वचनीय शक्ति तूने—

छाया-सा अस्पष्ट चित्र दिखला दिया।
भ्रममय अनुसंधान हमें सिखला दिया ॥

नहीं तो कहाँ मैं, और कहाँ यह दुस्तर कुहेलिका-समुद्र संसार !

(स्मरण करके गद्‌गद कण्ठ से आँखें बन्द किए हुए)

आह !
दूर छोड़ कर देश किस जगह आ गया।
यात्री का पद कहो कहाँ से पा गया ?

नये-नये हैं साथ राह भी है नयी।
नव विस्मृति के साथ व्यथा नव हो गयी ।।
सुख समुद्र के बीच प्रेम का द्वीप था।
चंद्रदेव का रजत-बिंब ही दीप था ।।
पवन-सुरभि आनंदपूर्ण सुख शीत था।
नव वसंत का राग शांति-संगीत था ।।
चिर वसंत-मय काम्य कुसुम के कुञ्ज थे।
जिनमें विहरणशील रसिक अलिपुञ्ज थे ।।
इतना था सौहार्द सभी हम एक थे।
एक अकेले हमी रहे, न अनेक थे ।।
करुणा का था राज्य, प्रेम ही धर्म था।
युद्धानंद विनोद एक ही कर्म था ।।
न था किसी मे मोह, कभी न विवाद था।
मिलता अविरत स्वच्छ सुधा का स्वाद था ।।
भीति शीत की भी, न मार्ग की यंत्रणा।
यह कुचक्र-मय चाल न थी, न कुमंत्रणा ।।

सैनिक—(**प्रवेश करते, स्वगत**) रंग-ढंग तो आज निराला है, बाप रे बाप ! किसके लिए कुमन्त्रणा की चक्की तैयार हो रही है ? किसका सिर पीसकर यंत्रणा दी जायगी ? कह दें, साहम ही नही होता कि कह दे। अच्छा ठहर जायँ।—

चाणक्य—(**निःश्वास लेकर आँख खोलता हुआ**)

तप्त हृदय का उष्ण नही निःश्वास था।
शुद्ध प्रेम-मय भाव सत्य विश्वास था ।।

सैनिक—(**जल्दी से**) मंत्रिवर ! ग्रीक शिविर से एक ब्राह्मण आये हैं।

चाणक्य—(**झिड़क कर**) चला जा यहाँ से। तुझे किसने यहाँ आने को कहा है ?

सैनिक—(**घबराकर काँपता हुआ**) उसी ब्राह्मण ने। जाने लगता—

चाणक्य—(**रोक कर**) उसने अपना नाम भी कुछ नताया है (**कुछ सोचकर**) अच्छा, जाओ बुला लाओ। (**सैनिक जाता है**)

इंदुशर्मा—(**प्रवेश कर**) नमस्कार !

चाणक्य—नमस्कार ! कहो जी क्या समाचार है ?

इंदुशर्मा—अमात्य ! हमारा चंद्रगुप्त के शिविर में आना आज यवनों पर विदित हो गया, आज मैं किसी तरह वहाँ से चला आया पर अब न जाऊँगा।

(पुरजा देकर) यह लीजिये यह ग्रीक शिविर का पूरा विवरण इसी में लिख दिया है, इसे आप स्वस्थ होकर पढ़ लीजिये।

चाणक्य—मित्र ! हम तुम्हारे कृतज्ञ हैं। पर क्या एक बात जानने में तुम हमारी कुछ सहायता कर सकोगे ? क्या यह बता सकते हो कि यवन शिविर में से कुछ स्त्रियाँ जो बाहर निकलकर घूमती थीं, कौन थीं ?

इंदुशर्मा---**(कुछ सोचकर)** वह तो यवन सम्राट् सिल्यूकस की कन्या थी जिसे मैं पढ़ाया करता था।

चाणक्य—ठीक है। मुझे भी यही संदेह था। अच्छा, अब विश्राम करें **(इंदुशर्मा जाता है। चाणक्य फिर टहलने लगता है। कुछ सोचकर)** हूँ, तभी चन्द्रगुप्त की यह अवस्था है। अच्छा, पर क्या इतना परिश्रम व्यर्थ होगा। तलवार से नहीं, बुद्धि से नहीं, लक्ष्मी की झलक से नहीं, केवल एक क्षुद्र कटाक्ष से कौटिल्य का कूट-चक्र टूट जायगा। कभी नहीं, कभी नहीं। कोई कवि होता तो अवश्य कहता—

> कृष्ण केसर से भरे नव नील सरसीरुह अहो।
> देखकर किसका मधुप-मन धैर्य धरता है, कहो॥
>
> पड़ गयी माला गले जिसके सरस नलिनाक्ष की।
> कंटकों की है लड़ी तैयार कुटिल कटाक्ष की॥
>
> चुभ गये काँटे जिसे वह एक पग चलता नही।
> दलित अपने हृदय को निज हाथ से मलता वहीं॥

पर मुझे तो ऐसी कपोल कल्पनायें अच्छी नही लगतीं। चंद्र प्त ! क्या ठीक कुमारी के भोगे सुख ने तुझे भुला दिया कि तूने किस कठिनाई से राज्य पाया है। हूँ, मैं समझ गया। यवनों की एक चाल यह भी है। मछली फँसाने के लिये वंशी फेंक दी गयी है, चारा भी मुँह में लग चुका है। पर अभी वारा-न्यारा नहीं हुआ। **(हँसकर)** अरे चाणक्य ! तिमिंगल और वंसी सहित अहेरी खिंचा चला आये तब तो नाम, नहीं तो ये भी क्या जानेंगे। **(घूमकर नेपथ्य की ओर देखकर)** उधर देखो, चंद्रगुप्त चला आ रहा है, मुखमंडल सन्ध्या के कमल-सा हो गया है, अहा ! इसका मलिन मुख हमसे नही देखा जाता। संभवत: यह प्राभातिक वायु सेवन करके शिविर की ओर लौटा जा रहा है। मैं भी अपना आह्निक-कृत्य समाप्त कर चुका हूँ। चलूँ, अभी बहुत-सा कार्य करना है। प्रभात ने जो थोड़ी शांति मिली थी, इन झंझट के कामों से वह फिर जाती रहेगी। **(जाता है)**

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

(शिविर में चंद्रगुप्त और चंडविक्रम)

चंद्रगुप्त—अजी जाकर महामंत्री से कह दो कि मैं अस्वस्थ हूँ, इससे थोड़ी देर में मंत्रणागृह में आऊँगा। **(स्वगत)** इन झंझटों से घड़ी भर भी अवकाश नहीं।

चंडविक्रम—किन्तु महाराज ! ऐसे रण-प्रांगण में आप क्यों सुस्त हो रहे हैं कुछ समझ में नहीं आता ? आज पाँच दिन से समस्त सैनिक लोग व्यग्रमुख से आप से आज्ञा की आशा कर रहे हैं।

चंद्रगुप्त—वयस्य चंडविक्रम। युद्ध कोई खिलवाड़ तो है नहीं, कि जब इच्छा हुई अकारण सैनिकों का नाश कर दिया जाय। यह तो शत्रु की विशेष गतिविधि पर ध्यान रखकर किया जाता है जिसमें अपनी हानि न हो।

चंडविक्रम—**(धीरे से)** पर मैं देख रहा हूँ कि महाराज के हृदय-पट पर कोई अलक्षित चित्रकार नया रंग भर रहा है।

चंद्रगुप्त—**(चौंककर)** क्या कहा, क्या ? तुम तो व्यर्थ ही शंका कर रहे हो।

चंडविक्रम—**(हँसकर)** महाराज ! शंका किसलिये करूँ।

चंद्रगुप्त—**(छिपाते हुए)** कुछ नही, हमने समझा कि तुम कुछ दूसरी बात समझ रहे हो।

चंडविक्रम—महाराज !

नव धन जल सींची जा चुकी जो धरा है।
हृदय सरस जिसका भाव ही से भरा है॥
वह प्रगट न वैसी आर्द्र देती लखाई।
तृण हरित बताते हो गयी है सिचाई॥

चंद्रगुप्त—इस कविता का भाव मेरी समझ में नही आया।

चंडविक्रम—

वसन्त के कानन में खिला जो।
मलिन्द से प्रेम भरा मिला जो॥
गुलाब वो गन्ध छिपा सके नही।
समीर-निःश्वास कहे जहाँ तहीं॥

चंद्रगुप्त—**(मुस्कराकर)** यह तो तुमने अच्छा मघवा का अर्थ बिड़ौजा किया।

चंडविक्रम—क्षमा कीजिये, अब मुझे प्रगट कहना पड़ा। अच्छा, कल आप मृगया खेलते-खेलते किधर चले गये थे ? हम लोगों से जब आप अलग हुए तब मालूम होता है कि मृग तो आपके हाथ लगा नहीं वरन् आप ही किसी मृगनयनी की बरुनी के जाल में फँस गये। मैं तो यही समझ सका, आगे जो कुछ हो।

चंद्रगुप्त—अब तुमसे क्या छिपायें, सुनो। जब मृग के पीछे मैं बहुत दूर निकल गया, तब मुझे मालूम हुआ कि मैं जंगल की सीमा पर चला आया हूँ। अस्तु, मैं थोड़ी देर तक वहाँ ठहर गया क्योंकि मृग झाड़ी में छिप गया था और मैं भी शान्त हो गया था। अभी थोड़ी देर भी नहीं हुई थी कि मृग घोड़ों की टाप सुनकर झाड़ी में से निकलने लगा। मैंने भी अपना धनुष चढ़ा कर ज्यों ही तीर छोड़ना चाहा कि, हाय, मैं स्वयं घायल हो गया। (चुप हो जाता है)

चंडविक्रम—हाँ, फिर क्या हुआ ? कहिये न, इसी से तो मैं समझता हूँ कि आप छिपाना चाहते हैं।

चंद्रगुप्त—क्या कहें ! उसी ममय मेरे सामने से सुंदरियों का एक झुण्ड अपने घोड़ों को दौड़ाता हुआ निकल गया। चंडविक्रम ! मैं तो अबाक्-सा रह गया। मुझे मालूम हुआ कि नन्दनकानन से भूलकर अप्सरायें 'स घोर कानन में चली आयी हैं। अहा ! उसका लावण्य तो मैं कह नहीं सकता जो सब के आगे काले घोड़े पर सवार होकर नीलघन की चपला को लजा रही थी।

[पद्य लावनी]

वे खुले अलक मारुत से क्रीड़ा करते।
मुखरूप-सिन्धु में लहरों को अनुहरते॥
था रूप मिला परिमल से प्रेम-भरा था।
वर्षा-कानन सा निर्मल हुआ हरा था॥
राका वसन्त-सा मधुर, तीक्ष्ण दिनकर-सा।
गम्भीर शान्ति-संगीत सुधामय स्वर-सा॥
आकर्षण था उस चन्द्रकान्त में ऐसा।
खिच जाय हृदय लोहा का भी हो कैसा॥

अहा, वह नैसर्गिक सौन्दर्य क्या फिर भी देखने को मिलेगा ?

(नेपथ्य में कोलाहल। सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—महाराज की जय हो। शत्रुओं ने अचानक आक्रमण कर दिया है। सेनापति सिंहनाद सेना लेकर अग्रसर हो रहे हैं।

चंद्रगुप्त—(शीघ्रता से) जल्दी, घोड़ा खींचने के लिए कहो। चंडविक्रम ! चलो देखें तो आज ग्रीक लोग कितने वीर हैं। शीघ्र प्रस्तुत हो।

[सैनिक और चंडविक्रम जाते हैं]

आवें लड़ें ग्रीक, हम वीर निर्भीक,
प्रण में रहें ठीक, सब वीर मेरे।
देखे सबल हाथ, रण बीच कर साथ,
अर्पण करें माथ, पहुँचे न डेरे। आवें····

[चंद्रगुप्त जाता है। चाणक्य का प्रवेश
चाणक्य सीटी बजाता है, गुप्तचर का प्रवेश]

चर—क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—कठिन कार्य है। आज तुम्हारी कठिन परीक्षा है।

चर—आप कहिये, मैं अवश्य करूँगा।

चाणक्य— यह तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि चंद्रगुप्त का पराक्रम ठीक है पर उस पराक्रम की अग्नि में घी डालने का काम तुम्हारा है। जिस समय चन्द्रगुप्त विजयी हो रहा हो उस समय तुमको उसके पास पहुँचकर यवनकुमारी का ध्यान दिलाना होगा और शिविर भी बतलाना होगा। यदि तुम कृतकार्य हुए तो समझ लेना कि चाणक्य तुम्हे यथेष्ट पुरस्कार देगा।

चर—जो आज्ञा ! **(जाता है)**

(पटाक्षेप)

तृतीय दृश्य

[सिन्धु तट पर चन्द्रगुप्त की सेना]

(समवेतस्वर)

जय जय जय आदि भूमि, जय जय जय भरत भूमि।
जय जय जय जन्म भूमि, अपने सम प्यारी॥
निखिल-विश्व-गुरु समान, जिसका गौरव महान।
प्रति कण मे निहित ज्ञान, प्राण देह धारी॥
हम सब है महाप्राण, भारत के शिरस्त्राण।
अखि शरधनु धारी॥
हिमगिरि सम धीर रहें, सिन्धु सम गँभीर रहें।
जननी व्रतधारी॥

[चंद्रगुप्त का प्रवेश]

सेना—जय ! महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त की जय !

चंद्रगुप्त—वीरगण ! आज जो परिश्रम आप लोगों ने किया वह अकथनीय है। आज ही मुझे मालूम हुआ कि मैं अकेला नहीं हूँ। भारत के अगणित वीरपुत्र सच्चे हृदय से मेरा साथ दे रहे हैं।

सिंहनाद—सब महाराज के चरण का प्रभाव है

चंद्रगुप्त—वीरगण ! तुम्हारे ऐसे कर्मण्य वीरों के शौर्य, मेरे साहस और ईश्वर की कृपा के मिल जाने से आज सिल्यूकस की विजयिनी ग्रीकवाहिनी को हम लोगों से पराजित होना पड़ा है।

सेना—जय, सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय !

[चर आकर चंद्रगुप्त से कुछ धीरे से कहता है और इंगित पाकर चला जाता है]

चंद्रगुप्त—(सैनिकों से) वीरगण ! हम लोगों को अभी और कुछ करना है। ग्रीक नरपशुओं को पवित्र भारतीय धरा से बाहर हाँक देना चाहिए। जिससे ये फिर से हमारी शस्यश्यामला धरा की ओर लोलुप दृष्टि से न देखें।

सैनिक—जैसी महाराज की आज्ञा।

[चाणक्य का प्रवेश]

चाणक्य—विजयतां भारत सम्राटः।

चन्द्रगुप्त—आर्य। अभिवादन करता हूँ।

चाणक्य—वत्स ! विजयलक्ष्मींलभस्व।

चन्द्रगुप्त—आर्य ! इच्छा होती है कि ग्रीक शिविर पर अचानक आक्रमण करके कूट-युद्धकारी ग्रीकों को बता दें कि भारत को विजय करना दुःसाध्य ही नहीं किन्तु और कुछ भी है।

चाणक्य—ग्रीक शिविर में, सेना और सेनापति दोनों को विशेष लाभ की सम्भावना है।

चन्द्रगुप्त—(प्रसन्न होकर) आर्य का आशीर्वाद सादर ग्रहण करता हूँ।

चाणक्य—अभीष्ट-सिद्धि हो।

(चन्द्रगुप्त आगे होता है और सैनिक पीछे-पीछे 'जय जय जय आर्य भूमि' इत्यादि गाते हुए जाते हैं)

(पटाक्षेप)

चौथा दृश्य

(राजकीय कानन)

कठिन कुहक कल्पनामयी, प्रतिक्षण-सी नित्य नयी।
कल-कल नाद सुनाती है यह मृग-मरीचिका-मयी॥
छाया-सी छोड़ती न छन भर ऐसी ढीठ, भयी।
अंक सदृश बढ़ती है इसकी प्रतिभा प्रभा नयी॥

कार्नेलिया—पिता ! वृद्ध पिता ! तुम्हें आशा कब तक दौड़ाया करेगी ? क्या तुम्हारा पहला शासनविस्तार कम है जो इस पिशाची की छलना में पड़े लाखों जीवों का नाश करा रहे हो। अहा हा ! इस शस्य श्यामला धरा को रक्तरंजित करनेवाले हिंस्र पशु नहीं तो क्या हैं ? ये नर पशु ग्रीक-सैनिक मारी की तरह देश का नाश कर रहे हैं। भारत की पवित्र भूमि केवल हत्या, लूट, रक्त और युद्ध से वीभत्स बनायी

जा रही है। वाह कैसा सुन्दर देश है ! मुझे इस भूमि से जन्मभूमि का-सा प्रेम होता जा रहा है। जिधर देखो नया दृश्य—

श्यामल कुंज घने कानन ऊँचे शैलों की माला है।
सिन्धुधार बह रही स्वच्छ जैसे फूलों की माला है॥
सतत हिमावृत शृंग बहाते इसमें सरिता धारा है।
स्नेहमयी जननी के मन में जैसे करुणा धारा है॥
सुखद सूर्य उत्ताप शीत में वर्षा में जल धारा है।
शरद गगन में रजत चन्द्रमा घनीभूत ज्यों पारा है॥
हरे भरे सब खेत, सरल मानव, सरला सब बाला हैं।
देव समान उदार-वदन सब इनका ढंग निराला है॥

[एलिस का प्रवेश कार्नेलिया को देखकर]

एलिस—**(स्वागत)** वाह नया रंग है। पतंग बाढ़ पर है। **(प्रगट)** राजकुमारी !

कार्नेलिया—कौन ? एलिस, तू, आ गयी। देख इस दृश्य के देखने में मैं ऐसी तन्मय थी कि तेरा आना मुझे मालूम नहीं हुआ।

एलिस—कुमारी ! सन्ध्या का दृश्य तो यों ही मनोहर होता है—

अस्त हुये दिन-नाथ पीत कर कान्ति को।
सरला सन्ध्या लगी बुलाने शान्ति को॥
सांसारिक कलनाद शान्त होने लगा।
विभु का विमल विनोद व्यक्त होने लगा॥

कार्नेलिया—क्रमशः तारापुंज प्रकट होने लगे।
सुधा कन्द के बीज विमल बोने लगे॥
उज्ज्वलतारे शान्त गगन भी नील है।
प्रकृति ढाल में जड़े हीर के कील हैं॥

एलिस—किन्तु कुमारी समय का भी क्या ही प्रभाव है—
हुआ काकरव क्लान्त, कोकिला खुल पड़ी।
लगी बुलाने उसे आँख जिससे लड़ी॥
मलयानिल भी मधुर कथा का भार ले।
चला मचलता हुआ सुमन का सार ले॥

कार्नेलिया—**(बात बदलते हुए)** सखी, वह सब क्या दिखायी पड़ रहा है ?

एलिस—तरुश्रेणी में सौध सुशैल समान ये।
नागरिकों के हैं प्रमोद उद्यान ये॥

वैयारी में हैं कुसुम विटप मन भावने।
आरोपित हैं यथास्थान काटे, बने ।।

कार्नेलिया--क्यों सखी ! क्या उनको काट-छाँट देने से उनका स्वाभाविक सौन्दर्य बिगाड़ा नहीं जाता ? क्या वे उसी तरह नहीं भले मालूम होते ?

एलिस—नागरिकों के हैं प्रमोद की वस्तु ये।
बढ़ सकते हैं नहीं यथेप्सित अस्तु ये ।।
उल्लासित हो जिसने हाथ बढ़ा दिया।
यथास्थान रहने को वह काटा गया ।।

कार्नेलिया—प्यारी सखी -
प्रकृति उदार करों से जो पाले गये।
नीरद से जल-बिन्दु जहाँ डाले गये ।।
उन वर्धित तरुवृन्द प्रफुल्ल सुवास से।
कर सकते ममता न अहो ! ये दास से ।।

एलिस—कुमारी ! एक बात कहना तो मैं भूल ही गयी, अच्छा न कहूँगी।

कार्नेलिया---क्या-क्या ? कह दे, तुझे कहना ही होगा।

एलिस—उस दिन सिन्धु तट के शिविर के बाहर जब हम लोग घूमने गयी थीं तब वहाँ एक युवक दिखायी पड़ा था, जिसे तुम बहुत घूम-घूमकर देख रही थीं—

कार्नेलिया—**(रोक कर)** मैं क्यों देखने लगी। तूने ही कहा कि कोई शत्रुपक्ष का सैनिक है। हम लोगों को बढ़ चलना चाहिये।

एलिस—**(हँसकर)** हाँ हाँ, तो फिर इतना क्रोध क्यों करती हो सुनो, वही भारतवर्ष का राजा चन्द्रगुप्त था, शिकार खेलते-खेलते उधर आ गया था।

कार्नेलिया—**(अनमनी होकर)** होगा। क्या कोई शिविर से दूत आया है ?

एलिस—हाँ ! कहता था कि शाहंशाह सिल्यूकस को कुछ चोट आ गयी है।

कार्नेलिया—हाय ! सखी मैं बाबा को देखने शीघ्र जाऊंगी। तू भी चल।

एलिस—चलूंगी क्यों नही, अच्छा तैयारी करने की आज्ञा दे दें। **(जाती है)**

[पटाक्षेप]

पाँचवाँ दृश्य

[सिल्यूकस का शिविर]

कार्नेलिया—बाबा ! क्षमा करना। मेरा हृदय नहीं मानता था। युद्ध का समाचार सुनकर मैं न ठहर सकी, आपने मुझे क्यों हटा दिया था, अब मैं कहीं न जाऊँगी।

सिल्यूकस—बेटी ! तू आ गयी, इससे मैं क्रोधित नहीं हूँ। मेरे हारे हुए हृदय को तुमसे ढाढ़स मिलेगा।

कार्नेलिया—बाबा ! क्या विजेता सिल्यूकस को भी चन्द्रगुप्त ने पराजित किया ?

[सिल्यूकस चुप रह जाता है। नेपथ्य में कोलाहल। रणवाद्य]

सिल्यूकस—है ! यह क्या ?

कार्नेलिया—बाबा मैं बाहर देखती हूँ, क्या है। **(जाती है)**

(चन्द्रगुप्त के साथ सैनिकों का प्रवेश। सिल्यूकस को घेरकर तलवार छीन लेते हैं वह निश्चेष्ट खड़ा रह जाता है)

चन्द्रगुप्त—क्यो ग्रीक सम्राट् ! क्या युद्ध-पिपासा अभी नही मिटी ? भारत को क्या आप लोगो ने मृगया का स्थान समझ लिया है। यह नही जानते कि मृगेन्द्र भी उसी कानन मे रहता है।

(सिल्यूकस चुप रह जाता है। कार्नेलिया का प्रवेश। दौड़कर वह सिल्यूकस से लिपट जाती है)

चन्द्रगुप्त—**(स्वगत)** आह ! यह तो वही सुन्दरी है। चर ने ठीक ही कहा था।

सिल्यूकस—बेटी ! तू इन लोगो से मेरे लिए कुछ प्रार्थना मत करना। यह सदैव ध्यान रखना कि ग्रीक-रक्त तेरे अग मे है।

कार्नेलिया—बाबा ! क्या मैं सिल्यूकस की कन्या नही हूँ ! क्या आप वीरों की तरह मरना नही जानते ? **(चन्द्रगुप्त को देखकर)** सुन्दर युवक !

चन्द्रगुप्त—**(स्वगत)** सिह के योग्य सिंहिनी है। **(प्रगट)** मैं इसका परिणाम तुम्हारे ही ऊपर छोडता हूँ। ग्रीकसम्राट् क्या फिर आर्य वीरो मे लड़ेंगे ? आशा है कि तुम इसे बड़ी सरलता से हल कर सकती हो और तुम से दो-एक दिन मे उत्तर मिलेगा। **(सिल्यूकस से)** आप मुक्त है। अब मैं जाता हूँ।

(पटाक्षेप)

छठवाँ दृश्य

[दुर्ग का उद्यान। सिल्यूकस]

सिल्यूकस—आह ! बड़ी वेदना ! घोर अपमान ! क्या इसका प्रतिशोध नही लिया जा सकता !

[साइबर्टियस और मेगस्थिनीज़ का प्रवेश]

साइबर्टियस—**(अभिवादन करके)** सम्राट् ! चन्द्रगुप्त की सेना ने चारों ओर से ऐसी व्यूह रचना की है कि इस दुर्ग को भी आप घिरा समझिये।

सिल्यूकस—क्यों ? उसने तो हम लोगों को मुक्त कर दिया था। फिर अवरोध क्यों ?

मेगास्थनीज—यह उसके मन्त्री चाणक्य की चाल है। उसने प्रसिद्ध कर रखा है कि 'यह सेना आप लोगों को रोकने के लिए नहीं प्रत्युत आपकी रखवाली के लिये है।'

सिल्यूकस—उन लोगों का तात्पर्य क्या है ? जब एक बार मैत्री हो गयी फिर ऐसा क्यों ?

मेगस्थिनीज—सम्भव है कि वह कुछ नियम स्वीकार कराना चाहता हो।

सिल्यूकस—क्यों ? क्या ग्रीक इतने कायर हो गये ?

साइबर्टियस—आपको अपने उस रक्षित साम्राज्य का भी ध्यान रखना चाहिये।

सिल्यूकस—क्या कोई नया समाचार उधर से आया है।

साइबर्टियस—आण्टिगोनस शीघ्र ही मीरिया पर चढ़ाई करना चाहता है **(पत्र देकर)** इसे पढ़ लीजिये उसका ध्यान करके चन्द्रगुप्त से सन्धि कर लेना ही ठीक होगा ; क्योंकि यह आपका प्रबल शत्रु है जो आपके समीप है।

सिल्यूकस- **(पत्र पढ़कर)** अच्छा मैं यह कार्य तुम दोनों आदमियों के ऊपर छोड़ता हूँ। इसे जैसा ठीक समझो, करो। **(दोनों जाते हैं।)** कार्नेलिया से भी तो पूछूं वह क्या कहती है। **(जाता है)**

[पटाक्षेप]

सातवाँ दृश्य

[प्रकोष्ठ—कार्नेलिया गाती है]

(पद्य सोहनी)

कार्नेलिया—कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।

पड़ता है पतंग-सा इसमें, मन का ढंग निराला।
सान्ध्य गगन-सी रागमयी यह बड़ी कड़ी है हाला॥
काँटे छिपे गुँथे है इसमें है फूलों की माला।
चुभने पर नहि अलग हृदय से, मन होता मतवाला॥

शृङ्गार और वीर का कैसा सुन्दर समावेश है। अहा कैसी वीरत्व व्यंजक मुखाकृति है ! वह एक बार, केवल एक बार देखकर भुलायी जा सकती थी। पर यह दूसरा दर्शन दुबारा खीची हुई मदिरा की तरह हृदय को उन्मत्त बनाये देता है। **(ठहरकर)** किन्तु बाबा को उसने पराजित किया। बन्दी बनाया। फिर मेरा हृदय क्यों उसकी ओर इतना आकर्षित होता है। कभी नही. कभी नही। मैं अपने हृदय

को उसकी ओर से फेरूँगी। **(ऊपर देखकर)** कौन, तू मुझे भुलाने आयी है क्या ? वह मुक्त कर देना याद दिलाती है, हाँ, हाँ, मैं उसे न भूलूँगी, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ पर इसका परिणाम भी तो मेरे ऊपर छोड़ा गया है **(ठहरकर)** क्या करूँ ? हाँ, क्या कहा था कि 'आप मुक्त है, अब मैं जाता हूँ।' अहा क्या ही सुरीला कण्ठस्वर था ! कैसा उन शब्दों का प्रभाव था। **(गाती है)**

(पद्य विहाग)

जैसी मधुर मुरलिया श्याम की।
वैसी गूंज रही है बोली प्यारे मुख अभिराम की।
हुए चपल मृग नैन मोह वश बजी विपञ्ची काम की ॥
फैल रहो है मधुर माधवी गन्ध अंग छविधाम की।
रूप सुधा के दो प्याले दृग ने ही मति बेकाम की ॥

आह ! आलोक ! छाया ! सौन्दर्य ! सगीत ! सुगन्ध ! सब चन्द्रगुप्त ! क्या करें वह नही हटा है, मेरी आँखो का तारा हो रहा है **(बैठ जाती है। सिल्यूकस का प्रवेश। एक ओर खड़ा हो जाता है)**

कार्नेलिया—चन्द्रगुप्त ! मैं ग्रीक सम्राट् की कन्या, तुम हिन्दू राजकुमार। क्या किया जाय। बाबा ! क्या तुम मेरा आन्तरिक भाव बिना कहे नही समझ सकते ?

सिल्यूकस—**(प्रकट होकर)** क्या है बेटी, क्यों उदास हो, क्या मेरे सोच ने तुम्हे जगा रखा था, तेरा स्वास्थ्य तो ठीक है न ?

कार्नेलिया—**(घबराकर)** नही बाबा ! अब कब यहाँ से चलियेगा ?

सिल्यूकस—शीघ्र चलूँ बेटी क्या तुम्हारी राय है कि मै चन्द्रगुप्त से सन्धि कर लूँ, जिस तरह वह कहे।

कार्नेलिया—हाँ, बाबा। शीघ्र चलिये।

सिल्यूकस—जाओ सो रहो, तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नही मालूम होता। **(दोनों का प्रस्थान)**

(पटाक्षेप)

आठवाँ दृश्य

(उद्यान में मेगास्थिनीज और सिल्यूकस)

सिल्यूकस—कोई अच्छा समाचार तुम ले आये होगे, शीघ्र कहो।

मेगास्थिनीज—सम्राट् ! सन्धि करने पर तो हिन्दू लोग प्रस्तुत है, पर नियम बड़े कड़े हैं। वे कहते है कि 'सिन्धु के उस तट के कुछ देश हम लोग लेगे और....'

सिल्यूकस—चुप क्यों हो गये, कहो, वे नियम चाहे कितने ही कड़े हों पर मैं उन्हें ध्यान से सुनना चाहता हूँ।

मेगास्थिनीज—सुनिये, चन्द्रगुप्त का प्रधान मन्त्री चाणक्य ब्राह्मण है, उसने कहा कि यदि सन्धिबन्धन-दृढ़ रखना चाहें तो ग्रीक सम्राट् अपनी कन्या का विवाह महाराज चन्द्रगुप्त से कर दें। तब, सम्भव है कि महाराज चन्द्रगुप्त भी उपस्थित ग्रीस-विप्लव में तुम्हारी कुछ सहायता करें।

सिल्यूकस—क्या चन्द्रगुप्त को मालूम हो गया कि आण्टिगोनस से और हमसे शीघ्र कोई लड़ाई होने वाली है।

मेगास्थिनीज—इतना ही नहीं, उसका मन्त्री चाणक्य कहता था कि 'सिकन्दर' के साम्राज्य में जो भावी ग्रीस-विप्लव है उसे मैं अच्छी तरह समझ रहा हूँ। ऐसी अवस्था में सिल्यूकस भारत की आशा छोड़ें। उनको सीरिया मिलना भी कठिन हो जायगा। इस कारण ग्रीक-सम्राट् यदि चन्द्रगुप्त को अपना बन्धु बनायेंगे तो उनको बहुत-कुछ सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त इस विशाल भारत की सम्राज्ञी भी तो उन्हीं की कन्या होगी। मनुष्य सन्तान के लिए ही सब कुछ करता है, इस सम्बन्ध से भारत का साम्राज्य भी आपके प्रेम-बन्धन में बँधा रहेगा।

सिल्यूकस—मेगस्थिनीज, इन हिन्दुओं में केवल बाहुबल की ही प्रधानता नहीं है बल्कि ये बड़े तीक्ष्ण बुद्धि भी होते है। (ठहरकर) क्या इन भीमकाय हाथियों का झुण्ड सीरिया युद्ध में कुछ काम दे सकता है?

मेगास्थिनीज—सम्राट्। मेरी समझ में तो ये अवश्य आपको विजय दिलायेंगे।

सिल्यूकस—किन्तु, दो भिन्न जातियों में विवाह किस प्रकार हो सकता है।

मेगास्थिनीज—क्या आप उस पारस-कुमारी का ध्यान भूल गये जो राजकुमारी की गर्भधारिणी थीं।

सिल्यूकस—(स्वगत) बेटी की अनुमति तो एक प्रकार से मिल चुकी है। वह तो चन्द्रगुप्त पर अनुरक्त हुई है। (प्रगट) क्या तुम्हारी इच्छा है कि यह सन्धि जिस प्रकार हो अवश्य कर ली जाय।

मेगास्थिनीज—भारत-सम्राट् से ग्रीक-सम्राट् यदि सम्बन्ध रखें तो यह अच्छी बात है, क्योंकि यह सर्वथा उपयुक्त है।

सिल्यूकस—अच्छा। (दोनों जाते हैं)

[पटाक्षेप]

नवाँ दृश्य

[चन्द्रगुप्त बैठा है। तरलिका पान ले आती है। दरबार]

चन्द्रगुप्त—तरलिके ! आज पान तो बहुत ही अच्छा लगाया है बहुत दिनों से इधर ऐसा स्वाद पान का नहीं मिला था।

तरलिका—प्रभु की रुचि विचित्र है। मैं इतनी प्रशंसा के योग्य नहीं हूँ।

चन्द्रगुप्त—तरलिके ! मैं सच कहता हूँ।

तरलिका—नाथ ! जब चित्त को प्रसन्नता मिलती है तब बुरी वस्तु भी भली मालूम होती है।

चन्द्रगुप्त—तरलिके ! मैं तुम्हें देखकर बहुत प्रसन्न होता हूँ।

तरलिका—महाराज, बहुत दिनों के बाद आज मैंने एक माला बनायी है, उसे आप स्वीकार करें।

[माला पहना देती है]

चन्द्रगुप्त—(हँसकर) इन फूलों का रस तो भँवरे ले चुके है।

तरलिका—(हँसकर) महाराज। यह तो भँवरों की ही धृष्टता है, कलियों का क्या दोष ?

[गाती है—राग माँड़]

पाया जिसमे प्रेम-रस, सौरभ और सोहाग,
अली उसी ही कली से मिलता सह-अनुराग।
    अली नहिं एक कली का है।
कुसुम धूलि से पूर हो चलता है उस पन्थ।
डरे न कण्टक को अली पढे प्रेम का ग्रन्थ।
    अली नहिं एक गली का है।
रजनी मे सुख केलि को किया कमलिनी पास।
भयी मुद्रिता तब तुरत अली चमेली पास।
    पढ़े यह पाठ छली का है।
चाहे होय कुमोदिनी या मल्ली का पुंज।
अलि को केवल चाहिये सुखमय क्रीड़ा कुंज॥
    सुप्रेमी रंगरली का है।
    अली नहिं एक कली का है।

चन्द्रगुप्त—तरलिके ! कविता नयी है।

तरलिका—(हँसकर) महाराज समय ही नया है।

चन्द्रगुप्त—तरलिके ! मैं तुमसे इस समय बहुत प्रसन्न हुआ, अच्छा जाओ।

[तरलिका का प्रस्थान। दौवारिक का प्रवेश]

दौवारिक—महाराजाधिराज की जय हो। महामात्य चाणक्य जी आ रहे हैं।

[चाणक्य का प्रवेश। चन्द्रगुप्त उठकर उन्हें बिठाता है]

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव ! सन्धि क्या स्वीकृत हो गई ? (हँसकर) आपकी मन्त्रणा बड़ी गूढ होती है। कुछ समझ मे नही आती।

चाणक्य वत्स ! तुम राजा ठहरे, तुम्ही सोचो कि शत्रु को पाकर भी तुमने क्यों छोड दिया ? यह भी क्या हमारी मन्त्रणा मे किया गया था ?

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव ! एक बार एक ग्रीक-सम्राट् ने महाराज पुरु के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था।

चाणक्य--अस्तु, अब तुम्हें मालूम हो जाता है--चाणक्य ने क्या किया।

(तूर्य्यनाद-दौवारिक के साथ सिल्यूकस, कार्नेलिया, साइबर्टियस और मेगास्थिनीज का प्रवेश। चाणक्य सबको यथास्थान बिठाता है)

सिल्यूकस—महाराज चन्द्रगुप्त ! आपके शौर्य से हम बहुत प्रसन्न हैं।

चन्द्रगुप्त—यह आपकी महानुभावता है।

सिल्यूकस में आपसे सहर्ष मैत्री करूँगा !

मेगास्थिनीज--और यह बन्धन दृढ होवे इसलिए राजकुमारी का विवाह भी महाराज चन्द्रगुप्त से हो जाय तो अच्छा है।

चाणक्य—हाँ ठीक है। दो बालू के करारों को यथास्थान ठीक रखने के लिए एक सरला सरिता की आवश्यकता है।

चन्द्रगुप्त -(सलज्ज) जैसी गुरुवर की आज्ञा।

(सिल्यूकस-कार्नेलिया को साथ में लिये बढ़ता है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त से कल्याणी का हाथ मिला देता है। दोनों साथ बैठते हैं, चन्द्रगुप्त उसे माला पहनाता है और वह सादर ग्रहण करती है)

सिल्यूकस—बेटी ! इससे उपयुक्त वर तुम्हारे लिये मै नही खोज सकता था। और पिता का कन्या के लिये यही प्रधान कर्तव्य है।

कल्याणी—जैसी पिता की आज्ञा।

सिल्यूकस -और तुम्हें उपहार स्वरूप मै आरकोसिया और जैड्रोसिया आदि प्रदेश देता हूं।

कल्याणी—बाबा ! क्या आप मुझे यहाँ छोड़ देंगे।

सिल्यूकस नही बेटी ! मेगास्थिनीज़ बराबर यहाँ आया करेगा।

चाणक्य—तो क्या आप शीघ्र स्वदेश की ओर प्रस्थान कीजियेगा।

सिल्यूकस—मुझे अपने एक प्रबल शत्रु से सामना करना होगा।

चाणक्य—सेनानी चण्डविक्रम एक बड़ी सेना हाथियों की लेकर आपकी सहायता को जायेंगे ।

सिल्यूकस—अच्छी बात है ।

(नर्तकीगण आकर गाती हैं)

("पपीहा काहे" की धुन)

सखी सबही विधि मंगल आज ।
सब मिलके आनन्द मनावें अचल रहे यह राज !
अपने भुजबल से किया, अर्जित नव साम्राज ।
ऐसे श्री सम्राट् का, अविचल हो यह राज ॥
गौरव लक्ष्मी ग्रीस की, अर्द्धांगिनी भी वाम ।
कल्याणी को देखकर पूर्ण हुआ मन काम ॥
जिसके बल के सिन्धु मे, गज सम थके अराति ।
चन्द्रगुप्त-भुज वे सदा, सबल रहे सब भाँति ॥
रहे आनन्दित राज समाज,
आवे गावें विमल कीर्ति सब देवागना समाज ।
जिसकी प्रतिभा नदी मे, शत्रु-विघ्न द्रुम-मूल ।
उन्मज्जित हो, सो जयति, विष्णुगुप्त अनुकूल ॥
सुखी हो भारत विज्ञ समाज,
भारत की यह कथा विजयिनी रहे सदा सिरताज ।
सखी सबही विधि मगल आज ।
जय महाराज श्री चन्द्रगुप्त की जय !!

(पटाक्षेप)

करुणालय

'इन्दु'—कला ४ खण्ड १ किरण २ माघ १९६९, फरवरी १९१३ में प्रकाशित रूप

सूचना

●

यह दृश्यकाव्य गीति-नाट्य के ढंग पर लिखा गया है। तुकान्त-विहीन मात्रिक छंद में वाक्यानुसार विराम-चिह्न दिया गया है। यद्यपि हिन्दी में इस ढंग की कविता का प्रचार नही है, तथापि अन्य भाषाओं में (जैसे संस्कृत मे कुलक, अंगरेजी में ब्लैंक वर्स, बँगला में अमित्राक्षर छन्द आदि) इसका उपयुक्त प्रचार है। हिन्दी में भी इस कविता का प्रचार कैसा लाभ-दायक होगा, इसी विचार के लिए आज यह काव्य पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है।

--इन्दु, कला ४,
खंड·१, किरण २

पात्र-परिचय

•

पुरुष-पात्र

हरिश्चन्द्र : अयोध्या के महाराज
रोहित : युवराज
वसिष्ठ : ऋषि
विश्वामित्र : ऋषि
अजीगर्त्त : ऋषि
शुनःशेफ : अजीगर्त्त का पोषित पुत्र
शक्ति : वसिष्ठ का पुत्र
ज्योतिष्मान् : सेनापति

स्त्री-पात्र

तारिणी : अजीगर्त्त की स्त्री
सुव्रता : हरिश्चन्द्र के यहाँ दासी रूप मे विश्वामित्र की गान्धर्व-विवाहिता स्त्री
माँझी : मल्लाह

•

करुणालय

प्रथम दृश्य

स्थान—सरयू नदी

(नाव पर जल-विहार करते हुए महाराज हरिश्चन्द्र का सहचर-जनों के सहित प्रवेश)

हरिश्चन्द्र—सान्ध्य नीलिमा फैल रही है, प्रान्त मे—
सरिता के। निर्मल विधु बिम्ब विकाश है,
जो नभ मे धीरे-धीरे है बढ़ रहा।
प्रकृति सजाती आगत-पतिका रूप को।
मलयानिल-ताड़ित लहरों मे प्रेम से—
जल मे ये शैवाल-जाल है झूमते।
हरे शालि के खेत पुलिन मे है भरे
फल से बने तरंगायित ये सिन्धु से,
लहराते जब वे मारुत-वश झूम के।
जल मे उठती लहर बुलाती है तरी—
को, जो आती उस पर कैसी नाचती।
अहा! खिल रही विमल चाँदनी भी भली।
तारागण भी उस मस्तानी चाल को—
देख रहे है, चलती जिससे नाव है।
वंशी-रव से होता पूर्ण दिगन्त है—
जो परिमल-पट-सा फैल रहा अवकाश मे।
प्रकृति चित्र-पट-सा दिखलाती है अहा,
कल-कल शब्द नदी से भिन्न न और का,
शान्ति! प्रेममय शान्ति भरी है विश्व मे।
सुन्दर है अनुकूल-पवन, आनन्द मे—
झूम-झूमकर धीरे-धीरे चल रहा।
पिये प्रेम-मदिरा विह्वल-सा हो रहा

कर्णधार हो स्वयं चलाता नाव को।
नौके ! धीरे, और ज़रा धीरे चलो,
आह, तुम्हें क्या जल्दी है उस ओर की।
कहीं नहीं उत्पात प्रभंजन का यहाँ।
मलयानिल अपने हाथों पर है धरे—
तुम्हें, लिये जाता है अच्छी चाल में
प्रकृति सहचरी-सी कैसी है साथ में
प्रेम-सुधामय चन्द्र तुम्हारा दीप है।
नौके ! है अनुकूल पवन यह चल रहा,
और ठहरती, हाँ अठिलाती ही चलो।

ज्योतिष्मान्—महाराज ! इस तट-कानन को देखिये,
कैसा है हो रहा सघन तरु-जाल से।
इसी तरह यह जनपद पहले था, प्रभो !
कानन-शैल भरे थे चारों ओर ही
हिंस्र जन्तु से पूर्ण, मनुज-पशु थे यहाँ।
आर्य्य-पूर्व-पुरुषों की ही यह कीर्ति है,
जो अब ये उद्यान सजे फल फूल से,
बने मनोहर क्रीड़ा-कूट विचित्र ये।
इक्ष्वाकू-कुल भुजबल से निर्बीज ये
हुए दासचय, अब न कभी वे रोष से
आँख उठाते आर्य वृन्द को देख के।
आर्य-पताका है फहराती अरुण हो।

हरिश्चन्द्र—आर्यों के अनुकूल देवगण जो रहें
ऐसे ही, तो फिर क्या है पूछना,
कुछ दिन में यह दक्षिण भू-भाग भी
होगा उनके पदतल में उपहार सा।

(नेपथ्य में घोर गर्जन)

अरे कौन उत्पात हटो, जल्दी चलो

(नेपथ्य में घोर गर्जन)

माँझी ! तट पर नाव ले चलो शीघ्र ही।

माँझी—प्रभो ! स्तब्ध है नाव; न हिलती है। अरे—
देखो तो इसको क्या है, है हो गया !

(नेपथ्य से गर्जन के साथ)

"मिथ्याभाषी यह राजा पाषण्ड है
इसने सुत का बलि देना निश्चित किया था,
जब वह पहिनेगा अपने वर्म को।
राजकुमार हुआ है अब वलि-योग्य जो
तो फिर क्यों उसको बलि मे देता नही ?
बार-बार इसने हमको वंचित किया
उसका है यह दण्ड, भोग ले, रह यहाँ,
जा सकता तू नही कही भी नाव से।

हरिश्चन्द्र—देव ! जन्मदाता ! बस इसमे अब नही
देर करूँगा, बलि देने में पुत्र को।
जो कर चुका प्रतिज्ञा उसको भूल के
दु:खित होने का अवसर देंगे नही
हे समुद्र के देव ! देव आकाश के,
शान्त हूजिये, क्षमा कीजिये, दीन को।

(नेपथ्य से गर्जन के साथ)

अच्छा जल्दी जाकर तू उद्योग में।
तत्पर हो, कर यज्ञ पुत्र-बलिदान से।

हरिश्चन्द्र—जो आज्ञा, मैं शीघ्र अभी जाके वही
प्रथम करूँगा कार्य्य आपका भक्ति से।

प्रस्थान

●

द्वितीय दृश्य

स्थान—कानन

(रोहित टहलता हुआ आप ही आप)

रोहित—पिता परमगुरु होता है, आदेश भी
उसका पालन करना हितकर धर्म है।
किन्तु निरर्थक मरने की आज्ञा कड़ी
कैसे पालन करने के है योग्य यों।
हम जब थे अज्ञान, न थे कुछ जानते
सुख किसका है नाम, तरुणता वस्तु क्या,

प्रकृति प्रलोभन मे न फँसे थे, पास की
वस्तु न यों आकर्षित करती थी हमे,
तभी क्यो न कर लिया पूर्ण बलि-कर्म को।
अहा स्वच्छ नभ नील, अरुण रवि-रश्मि की
सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप मे,
नव प्रभात का दृश्य सुखद दिखला रहा,
उसे बदलना तमोजाल वाली कुहू—
से, जिसमे तारा का भी न प्रकाश है
प्रकृति मनोगत भाव सदृश जो गुप्त है
कैसा दुखदायक है। हाँ बस ठीक है।
देखेगे परिवर्तनशीला प्रकृति को
घूमेगे बस देश-देश स्वाधीन हो।
मृगया से आहार, जीव सहचर सभी
नव किसलय दल सेज सजी सब स्थान मे,
कहो रही क्या कमी, सहायक धनुष है।

(नेपथ्य से)

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खडे रहो मत, कर्म-मार्ग विस्तीर्ण है।
चलनेवाला पीछे ही को छोडता
सारी बाधा और आपदा-वृन्द को।
चले चलो, हाँ मत घबडाओ जी कभी
धूल नही यह पैरो मे तेरे लगी
समझो, यह सम्पत्ति लिपटती है तुम्हे।
बढो, बढो, हाँ रुको नही इस भूमि मे,
इच्छित फल की चाह दिलाती बल तुम्हे,
सारे श्रम उसको फूलो के हार से
लगते है, जो पाता ईप्सित वस्तु को।
चलो पवन की तरह, रुकावट है कहाँ,
बैठोगे, तो कही एक पग भी नही
स्थान मिलेगा तुम्हे, कुटिल संसार मे :
सघन-लतादल मिले जहाँ है प्रेम से
शीतल जल का स्रोत जहाँ है बह रहा

हिम के आसन बिछे, पवन परिमल मिला
बहता है दिन-रात, वहाँ जाना चहो ?
सुनो ग्रीष्म के पथिक, न ठहरो फिर यहाँ;
चलो, बढ़ो, वह रम्य भवन अति दूर है।

रोहित—बड़ी कृपा आकाश-विहारी देव की
हुई, दीन करता प्रणाम है भक्ति से।
देव ! आप यदि हैं प्रसन्न, तो भाग्य है;
प्रभो ! सदा आदेश आपका ध्यान से
पालन करता रहे दास, वर दीजिये,
"रुके कर्म-पथ मे न कभी यह भीत हो"

(नेपथ्य से)

हम प्रसन्न हैं, वत्स ! करो निज कार्य को।

(रोहित जाता है)

●

तृतीय दृश्य

स्थान—अजीगर्त्त का कुटीर

(अजीगर्त्त और तारिणी)

अजीगर्त—प्रिये ! एक भी पशु न रहे अब पास में,
तीन पुत्र; भोजन का क्या निर्वाह है ?
यह अरण्य भी फल से खाली हो गगा,
केवल सूखी डाल, पात फैले, अहो
नव वसन्त में जब वह कुसुमित हो रहा—
था तब तो अलि, शुक और सारिका निवास में
कोमल कलरव सदा किया करत। अहो
जहाँ फैल कर लता चरण को चूमती
कोमल किसलय अधर मधुर से प्रेम से,
अब सूखे काँटे गड़ते हैं, हा ! वही !
कानन की हरियाली ही सब भूख को
तुरत मिटाती थी देक८ फल-फूल को
वहाँ न छाया भी मिलती है धूप में।
कहो प्रिये, अब फिर क्या करना चाहिए ?

तारिणी—हाय ! क्या कहूं प्राणनाथ इस भूमि में,
अब तो रहना दुष्कर-सा है हो गया।
(नेपथ्य से)
"घबड़ाओ मत अजीगर्त। मैं आ गया।"
(प्रवेश करके)

रोहित—कहिये क्या है दु ख आपको जो अभी
इतने व्याकुल होकर यों किस बात को
सोच रहे थे। क्या पशुओं का दु ख है ?

अजीगर्त—हाँ ! हाँ ! तुम तो जैसे सत्य बात हो जानते
और दिखाई पडते राजकुमार-से,
तब क्या तुम कुछ दोगे मुझे सहायता ?

रोहित—हाँ ! यदि तुम भी बात हमारी मान लो।

अजीगर्त—मानूंगा कैसी ही निष्ठुर बात हो।

रोहित—सौ दूँगा मे गाय तुम्हे, जो दो मुझे
एक पुत्र अपना, उस पर सब सत्त्व हो
मेरा, उसको चाहे जो कुछ हम करे।

तारिणी—दूँगी नही कनिष्ठ-पुत्र को मैं कभी।

अजीगर्त—और ज्येष्ठ को मैं भी दे सकता नही।

रोहित—तो मध्यम सुत दे देना स्वीकार है—
बलि देने के लिए एक नरमेध मे ?
(ऋषि-पत्नी मुंह ढांप कर भीतर चली जाती है
और अजीगर्त कुछ सोचने लगता है)

अजीगर्त—हाँ जी ! मुझको सब बाते स्वीकार हैं।
चलो मुझे पहले गाये दे दो अभी।

रोहित—अच्छा, उसको यहाँ बुलाओ देख ले
हम भी; मध्यम पुत्र तुम्हारा है कहाँ ?
(नेपथ्य की ओर मुख करके—)

अजीगर्त—शुन शेफ ! ओ शुनःशेफ ! ! आ जा यहाँ।
(मार खाने के भय से, खेल छोडकर
शुन शेफ भागता हुआ आता है)

शुनःशेफ—क्या है बाबा, क्यो हो मुझे बुला रहे ?
मैंने कोई भी न किया है दोष, जो
आप बुलाते मुझे मारने के लिए।

अजीगर्त—चुप रह रे तू मूर्ख ! बोलता क्या यहाँ
खड़ा रह, (रोहित से)—यही मध्यम मेरा पुत्र है।

रोहित—अच्छा है। बस चलो अभी तुम साथ में,
राज्य-केन्द्र में चलते हैं हम भी अभी,
उसी स्थान में मूल्य तुम्हें मिल जायगा,
और इसे हम ले जाते हैं साथ में।

(शुनःशेफ से)

चलो चलो जी साथ हमारे शीघ्र ही।
मेरे हाथों मे तुम तो हो बिक गये

(शुनःशेफ का अजीगर्त की ओर देखते हुए
रोहित के साथ प्रस्थान)

●

चतुर्थ दृश्य

स्थान—दरबार

(महाराज हरिश्चन्द्र सिंहासनासीन। शुन शेफ को साथ लिये हुए रोहित का प्रवेश)

रोहित—पितृदेव हे महाराज यह आपका
पुत्र आपके सम्मुख हे। यह नम्र हो—
करता अभिवादन है, बस कीजिये
क्षमा इसे। यह पशु लेकर आया यहाँ।

हरिश्चन्द्र—रे पुत्राधम ! तूने आज्ञा भंग की
मेरी, अब तू योग्य नही इस राज्य के

रोहित—देव ! दिया जाता बलि में जो मैं तभी
तो क्या पाता राज्य ! न ऐसा कीजिये।
मुनिये, मैने रक्षा की है धर्म की
नही आप होते अनुगामी नर्क के।
पुत्र न रहता, तो देता फिर कौन था
पिण्ड तिलोदक। अस्तु समझ भी लीजिये
अपने पुण्य-पुरोहित देव वसिष्ठ से

(वसिष्ठ का प्रवेश, राजा अभ्युत्थान देता है)

वसिष्ठ—राजन् ! विजयी रहो। सुनी सब बात है,
यह तो अच्छा कार्य कुँवर ने है किया।

यदि पशु का है पिता; दे दिया सत्य ही
उसने बलि के लिए इसे, तो ठीक है।
राजपुत्र के बदले इसको दीजिये
बलि; तब देव प्रसन्न तुरत हो जायँगे
और आप भी सत्य-सत्य हो जायँगे।

(शुन शेफ से)

क्यों जी ! तुमको दिया पिता ने क्या इन्हे
मूल्य लिया है ?

शुनःशेफ—सत्य प्रभो ! सब सत्य है।

वसिष्ठ—फिर क्या तुमको भी यह सब स्वीकार है ?

शुनःशेफ—जो कुछ होगा भाग्य और निज कर्म मे।

वसिष्ठ—अच्छा फिर सब यज्ञ-कार्य भी ठीक हो
और शीघ्र करना ही इसको उचित है।

हरिश्चन्द्र—जो आज्ञा हो, मै करता हूँ सब अभी।

(सबका प्रस्थान)

●

पंचम दृश्य

(यज्ञ-मण्डप मे हरिश्चन्द्र, रोहित, वसिष्ठ, होता इत्यादि बैठे है।
शुनःशेफ यूप मे बँधा हुआ है। शक्ति उसे वध करने के
लिए बढ़ता है, पर सहमा रुक जाता है)

वसिष्ठ—शक्ति, तुम्हारी शक्ति कहाँ है जो नही
करता है बलि-कर्म, देर है हो रही।

शक्ति—पिता, आप इस पशु के निष्ठुर तात से
भी कठोर है। जो आज्ञा यों दे रहे !

(शस्त्र फेंक कर)

मुझसे होगा कर्म नही, यह घोर है।

(प्रस्थान। अजीगर्त का प्रवेश)

अजीगर्त—और एक सौ गाये मुझको दीजिये,
मैं कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही।

वसिष्ठ—अच्छा अच्छा, तुम्हे मिलेगी और भी
सौ गाये। लो पहले इसको तो करो।

(अजीगर्त शस्त्र उठा कर चलता है)

(आकाश की ओर देख कर)

शुनःशेफ—हे हे करुणा-सिन्धु, नियन्ता विश्व के,
हे प्रतिपालक तृण, वीरुध के, सर्प के,
हाय, प्रभो ! क्या हम इस तेरी सृष्टि के
नहीं, दिखाता जो मुझ पर करुणा नहीं।
हे ज्योतिष्पथ-स्वामी ! क्यों इस विश्व की—
रजनी में, तारा प्रकाश देते नही
इस अनाथ को, जो असहाय पुकारता
पड़ा दुःख के गर्त वीच अति दीन हो
हाय ! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ,
जो न दिखाती स्नेह पिता औ' पुत्र में।
जगत्पिता ! हे जगद्बन्धु, हे हे प्रभो,
तुम तो हो, फिर क्यों दुख होता है हमे ?
त्राहि त्राहि करुणालय ! करुणा-सद्म मे
रखो, बचा लो ! विनती है पदपद्म मे।

(आकाश में गर्जन, सब त्रस्त होते है। सब शक्तिहीन हो जाते हैं।
विश्वामित्र का अपने पुत्रों के साथ प्रवेश)

(वसिष्ठ से)

विश्वामित्र—हे इक्ष्वाकू के कुल पूज्य कहो कहो—
हे महर्षि ! कैसा होता यह काम है ?
हाय ! मचाया कैसा यह अन्धेर है।
क्या इसमे है धर्म ? यही क्या ठीक है ?
किसी पुत्र को अपने वलि दोगे कभी ?
नही ! नही ! फिर क्यों ऐसा उत्पात है ?
(झपटती हुई एक राजकीय दासी का प्रवेश; जो
राजा और अजीगर्त की ओर देखकर कहती है)

(राजा से)

दासी—न्याय ! न्याय !! हे देव, न्याय कर दीजिये

(अजीगर्त से)

रे रे दुष्ट ! बना है ऋषि के रूप में
पूर्ण कसाई अरे ! नीच ! चाण्डाल ! हा !

(विश्वामित्र से)

और न तुम भी मुझको हो पहचानते।
क्या वह नवल तमाल-कुंज में प्रेम से
वनमाला का बदला, विस्मृत हो गया
क्या वह सब थी केवल कुटिल प्रवञ्चना?
अहो न अब पहचान रहे निज पुत्र को
जो है परिचित शुनःशेफ के नाम से।

विश्वामित्र—अरे! सुव्रता! तू है, सचमुच स्वप्न-सी
मुझको अब सब बातें आती ध्यान में,
तुझे बहुत खोजा था मैंने ग्राम में।
जब जाता था हिमगिरि के वनकुञ्ज में
सत्य, तुझे वञ्चित न कभी मैंने किया।
ईश-कृपा से आज अचानक पा गया।
प्रिये! तुम्हारा मुख, निज सुत को देख कर
पूर्ण हुआ आनन्द

(शुनःशेफ की ओर)

ज्येष्ठ यह पुत्र है
मेरा; अब तुम सुत को लेकर साथ में
सुखी रहो (अजीगर्त से) रे दुष्ट कमाई क्यों नहीं
अब बतलाता है उसको अपना पुत्र तू।

(हरिश्चन्द्र से)

राजन्! यह सुव्रता हमारी स्त्री—
इसे अपने दासीपने से छुड़ा दीजिये,
और नराधम को भी शासित कीजिये।

हरिश्चन्द्र—हे कौशिक ऋषिवर्य! इसे कर दीजिये
क्षमा, और सुव्रता स्वतन्त्रा हो रहे

विश्वामित्र—अस्तु। सुव्रते! कहो कहाँ फिर तुम रही
मेरे जाने बाद?—

(सुव्रता) प्रभो! उस ग्राम से
लाञ्छित करके देश-निकाला ही मिला,
क्योंकि गर्भिणी थी मैं। इससे घूमती
आई मैं इस ऋषि के आश्रम पास में।

प्रसव-समर्पण किया इसी की गोद में
और स्वयं अन्त पुर मे दासी बनी

वसिष्ठ—धन्य सुव्रते ! साधु ! सुशीले ! धन्य तू
पाया पति, सुत, फिर भी अपने भाग्य से

विश्वामित्र—करुणा वरुणालय जगदीश दयानिधे।
सब यों ही आनन्द सहित सुख मे रहें।

(सबकी ओर देख कर)

जगन्नियन्ता का यह सच्चा राज्य है
सबका ही वह पिता, न देता दु:ख है—
कभी किसी को। उसने देखा सत्य को
हरिश्चन्द्र के, जिसने प्रण पूरा किया
उद्यत होकर करने मे बलिकर्म को।
वह जो रोहित को बलि देते तो नही—
वह बलि लेता, किन्तु मना करता इन्हे।
वह प्रकाशमय देव, न देता दुख है।
अस्तु, सभी तुम शक्तिहीन हो हो गये।
कहता हूँ उसको सुन लो सब ध्यान से,
समस्वर से सब करो स्तवन, उस देव का
जो परिपालक है इस पूरे विश्व का।
तुममे जब हो शक्ति और यह पुत्र भी
शुनःशेफ हो मुक्त आप; तब जान लो
यज्ञ कार्य पूरा होकर फल मिल गया।

(समवेत स्वर से—)

जय जय विश्व के आधार।
अगम महिमा सिन्धु-सी है कौन पावै पार।
जो प्रसव करता जगत को, तेज का आकार।
उसी की शुभ-ज्योति से हो सत्य पथ निर्धार।
छूटे सब यह विश्व-बन्धन हो प्रसन्न उदार।
विश्व प्राणी प्राण मे हो व्याप्त विगत विकार।
—जय जय विश्व के आधार॥

(आलोक के साथ वीणा-ध्वनि। शुन-शेफ का बन्धन आप-से-आप खुल जाता है, और सब शक्तिमान् होकर खड़े हो जाते है। पुष्प-वृष्टि होती है)

आलोक के साथ पटाक्षेप

●

करुणालय

(इन्दु मे प्रकाशन के पश्चात परिवर्द्धित पुस्तक रूप)

पात्र-परिचय

•

पुरुष-पात्र

हरिश्चन्द्र : अयोध्या के महाराज
रोहित : युवराज
वसिष्ठ : ऋषि
विश्वामित्र : ऋषि
शुनःशेफ : अजीगर्त्त का पुत्र
शक्ति : वसिष्ठ का पुत्र
मधुच्छन्द : विश्वामित्र के सौ पुत्रो मे ज्येष्ठ
ज्योतिष्मान् : सेनापति

स्त्री-पात्र

तारिणी : अजीगर्त्त की स्त्री
सुव्रता : दासी रूप मे विश्वामित्र की गन्धर्व-विवाहिता स्त्री

•

करुणालय

प्रथम दृश्य

(सरयू में नाव पर जल-विहार करते हुए महाराज हरिश्चन्द्र का महचर-जनों सहित प्रवेश)

हरिश्चन्द्र—सान्ध्य नीलिमा फैल रही है, प्रान्त में
सरिता के। निर्मल विधु विम्ब विकास है,
जो नभ में धीरे-धीरे है चढ़ रहा
प्रकृति सजाती आगत-पतिका रूप को।
मलयानिल-ताड़ित लहरों में प्रेम से
जल में ये शैवाल जाल हैं घूमते।
हरे शालि के खेत पुलिन में रम्य हैं,
सुन्दर बने तरंगायित ये सिन्धु से,
लहराते जब वे मारुत-वश झूम के।
जल में उठती लहर बुलाती नाव को,
जो आती है उस पर कैसी नाचती।
अहा खिल रही बिमल चाँदनी भी भली।
तारागण भी उस मस्तानी चाल को
देख रहे हैं, चलती जिससे नाव है।
वंशी-रव से होता पूर्ण दिगन्त है
जो परिमल-सा फैल रहा आकाश में।
प्रकृति चित्र-पट-सा दिखलाती है अहा,
कल-कल शब्द नदी से भिन्न न और का,
शान्ति ! प्रेममय शान्ति भरी है विश्व में।
सुन्दर है अनुकूल-पवन, आनन्द में
झूम-झूमकर धीरे-धीरे चल रहा
पिये ! प्रेम-मदिरा विह्वल-सा हो रहा
कर्णधार हो स्वयं चलाता नाव को।

नौके ! धीरे, और जरा धीरे चलो,
आह, तुम्हें क्या जल्दी है उस ओर की।
कहीं नही उत्पात प्रभंजन का यहाँ।
मलयानिल अपने हाथों पर है धरे
तुम्हें लिये जाता है अच्छी चाल से
प्रकृति सहचरी-सी कैसी है साथ में
प्रेम-सुधामय चन्द्र तम्हारा दीप है।
नौके ! है अनुकूल पवन यह चल रहा,
और ठहरती, हाँ इठलाती ही चलो।

ज्योतिष्मान—महाराज ! इस तट-कानन को देखिये,
कैसा है हो रहा सघन तरु-जाल से।
इसी तरह यह जनपद पहले था, प्रभो !
कानन-शैल भरे थे चारों ओर ही
हिंस्र जन्तु से पूर्ण, मनुज-पशु थे यहाँ।
आर्य्य-पूर्व-पुरुषों की ही यह कीर्त्ति है,
जो अब ये उद्यान सजे फल, फूल से,
बने मनोहर क्रीड़ा-कूट विचित्र ये।
इक्ष्वाकू-कुल भुजबल से निर्बीज हो
हुए दस्युदल, अब न कभी वे रोष से
आँख उठाते हम आर्यो को देख के।
आर्य-पताका . है फहराती अरुण हो।

हरिश्चन्द्र—आर्यों के अनुकूल देवगण हैं सदा
विश्व हमारा शासन अभिनय रंग है
हम पर है दायित्व सभी सुख-शान्ति का
मव विभूतियाँ और उपकरण गर्व के
आर्य्य जाति के चरणों में उपहार है।

(नेपथ्य मे घोर गर्जन)

यह कैसा उत्पात ! चलो जल्दी करो
माँझी ! तट पर नाव ले चलो शीघ्र ही।

माँझी—प्रभो ! स्तब्ध है नाव; न हिलती है। अरे
देखो तो इसको क्या है, है हो गया !

(नेपथ्य से गर्जन के साथ)

मिथ्याभाषी यह राजा पाखण्ड है

इसने सुत बलि देना निश्चित था किया
जब वह पहिनेगा हिरण्यमय वर्म को।
राजकुमार हुआ है अब वलि-योग्य जब
तो फिर क्यों उसकी वलि यह करता नहीं?
बार-वार इमने हमको वंचित किया
उसका है यह दण्ड, आह! हतभाग्य यह
जा सकता है नही कही भी नाव से।

हरिश्चन्द्र—आह ! देव यदि आप जानते समझते
कितनी ममता होती है सन्तान की
देव ! जन्मदाता हूँ फिर भी अब नहीं
देर करूँगा, बलि देने में पुत्र की।
जो कर चुका प्रतिज्ञा उसको भूल के
क्रोधित होने का अवसर दूंगा नहीं
हे ममुद्र के देव ! देव आकाश के,
शान्त हूजिये, क्षमा जीजिये, दीन को।

(नेपथ्य से गर्जन के माथ)

अच्छा जल्दी जाकर तू उद्योग में
तत्पर हो, कर यज्ञ पुत्र-बलिदान से।

हरिश्चन्द्र—जो आज्ञा, मै शीघ्र अभी जाके वहाँ
प्रथम करूँगा कार्य्य आपका भक्ति से।

(नौका चलने लगती है)

●

द्वितीय दृश्य

(कानन में रोहित)

स्वगत—पिता परमगुरु होता है; आदेश भी
उसका पालन करना हितकर धर्म है।
किन्तु निरर्थक मरने की आज्ञा कड़ी
कैसे पालन करने के योग्य यों।
वरुण, देव हो या कि दैत्य ! वह कौन है?
क्या उसको अधिकार हमारे प्राण पर

कैसा वह इतनी सार्वजनिक सम्पत्ति है
नहीं, नहीं, 'वह मेरा है' यह स्वत्व है
हम जब थे अज्ञान न थे कुछ जानते
सुख किसका है नाम, तरुणता वस्तु क्या,
प्रकृति प्रलोभन में न फँसे थे, पास की
वस्तु न यों आकर्षित करती थी हमें,
तभी क्यों न कर लिया क्रूर बलि-कर्म्म को।
अहा स्वच्छ नभ नील, अरुण रवि-रश्मि की
सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप में
नव प्रभात का दृश्य सुखद है सामने
उसे बदलना नील तमिस्रा रात्रि से
जिसमें तारा का भी कुछ न प्रकाश है
प्रकृति मनोगत भाव सदृश जो गुप्त, यह
कैसा दुखदायक है ? हाँ बस ठीक है।
देखेंगे परिवर्त्तनशीला प्रकृति को
घूमेंगे बस देश-देश स्वाधीन हो
मृगया से आहार, जीव सहचर सभी
नव किसलय दल सेज सजी सब स्थान में,
कहो रही क्या कमी सहायक चाप है।

(नेपथ्य से)

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत, कर्म्म-मार्ग विस्तीर्ण है।
चलनेवाला पीछे को ही छोड़ता
सारी बाधा और आपदा-वृन्द को।
चले चलो, हाँ मत घबराना तनिक भी
धूल नहीं यह पैरों में है लग रही
समझो, यही विभूति लिपटती है तुम्हें।
बढ़ो, बढ़ो, हाँ रुको नही इस भूमि में,
इच्छित फल की चाह दिलाती बल तुम्हें,
सारे श्रम उसको फूलों के हार से
लगते हैं, जो पाता ईप्सित वस्तु को।
चलो पवन की तरह, रुकावट है कहाँ,

बैठोगे, तो कहीं एक पग भी नही
स्थान मिलेगा तुम्हें, कुटिल संसार मे।
सघन लतादल मिले जहाँ है प्रेम से
शीतल जल का स्रोत जहाँ है बह रहा
हिम के आसन बिछे, पवन परिमल मिला
बहता है दिन-रात, वहाँ जाना तुम्हे !
सुनो ग्रीष्म के पथिक, न ठहरो फिर यहाँ,
चलो, बढ़ो, वह रम्य भवन अति दूर है।

(आकाश को देखकर)

रोहित—अरे ! कौन ! यह ? छाया-सी है इन्द्र की
कायरता का अरि, प्रतिमा पुरुषार्थ की
बडी कृपा आकाश-विहारी देव की
हुई, दीन करता प्रणाम है भक्ति से।
देव ! आप यदि है प्रसन्न, तो भाग्य है,
प्रभो ! सदा आदेश आपका ध्यान से
पालन करता रहे दास, वर दीजिये,
"रुके कर्म-पथ मे न कभी यह भीत हो"

(नेपथ्य से)

हम प्रसन्न है, वत्स ! करो निज कार्य्य को

(रोहित जाता है)

●

तृतीय दृश्य

(अजीगर्त्त के कुटीर मे अजीगर्त्त और तारिणी)

अजीगर्त्त—प्रिये ! एक भी पशु न रहे अब पास में,
तीन पुत्र, भोजन का कौन प्रबन्ध हो ?
यह अरण्य भी फल से खाली हो गया,
केवल सूखी डाल, पात फैले अहो
नव वसन्त मे जब वह कुसुमित था हुआ,
तब तो अलि, शुक और सारिका नीड़ में
कोमल कलरव सदा किया करते। अहो
जहाँ फैल कर लता चरण को चूमती

कोमल किसलय अधर मधुर से प्रेम से,
अब सूखे काँटे गड़ते हैं, हा ! वही !
कानन की हरियाली ही सब भूख को
तुरत मिटाती थी देकर फल-फूल ही
वहाँ न छाया भी मिलती है धूप में।
कहो प्रिये, अब फिर क्या करना चाहिए ?

तारिणि—हाय ! क्या कहे प्राणनाथ इस भूमि में,
अब तो रहना दुष्कर-सा है हो गया।

(नेपथ्य से रोहित)

"घबराओ मत अजीगर्त्त। मैं आ गया।"

(प्रवेश करके)

रोहित—कहिये क्या है दुःख आपको जो अभी
इतने व्याकुल होकर यों किस बात को
सोच रहे थे। क्या पशुओं का दुःख है ?

अजीगर्त्त—तुम तो जैसे सत्य बात हो जानते
और दिखाई देते राजकुमार-से,
स्वर्णखचित यह शिरस्त्राण है कह रहा
वर्म बना बहुमूल्य बताता विभव को
किन्तु सकोगे समझ ! भूख के दुःख को
और विकल पीड़ित अकाल से प्राण को
जीवन की आकुल आशा जब त्रस्त हो
एक-एक दाने का आश्रय खोजती
वह वीभत्स पिशाच खा लिया चाहता
जब अपना ही मांस। अधीर विडम्बना
हँसती हो इन दुर्बल शब्दों पर, अजी
तब भी तुम कुछ दोगे मुझे सहायता ?

रोहित—एक बात यदि तुम भी मेरी मान लो।

अजीगर्त्त—मानूँगा कैसी निष्ठुर बात हो।

रोहित—सौ दूँगा मैं गाय तुम्हें जो दो मुझे
एक पुत्र अपना, उस पर सब स्वत्व हो
मेरा, उसको चाहे जो कुछ मैं करूँ।

तारिणी—दूँगी नहीं कनिष्ठ-पुत्र को मैं कभी।

अजीगर्त्त—और ज्येष्ठ तो मैं भी दे सकता नहीं

रोहित—तो मध्यम सुत दे देना स्वीकार है—
बलि देने के लिए एक नरमेध में?
(ऋषि-पत्नी मुँह ढाँप कर भीतर चली जाती है
और अजीगर्त्त कुछ सोचने लगता हैं)

अजीगर्त्त—हाँ हाँ! मुझको सब बातें स्वीकार हैं।
चलो मुझे पहले गायें दे दो अभी।

रोहित—अच्छा, उसको यहाँ बुलाओ देख लें
हम भी; मध्यम पुत्र तुम्हारा है कहाँ?
(नेपथ्य की ओर मुख करके—)

अजीगर्त्त—शुन.शेफ! ओ शुनःशेफ!! आ जा यहाँ।
(मार खाने के भय से, खेल छोड़कर
शुन.शेफ भागता हुआ आता है)

शुनःशेफ—क्या है बाबा, क्यो हो मुझे बुला रहे?
मैंने कोई भी न किया है दोष, जो
आप बुलाते मुझे मारने के लिए।

अजीगर्त्त—चुप रह ओ मूर्ख! बोलना मत, यहाँ
खड़ा रह, (रोहित से)—यही मध्यम मेरा पुत्र है।

रोहित—अच्छा है। बस चलो अभी तुम साथ में,
राज्य-केन्द्र मे चलते है हम भी अभी,
उसी स्थान मे मूल्य तुम्हे मिल जायगा,
और इसे हम ले जाते हैं संग ही।
(शुनःशेफ से)
चलो चलो जी साथ हमारे शीघ्र ही।
मेरे हाथ तुम्हारा विक्रय हो चुका।
(शुन शेफ का अजीगर्त्त की ओर सकरुण देखते
हुए रोहित के साथ प्रस्थान)

●

चतुर्थ दृश्य

(महाराज हरिश्चन्द्र सिंहासनासीन। शुनःशेफ को साथ लिये हुए
रोहित का प्रवेश)

रोहित—हे नरेन्द्र हे पिता पुत्र यह आपका
रोहित सेवा मे आ गया। विनम्र हो

करता अभिवादन है, अब कर दीजिये
क्षमा इसे। हूँ पशु लेकर आया यहाँ।

हरिश्चन्द्र—रे पुत्राधम! तूने आज्ञा भंग की
मेरी, अब तू योग्य नहीं इस राज्य के

रोहित—देव! दिया जाता बलि में जो मैं अभी
तो क्या पाता राज्य! न ऐसा कीजिये।
सुनिये, मैंने रक्षा की है धर्म की
नहीं आप होते अनुगामी निरय के।
पुत्र न रहता, तो क्या हो। कौन फिर
देता पिण्ड तिलोदक। यह भी समझिये
कुल के पुण्य-पुरोहित देव वसिष्ठ से।

(वसिष्ठ का प्रवेश, राजा अभ्युत्थान देता है)

वसिष्ठ—राजन्! विजयी रहो। सुनी सब बात है,
यह तो अच्छा कार्य कुँवर ने है किया।
यदि पशु का है पिता; दे दिया सत्य ही
उसने बलि के लिए इसे, तो ठीक है।
राजपुत्र के बदले इसको दीजिये
बलि; तब देव प्रसन्न तुरत हो जायेंगे।
और आप भी सत्य-सत्य हो जायेंगे।

(शुनःशेफ से)

क्यों जी! तुमको दिया पिता ने क्या इन्हें
मूल्य लिया है?

शुनःशेफ—सत्य प्रभो! सब सत्य है।

वसिष्ठ—फिर क्या तुमको यह सब स्वीकार है?

शुनःशेफ—जो कुछ होगा भाग्य और निज कर्म मे।

वसिष्ठ—अच्छा फिर सब यज्ञ-कार्य भी ठीक हो
और शीघ्र करना ही इसको उचित है।

हरिश्चन्द्र—जो आज्ञा हो, मैं करता हूँ सब अभी।

(सबका प्रस्थान)

●

पंचम दृश्य

(यज्ञ-मण्डप में हरिश्चन्द्र, रोहित, वसिष्ठ, होता इत्यादि बैठे हैं। शुन शेफ यूप मे बँधा हुआ है। शक्ति उसे बध करने के लिए बढ़ता है, पर सहसा रुक जाता है)

वसिष्ठ—शक्ति, तुम्हारी शक्ति कहाँ है जो नहीं
करता है बलि-कर्म, देर है हो रही।

शक्ति—पिता, आप इस पशु के निष्ठुर तात से
भी कठोर है। जो आज्ञा यों दे रहे।

(शस्त्र फेंक कर)

कर्म्म नहीं, यह मुझसे होगा घोर है।

(प्रस्थान। अजीगर्त्त का प्रवेश)

अजीगर्त्त—और एक सौ गाये मुझको दीजिये,
मै कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही।

वसिष्ठ—अच्छा अच्छा, तुम्हें मिलेंगी और भी
सौ गायें। लो पहले इसको तो करो।

(अजीगर्त्त शस्त्र उठा कर चलता है)

(आकाश की ओर देखकर)

शुनःशेफ—हे हे करुणा-सिन्धु, नियन्ता विश्व के
हे प्रतिपालक तृण, वीरुध के, सर्प के,
हाय, प्रभो! क्या हम इस तेरी सृष्टि के
नही, दिखाता जो मुझ पर करुणा नहीं।
हे ज्योतिष्पथ-स्वामी! क्यों इस विश्व की—
रजनी में, तारा प्रकाश देते नहीं
इस अनाथ को, जो असहाय पुकारता
पड़ा दुःख के गर्त्त बीच अति दीन हो
हाय! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ,
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।
जगतपिता! हे जगद्बन्धु, हे हे प्रभो,
तुम तो हो, फिर क्यों दुख होता है हमें?
त्राहि त्राहि करुणालय! करुणा-सद्म में
रखो, बचा लो! विनती है पदपद्म में।

(आकाश में गर्जन, सब त्रस्त होते हैं। सब शक्तिहीन
हो जाते हैं। विश्वामित्र का मधुच्छन्दा प्रभृति
अपने सौ पुत्रों के साथ प्रवेश)

(वसिष्ठ से)

विश्वामित्र—कहो कहो इक्ष्वाकु-वंश के पूज्य हे !
आः महर्षि ! कैसा होता यह काम है ?
हाय ! मचा रक्खा क्या यह अन्धेर है।
क्या इसमें है धर्म ? यही क्या ठीक है ?
किसी पुत्र को अपने बलि दोगे कभी ?
नहीं ! नहीं ! फिर क्यों ऐसा उत्पात है ?

(आकाश की ओर देखकर)

अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया
आज प्रलोभन भय तुझको करवा रहे
कैसे आसुर-कर्म्म। अरे तू क्षुद्र है—
क्या इतना ? तुझ पर सब शासन कर सके
और धर्म की छाप लगाकर—मूढ़ तू !
फँसा आसुरी माया मे, हिंसा जगी
अथवा अपने पुरोहिती के मान की
ऋषि वसिष्ठ को, कुलगुरु को, इस राज्य के।

(वसिष्ठ से)

तुम हो त्राता धर्म्म मनुज की शांति के
यह क्या है व्यापार चलाया ? चाहिये
यदि मनुष्य के प्राण तुम्हारे देव को
ले लो (मधुच्छन्दा की ओर देख)
कितने लोगे यह सब सौ रहे

वसिष्ठ—लज्जित हूँ, मुझमे यह साहस था नही
विश्वामित्र महर्षि तुम्हें हूँ मानता

(झपटी हुई एक राजकीय दासी का प्रवेश; जो राजा
और अजीगर्त्त की ओर देखकर कहती है)

(राजा से)

दासी—न्याय ! न्याय ! ! हे देव, न्याय कर दीजिये

(अजीगर्त्त से)

रे रे दुष्ट ! बना है ऋषि के रूप में

निरा बधिक रे नीच ! अरे चाण्डाल तू
भूल गया दुर्दैव सदृश उस की
(विश्वामित्र से—)
और न तुम भी मुझको हो पहचानते।
क्या वह नवल तमाल कुंज में प्रेम से
परिवर्त्तन वनमाला का विस्मृत हुआ
क्या वह सब थी केवल कुटिल प्रवञ्चना?
अहो न अब पहचान रहे निज पुत्र को
जो है परिचित शुनःशेफ के नाम से।

विश्वामित्र—अरे ! सुव्रता ! तू है, सचमुच स्वप्न-सी
मुझको अब सब बातें आती ध्यान में,
मैं जब तप के लिए छोड़ असहाय ही
तुझे गया—फिर पडा अकाल। न था कहीं
क्षण भर को अवलम्ब तुम्हें यह भूल कर
मैं चिन्तित था धर्म और तप-तत्त्व में
रे झूठे अभिमान तुझे धिकार है।
तुझे बहुत खोजा था मैंने ग्राम में।
जब जाता था हिमगिरि के वनकुञ्ज में
सत्य; तुझे वंचित न कभी मैंने किया।
ईश-कृपा से आज अचानक पा गया।
प्रिये ! तुम्हारा मुख, निज सुत को देखकर
पूर्ण हुआ आनन्द
(शुनःशेफ की ओर संकेत)
ज्येष्ठ यह पुत्र है
मेरा; अब तुम सुत को लेकर साथ में
सुखी रहो। (अजीगर्त्त से)
रे दुष्ट वधिक ! अब क्यों नहीं
बतलाता है उसको अपना पुत्र तू
(हरिश्चन्द्र से)
राजन् ! यह सुव्रता हमारी नारि है
इसे मुक्त दासीपन से कर दीजिये,
और नराधम को भी शासित कीजिये।
राजन् ! सब तप और सत्य तुम कर चुके

यदि अपनी इस प्रजा-वृन्द का ध्यान हो
दुख दूर करने का कुछ उद्यम करो।

हरिश्चन्द्र—हे कौशिक ऋषिवर्य्य ! इसे कर दीजिये
क्षमा; और सुव्रता स्वतन्त्रा हो ऋषे !
चरणों में यह राज्य आज उत्सर्ग है

विश्वामित्र—अस्तु। सुव्रते ! कहो कहाँ फिर तुम रही
मेरे जाने के बाद ?—

सुव्रता—प्रभो ! उस ग्राम से
लाञ्छित करके देश-निकाला ही मिला,
क्योंकि गर्भिणी थी मैं। इससे घूमती
आयी मैं इस आश्रम के पास में।
और स्वयं अन्तःपुर में दासी बनी

वसिष्ठ—धन्य सुव्रते ! साधु सुशीले ! धन्य तू
पाया पति, सुत, फिर अपने सौभाग्य से।

विश्वामित्र—करुणा करुणालय जगदीश दयानिधे।
सब यों ही आनन्द सहित सुख से रहे।
(सबकी ओर देखकर—)
जगन्नियन्ता का यह सच्चा राज्य है
सबका ही वह पिता; न देता दुःख है
कभी किसी को। उसने देखा सत्य को
हरिश्चन्द्र के; जिसने प्रण पूरा किया
उद्यत होकर करने मे बलिकर्म्म के।
यह जो रोहित को बलि देते तो नहीं
वह बलि लेता, किन्तु मना करता इन्हे।
क्योंकि अधम है क्रूर आसुरी यह क्रिया
यह न आर्यपथ है, दुस्तर अपराध है
वह प्रकाशमय देव, न देता दुःख है।
अस्तु, सभी तुम शक्तिहीन हो हो गये।
कहता हूँ उसको सुन लो सब ध्यान से;
समस्वर से सब करो स्तवन, उस देव का।
तुममें जब हो शक्ति और यह पुत्र भी
शुनःशेफ हो मुक्त आप, तब जान लो
यह कार्य्य पूरा होकर फल मिल गया।

(समवेत स्वर से)

जय जय विश्व के आधार।
अगम महिमा सिन्धु-सी है कौन पावै पार।
जो प्रसव करता जगत को, तेज का आकार।
उसी के शुभ-ज्योति से हो सत्य पथ निर्धार।
छुटे सब यह विश्व-बन्धन हो प्रसन्न उदार।
विश्व प्राणी प्राण में हो व्याप्त विगत विकार।
—जय जय विश्व के आधार॥

(आलोक के साथ वीणा-ध्वनि। शुन शेफ का बन्धन आप-से-आप खुल जाता है, और सब शक्तिमान् होकर खड़े हो जाते हैं। पुष्प-वृष्टि होती है)

आलोक के साथ पटाक्षेप

●

राज्यश्री

('इन्दु' पौष संवत् १९७१ कला ६ खण्ड १ किरण १ जनवरी १९१५ में प्रकाशित रूप)

पात्र

हर्षवर्धन : थानेसर का राजा

राज्यवर्धन : हर्षवर्धन का बड़ा भाई

दिवाकर मित्र : परिव्राजक महात्मा

ग्रहवर्मा : कन्नौज का राजा

नरेन्द्र गुप्त : गौड़ का राजा

देवगुप्त : मालव का राजा

भण्डि : हर्ष का सेनापति

स्कन्द गुप्त : हर्ष का सहकारी सेनापति

सिंहनाद : हर्ष का सहकारी सेनापति

मन्त्री : कन्नौज का मन्त्री

विकट घोष : बौद्धसंघ में उपहार दिया हुआ क्षत्रिय बालक, फिर डाकू

नरदत्त : देवगुप्त का सैनिक

मधुकर : देवगुप्त का सहचर

पात्री

राज्यश्री : थानेसर की राजकुमारी, ग्रहवर्मा की रानी

अमला, विमला, कमला : राज्यश्री की सखियाँ

सरला : नरेन्द्र की गायिका

प्रथम अङ्क

नान्दी

जयति सच्चिदानन्द जगत है जिसकी लीला।
जय शिव, परमानन्द वृत्ति अति करुणाशीला ॥
जयति हृदय नभ चन्द विमल आलोक सहित है।
जय जय जय सुखकन्द दोष से सदा रहित है ॥
जिसके पद अरविन्द में सबही की है नित्य नति।
जननायक आनन्दमय वह लीलामय प्रभु जयति ॥

●

पहला दृश्य

(कन्नौज–राजभवन–ग्रहवर्मा–राज्यश्री)

राज्यश्री—"नाथ ! आज आप चिन्तित क्यों दिखाई देते हैं ?"

ग्रहवर्मा—"प्रिये ! मेरा चित्त आज अनायास ही स्वयं उदासीन हो रहा है। चेष्टा करने पर भी प्रसन्न नहीं हो रहा है। अनेक भावनायें हृदय में उठती हैं जो निर्मूल होने पर भी उसे उद्विग्न किये हैं।"

राज्यश्री—"प्रभो ! आपके ऐसे धीर पुरुषों को जिनका हृदय हिमालय समान अचल और शान्त है, क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती हैं। कभी नहीं !"

ग्रहवर्मा—"प्रिये ! इस विश्वव्यापी वैभव के आनन्द में यह मेरा हृदय शंकित होकर मुझे दुर्बल बना रहा है।"

राज्यश्री—"शंका किस बात की प्रियतम ?"

ग्रहवर्मा—"पुण्य भूमि यह कान्यकुब्ज सा राज्य है,
जिसके आगे नन्दन वन भी त्याज्य है।
सरल प्रजा उर्वरा भूमि तृणयुक्त है।
शीतल जल तटिनी प्रवाह भी मुक्त है ॥

स्वास्थ्य पूर्ण है पवन सघन वन हैं हरे,
फुल्ल कुसुम फल स्वादु रहे जिसमें भरे।
सबसे यह आनन्द बड़ा है प्रियतमे!
तुमसा निर्मल-कुसुम भी मिला है हमें॥
हृदय उत्स के पूत धार से धो गया--
जिसका स्वतः पराग गन्ध भी बढ़ गया।
अविश्वास का कीट न जिसके पास है,
जिस नलिनी का सहज स्वभाव विकास है॥"

राज्यश्री—**(संकुचित होती हुई)** हाँ हाँ फिर शंका किस बात की है?

ग्रहवर्मा—**(आकाश की ओर गम्भीर स्वर से)**—

"घोर नील यह विस्तृत परमाकाश है,
महाज्योति जिसका प्रच्छन्न प्रकाश है।
उसका ही यह धूम पुंज है भर रहा,
तारागण उसके स्फुलिंग जैसे यहाँ॥
यह अपने अन्तर में रखता है नही,
एक भाव से, इसकी है स्थिर गति यही।
जब वसन्त में विधु का पूर्ण विकाश हो,
नदी कूल में कुसुमित कुंज विकाश हो॥
खिले कुमुदिनी देख वदन विधु का अहो,
भावान्तर इसका तब देखो तो कहो।
मलिन धूलि परिपूरित फिर अन्तर हुआ,
सकल ग्रीष्म का ताप अंग पर चढ़ गया॥
घोर प्रभंजन क्षुब्ध हृदय इसका हुआ,
भीषण यह आकाश क्रोध कुछ बढ़ गया।
उद्वेलित हो सिन्धु तरंगायित हुआ,
सजल जलद का जाल बहुत विस्तृत हुआ॥
छिपे चन्द्र, तारा का नही प्रकाश है,
कहाँ कुमुदिनी का फिर पूर्ण विकाश है!"

राज्यश्री—"बस नाथ! बस, क्यों हृदय को दुर्बल बना रहे हो।"

ग्रहवर्मा—"प्रिये! क्या यह जान बूझ कर बनाया जाता है? मनुष्य हृदय स्वभाव दुर्बल है। प्रवृत्तियाँ बड़ी राज्यशक्तियों की तरह इसे घेरे रहती हैं, जब अवसर मिला उस छोटे से हृदय राज्य को आत्मसात् कर लेने को प्रस्तुत हो जाती हैं।"

राज्यश्री—"प्रभो ! फिर आत्मबल कोई वस्तु नहीं है ? मैं आपसे विवाद नहीं किया चाहती । पर, यह मेरा निवेदन है कि आप अपने हृदय को प्रसन्न कीजिये ।

ग्रहवर्मा —"प्रिये ! चित्त प्रसन्न करने के लिये क्षत्रियों को मृगया से बढ़कर दूसरा विनोद नही है । इसलिये इच्छा होती है कि सीमा के जंगल में थोड़े दिनों तक इसी तरह चित्त बहलाने का उद्योग करें ।"

राज्यश्री —"जैसी प्रभु की इच्छा । इस समय तो चल कर विश्राम कीजिये ।"

ग्रहवर्मा—"चलो चलें ।"

(दोनों जाते है, पट परिवर्तन)

द्वितीय दृश्य

(नगर प्रान्त में देवगुप्त वणिक वेश में)

देवगुप्त —' मालवराज होकर भी मैं छद्मवेश मे अनेक देश देखता यहाँ आया । किन्तु उस दिन मदनमहोत्सव मे जो नेत्रानन्ददायक दृश्य यहाँ देखने में आया वह क्या कभी भूलने का है । अहा 'राज्य-श्री' वास्तव मे विश्व-'राज्य-श्री' है । क्या वह मुझे न मिलेगी अवश्य मिलेगी ।"

(मधुकर का प्रवेश)

मधुकर—"महाराज ! मालव से एक दूत आया है ।"

देवगुप्त—"उसे शीघ्र बुलालो ।"

(मधुकर जाता है, दूत के साथ फिर आता है)

दूत—"महाराज विजयी हों ।"

देवगुप्त—कहो क्या समाचार है !"

दूत—"महाराज के अनुग्रह से सब मंगल है । मन्त्रिवर ने यह प्रार्थनापत्र श्रीचरणों में भेजा है ।"

(पत्र देता है)

देवगुप्त—(पत्र पढ़ता है)—स्वस्ति श्री इत्यादि महाराज के आज्ञानुसार बीरसेन सेना के साथ निर्दिष्ट स्थान पर प्रेरित हो चुका है । और एक सहस्त्र सैनिक अनेक वेश में आपके समीप उपस्थित हैं संकेत पाते ही एकत्र हो जायंगे किन्तु प्रभो ! दास का एक निवेदन है कि बहुत परिणामदर्शी होकर कार्य्य कीजियेगा । शमिति ।"

देवगुप्त—"मन्त्री वृद्ध हो गये हैं । (दूत से) जाओ विश्राम करो ।"

(पट परिवर्तन)

तृतीय दृश्य

(मन्दिर—राज्यश्री सहेलियों के साथ)

१. सहेली—"फूल और पूजा की वस्तु प्रस्तुत है। महाराज की मंगल कामना के लिये भगवती की आराधना कीजिये।"

(राज्यश्री पूजा करती है)

अमला—"महारानी! पूजन तो हो चुका, अब महलों में पधारिये।

राज्यश्री—"चलती हूँ। सखि! मेरा हृदय कह रहा है कि महाराज का कोई सन्देश आही रहा है।

विमला—देवि! प्रिय जन की उत्कण्ठा में प्रायः ऐसा भ्रम हुआ करता।"

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी—'स्वामिनी! कानन से एक दूत आया है जो महाराज का कुछ संदेश लाया है।

राज्यश्री—"उसे शीघ्र बुलाओ।"

(प्रतिहारी का प्रस्थान)

विमला—"महारानी का भ्रम सत्य हुआ।"

अमला—"सखी! महारानी का हृदय अपने प्राणनाथ के प्रति बहुत ही स्वच्छ है। देखो,

प्रकट न झूठी बात निर्मल मन में हो कभी।
सन्मुख ही की वस्तु, प्रतिविम्बित हो मुकुर में॥

(दूत के साथ प्रतिहारी का प्रवेश)

दूत—(प्रणाम करके) "महारानी चिर सौभाग्यवती हों।

राज्यश्री—"दूत! क्या समाचार है?"

दूत—"ईश्वर की कृपा से सब कुशल है। सीमाप्रान्त के कानन में महाराज सुख से मृगया-विनोद में दिवस यापन कर रहे हैं। किन्तु...."

राज्यश्री—'कहो कहो। किन्तु क्या?"

दूत—"स्वामिनी! युद्ध की आशंका है। मालवेश्वर की सीमा हमारी सीमा से मिली हुई है। अकारण उनकी सेना आज कल सीमा पर एकत्र हो रही है। और महाराज को चिढ़ाने के लिये जान बूझकर कुछ धृष्टता की जाती है, इसलिये, महाराज ने आज्ञा भेजी है कि—'नगर की रक्षा के लिये थोड़ी सेना छोड़कर सेनापति कुल चतुरंगिनी सेना लेकर यहाँ चले आवें।"

राज्यश्री—"दूत। इसी को कहने में तुम विलम्ब करते थे। क्षत्राणी को इससे बढ़कर शुभ समाचार कौन होगा कि—"उसका पति युद्ध के लिये सन्नद्ध हो रहा है।

(सखियों से) सखियो ! इस महामंगल के लिये, भावी युद्ध में प्राणनाथ के विजय के लिये, आओ, पुनः भवानी से प्रार्थना करें।"

(समवेत स्वर से)

जय जय जय महाशक्ति, जय जय जय ईश भक्ति,
जय जय जय सदा मुक्ति, अभय कारिणी।
प्रकृति जड़ प्रकाश मान, विलसत प्रतिभा महान,
तूऽही है केन्द्र स्थान विश्व---धारिणी ॥

(मन्दिर में अट्टहास। राज्यश्री मूर्च्छित होती है)

(अंधकार के साथ पट-परिवर्तन)

चतुर्थ दृश्य

(नगर के समीप में देवगुप्त घबड़ाया हुआ)

देवगुप्त—(स्वगत) "सीमाप्रान्त का क्या समाचार है, अभी तक सुनने में नही आया। वीरसेन की वीरता पर तो मुझे बड़ा भरोसा है पर यह मौखरी कुलवेश्वर भी सहज नही है। इधर मै भी इतने मनुष्यों के साथ दूसरे की राजधानी में हूँ। बड़ी विषम समस्या है। कुछ समझ मे नही आता कि क्या करूँ। अच्छा यदि सीमा के युद्ध में वीरसेन विजयी हुआ तब तो मैं इन चुने हुए सैनिकों के द्वारा इस अरक्षित राजधानी को हस्तगत कर लूंगा। और यदि, ऐसा न हुआ, तब तो शीघ्रता से मालव पहुंच कर सब दोष सेनापति के सिर पर रखकर मैं अलग हो जाऊँगा। क्योंकि, यह तो प्रसिद्ध ही है कि मालवेश्वर बहुत दिनों से तीर्थ यात्रा को बाहर गये है। (ठहर कर) मधुकर अभी तक नही आया। आता ही होगा (टहलता है) राज्यश्री ! राज्यश्री !! यह सब देवगुप्त तेरे लिये कर रहा है। क्या तू मुझे मिलेगी ?"

(मधुकर का प्रवेश)

देवगुप्त---"कहो जी क्या समाचार है ?'

मधुकर---"सुनिये सीमाप्रान्त के युद्ध में आप विजयी हुए। किम्वदन्ती है कि ग्रहवर्मा को कड़ी चोट आई है। वीरसेन ने कान्यकुब्ज की सेना पहुँचने के पहले ही युद्ध प्रारम्भ कर दिया, इसी कारण व विजयी हुए। नगर में सेना बहुत कम है, मेरा अनुमान है कि आपके सैनिक उनसे विशेष है।

देवगुप्त---"अहा हा ! अब क्या मधुकर सुनो, (कान में कुछ कहता है) (प्रकट) जब कुछ और सेना सीमा की ओर ग्रहवर्मा की रक्षा के लिये चली जाय तो जिस ढंग से बताया है उसी तरह मेरे सब सैनिक कन्नौज दुर्ग में एकत्रित हो जायँ। और संकेत 'विजय' का ध्यान में रहे। बस शीघ्र जाओ।

(प्रस्थान)

पंचम दृश्य

(दुर्ग में प्रकोष्ठ। मूर्च्छित राज्य-श्री। सखियाँ)

विमला—"कमला ! महारानी की कैसी अवस्था है ? आज रात को तूही उनके समीप रही।"

कमला—"सखी ! क्या कहे, मन्दिर की घटना से अभीतक एकबार भी पूरी चेतना नही हुई। प्रलाप उसी तरह है। देख, देख, अब उठी और कुछ कहना ही चाहती हैं।"

(राज्यश्री अचेतना में प्रलाप करती है)

"महामङ्गल। प्राणनाथ की जय। महामङ्गल" **(सो जाती है। मन्त्री का प्रवेश। राज्य-श्री फिर उठती है)**

राज्यश्री—(भयानक गम्भीर स्वर से) "हँस दिया- हाँ हँस दिया। मेरी प्रार्थना पर हँस दिया, मेरी क्या प्रार्थना थी। यही कि "प्राणनाथ की जय हो" तुमने केवल हँस दिया। क्या अनुचित प्रार्थना थी ? मेरी बात क्या हँसने योग्य थी। नही, नही। केवल निर्बल होने से हँसी। हँसो और भी हँसो—मेरी प्रार्थना तुम्हारे कर्कश कठोर अट्टहास मे विलीन हो गई। हाय ! मेरी प्रार्थना जब मुझे ही नही सुनाई पड़ती—तब दूसरा कौन सुने। केवल कठोर हंसी—कर्कश अट्टहास हाहाहाहा।

(मूर्च्छित होती है)

मंत्री—"हाय ! किससे क्या कहे ? महाराज का समाचार कहना तो दूर है, जिसकी आशंका ही से यह दशा है उससे और क्या आशा है ? संसार ! यदि तुझ मे मनुष्य न होते तो तू इतना भयंकर न होता। गर्वी मनुष्य, तुझे किसी का दुःख सुनने का, सदुपदेश के सुनने का अवकाश कहाँ है। तेरे कान, जो मोतियों के कुण्डल से बाहर से लदे हुए है भीतर भी चाटुकारों की प्रशसा और संगीत की झनकार से भरे हैं **(राज्यश्री की ओर देखकर)** हाय ! कुटिलता ! देख तूने एक सोने के संसार को कैसा मट्टी किया।

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी—"मन्त्रिवर ! न मालूम क्यों दुर्ग मे बड़ी भीड़ एकत्रित हो रही है। प्रजा कह रही है कि—"हम अपने महाराज के लिये रक्त बहावेगे। मन्त्री की आज्ञा मिलनी चाहिये।"

मंत्री—"उन लोगों से कहो कि हम अभी आते हे।"

(प्रतिहारी का प्रस्थान)

(राज्यश्री उठकर टहलती है—प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी—"मन्त्री महाशय ! अनर्थ ! घोर अनर्थ !"

मंत्री—"क्या हुआ ? कुछ कहो भी।"

प्रतिहारी—"उन प्रजाओं के साथ दुर्ग में सहस्त्रों शत्रु घुस आये। वे सब शत्रु ही थे जो इस तरह का राष्ट्र विप्लव करके अपना कार्य साधन कर चुके।"

मंत्री—"घोर अनर्थ ! कोटपाल कहाँ है ?"

(सैनिक का प्रवेश)

सैनिक--"कोटपाल, सैन्य संग्रह करके युद्ध कर रहे है, और आपसे मुझे कहने को भेजा है कि, इस युद्ध का नेता वही छली है जो जवहरी बन कर महाराज के हाथ कुछ रत्न बेच गया था।"

मन्त्री—"जाओ रणभूमि में जाकर अपना कर-कौशल दिखाओ। **(सैनिक का प्रस्थान। विमला से)** विमला ! महारानी का यहाँ रहना ठीक नही **(राज्यश्री की ओर देखकर)** हे परमेश्वर ! यह कैसा उन्माद ?"

राज्यश्री—"मन्त्री, उसने हँस दिया। तुम भी हँसो।"

(नेपथ्य में रण कोलाहल)

मन्त्री—"महारानी ! शत्रु दुर्ग मे घुस आये।"

राज्यश्री -"जाओ उन्हे लिवा लाओ।"

(मन्त्री की तलवार ले लेती है—देवगुप्त का विजयी सैनिकों के साथ प्रवेश—राज्यश्री का खड्ग चलाना। देवगुप्त का उसे छीन लेना)

[पटाक्षेप]

●

द्वितीय अङ्क

प्रथम दृश्य

(कानन—विकट घोष)

विकटघोष—**(स्वगत)** मैं संसार से अलग किया गया था, किसलिये ? केवल स्वार्थसाधन के लिये। पिता ने मुझे भिक्षु संघ मे समर्पण कर दिया था क्यों ? इसलिये कि मैं धार्मिक जीवन व्यतीत करूँ। पाषाण हृदय मे मेरे लिये दया या सहानुभूति नही थी। हाय ! हृदय के कानन की आशालता जब बलवती हुई, तो मैं क्या देखता हूँ कि कर्मक्षेत्र मे मेरे लिये कुछ हुई नही है। केवल शून्य चिन्तन। नही,

नहीं, इन हिंस्र पशुओं से भी भयानक मनुष्यों को बदला देना हमारा काम है। जब किसी को मेरी सहानुभूति नही है, फिर मैं किसी पर क्यों दया करूँ?"

(भील डाकू का प्रवेश)

भील—"सर्दार! आज तो इस जंगल पे कोई बड़ी सेना डेरा जमाये हुए है।"

विकटघोष—"सेना! वह किधर जायगी?"

भील—"थानेश्वर के राजा राज्यवर्धन की सेना है, कन्नौज जा रही है।"

विकटघोष—"अहा, मै समझ गया। राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा को देवगुप्त ने छल से मार डाला और कन्नौज ले लिया। अब राज्यवर्धन ने अपनी भगिनी का प्रतिशोध लेने के लिये देवगुप्त पर चढाई की है। हाय! राज्यश्री! तेरी रूप की ज्वाला अभी तक मेरे हृदय को जला रही है। संसार का कर्मक्षेत्र मुझे न दिखाई पडता यदि तेरा आलोकमय रूप नेत्रों के सामने न आता। तुम्ही तो इस दीन भिक्षु को भयानक डाकू बना देने की कारण हो। क्षत्रियकुमार होकर क्या मै तुम्हे नही पा सकता था? मेरा जन्म भी तो उच्च क्षत्रिय कुल मे हुआ था? अच्छा यही तो अवसर है। यदि इस समय भी हम राज्यश्री को न प्राप्त कर सके, तो व्यर्थ ही लुटेरा बनने का पाप सर पर लिया। चलो।"

(दोनों जाते है)

(भण्डि और सैनिक का प्रवेश)

भण्डि—"क्यों जी? अब तो मेरा अनुमान है कि कल हमलोग कन्नौज की सीमा पर पहुँच जायँगे।"

सैनिक—"हमलोग तो आज ही पहुँच गये होते यदि गौड़राज की आशा मे समय नष्ट न होता।"

भण्डि—"आज ही तो नरेन्द्रगुप्त के आने का निश्चय था और इसी कानन का स्थान नियत था फिर अभी तक वे नहीं आये क्यों?"

सैनिक—"आवे चाहे न आवे। मेरा तो इस अकारण मैत्री से चित्त शंकित होता है। महाराज राज्यवर्धन ने न मालूम क्या समझा है।"

भण्डि—"अजी उसने देखा कि थानेश्वर के राज्यवंश से मैत्री कर लेने से उसे, और शत्रुओं का डर न रहेगा, और प्रतिष्ठा भी बनी रहेगी।"

सैनिक—"अच्छा, अब अपने लोग भी विश्राम के लिये चलें। महाराज यदि मुझे पूछे तो कह देना कि स्कन्दगुप्त अपने शिविर मे है।"

भण्डि—"अच्छा।"

(दोनों जाते है)

द्वितीय दृश्य

(पटमण्डप में राज्यवर्धन, नरेन्द्रगुप्त, भण्डि और स्कन्दगुप्त)

नरेन्द्रगुप्त—"दुष्ट देवगुप्त ने कैसे कुसमय मे यह उत्पात मचाया, जब एक ओर आप दोनों भाई पितृ शोक मे व्याकुल थे तब नराधम ने एक और नारकीय अभिनय किया। अच्छा शान्ति से आप अग्रसर हों, धैर्य्य आपका सहायक हो।

राज्यवर्धन—"गौड़ेश्वर ! शान्ति ! कहाँ शान्ति है –

"इस जीवन का दृश्य अनूठा भाव भरा है,
हृदय कमल भी नित्य न रहता रंग भरा है।
चिन्ता कीट प्रवेश कभी करता है इसमें,
शान्ति सरस मकरन्द सदा रहता है किसमे ?"

शान्ति, नही; शीघ्रता मे इन अपने प्रचण्ड वैरियो से बदला लेना ही हमारे जीवन का प्रधान कार्य्य है –

"अपनी भुजा से ले लिया जिसने नही प्रतिशोध को,
सन्तोष देता चित्त को करना न शत्रु विरोध को।
जो अग्नि सम जलता नही है शत्रु-मुख के वायु से,
उस कीट को कुछ भी नही है कार्य्य निज परमायु से ॥"

भण्डि—"महाराज शान्त हो। उस नराधम देवगुप्त को कल उचित से भी बढ़कर दण्ड दिया जायगा।"

नरेन्द्रगुप्त—"हम लोगों को ऐसा ही उद्योग करना चाहिए।"

दौवारिक—**(प्रवेश करके)** महाराज की जय हो। एक मनुष्य श्रीचरणों का दर्शन किया चाहता है।

राज्यवर्धन—"आने दो।"

(दौवारिक का प्रस्थान—विकट घोष के साथ पुनः प्रवेश)

विकटघोष—**(प्रणाम करके)** महाराज की कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण हो।

स्कन्दगुप्त—"तुम्हारी क्या अभिलाषा है ?"

विकटघोष—"महाराज के आश्रय मे अपने चिर शत्रु देवगुप्त से प्रतिशोध लेना ही मेरा अभीष्ट है मेरे हृदय का रत्न उसने छीन लिया है।"

भण्डि—"तुम्हारे ऊपर विश्वास……"

विकटघोष—"क्या महाराज राज्यवर्धन मेरे इन्ही दो हाथो से डरते हैं। क्या इतनी बड़ी सेना को मैं अकेले वंचित कर सकता हूँ ?"

स्कन्दगुप्त—"किन्तु……"

विकटघोष—"किन्तु कौन जन्तु है, मैं नहीं जानता। बीरों के पास खड्ग से बढ़कर दूसरा प्रमाण नहीं।"

राज्यवर्धन—"ठहरो ! तुम्हारा नाम क्या है ?"

बिकटघोष—"बीरसेन।"

नरेन्द्रगुप्त—"भला तुम क्या करोगे ?"

विकटघोष—"मुझे कन्नौज दुर्ग के गुप्तमार्ग मालूम हैं उनके द्वारा सुगमता से आपको विजय मिल सकती है। यदि मेरे वहाँ आने जाने में महाराज को कुछ शंका हो तो मैं एक सामान्य सैनिक की तरह सेना मे रहकर शस्त्र कौशल दिखाऊँगा।"

(राज्यवर्धन नरेन्द्रगुप्त को इंगित करते है)

नरेन्द्रगुप्त—"अच्छा वीरसेन तुमने यदि सेना में रहकर उसे किसी प्रकार की सहायता पहुँचाई तो तुम्हे उचित पुरस्कार मिलेगा।"

(पट—परिवर्तन)

तृतीय दृश्य

(दुर्ग पथ—अमला और विमला)

अमला—"हाय ! ईश्वर ! की क्या इच्छा है ? महाराज स्वर्गवासी हुए, दुर्ग पर बैरी का अधिकार हुआ महारानी की यह अवस्था। देखे यह चाण्डाल देवगुप्त अभी और क्या करता है।"

विमला—"सखी ! उसका ध्यान महारानी की ओर कुछ अच्छा नहीं है। वह बड़ा ही नीच है, उसकी चिकनी चुपड़ी बातों से मैं भलीभाँति समझ गई हूँ कि वह महारानी के रूप में मुग्ध है।

अमला—"भला, यह तू कैसी बात कहती है ?"

विमला—"इतना, भी नहीं समझती: यदि वह रूप में न मुग्ध होता तो अभी तक महारानी को महल में रहने देता ? कभी कारागार में न भेजता ?"

अमला—किन्तु वह तो बड़ी सभ्यता दिखाता है, महारानी के स्वास्थ्य का बहुत ध्यान रखता है।

विमला—सखी ये सब उसके बनावटी भाव है। दुष्ट जब आता है तब एक नये ढंग से। यही तो अच्छा हुआ कि जब वह आया तब महारानी को मूर्च्छिता पाया।

अमला—"क्योंरी, महारानी का अब क्या उपाय है ?"

विमला—"इस समय तो उनकी मूर्च्छा ही औषधि है—

'जिस हृदय जर्जर, विटपि ने झोंका प्रभञ्जन का सहाँ,
संसार की दुर्व्याधियों से जो सदा रोगी रहा।
निद्रित पड़े रहना उमे विस्मृति धरा पर शान्त हो,
एकान्त औषधि है, नहीं वह दुःख से फिर क्लान्त हो ॥

अमला—"ठीक है सखि !"

विमला—"अब तू कहाँ जाती है ?"

अमला--"महारानी के पास।"

विमला—"मैं भी तो वहीं चलना चाहती हूँ।"

अमला—"तो फिर चल, देखें अब महरानी की कैसी अवस्था है। वैद्य तो बड़ा परिश्रम कर रहा है। ईश्वर उसको सफलता दें।"

(दोनों जाती हैं)

(पट परिवर्तन)

चतुर्थ दृश्य

(महल। राज्यश्री बैठी हुई)

विमला—**(प्रवेश करके)** "महारानी अब कैसी है, कमला !" **(राज्यश्री उठ खड़ी होती है)।**

राज्यश्री—'सखी ! महारानी किसे कह रही हो। हाय ! मुझे चेतना क्यों हुई ? मैं भूल गई थी। सारी वेदनायें. मब अत्याचार, संसार के जितने कष्ट इस क्षुद्र जीवन पर आये; उन्हे इस अचेतना ने भुला दिया था। पर अब तो वे ही वेदनाये रोम की तरह अंग में खड़ी होकर हृदय में काँटे सी चुभ रही है। सखियो ! तुम लोगों ने मुझे औषधि के साथ विष क्यों नही खिलाया। हाय ! स्नेह ने तुम्हे उपकार और अपकार नही समझने दिया। हे करुणा सिन्धु, यह कैसी करुणा ! प्रभो !"

अमला -'महारानी धैर्य्य धारण कीजिये।"

विमला—"शान्त होइये।"

कमला—"ईश्वर पर विश्वास रखिये।"

राज्यश्री—

विश्वास करने को अहो प्रत्येक श्वास बता रहा,
प्रभु में प्रतीति विशुद्ध प्राण प्रीति युक्त जता रहा।
पर आर्त्तवाणी स्थान रखती है नहीं उस स्थान में,
क्या यह गिरा ही पलट आती है, न पहुँची कान में ?

सखी ! क्या शत्रु का अधिकार सर्वत्र हो गया, और प्रजा ने भी उसे राजा स्वीकार कर लिया ?"

कमला —"दुर्दैव ने सब करा दिया।"

राज्यश्री—"क्या मालवराज ही इसका नेता है ?

विमला—"उसी ने तो सब किया।"

(देवगुप्त का प्रवेश)

देवगुप्त—"धन्यवाद है ईश्वर को कि अब आप अच्छी है।"

राज्यश्री—"नराधम ! नीच ! तू यहाँ क्यों आया है ?"

देवगुप्त—"सुन्दरी ! क्यो इतना क्रोध करती हो ?"

राज्यश्री—"चाण्डाल ! सर्वस्व हरण करके पूछता है, क्या किया ? हरिणी को वाणविद्ध करके अहेरी पूछता है कि 'तुम्हे चोट तो नही लगी"। अधखिली बसन्त की कली को जलती हुई धूलि मे पटक कर गर्मी का अन्धड़ चिल्लाकर पूछना है "तुम कैसी हो"। शान्त सरोवर की सौरभमयी कुमुदिनी को पैरो मे कुचल कर मतवाला हाथी भी उससे पूछता है कि "तुम अच्छी तो हो"। दुष्ट ! नारकी कीडा हट सामने से।

देवगुप्त—"तुम्हारे लिये ! केवल तुम्हारे लिये यह सब हमने किया, और ऐसे कठोर शब्दो के लिये क्षमा भी तुम्ही को है।

राज्यश्री—"तेरे ऐसे अधम को मै पैरो मे कुचलती हूँ। पिशाच ! जा, जो जी मे आवे कर। क्या मरने से भी किसी को रोक सकता है ?"

देवगुप्त—**(ताली बजाता है, चार प्रहरियों का प्रवेश)** "शीघ्र इस दुष्टा को बाँध लो और इसे बन्दीगृह मे रखो।"

(प्रहरी, राज्यश्री को घेर लेते हैं)

(पट-परिवर्त्तन)

पंचम दृश्य

(मधुकर प्रकोष्ठ में)

मधुकर—देखें अब और क्या होता है ?"

(विकटघोष, पीछे से चपत लगाता है)

मधुकर—"भाई तुम कौन हो।"

विकटघोष—"मेरा नाम है विकटघोष।"

मधुकर—"तब आप शंखघोष कीजिये। यह रोएँदार खँजड़ी क्यों बजा रहे हैं।

विकटघोष --"चुप रहो ! मुझे अवकाश नहीं कि मैं विशेष ठहरूँ।

मधुकर—"हाँ हाँ आप शीघ्र चले जाइये...।

विकटघोष—"फिर बोले जाता है, इस पत्र को देवगुप्त को दे देना और कहना कि "वह तुम से फिर मिलेंगे"।

मधुकर—"बहुत अच्छा मै दे दूँगा। आप तो जाते है न ?"

विकटघोष—"क्या बडबडा रहा है, चुप रह।

मधुकर—"मुझे दु ख है कि आप विशेष नही ठहर सकते।"

विकटघोष—"मै जाता हूँ, पत्र दे देना. नही तो।

(विकटघोष का प्रस्थान)

(देवगुप्त का प्रवेश)

मधुकर—**(पत्र देकर)** लीजिये, आपके एक पुराने मित्र ने दिया है।"

देवगुप्त—**(पत्र लेकर)** "कौन मित्र। वह क्यों आया था ?"

मधुकर—"चपत लगाने।"

देवगुप्त—"कैसा था ?"

मधुकर—"जैसी आपकी बुद्धि।"

देवगुप्त—"क्या कहा उसने ?"

मधुकर—"यह बात, इस पत्र से पूछिये।"

देवगुप्त—**(पत्र पढ़ता है)** 'श्रीयुत् इत्यादि... मैं आपको सावधान किये देता हूँ कि राज्यवर्धन की सेना आप पर आक्रमण किया ही चाहती है। आप तो किसी प्रकार बच भी सकते है किन्तु राज्यश्री को आप नही बचा सकते अन्तु यदि राज्यश्री को लेने की इच्छा हो तो उन्हे मेरे यहाँ भेज दीजिये। जब आप चाहेंगे मिल जायगी। इस युद्ध मे आपकी रक्षा नही है। आप जो उचित समझे करें।" **विकट घोष**

देवगुप्त—"वाह, यह तो कोई अच्छा पण्डित है जो देवगुप्त को भी पढ़ाना चाहता है। मधुकर ! चरों को सेना का वृत्तान्त लेने के लिये भेज दो। देखें इसकी बात कहाँ तक ठीक है।"

(जाता है। पटपरिवर्त्तन)

षष्ठम दृश्य

(बन्दिनी राज्यश्री—प्रहरी)

नरदत्त --"अहा ! देखो यही राज्यश्री है जिसके पाणिपीडन के लिये सैकड़ों राजकुमार प्रार्थी थे किन्तु ग्रहवर्मा का ही मनोरथ पूर्ण हुआ। इसे उनका दुर्भाग्य कहें

या सौभाग्य। कौन कह सकता है कि जितने बहुत बड़े होते हैं उतने ही वे बहुत बड़े धूर्ताधिराज होते हैं ? हे दैव, यह तेरी विचित्र लीला हैं, जिनके रहस्यों के सुनने से रोम कूप स्वेद जल से भर उठें; जिनके पाप का कटोरा भरा हुआ छलक रहा है, वे ही समाज के नेता है ? जिनके सर्वस्व हरणकारी करों से कितनों की पूर्णाहुती हो चुकी है वे ही मान्य महाजन हैं ? जिनके दण्डनीय कार्यों का पुरस्कार निर्धारण करने में परमात्मा को भी समय लगे, वे ही दूसरों के दण्डविधायक है ? सरल मनुष्यों का समूह जिनके हाथों का खिलौना है वे ही कुटिल नरपिशाच चतुर समझे जाते हैं ? यदि किसी छोटे आदमी का यह सब काम होता जो कि महाराज देवगुप्त कर रहे हैं तो वह चोर, लम्पट, धूर्त, इत्यादि उपाधियों से विभूषित होना पर, उन्हें कौन कह सक ा है ? अहा संसार तू धन्य है **(राज्यश्री को देखकर)** अहा ! कैसी देवी का सा स्वरूप है। देखते ही श्रद्धा होती है।"

(चार प्रहरियों का प्रवेश)

नरदत्त—"क्यों जी तुम लोग इतनी देर तक कहाँ रहे ? बड़ी देर किया।"

१—"आपको क्या अभी तक कुछ नही मालूम है। इतना बखेड़ा फैला है।"

नरदत्त—क्या ! कुछ सुनें भी, हम तो यही थे।"

२—"राज्यवर्धन की चढ़ाई हुई है। लड़ाई आरम्भ हुआ ही चाहती है। महाराज बड़े संकट में है।"

नरदत्त—"तब तो महाराज शीघ्र लड़ाई पर जायँगे ?"

३—"जायँगें कहाँ ! दुर्ग के द्वार पर सेना आ गई है।

(नेपथ्य में रणवाद्य कोलाहल)

नरदत्त—अच्छा तुम लोग यही रहो, मैं जाकर देख आऊं क्या हो रहा है।

(प्रस्थान)

४—"भाई अब तो सामने की लड़ाई है ?"

१—"क्या कहें यह न मालूम कहाँ की चुड़ैल हम लोगों के पीछे लगी है, नही तो नौदो ग्यारह होने में कौन देर थी।

(राज्यश्री, कोलाहल से चैतन्य होकर)

राज्यश्री—"क्यों जी लड़ाई का सा यह कैसा शब्द सुनाई दे रहा है ?"

२—"घबड़ाती क्यों हो ? कितनों को मार कर तब तुम मरोगी।"

राज्यश्री—"सुखी मनुष्यो ! तुम मरने को इतना डरते हो। किन्तु किसी दुःखी हृदय से पूछो कि वह उसे कितना चाहता हैं ? अस्त होते हुए तेजहीन, अभिमानी भास्कर को वह गिरने के लिये कितनी शीघ्रता करता है। पतंग से निराश प्रेमी से

पूछो कि वह भस्म होने में अपना सौभाग्य समझता है या नहीं ? संसार के सुखी मनुष्यो ! तुम्हारा जीवन शुभ हो और भग्नहृदय मनुष्यो तुम्हें तुम्हारी मृत्यु चिन्ता शान्तिदायिनी हो। हा येही सैनिक है जो मरने का वेतन पाते हैं।"

१ —"श्रीमती ! चाहना दूसरी वस्तु है और मिल जाने पर उसका सहन करना या उसे भोगना भिन्न पदार्थ है। तुम उसकी आशा की कल्पना कर सकती हो जो कि अगाध समुद्र में डूबा हुआ, सामने के तिनके को एक बड़े बाँम कासा सहारा देने वाला समझ कर पकडना चाहता है ?

राज्यश्री—किन्तु उससे भी तो पूछो जिसके नाक में जल आ गया है। जिसके भीतर के श्वास को बाहरी जल रोक देते है। जो बार बार उभचुभ हो रहा है।"

(रणकोलाहल—विकटघोष का प्रवेश)

नमकहरामो गप्प लगाने का तुम्हे यही समय है जाओ शीघ्र युद्ध में जाओ, महाराज ने बुलाया है। मै, राज्यश्री को लेकर दूसरी जगह पर जाता हूँ।

१—"जब तो आपके पास कोई आज्ञा पत्र अवश्य होगा। ऐसे हम लोग कैसे यहाँ मे [illegible] सकते है ?

(एक उसको दबाता है। फिर आपस में इंगित करते हैं)

तीनो—"महाशय ! यह तो पागल है। आप क्या झूठ बोलेंगे ! हम लोग जाते हैं। **(स्वगत)** किसी तरह बला छूटे।

(चारों का प्रस्थान)

विकटघोप **(राज्यश्री को बन्धनमुक्त करता है)** "भद्रे ! शीघ्र चलो, महाराज राज्यवर्धन ने भेजा है। आप मेरे साथ चलिये।"

राज्यश्री—"क्या ! भैय्या ने भेजा है ?"

विकटघोप -"हाँ उन्होंने कहा है कि युद्ध के और भी भीषण होने की सम्भावना है, इस कारण राज्यश्री को लेकर तुम सुरक्षित स्थान में चलो।

राज्यश्री—'तो फिर शीघ्र चलो।"

(दोनों का प्रस्थान। घबड़ाया हुआ देवगुप्त आता है। और दूसरी ओर से विजयी राज्यवर्धन का प्रवेश। युद्ध। देवगुप्त बन्दी होता है। राज्यवर्धन की विजय घोषणा)

[पटाक्षेप]

तृतीय अङ्क

प्रथम दृश्य

(चार सैनिक । राजपथ)

१—"क्योजी ! यह क्या हुआ ! जिसके लिये सारा उत्पात और बखेड़ा हुआ वही नही । देवी राज्यश्री का पता ही नही है ।"

२—"भई इसमे महाराज के नये मित्र नरेन्द्र गुप्त की कोई चाल समझाई पडती है ।"

३—नही जी वह तो हम लोगो के साथ ही यहाँ आया । वह क्या कर सकता है ।

४ "अजी यह बखेडा उसी लम्बी हाँक वाले विकटघोष का फैलाया हुआ है । वही नही दिखाई पडता ।

(मधुकर का प्रवेश)

१—क्यो ब्राह्मण देवता ? तुम्हारा क्या हुआ ?

मधुकर –"भई ! दो हाथियो के लडने से बीच के पेड के वृक्ष की जो दशा होती है वही हुई ।"

२—"भला तुम कह सकते हो कि राज्यश्री कहाँ है ? हमलोग उन्हे खोजने के लिये भेजे जा रहे है । यार जो कही तुमने बताया और हम लोगों ने पता ठीक पाया...."

३—"तो फिर क्या पुरस्कार मे आधा तुम्हारा ।"

मधुकर -"अजी प्राण बचे, फिर पुरस्कार देखा जायगा ?"

४—"भला कुछ बताओ तो ?"

मधुकर—"मेरा विश्वास है कि वही ले गया जिसने मेरे सिर पर चपत लगाया ।"

१—"वह कौन था ?"

मधुकर—"अजी उसका बडा विकट नाम था ।"

२—"विकटघोष तो नही ।"

मधुकर—"हाँ हाँ, ठीक, वही ।"

३—"भई ! चलो उसी को खोजा जाय । मधुकर तुम घबडाओ मत । महाराज राज्यवर्धन तुम्हे अवश्य छोड देंगे । पर देवगुप्त का निस्तार नही ।"

मधुकर—"भाई जो कुछ हो ।"

(प्रस्थान—पटपरिवर्तन)

द्वितीय दृश्य

(नरेन्द्र—सभासद—प्रकोष्ठ में)

नरेन्द्रगुप्त— (घबड़ाया हुआ) "रुद्रगुप्त ! चित्त व्याकुल हो रहा है। जिस कारण से राज्यवर्धन की····की गई वह सफल होती नहीं दिखाई देती। मेरा साहस नही होता कि मै कान्यकुब्ज पर अपना अधिकार भण्डि और स्कन्दगुप्त के सामने स्थापित कर सकूँ।"

रुद्रगुप्त - "अभी तो रात ही की बात है। बात फैली नहीं है। आप सावधान रहिये। रहस्य को छिपाने के लिये चाहे तो गायिका को बुलाकर गाना सुनिये; जब समाचार सर्वसाधारण को मालूम हो, तब आप भी शोक मनाइये।"

नरेन्द्रगुप्त "किन्तु भण्डि और स्कन्द दोनों ही बड़े चतुर हैं, इनसे कोई बात छिपी न रहेगी। देखो क्या होता है। सरला कहाँ है ?"

सरला—(प्रवेश करके) 'क्यों प्यारे ! क्या है ?"

नरेन्द्रगुप्त "प्यारी, हृदय की ज्वाला बढ रही है। शर्बत।" **(सरला पानपात्र ले आती है—नरेन्द्र पीता है)**

नरेन्द्रगुप्त (सरला को पास बैठाकर) कुछ गाओ।

(गान)

"जब प्रीति नही मन मे कुछ भी,
तब क्यों फिर बात बनाने लगे।
सब रीति घटी, हाँ प्रतीति उठी,
फिर भी हँसने मुसुकाने लगे॥
सुख देख सभी सुख खो दिया था,
दुख मोल इसी सुख को लिया था।
सर्वस्व ही तो हमने दिया था,
तुम देखने को तरसाने लगे॥
सब साँस हुई सिसकी तन में,
सब नीर भरा इन नैनन में।
तब भी न दया प्रकटी तन मे,
तुम कैसे कृपालु कहाने लगे॥
जब प्रीति नही मन में० ॥

नरेन्द्रगुप्त —"आहाहा ! वाह वाह।'

सभासद -"क्या कहना है !"

(वेग से स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्दगुप्त—"नरपिशाच ! ऐसे शोचनीय समय मे वह कैसा स्वांग ?"

नरेन्द्रगुप्त—(घबड़ा कर) 'मैने तो कुछ नही किया।"

स्कन्दगुप्त—"महाराज राज्यवर्धन की हत्या किसने की ? (तलवार निकाल कर) सच बता, प्रहरी ने तुझे ही उस समय महल से निकलते देखा है ? क्या तू वहाँ नही गया था ?"

नरेन्द्रगुप्त—"मैं तो वहाँ देखने गया था।"

स्कन्दगुप्त 'क्या ! महाराज की हत्या ? दुष्ट शीघ्र बोल !"

नरेन्द्रगुप्त—"नही, नही, मैने उन्हे नही मारा।"

स्कन्दगुप्त— नही क्यो, तूही था।"

नरेन्द्रगुप्त –"मैं था, नही, मैने नही, (चुप हो जाता है)

स्कन्दगुप्त -"तू बात बनाता है अच्छा ले नीच, मेरी तो इच्छा होती है कि तेरा शरीर कुत्ते से नुचवा डालू किन्तु इसमे देर होगी। तेरे बोझ से पृथ्वी शीघ्र हलकी हो। सावधान हो जा।'

(स्कन्दगुप्त मारता है। नरेन्द्र गिरता है। सरला सभासद भयभीत। अन्धकार)

(पट-परिवर्तन)

तृतीय दृश्य

(स्थान कानन। दिवाकर मित्र)

दिवाकर--'ससार ! क्षणिक ससार ! तेरी महिमा अपरम्पार है। इस महाशून्य मे तेरा इन्द्रजाल किसको भ्रान्त नही करता ? प्रपच दुःख से भरा होने पर भी जीव से तू सहज मे नही छटता। अन्तरात्मा की शान्ति ! आ, मेरे हृदय मे शान्ति दे। करुणा ! इस दुःखपूर्ण धरणी को अपने क्रोड मे चिरकालिक विश्राम दे। शान्ति ! शान्ति ! शान्ति !"

(नेपथ्य में)

"अब भी मान जा।"

"नही ! नही ! मुझ दुखियारी को दुःख न दे, इस विस्तीर्ण संसार मे क्या सुख हई नही है ? क्या दया नाम मात्र को रह गई ? मनुष्य होकर हिंस्र पशुओ को मत लज्जित कर। मुझे छोड दे। मैं तेरे प्रेम के योग्य नही ! इस श्मशान हृदय मे प्रेम की राख भी अब नही है। निर्दय ! कोयला चबाकर तू क्या रस पावेगा ? यदि तू क्रूर ही है तो मार ही क्यो नही डालता।"

दिवाकर--"हैं इस कानन में यह, कैसा उत्पात। कौन दुष्ट यह कुकर्म कर रहा है, किस अबला को सता रहा है ? देखूं यदि कुछ कर सकूं ?"

(गाता है)

अब भी चेत ले तूं नीच।
दुःख परितापित धरा को स्नेहजल से सीच ॥
शीघ्र तृष्णा पाश से नर ! कण्ठ को निज खींच।
स्नान कर करुणा सरोवर, धोय ले सब कीच ॥

(विकटघोष का प्रवेश)

"करुणामय ! आप कौन है ? इस मरु धरा से हृदय में दया स्रोत आपने कैसे बहाया ? प्रभो, शरणागत हूँ। दीन को दया दान दीजिये। अपने चरणों में शरण दीजिये। मुझे उपदेश देकर सनाथ कीजिये।"

दिवाकर--"दुखी जीव, पापों का प्रायश्चित्त पश्चात्ताप और परोपकार में लग जा ! तुझे शान्ति मिलेगी।

(विकटघोष चरणों में गिरता है। राज्यश्री का प्रवेश)

राज्यश्री--**(चरण धर कर)** "मुनिवर ! दयाधन ! मुझे इस दुःखमय संसार से बचाइये ! दया कीजिये !"

दिवाकर—"भद्रे ! सन्तोष, और विवेक का अनुसरण कर। डर मत !"

राज्यश्री—"प्रभो मैं आपके अभय चरणों में स्थान चाहती हूँ ?"

दिवाकर—"आश्रम में भिक्षुनी संघ में तुम्हें स्थान मिलेगा; चलो।"

(प्रस्थान)

चतुर्थ दृश्य

(स्कन्धावार पञ्जाब में हर्षवर्द्धन। सभासद)

हर्षवर्धन—"सिंहनाद, कुटिल संसार में सरलता भी बुरी वस्तु है। इन पामरों के कूट चक्रों से हृदय ज्वालामुखी वन रहा है। क्रोध चाहता है कि इस कुटिल क्रूर राज्यमण्डली को प्रलय के समुद्र मे वहा दे। ग्रहवर्मा का शरीरान्त हुआ। दुष्ट नरेन्द्र, भाई राज्यवर्धन से मिला और अब सुनने में आता है कि उसी ने छल से राज्यवर्द्धन की हत्या भी की। यद्यपि स्कन्दगुप्त ने उसको मार डाला और भाई का बदला लिया। किन्तु मुझे अब तक शान्ति नही। पञ्जाब के तथा उत्तरीय भारत के विद्रोहियों को तो हमने दमन किया। पर जब तक समस्त आर्य्यावर्त्त के क्षुद्र राज्यों का नाश करके एक साम्राज्य में न मिलाऊँगा, तब तक भारत के सरल जीवों का निस्तार नही।"

सिंहनाद--"महाराज ! केवल सौराष्ट्र और अवन्ती तथा बंगप्रदेश ही तो इस आर्य्यावर्त्त भर में आपकी सीमा के बाहर है, तो भी अवन्ती का देवगुप्त आपके बन्दीगृह में है। कान्यकुब्ज आपही का है। सौराष्ट्र मे विजयवाहिनी प्रेरित हो चुकी है। बंग का राजा आपके सेनापति द्वारा मारा ही गया। आपको व्यर्थ शोक न करके इन क्षुद्र शत्रुओं को उचित दण्ड देना ही चाहिये आपके भुजवल से और भगवान की कृपा से सब कुछ होगा।" **(दौवारिक का प्रवेश)**

दौवारिक--"धर्म्मावतार ! कान्यकुब्ज से दूत आया है। सेनापति का सन्देश लाया है।

हर्षवर्धन--"आने दो।"

(दूत का प्रवेश--प्रणाम करता है)

दूत--"हे देव, अरिन्दम आपको विजय दे।

हर्षवर्धन--"दूत ! कान्यकुब्ज का क्या समाचार है ?"

दूत--"देव ! पहले जो आपके श्री चरणो मे दुखद समाचार पत्रवाहक द्वारा सेनापति ने भेजा था वह सत्य है। और नरेन्द्रगुप्त का लगाव महाराज राज्यवर्धन की हत्या से सही था। इसका प्रमाण भी मिल गया, उसी के एक अनुचर ने भरी सभा में यह कथा सुनाई। और कहा कि नरेन्द्रगुप्त की यह इच्छा थी कि कान्यकुब्ज का राज, गौड़राज्य मे मिला लिया जाय। इसी कारण मिलकर उसने महाराज राज्यवर्द्धन की हत्या की। स्कन्दगुप्त ने तो पहले ही उसका सिर क्रोध मे आकर काट डाला। और उन्हे पहले ही मे इस बात का निश्चय था। पीछे साफ यह बात प्रकट हो गई कि नरेन्द्र ही हत्यकारी था।"

हर्षवर्धन--"तब तब।"

दूत--"तब सेनापति भण्डि ने उसकी सेना को, जो शरण आये छोड़ दिया। कुछ को बन्दी कर लिया और कितनों को जो नौकरी करना चाहते थे अपनी सेना मे रख लिया। फिर कान्यकुब्ज को स्कन्दगुप्त की रखवाली मे छोडकर गौड़ देश पर चढाई की है। और आप से निवेदन करने के लिये मुझे भेजा है। अपराध के लिये क्षमा माँगी है, और यह विनयपत्र भी श्रीचरणो मे दिया है।"

(पत्र देता है)

हर्षवर्धन--**(पत्र पढ़कर)** "अच्छा किया। दूत ! तुम्हें आज्ञापत्र भी मिलेगा उसे तुम स्कन्दगुप्त को देकर भण्डि के पास चले जाना और उनसे कहना कि "महाराज तुम पर प्रसन्न है। बीती बातों का सोच न करके स्वामी के कार्य्य में दत्त चित्त रहना। कहना--महाराज तुम्हारी मगल कामना करते हैं **(माधव से)** पत्र देकर आज ही दूत को भेज देना।"

(दूत का प्रणाम पूर्वक प्रस्थान)

सिंहनाद- अब महाराज को भी शीघ्र ही राजकीय सिंहासन को सुशोभित करना चाहिये। या जैसी महाराज की इच्छा।"

हर्षवर्धन—"थानेश्वर में जगन्नाथ शंकर की कृपा से शांति है, अब लगे हाथ इस विशाल साम्राज्य को और भी दृढ करके तब शान्तिमय सिंहासन पर बैठेंगे। जबतक इन शत्रुओं को पूर्ण प्रतिफल न देलेंगे तब तक सिंहासन ही कहाँ। थोड़ी सेना यहाँ छोडकर माधवगुप्त को यहाँ रहने दो। और तुम हमारे साथ सैनप होकर चलो। सौराष्ट्र विजय में सहायता करते हुए, अवन्ती पर अधिकार जमाते हुए, कान्यकुब्ज में सब से मिलेगे। (कुछ सोचकर) दूत को बुलाओ।

(माधव का प्रस्थान। दूत के साथ प्रवेश)

हर्षवर्धन—"क्योंजी भगिनी राज्यश्री का तो तुमने कुछ समाचार कहा ही नही।"

दूत—"महाराज वह तो गंगा यमुना के संगम पवित्र तीर्थ प्रयाग में दिवाकर मित्र के संघाराम मे है। भण्डि और स्कन्दगुप्त ने बहुत समझाया किन्तु उन्होंने कहा "अभी ... ...हाँ मे कही न जाऊँगी।" वही पर, उन महात्मा के आश्रम मे रहती है"

हर्षवर्धन—"अच्छा जैसी उनकी इच्छा, इस कार्य को करके एक बार मैं भी चलकर उन्हे ले आने की चेष्टा करूँगा। जाओ।"

(दूत का प्रस्थान। पटपरिवर्तन)

पंचम दृश्य

(दिवाकरमित्र का आश्रम। राज्यश्री भिक्षुनीदल)

राज्यश्री—"अहा! बहिनो, देखो, दया का स्वाभाविक स्रोत करुणा वरुणालय ने इस दुःख दग्ध धरणी पर बहा दिया है। इन अनाथ, बिना माली के कोमल पादपों को किसकी करुणा धारा सीचती है? दुःखमय, क्षणभंगुर संसार किसकी कृपा से हरा भरा दिखाई देता है? संसार केवल दुःखमय है सही, पर उसमे शान्ति करुणा सहानुभूति किस दयामय की सृष्टि है? बहिनो, आओ, वह शिव, विष्णु या बुद्ध जो कोई हो, उसके चरणों में प्रणाम करें।"

(सब-गाती है)

जय जयति करुणासिन्धु।
जय दीन जन के बन्धु॥
जय-अखिल लोक ललाम।
जय जय भुवन अभिराम॥

जय पतित-पावन नाम।
जय प्रणत जन सुख धाम ।।
जय देव, धर्म्म स्वरूप।
जय जय जगत्पति भूप ।।

(बालक का प्रवेश)

"देवियो ! सावधान, महाराज हर्षवर्धन आते हैं ।"

राज्यश्री—"कौन.......(**हर्ष का प्रवेश**) भैया हर्ष.......आवो......देखो अब तुम आ गये । सारा विषाद गया ।"

(सिंहनाद, और स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

हर्षवर्धन—"वहिन ! मैं आया तो, परन्तु तुम्हें देखकर विषाद और भी बढ़ गया । हा ईश्वर यह क्या देखता हूँ ? राजरानी भिक्षुनी हो रही है । हृदय ! और भी वज्र हो जा । प्रतिहिंसा में तूने दृढ़ होकर लाखो प्राणो का संहार किया है, पर इस करुण दृश्य को देखकर द्रवित न हो । वहिन ! मनुष्य जितना बदला ले सकता है उसे हमने लिया और जो मेरे अधिकार में नही था उसे ईश्वर पर छोड़ दिया । समग्र आर्य्यावर्त्त के नरपति और प्रजागण आज तुम्हारे चरणो मे प्रणत है । कान्यकुब्ज के आसन पर राजरानी होकर बैठो । यह भिक्षुनी का भेष छोड़ो ।"

राज्यश्री—"भाई यह तुमने क्या किया ? एक जीव के बदले मे लाखो प्राणी का संहार करना कहाँ तक न्याय है ? हा ! तुमने घोर अनर्थ किया । रत्नजटित मुकुट क्या ईश्वर ने तुम्हे इसी लिये दिया था कि तुम लाखो का सिर पृथ्वी पर ठुकराओ ? हा ! क्या तुम भी निर्दय हो गये ? भला इसमे मुझे शान्ति मिली ? कहो, क्या मेरी ऐसी कितनी स्त्रियों को तुमने दुःखिनी नही बनाया ? क्या मेरे हृदय को शान्ति देने के लिये दुःखमय संसार की माया और नहीं बढ़ाई गई ? भैया ! तुम्हे क्या हो गया ।"

हर्षवर्धन—"वहिन, अवश्य यह मेरा भारी भ्रम था किन्तु अब उपाय क्या ?"

स्कन्दगुप्त—"महाराज ! आर्य्यावर्त्त के सम्राट ! देवी बहुत ठीक कहेंगी । जो अब उनकी इच्छा हैं आप अवश्य पूरी कीजिये ।

(भण्डि का प्रवेश)

भण्डि—"सम्राट की जय हो । विजित और उपहार के द्रव्य, महारानी के लिये जो आपने आज्ञा दी थी, प्रस्तुत है ।"

राज्यश्री—"भाई हम कहें ?"

हर्षवर्धन—"जितनी विजित वस्तु है सब भूखे और कंगालों को बाँट दी जायँ । और मुझे अब इस आश्रम से और कही चलने के लिये मत कहो । कान्यकुब्ज को अपना प्रधान राजपुर बनाओ और शान्ति तथा न्यायपूर्वक प्रजा पालन करो ।"

(हर्षवर्द्धन चुप हो जाते हैं)

राज्यश्री—"भाई ! क्या यह तुम्हे अस्वीकार है ।"

हर्षवर्धन—"सब स्वीकार है, पर तुम्हारा भिक्षुनी का वेश मुझसे न देखा जायगा ।"

राज्यश्री—"फिर अब किस सुख की आशा पर राजरानी का वेश इस क्षणिक संसार मे धारण करूँ ?"

स्कन्दगुप्त —"देव ! स्वीकार कीजिये । दूसरा उपाय नही है ।

हर्षवर्धन—"मन्त्री ! जो द्रव्य आया है सब बहिन की इच्छानुसार यहाँ वितरण किया जाय और भिक्षुओ के तथा भिक्षुनियो के लिये यहाँ उचित प्रबन्ध कर दो । और भी हर पाँचवे वर्ष इसी तरह का एक दानोत्सव हुआ करे । जिसमे दीनों को पूर्ण सन्तोष हो । उसमे सम्भव है कि बहिन को भी सन्तोष हो ।"

राज्यश्री—"और उस दानोत्सव का नाम सतोष-क्षेत्र रखा जाय । तथा बौद्ध, शैव, शाक्त या वैष्णव किसी का आग्रह करके दान न किया जाय ।"

हर्षवर्धन —"ऐसा ही होगा ।"

राज्यश्री—"जय सम्राट् हर्षवर्द्धन की जय ।"

(सब लोग)

"जय सम्राट् की जय" । "जय करुणामयी राज्यश्री की जय"

(गान समवेतस्वर से)

करुणा कादम्बिनि बरसे ।
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे ॥
प्रेम प्रचार, रहे जगतीतल दया दान दरसे ।
मिटे कलह शुभ शाति प्रकट हो अचर और चर से ॥

(आलोक के साथ पटाक्षेप)

●

दयामयी जननी

की

पवित्र स्मृति में

राज्यश्री

निपेतुरेकस्या तस्यां शरा इव लक्ष्यभुवि भूभुजां सर्वेषां दृष्टय:

—हर्षचरिते

इन्दु जनवरी १९१५ मे प्रथम प्रकाशन और १९१८ मे 'चित्राधार' मे पुनर्मुद्रण के पश्चात स्वतंत्र पुस्तक रूप मे

'इस [illegible] काव्य का पूर्व रूप 'इन्दु' मे पहले निकला, फिर 'चित्राधार' के संग्रह मे पुनर्मुद्रित हुआ। एक प्रकार से मै इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ। उस समय यह अपूर्ण ही-सा था, इसका वर्त्तमान रूप कुछ परिवर्त्तित और परिवर्द्धित है।' (—लेखकीय प्राक्कथन से)

पात्र-परिचय

राज्यश्री	: कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मा की रानी
अमला, कमला, विमला	: राज्यश्री की सखियाँ
सुरमा	: एक मालिन
हर्षवर्द्धन	: स्थाण्वीश्वर का राजकुमार, फिर भारत का सम्राट्
दिवाकरमित्र	: एक बौद्ध महात्मा
नरेन्द्रगुप्त	: गौड़ का राजा
राज्यवर्द्धन	: स्थाण्वीश्वर का बड़ा राजकुमार
भण्डि	: सेनापति
नरदत्त	: मालव का सैनिक
सुएनच्वाङ्ग	: चीनी यात्री
पुलकेशिन्	: चालुक्य-नरेश
धर्मसिद्धि, शीलसिद्धि	: दो बौद्ध भिक्षु
शान्तिदेव	: बौद्ध भिक्षु फिर दस्यु विकटघोष
देवगुप्त	: मालवराज
मधुकर	: देवगुप्त का सहचर
ग्रहवर्मा	: कान्यकुब्ज का राजा

दौवारिक, सहचर, प्रहरी, दस्यु, सैनिक, प्रतिहारी, दूत, मंत्री, नागरिक इत्यादि

राज्यश्री

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

[नदी-तट का उपवन]

शान्तिदेव—सुरमा, अभी विलम्ब है।

सुरमा—क्या विलम्ब है प्रियतम—देखो मै मल्लिका का क्षुप सींचती हूँ, यह भी मुझे वञ्चित नही रखता—छाया, सुगन्ध और फूलों से जीविका देता है, किन्तु तुम ! कितने निष्ठुर हो ! तुम्हारी आँखो मैं दया का संकेत भी नही !

शान्तिदेव—मैं भिक्षु हूँ सुरमा ! संसार ने मुझे एक ओर ढकेल दिया है—मैं अभी उसी ढालुवें से ढुलक रहा हूँ। रुकने का, सोचने का, अवसर नही। मुझे तुम्हारी बात, तुम्हारा स्नेह, एक विडम्बना—एक धोखा-सा जान पड़ता।

सुरमा—विश्वास करो ! मै आजीवन किसी राजा की विलास-मालिका बनाती रहूँ—ऐसा मेरा अदृष्ट कहे, तो भी मै मान लेने मे असमर्थ हूँ। मेरी प्राणों की भूख, आँखों की प्यास, तुम न मिटाओगे ?

शान्तिदेव—यह तो हुई तुम्हारी बात, परन्तु मैं क्या चाहता हूँ—यह मैं अभी स्वयं नही समझ सका हूँ।

सुरमा—मै समझ गयी, तुम फूल लेने आकर नित्य बातें बना जाते हो। मुझे एक साधारण पुष्पवाली समझते हो न ! और तुम ठहरे कुलीन क्षत्रिय, तिस पर भिक्षु !

शान्तिदेव—ठहरो सुरमा ! जीवन की दौड़ बहुत लम्बी है, उसकी अभिलाषा के लिए इतना चंचल न होना चाहिये।

सुरमा—तुम निर्दय हो, मेरी आराधना का मूल्य नही जानते—भिक्षु ! तुम्हारा धर्म उसके सामने—

शान्तिदेव—उतावली न हो सुरमा ! परीक्षा देने जा रहा हूँ; साथ ही भाग्य की परीक्षा भी लूंगा ! महारानी राज्यश्री एक दिन भिक्षुओं को दान देंगी, मैं भी देखूंगा कि भाग्य मुझे किस ओर खींचता है। फिर मैं तुमसे मिलूंगा।

(प्रस्थान)

[देवगुप्त का प्रवेश]

देवगुप्त—*वाह ! जैसा सुन्दर यह उपवन है, वैसी ही मालिन ! क्यों जी, तुम्हारा नाम सुनूँ तो !*

सुरमा—**(सलज्ज)** मुझे लोग सुरमा कहते है।

देवगुप्त—नाम तो बडा सुरुचिपूर्ण है ! भला, मै तुम्हारे इस उपवन मे कुछ दिन ठहर सकता हूँ ?

[सुरमा देवगुप्त को देखती है]

देवगुप्त—तुम तो बोलती भी नही हो। यह तुम्हारा मल्लिका का बाल-व्यजन तो अभी अधबना ही है—धन्य तुम्हारी शिल्प-कुशलता !

सुरमा—मैं अकेली इस उपवन मे रहती हूँ, आप-एक विदेशी !

देवगुप्त—तो इससे क्या ? सब अकेले ही तो ससार-पथ मे निकलते है, किसी का मिल जाना, यह तो उसके भाग्य की बात है। देखो मुझे यदि तुम न मिल जाती, तो कौन आश्रय देता ? **(हंसता है)**

सुरमा—**(स्वगत)**—यह कैसा विलक्षण पुरुष है ? उत्तर देते भी नही बनता, क्या करूँ ?

देवगुप्त—तो मै तुम्हारे इस उद्यान मे दो घडी तो विश्राम अवश्य करूँगा। फिर चाहे निकाल देना।

सुरमा—अच्छी बात है। मैं अपनी पुष्प-रचना लेकर राज-मन्दिर जाती हूँ, तब तक आप यहाँ विश्राम कर लीजिये।

देवगुप्त—तो क्या तुम राज-मन्दिर मे भी जाती हो ?

सुरमा—हाँ ! वही से तो मेरी जीविका है !

देवगुप्त—अच्छी बात है सुरमा, तुम हो आओ, मै तब तक थकान मिटाता हूँ।

[एक वृक्ष के नीचे बैठ जाता है—सुरमा माला बनाती हुई उसे कनखियों से देखती जाती है]

देवगुप्त—वाह ! कितना सुरभित समीर है। प्राण तृप्त हो गया, मस्तिष्क हँसने लगा और ग्लानि का तो कही पता नही। सुरमा, तुम्हारा स्थान कितना सुरम्य है ! -**(देखकर)**—अरे तुम्हारा बाल-व्यजन भी बन गया, कितना सुन्दर है ! उन कोमल हाथो को चूम लेने का मन करता है—जिन्होने इसे बनाया।

सुरमा—**(हँसती हुई)** आप तो बड़े धृष्ट है····तो अब मै जाती हूँ।

(अपनी पुष्प-रचना लेकर इठलाती हुई जाती है)

[दृश्यान्तर]

द्वितीय दृश्य

[कान्यकुब्ज के राजमन्दिर का एक प्रकोष्ठ]

ग्रहवर्मा—(**राज्यश्री के साथ चिन्तित भाव से प्रवेश करते हुए**)—प्रिये, मेरा चित्त आज न जाने क्यो उदासीन हो रहा है, चेष्टा करके भी मैं उसे प्रसन्न नही कर पाता हूं। अनेक भावनाएँ हृदय मे उठ रही है, जो निर्बल होने पर भी उद्विग्न कर रही है।

राज्यश्री—नाथ, आप जैसे धीर पुरुषो को—जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शात है—क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती है? कभी नही!

ग्रहवर्मा—इस विश्वव्यापी वैभव के आनन्द मे यह मेरा हृदय सशंक होकर मुझे आज दुर्बल बना रहा है।

राज्यश्री—शका किस बात की, प्रियतम?

ग्रहवर्मा—पुण्यभूमि महोदय का सिहासन, सरल और अनुरक्त प्रजा, सुजला-शस्य-श्यामला उर्वरा भूमि, स्वास्थ्य का वातावरण और सबसे सुन्दर उत्तरापथ का कुसुम—यह पवित्र मुख - मेरा है, अपना है, फिर भी····

राज्यश्री—(**संकुचित होती हुई**)—तब भी, क्या?

ग्रहवर्मा—तब भी यही कि यह सुदूर-व्यापी नील आकाश कितने कुतूहलों का, परिवर्तनो का क्रीडा-क्षेत्र है। यह आवरण है भी कितना काला—कितना····

राज्यश्री—बस नाथ, बस! क्यों हृदय को दुर्बल बनाकर अनुशोचन बढा रहे हो!

ग्रहवर्मा—मनुष्य-हृदय स्वभाव-दुर्बल है। प्रवृत्तियाँ बड़ी-बडी राजशक्तियो के सदृश इसे घेरे रहती है। अवसर मिला कि इस छोटे-से हृदय-राज्य को आत्मसात् कर लेने को प्रस्तुत हो जाती है!

राज्यश्री—व्यर्थ चिन्ता! हृदय को प्रसन्न कीजिये। सम्भव है कि संगीत मे मन लग जाय, बुलाऊँ गानेवालियो को?

ग्रहवर्मा—नही प्रिये क्षत्रियो का विनोद तो मृगया है। इच्छा होती है कि सीमाप्रान्त के जगल मे कुछ दिनो तक मन बहलाऊँ।

राज्यश्री—जैसी इच्छा, मुझे भी आज भिक्षुओ को दान देना है।

ग्रहवर्मा—अच्छी बात है।

[राज्यश्री सहित प्रस्थान/दृश्यान्तर]

तृतीय दृश्य

[सुरमा का उपवन]

देवगुप्त—मालव-नरेश, मैं छद्मवेश में अनेक देश देखता फिरा, किन्तु उस दिन मदनोत्सव में जो आनन्द-दायक दृश्य यहाँ देखने मे आया, वह क्या कभी भूलने को है ! राज्यश्री ! आह कितना आकर्षक—कितना सौन्दर्यमय वह रूप है।

[मधुकर का प्रवेश]

मधुकर—महाराज मालव से एक दूत आया है।

देवगुप्त—उसे बुला लो मधुकर, मैं अब कुछ दिन यही अपना निवास रक्खूंगा।

[मधुकर सस्मित जाता है और दूत के साथ फिर आता है]

दूत—जय हो देव !

देवगुप्त—कहो, क्या समाचार है ?

दूत—महाराज के अनुग्रह से सब मब मगल है। मन्त्रिवर ने यह प्रार्थना-पत्र श्री चरणों में भेजा है। **(पत्र देता है)**

देवगुप्त—**(पढ़ता है)**—स्वस्ति श्री-इत्यादि महाराज श्री···आज्ञा के अनुसार वीरसेन सेना के साथ निर्दिष्ट स्थान पर प्रेरित हो चुके है। और भी एक सहस्र सैनिक दूत के साथ ही अनेक वेशों मे आपके ममीप उपस्थित है। संकेत पाते ही एकत्र हो सकेंगे। किन्तु देव, परिणाम-दर्शी होकर कार्य आरम्भ करें—यही प्रार्थना है।' **(हँसकर पत्र फाड़ता हुआ)** मन्त्री वृद्ध हो गये है ! जाओ विश्राम करो ! **(दूत जाता है)**

[सुरमा का प्रवेश]

देवगुप्त—आओ सुरमा, यह मेरा साथी एक और श्रेष्ठि आ गया है, तुम्हे कष्ट तो न होगा ?

सुरमा—**(माला एक ओर रखती हुई)**—कष्ट ! ओह ! कष्टों का तो अभ्यास हो गया है। अभी राज-मन्दिर से हो आयी। सुना है कि महाराज मृगया के लिए सीमाप्रान्त चले गये हैं। म उन विभव-विलास के प्रदर्शनों को, उपकरणों को, अपनी दरिद्रता की हँसी उड़ाते देखती हुई, लौट आयी हूँ। यह मल्लिका का बाल-व्यजन क्या होगा—मेरा दिन भर का परिश्रम !

देवगुप्त—**(सहानुभूति)**—तो मैं इसे ले सकता हूं सुरमा !

सुरमा—आप ? ले लीजिये !

देवगुप्त—तुम्हारे महाराज कुपित तो न होंगे।

सुरमा—होना है सो हो जाय—श्रेष्ठि, मैं राजा को देखकर बड़ा डरती हूँ !

वहाँ जाना होता है तो मैं जैसे आग में, पानी में जा रही हूँ! पैर काँपने लगते है–मानों भूकम्प में चल रही हूँ।

देवगुप्त—और यदि मै भी कही का राजा होऊँ सुरमा!

सुरमा—**(देखकर)**—तुम! तुम राजा नही हो सकते, असंभव है। तुम तो हमारे-जैसे ही लोग हो, तुम्हारी मुख की ज्योति—उहूँ, तुम और चाहे कुछ बन जाओ, राजा नही हो सकते।

देवगुप्त—वाह सुरमा! तुम सामुद्रिक भी जानती हो!

सुरमा—**(पास बैठकर)**—अहा! कितनी सुहावनी रात है—चन्द्रिका के मुख पर कुहरे का अवगुण्ठन नही। स्वच्छ अनन्त में देवताओ के दीप झलमला रहे हैं—कितना सुन्दर है।

देवगुप्त—**(स्वगत)**—कि नी भावनामयी यह युवती है—अवश्य इसके हृदय मे महत्त्व की आकाक्षा है—**(प्रकट)**—क्यो सुरमा, ऐसी रात तो सुन्दर संगीत खोजती है—तुम कुछ गाना भी जानती हो?

सुरमा—**(कृत्रिम क्रोध से)**—वाह! आप तो धीरे-धीरे हाथ-पाँव फैलाने ल.े!

देवगुप्त—**(अनुनय से)**—सुन्दरी! एक तान! अपराध क्षमा हो! विदेश की यह रजनी आजीवन स्मरण रहेगी—दुहाई है!

सुरमा—मै जानती हूँ कि नही, यह नही जानती, पर गाती हूँ—कभी-कभी अपने दुःखी दिनो पर रोती हूँ अवश्य!

देवगुप्त—वही सही सुरमा!

सुरमा—**(गाती है)**—

आशा विकल हुई है मेरी,
प्यास बुझी न कभी मन की रे!

दूर हट रहा सरवर शीतल,
हुआ चाहता अब तो ओझल,
झुक जाता हे पलकें दुर्बल!
ध्वनि सुन न पड़ी नव घन की रे!

ओ बेपीर-पीर! हूँ हारी,
जाने दे, हूँ मैं अधमारी,
सिसक रही घायल दुखियारी–
गाँठ भूल जीवन-धन की रे।

आशा विकल हुई है मेरी

[दृश्यान्तर]

चतुर्थ दृश्य

[राजमन्दिर के एक प्रकोष्ठ में चिन्तामग्न मन्त्री]

दूत—(प्रवेश करके)—आर्य ! भयानक समाचार है !

मन्त्री—क्या है ?

दूत—सीमाप्रान्त के कानन मे महाराज तो सुख-मृगया-विनोद में दिवस-यापन कर रहे है; किन्तु……

मन्त्री—कहो-कहो, किन्तु क्या ?

दूत—युद्ध की आशंका है ! मालवेश्वर की सीमा हमारी सीमा से मिली हुई है अकारण उनकी सेना आजकल सीमा पर एकत्र होने लगी है और महाराज को चिढ़ाने के लिए जान-बूझ कर कुछ धृष्टता की जा रही है। इसलिए महाराज ने कहा है कि सेनापति को सेना के साथ शीघ्र यहाँ आ जाना चाहिये।

मन्त्री—किन्तु जैसे समाचार नगर के मुझे मिले है, उससे तो मै स्वयं सशंक हो रहा हूँ। मुझे कान्यकुब्ज के भीतर—नागरिको मे—कुछ सन्देहजनक व्यक्ति होने का पता चला है—**(कुछ सोचकर)** अच्छा, तुम महाराज से कहना कि मै सैन्य भेजता हूँ, पर आद्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। मै नगर-रक्षा के लिए थोड़ी सेना रख लूंगा, क्योंकि स्थाण्वीश्वर से सहायता मिलने मे अभी विलम्ब होगा। मैं वहाँ भी सन्देश भेजता हूँ।

[दूत का प्रस्थान]

तो अब महारानी को भी समाचार देना चाहिये। अब स्मरण आया—आज तो वह दान-पर्व मे लगी होगी। तो चलूं वहीं। सेना भी तो भेजनी है। जरा भी कैसी भीषण व्याधि है ! अहा ! हम लोग इसे नित्य देखते है, पर तथागत के समान किसने इस दृश्य से लाभ उठाया ? इतने दिन काम किया, अब भी तृष्णा न छूटी ! चलूं—मुझे पहुँचने में भी तो विलम्ब होगा। पहले सेनापति से मिलूँ या महारानी से ? —**(सोचकर)**—पहले सेनापति से- यही ठीक होगा।

[प्रस्थान/दृश्यान्तर]

पंचम दृश्य

[देव-मंदिर में राज्यश्री, दान के उपकरण और भिक्षु उपस्थित हैं]

राज्यश्री—**(भिक्षुओं को वस्त्र और धन देती है—शान्तिदेव सामने आता है)**—तुम्हारा शुभ-नाम भिक्षु ?

शान्तिदेव—जय हो ! मेरा नाम शान्तिभिक्षु····

[रुककर राज्यश्री की ओर देखने लगता है]

राज्यश्री—भिक्षु, तुमने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है, किन्तु तुम्हारा हृदय अभी····

शान्तिदेव—कल्याणी ! मै, मेरा अपराध—

राज्यश्री—हाँ तुम ! भिक्षु ! तुम्हे शील-सम्पदा नही मिली, जो सर्व-प्रथम मिलनी चाहिये ।

शान्तिदेव— मै सब ओर से दरिद्र हूँ देवि !—(स्वगत)—विश्व मे इतनी विभूति ! और मै –सिर ऊँचा करके अत्यन्त ऊँचाई की ओर देखता हुआ केवल उलटा होकर गिर जाता हूँ—चढने की कौन कहे !

राज्यश्री—क्या सोचते हो, भिक्षु !

शान्तिदेव—केवल अपनी क्षुद्रता—

राज्यश्री—तुम सयत करो अपने मन को भिक्षु ! श्लाघा और आकाक्षा का पथ तुम बहुत पहले छोड चुके हो । यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो, तो मैं पूरी कर सकती हूँ, निश्चिन्त उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हूँ ।

शान्तिदेव—(स्वगत) इतना सौन्दर्य, विभव ओर शक्ति एकत्र !

राज्यश्री—तुम चुप क्यो हो, भिक्षु !

शान्तिदेव—मुझे जो चाहिये वह नहीं मिल सकता—इसलिये मै न माँगूंगा ।

राज्यश्री—भिक्षु ! मेरा व्रत न खण्डित करो ।

शान्तिदेव—नही, मे दान न लूंगा, मुझे कुछ न चाहिये । (प्रस्थान)

राज्यश्री—विमला ! म इस प्रसग से दु खी हो गयी हूँ ।

विमला—चिन्ता न कीजिये देवि, पूजन भी तो हो चुका है । अब पधारिये ।

राज्यश्री—चलती हूं सखि ! मेरा हृदय कह रहा है कि महाराज का कोई सन्देश आ रहा है ।

विमला—प्रियजन की उत्कण्ठा मे प्राय ऐसा ही भ्रम हुआ करता है ।

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी— महादेवी की जय हो ! मन्त्री महोदय आ रहे है ।

राज्यश्री—आने दो ।

मंत्री— (प्रवेश करके)—महादेवी की जय हो ! कुछ निवेदन···

राज्यश्री—कहिये-कहिये—

मंत्री—सीमाप्रान्त से युद्ध का सन्देश आया है ।

राज्यश्री—(स्वस्थ होकर)—मन्त्री ! इसी बात को कहने मे आप संकुचित होते थे ! क्षत्राणी के लिए इससे बढकर शुभ-समाचार कौन होगा ! आप प्रबन्ध कीजिये, मै निर्भय हूँ ।

[मन्त्री का प्रस्थान]

राज्यश्री—चलो, सब लोग फिर से विजय के लिए प्रार्थना कर लें।

[सब प्रतिमा के सामने जाकर प्रार्थना करती हैं, पुष्पाञ्जलि चढ़ाती हैं, मन्दिर में अट्टहास, राज्यश्री मूर्च्छित होती हैं, अन्धकार]

[दृश्यान्तर]

षष्ठ दृश्य

[सुरमा का उपवन]

देवगुप्त—सुरमा, तुमको जब बड़े कष्ट से उपवन सींचते देखता हूँ और परिश्रम से फूलों को चुनते और उनकी माला बनाते देखता हूँ, तो मेरा हृदय व्यथित होता है !

सुरमा—क्यों, इतनी सहानुभूति तो आज तक किसी ने मेरे साथ नही दिखलायी !

देवगुप्त—मेरा हृदय जाने, इस 'क्यों' का कारण मैं क्या बतलाऊँ। यह कुसुम तो कामदेव की उपासना मे मुकुट की शोभा बढा सकता है।

सुरमा—किसी की अधिक प्रशंसा करना उसे धोखा देना है, श्रेष्ठि ! तुम्हारा…

देवगुप्त—ठहरो सुरमा ! मै श्रेष्ठि नही हूं—आज मैं तुम्हे अभिन्न समझ कर अपना रहस्य कहता हूँ। मैं मालव-नरेश देवगुप्त हूँ।

सुरमा—**(आश्चर्य से)**—क्या !

दूत—**(प्रवेश करके)**—जय हो देव, स्थाण्वीश्वर में प्रभाकरवर्द्धन का निधन हुआ और राज्यवर्द्धन इस समय हूण-युद्ध के लिए पंचनद गये है।

देवगुप्त—अच्छा जाओ !

[दूत का प्रस्थान]

सुरमा—तुम-आप—मालव के—

देवगुप्त—हाँ सुरमा, चलोगी मेरे साथ ?

सुरमा—यह भी सत्य है ? नहीं महाराज ! जैसे आपका वेश कृत्रिम है, वैसे ही यह वाणी भी तो नही ?

देवगुप्त—नही प्रिये, मैं तुम्हारा अनुचर हूँ !

सुरमा—हे भगवान् ! इतना बडा सौभाग्य ! नही, यह मेरे अदृष्ट का उपहास है।

देवगुप्त—सुन्दरी यह उपहास नही, सत्य है।

सुरमा—परन्तु शान्तिभिक्षु की प्रतीक्षा !

देवगुप्त—कौन शान्तिभिक्षु ? उसे कुछ दान दिया चाहती हो क्या ?

सुरमा—नही, दे चुकी हूँ !

देवगुप्त—तो दे दो, यह उपवन ही न—तुम्हें अब इसकी आवश्यकता ही क्या?

सुरमा—वही करूँगी।

देवगुप्त—मुझे तुमने प्राण-दान दिया, परन्तु देखो, जब नक यहाँ से हम लोग मालव के लिए प्रस्थान न करें यह बात न खुलने पावे ।

सुरमा—अच्छा जाती हूँ, विश्वास रखिये -**(अस्तव्यस्त भाव से उठ कर जाती है)**

[मधुकर का प्रवेश]

देवगुप्त—सीमा का क्या समाचार है? वीरमेन की वीरता पर तो मुझे विश्वास है; पर मौखरी भी सहज नही। इधर मै इतने मनुष्यों के साथ दूसरी राजधानी में पड़ा हूँ, बड़ी विपम समस्या है। क्या करूँ, कुछ समझ मे नही आता।

मधूकर—सीमाप्रान्त मे विजय मिलने की निश्चित सम्भावना है और यदि ऐसा न हुआ, तां शीघ्र ही मालव पहुँच कर सब दोष मन्त्री के मिर रखकर अलग हो जाइयेगा, सन्धि का प्रस्ताव भेज दीजियेगा। क्योकि यह तो प्रसिद्ध है ही कि मालवेश्वर बहुत दिनो से तीर्थ-यात्रा के तिए गये है ।

देवगुप्त—मधुकर ! देवगुप्त उसी गुप्त-कुल का है, जिसके नाम से एक दिन समस्त जम्बूद्वीप विकम्पित होता था। आज सिह-विहीन जंगल मे स्यारों का राज्य है। मुझे एक बार वही चेप्टा करनी होगी। स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज दोनों का ध्वंस करना है।

मधु—दैव अनुकूल होने से आपकी इच्छा पूरी ही होगी।

[चर का प्रवेश]

चर– जय हो देव ! सीमाप्रान्त का युद्ध आपके पक्ष मे सफल हुआ। ग्रहवर्मा को कड़ी चोट आयी है, क्योंकि वीरसेन ने कान्यकुब्ज की सेना पहुँचने के पहले ही युद्ध आरम्भ कर दिया था। इधर दुर्ग मे भी सेना बहुत कम है !

देवगुप्त—मेरा अनुमान है कि मेरे सैनिक उनसे अधिक है। मधुकर ! सुनो तो –**(कान में कुछ कहता है, प्रकट)**—जब कुछ और सना सीमा की ओर चली जाय, तो जिस ढंग से बताया है, उसी प्रका" मेरे सब सैनिक दुर्ग मे एकत्र हों। 'विजय' संकेत होगा, जाओ—बस।

[सबका प्रस्थान/दृश्यान्तर]

सप्तम दृश्य

[प्रकोष्ठ में मूर्च्छित राज्यश्री और सखियाँ]

विमला—सखी ! क्या होगा !

कमला—क्या कहूँ, मन्दिर वाली घटना से अभी तक एक बार भी पूरी चेतना नहीं आयी। सखी ! यह बात तो आश्चर्यजनक हुई—क्या कोई अपदेवता वहाँ उस दिन आ गया था ?

विमला—सखी मैं तो समझती हूँ वही भिक्षु ठठाकर हँस पड़ा और महारानी को प्रतिमा हँसने के अपशकुन की आशंका हुई।

कमला—देख, देख, अब उठ रही है, कुछ कहना ही चाहती है—

[मन्त्री का प्रवेश, राज्यश्री उठकर प्रलाप करती है]

राज्यश्री—हँस दिया—हाँ, हँस दिया ! मेरी प्रार्थना पर हँस दिया ! क्या वह अनुचित थी ? मेरी बात क्या हँसने योग्य थी ? नही, नही, हँसी का कारण है मेरा निर्बल होना। हँसो और भी हँसो ! मेरी प्रार्थना तुम्हारे कर्कश कठोर अट्टहास में विलीन हो जाय ! हा हा हा हा !

मन्त्री—किससे और क्या कहूँ ? जिसकी आशंका-मात्र से यह दशा है, उसे वास्तविक समाचार देने का क्या परिणाम होगा ? कुटिलते ! देख, तूने एक सोने का संसार मिट्टी मे मिला दिया।

[प्रतिहारी का त्रस्तभाव से प्रवेश]

प्रतिहारी—आर्य ! न मालूम क्यों दुर्ग मे बड़ी भीड़ इकट्ठी हो रही है। प्रजा कह रही है कि मुझे महाराज की सच्ची अवस्था मालूम होनी चाहिये।

मन्त्री—उन लोगो मे कहो कि हम अभी आते है।

[प्रतिहारी का प्रस्थान]

[राज्यश्री उठकर उन्मत्त भाव से टहलती है]

प्रतिहारी—**(पुनः प्रवेश करके)**—अनर्थ !

मन्त्री—क्या हुआ ? कुछ कहो भी !

प्रतिहारी—उन्ही प्रजाओं के साथ दुर्ग में सहस्रों शत्रु घुस आये हैं।

मन्त्री—हूँ ! वह प्रजा न थी, जो इस तरह षड्यन्त्र करके दुर्ग में चली आयी ? वे शत्रु····**(विचारने लगता है)**

[एक सैनिक का प्रवेश]

सैनिक—मन्त्रिवर ! दुर्ग-रक्षक सैन्य संग्रह करके आत्म-रक्षा का प्रबन्ध कर रहे हैं। उन्होंने मुझे यह कहने के लिए भेजा है कि इस उपद्रव का नेता वही दुष्ट वणिक वेशधारी मालवेश है।

मन्त्री--**(चौंक कर)** क्या मालवेश ? अच्छा ! जाओ, युद्ध में पीछे न हटना ! कान्यकुब्ज के एक भी सैनिक के जीवित रहते देवगुप्त दुर्ग पर अधिकार न करने पावे।

[सैनिक का प्रस्थान]

राज्यश्री -मन्त्री ! उसने हँस दिया !

[नेपथ्य में रण-कोलाहल]

मन्त्री—विमला ! यहाँ महारानी का रहना ठीक नहीं।

राज्यश्री—महारानी फिर कहाँ जायँगी ?

मन्त्री—शत्रु दुर्ग में घुस आये हैं।

राज्यश्री —जाओं, उन्हें सादर लिवा लाओ।

मन्त्री—हे भगवान् !

[विजयी देवगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश। राज्यश्री मन्त्री का खड्ग ले लेती है और देवगुप्त पर उसे चलाती है, देवगुप्त उसे पकड़ता है और वह मूर्च्छित होती है]

[यवनिका]

•

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

[सुरमा का उपवन/अकेले शान्तिदेव]

शान्तिदेव -मैं संसार से अलग किया गया था—किस लिये ? पिता ने मुझे भिक्षुसंघ में समर्पण किया था—क्या इसलिये कि मैं धार्मिक जीवन व्यतीत करूँ ? मेरे लिये उस हृदय में दया या सहानुभूति न थी ! जब हृदय-कानन की आशा-लता बलवती हुई, तो मै देखता हूँ कि कर्मक्षेत्र मे मेरे लिये कुछ अवशिष्ट नहीं। सुरमा—जीवन की पहली चिनगारी—वह भी किधर गयी ! धधक उठी एक ज्वाला—राज्यश्री !--**(सोचकर)**—मूर्ख ! मैं निश्चय नहीं कर पाता कि सुरमा या राज्यश्री, मेरे जलते हुये ग्रहपिण्ड के भ्रमण का कौन केन्द्र है ! कान्यकुब्ज में इतना बड़ा परिवर्तन ! इधर सुरमा भी न जाने कहाँ गयी ! तो क्या करूँ ? लौट जाऊँ संघ में ? नहीं, संघ मेरे लिए नहीं है। अब यहीं कुटी में रहूँगा। तो क्या मैं तपस्वी होऊँगा ? नहीं, अच्छा जो नियति कराये।- **(देखकर)**—ओह ! कैसी काली रात है !

[सोता है/दस्युओं का प्रवेश]

एक—आज जो सेना हम लोगों देखी, वह किसकी है ?

दूसरा—राज्यवर्द्धन की सेना है। राज्यश्री और ग्रहवर्मा का प्रतिशोध लेने आ रही है।

पहला—तो क्या राज्यश्री भी मार डाली गयी ?

दूसरा—नही जी, वह तो वन्दी है। इसी गडबडी मे तो अपना हाथ लगेगा। क्या बताऊँ, यदि राज्यश्री को हम लोग पा जाते, तो बहुत-सा धन मिलता।

[शान्तिदेव करवटें बदलता है]

पहला—(उसे देखकर)—तू कौन है रे ?

शान्तिदेव—विकटघोप !

दूसरा—मो तो तेरे लम्बे-चौड़े हाथ-पैर और कर्कश कण्ठ से ही प्रकट है, पर तू करता क्या है ?

विकटघोप—मैं कान्यकुब्ज का दस्यु, मूर्ख ! मेरे क्षेत्र मे तू क्यों आया ?

पहला—भाई विकटघोष ! तो हम लोग भी तुम्हे अपना नेता मानेंगे।

विकटघोष—यह बात ! फिर राज्यश्री को अकेले लोप करने का प्रयत्न न करना ! समझा।

दोनों—नही, भला ऐमा भी हो गकता है ! परन्तु दस्युपति, एक और भी सेना गौड़ की आ रही है। इन दोनो के आक्रमण के बीच से राज्यश्री को निकाल ले जाना सहज काम नही।

विकटघोप—डरपोक ! इसी बल पर दस्यु बना है।

दोनों—नही, हम लोग प्राण देने या लेने में पीछे नही हटते।

विकटघोष—तो अच्छी यात है। चलो हम लोग आज रात मे दोनों सेनाओ का लक्ष्य तो समझ ले

दोनों—चलो।

[तीनों का प्रस्थान/दृश्यान्तर]

दूसरा दृश्य

[वन-पथ]

[कुछ सैनिकों के साथ भण्डि का प्रवेश]

भण्डि—क्यों जी, अब तो मेरा अनुमान है कि कन्नौज की सीमा समीप है।

एक सैनिक—हम लोग तो आज ही पहुँच गये होने, यदि गौड़राज की प्रतीक्षा में समय नष्ट न किया गया होता है।

भण्डि—आज ही तो नरेन्द्रगुप्त शशांक के आने का निश्चय था, और इसी कानन का स्थान नियत था, फिर अभी वे क्यों नहीं आये ?

अन्य सैनिक--आवें चाहे न आवें। सेनापति ! इस अकारण मैत्री से मेरा चित्त तो बहुत शकित हो रहा है। महाराजकुमार ने न जाने क्यों उस पर इतना विश्वास कर लिया है। क्या हम लोग स्वयं इस दुष्ट मालवपति को दण्ड देने में असमर्थ है····?

भण्डि—यह ठीक है, पर यदि राजनीति मित्रता से सफल होती हो, तो विग्रह करना उचित नहीं। उसको भी स्थाण्वीश्वर से मैत्री करने की इच्छा है। क्यों ? केवल वर्द्धनों का लोहा मानकर !

तीसरा सैनिक--अच्छा, तो अब आप पट-मण्डप मे विश्राम करें, महाराज-कुमार के पूछने पर आपको मैं सूचना दूंगा। शिविर आपका समीप है।

भण्डि—अच्छा **(सामने देखकर)**—ये तीन कौन अपरिचित-से चले आ रहे है।

[विकटघोष का अपने दो साथियों सहित प्रवेश]

विकटघोष--**(प्रणाम करके)**—सेनापति की कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण हो।

भण्डि---तुम्हारी क्या अभिलाषा है ?

विकटघोष -हम लोग साहसिक है परन्तु अब चारित्र्य और वीरतापूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, देवगुप्त हमारा चिरशत्रु है, उससे प्रतिशोध लेना हमारा अभीष्ट है।

भण्डि--किन्तु तुम्हारा विश्वास ?

विकटघोष—क्या हम हम तीन वीरों से आप डरते है—क्या इतनी बड़ी सेना को हम तीन व्यक्ति वंचित कर सकते है ! इतनी मूर्खता मेरे मन में तो नहीं है, सेनापति !

भण्डि—किन्तु····

विकटघोष--किन्तु कौन जन्तु है, मैं नहीं जानता ! वीरों के पास कोई प्रमाण-पत्र नहीं लिखा रहता, सेनापति ! यदि आप अविश्वास करते हों, तो हम लोग चले जायँ।

भण्डि—तुम्हारा परिचय ?

विकटघोष—मेरा नाम है विकटघोष और ये दोनों मेरे शूर साथी हैं। मैं आपका उपकार करूँगा; विजय में उपयोगी सिद्ध हो सकूँगा।

भण्डि—क्या ?

विकटघोष—मुझे कान्यकुब्ज-दुर्ग के गुप्त मार्ग विदित है, उनके द्वारा सुगमता से आपको विजय मिल सकती है।

भण्डि—**(कुछ विचार कर)**—तुम मुझे तो कोई हानि नही पहुँचा सकते। अस्तु, तुम पंचनद गुल्म मे सम्मिलित किये गए। **(पूर्व सैनिक से)**—गौल्मिक! इन्हे ले जाओ।

[सब जाते हैं/दृश्यान्तर]

तृतीय दृश्य

[शिविर]

[राज्यवर्द्धन, नरेन्द्रगुप्त और भण्डि]

नरेन्द्रगुप्त—दुरात्मा देवगुप्त ने कैसे कुसमय मे यह उत्पात मचाया! जब आप दोनों भाई पिता के शोक मे व्याकुल थे, तभी उसे नारकीय अभिनय करने का अवसर मिला! अच्छा, धैर्य और शान्ति मे अग्रसर होकर....

राज्यवर्द्धन—शान्ति कहाँ, गौडेश्वर! अपने इन दुर्वृत्त वैरियो से बदला लेना और तुरन्त दण्ड देना मेरे जीवन का प्रथम कार्य है। अपने बाहुबल से प्रतिशोध न लेकर चित्त को सन्तोष देना मेरा काम नही।

नरेन्द्रगुप्त—ऐसा ही होगा।

राज्यवर्द्धन—होगा नही, हुआ समझो। राज्यवर्द्धन वह राख का ढेर नही, जो शत्रु-मुख के पवन मे धधक न उठे। यह ज्वाला है, उत्तरापथ को जलाकर शान्त होगी। गौडेश्वर, तुम तो वर्द्धनो के बन्धु हो, परन्तु यह तुमसे न छिपा होगा कि स्थाण्वीश्वर की उन्नति अनेक नरेशो की आँखो मे खटक रही है। अभी पंचनद से हूणों को विताडित किया और जालन्धर मे उदितराज को स्कन्धावार मे छोड आया, परन्तु मै देखता हूँ कि हूणो से पहले अपने घर मे ही युद्ध करना पडेगा।

भण्डि—देव उसके लिये चिन्ता क्या! हमारा शस्त्र-बल उचित दण्ड देने मे कभी पीछे न रहेगा। महोदय और मगध तो हम लोगो के मित्र ही है—पश्चिमी आर्यावर्त्त मे ही तो संघर्ष है।

नरेन्द्रगुप्त—कुछ चिन्ता न कीजिये—गौड़ और मगध की समस्त शक्ति आपके लिये प्रस्तुत है।

राज्यवर्द्धन—भण्डि, महोदय-दुर्ग लेने का क्या उपाय निश्चित किया है? ध्वंस करने की तो मेरी इच्छा नही, और अवरोध मे भी अधिक दिन बिताना ठीक नही।

भण्डि—उसके लिये चिन्ता न कीजिये देव, सब यथासमय आप देखेंगे। विश्राम कीजिये।

[दूत का प्रवेश]

दूत—जय हो, देव !

राज्यवर्द्धन—क्या समाचार है ?

दूत—दुर्ग के भीतर बहुत थोडी सेना है और देवी राज्यश्री भी वही हैं।

राज्यवर्द्धन—मैं अभी आक्रमण करना चाहता हूँ।

भण्डि—विश्राम कीजिये। आज भर केवल ! कल ही आप देखेगे कि विजय-लक्ष्मी आपका स्वागत करती है।

राज्यवर्द्धन—ऐसा ही हो, भण्डि !

[दृश्यान्तर]

चतुर्थ दृश्य

[दुर्ग के भीतर एक प्रकोष्ठ में राज्यश्री और विमला]

विमला—सिर की वेदना तो अब कम है न महादेवी !

राज्यश्री—वेदना रोम-रोम मे खडी है, विमला ! चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं, अत्याचार और इस छोटे-से जीवन पर संसार के दिये हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है। सखी ! औषधि न देकर यदि तू विष देती, तो कितना उपकार करती।

विमला—भगवान् पर विश्वास रखिये।

राज्यश्री—विश्वास ! सखी, विश्वास तो मेरा प्रत्येक श्वाँस कर रहा है ! मै तो समझती हूँ कि मेरी प्रार्थना—मेरी आर्त्तवाणी—उन कानो मे पहुँचती ही नही है।

विमला—गर्व से भरे मनुष्यो का ही यह स्वभाव है—जिनके कान मोतियों के कुण्डल से बाहर लदे है और प्रशसा एव सगीत की झनकारो से भीतर भी भरे है, वे ही क्रन्दन नही सुनना चाहते।

राज्यश्री—जैसी उनकी इच्छा। तो क्या सर्वत्र शत्रु का अधिकार हो गया है ?

विमला—दुर्दैव ने सब करा दिया।

[देवगुप्त का प्रवेश]

राज्यश्री—यह कौन !

देवगुप्त—मै हूँ देवगुप्त। राज्यश्री ! तुम्हे स्वस्थ देखकर मैं प्रसन्न हुआ।

विमला—अधखिली वसंत की कली को जलती हुई धूल मे गिरा कर भीषण अंधड चिल्ला कर कहता है—'तुम स्वस्थ हो !' शांत सरोवर की कुमुदिनी को पैरों से कुचल कर उन्मत्त गज, उसे सहलाना चाहता है !

देवगुप्त - राज्यश्री ! अपनी इन दासियों को मना करो। मैं तुमसे बात करना चाहता हूँ।

राज्यश्री—तुम देवगुप्त ? मुझसे बात करने के अधिकारी नहीं हो—मैं तुम्हारी दासी नही हूँ, एक निर्लज्ज प्रवंचक का इतना साहस !

देवगुप्त—सुन्दरी !

राज्यश्री—बस मैं सचेत हूँ देवगुप्त ! मुझे अपने प्राणों पर अधिकार है। मैं तुम्हारा वध न कर सकी, तो क्या अपना प्राण भी नही दे सकती ?

देवगुप्त—तब तुम इस-राज-मन्दिर को बन्दीगृह बनाना चाहती हो ?

राज्यश्री—नरक मे रहना हो सो भी अच्छा !

देवगुप्त—तब यही हो **(ताली बजाता है—चार सैनिकों का प्रवेश)** देखो आज से ये लोग बन्दी है- सावधान ! इनके साथ वही व्यवहार करना होगा।

(प्रस्थान)

[दृश्यान्तर]

पंचम दृश्य

[प्रकोष्ठ में मधुकर—रात्रि]

मधुकर—देखूँ अब क्या होता है ?

[विकटघोष पीछे से आकर चपत लगाता है]

मधुकर—**(सिर सहलाता हुआ)**—क्या यही होना था ? भाई तुम हो कौन ? मुझसे तुमसे कब का परिचय है ?—यह परिचय कैसा ?

विकटघोष—यह तुम नही जानते—हम तुम साथ ही न वहाँ पढ़ते थे ! तुम एक चपत लगाकर गुरुकुल छोड़कर भाग आये और राजसहचर बनकर आनन्द करने लगे। यह उसी का प्रतिशोध है। स्मरण हुआ ? मेरा नाम है विकटघोष !

मधुकर—**(विचारने की मुद्रा में)**—होगा ! होगा भाई, वह तो पाठशाला का लड़कपन था; अब हम तुम दोनो बड़े हो गये। फिर, वैसी बात न होनी चाहिये।

विकटघोष—यह सब तो मित्रता मे चलता ही रहता है; पर तुमने मुझे पहचाना ठीक !

मधुकर—ठीक ! क्या नाम ?

विकटघोष—विकटघोष।

मधुकर—ओह ! तब आप शंख-घोष करते। यह मेरी रोएँदार खँजड़ी क्यों बजा रहे थे ? आप इतनी रात को अतिथि !

विकटघोष—मैं शीघ्र जाऊँगा।

मधुकर- हाँ ! अधिक कष्ट करने की आवश्यकता नहीं—आपको दूर जाना भी होगा ?

विकटघोष —चुप रहो, पहले यह तो पूछा ही नहीं कि तुम क्यों आये थे ।

मधुकर—आप जाइये, मै पूछ लूंगा ! उधर—**(राह दिखलाता है)**

विकटघोष—मुझे तुम्हारी महारानी से मिलना है ।

मधुकर—तब आपको उस ठाठ से आना चाहिये था ! यह भयानक दाढी और विच्छू की दुम —नहीं-नहीं डंक-सी मूंछ ! उहुँ ! आप तनिक भी सहृदय नहीं—इसे कुछ नीची कीजिये !

(हाथ बढ़ाता है)

विकटघोष--**(झटक कर)**—सीधे बताओ किधर से जाना होगा ?

मधुकर - दो पथ है । एक सुन्दर राजमन्दिर मे जाता है, जहाँ श्रीमती सुरमा देवी विराजमान है और दूसरा वन्दीगृह मे, जहाँ राज्यश्री है । आप किस रानी से भेंट किया चाहते है ?

विकटघोष- **(चौंक कर)**—सुरमा ! कौन ?

मधुकर- अजी ! वे नयी रानी है—इस नये राज्य की ! समझते नही, राजा लोग जब नये राज्य बना सकते है, तो उसमे रानी वही पुरानी रक्खेगे !

विकटघोष यह कहाँ की राजकुमारी है ?

मधुकर--अरे इसी बुद्धि पर तुम रानी से मिलने चले हो। **(उसे छुरा निकालते देख कर डरता हुआ)**—पहले इसे भीतर करो, नही तो मेरे प्राण बाहर आ जायँगे ।

विकटघोष- तो बताओ शीघ्र ।

मधुकर--वह तो इसी कान्यकुब्ज की एक मालिन है उसे भीतर....

[भयभीत होकर छुरे को देखता है]

विकटघोष—**(छुरे को भीतर रखता हुआ सोचता है)**—तो क्या वही सुरमा वह रानी ! देवगुप्त की प्रणयिनी । उसके यहाँ कौन सा पथ जायेगा ?

मधुकर- यही **(सामने दिखाकर)**—और उधर—**(बताकर)** आप राज्यश्री से मिल सकते है ।

विकटघोष- अच्छा अब तुम विश्राम करो ।

(उसके हाथ-पैर बाँधने लगता है)

मधुकर—यह क्या ?—यह मित्रता है !

विकटघोष--चुप रहो **(संकेत करता है)**

[दूसरा दस्यु आता है, उसे वहीं छोड़कर विकटघोष चला जाता है दूसरा दस्यु उसे घसीटकर ले जाता है]

[दृश्यान्तर]

छठवाँ दृश्य

[उपवन में सुरमा और देवगुप्त]

देवगुप्त—आज सुरमा ! अच्छी तरह पिला दो। कल तो मुझे भयानक युद्ध के लिये प्रस्तुत होना है। तुम कितनी सुन्दर हो सुरमा !

सुरमा—कितनी मादकता इस प्रशंसा मे है, प्रियतम ! मुझे अपना स्वरूप विस्मृत होता जा रहा है। मेरा यह सौभाग्य········!

देवगुप्त—सुरमा ! मेरे जीवन मे ऐसा उन्मादकारी अवसर कभी न आया था। तुम यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की छलकती हुई प्याली हो—पागल न होना ही आश्चर्य है, मेरे इस साहस की विजय-लक्ष्मी !

सुरमा—**(इधर-उधर देखती हुई)**—कहाँ हूँ ? यह उज्ज्वल भविष्य कहाँ छिपा था ? और यह सुन्दर वर्तमान, इन्द्रजाल तो नही ? **(देवगुप्त का हाथ पकड़ कर)** क्या यह सत्य है ?

[पान-पात्र भरकर देती है]

देवगुप्त—उतना ही सत्य है, जितना मेरा कान्यकुब्ज के सिंहासन पर अधिकार। सुरमा ! शंका न करो। दो—एक पात्र।

देवगुप्त—**(पीता हुआ)** यह देखो सुरमा ! नक्षत्र के फूल आकाश बरसा रहा है. उधर देखो चन्द्रमा की स्निग्ध प्रसन्न हँसी तुम्हारा मनुहार कर रही है, जीवन की यह निराली रात है ! सुरमा ! कुछ गाओगी ?

सुरमा क्यो नही प्रियतम ! **(गाती है)**

सम्हाले कोई कैसे प्यार
मचल-मचल उठता है चञ्चल
भर लाता है आँखों मे जल
बिछलन कर, चलता है उस पर
लिये व्यथा का भार
सिसक-सिमक उठता है मन मे
किस सुहाग के अपनेपन मे
'छुईमुई'-सा होता, हँसता
कितना है सुकुमार

देवगुप्त सुरमा ! तुम कितनी मधुर हो—मेरे जीवन की ध्रुवतारिका !

[नेपथ्य से]

"यह तुम्हारे दुर्भाग्य के मन्दग्रह की प्रभा है !"

देवगुप्त—**(चौंककर)** -यह कौन ?

[नेपथ्य से]

"मैं हूँ। सुरमा के उपवन का यक्ष। सावधान! इस—अपनी विपत्ति और अलक्ष्मी से अलग हो जाओ, नही तो युद्ध मे तुम्हारा निधन होगा।"

देवगुप्त—यक्ष? असम्भव! यक्ष और कोई नही, मनुष्य है। तुम कौन हो, प्रवञ्चक?

[नेपथ्य से]

"मैं यक्ष हूँ—तुम्हारी इच्छा हो तो बाण चलाकर देख लो—वही फिर लौट कर तुम्हे लगता है कि नहीं। मै फिर सावधान कर देता हूँ—सुरमा को अभी अपने पास से अलग करो, नही तो पछताओगे।"

देवगुप्त—तो मै.......

[नेपथ्य से]

हाँ, हाँ, तुम, यदि तुम्हे मृत्यु का आलिंगन न करना हो तो सुरमा के बाहुपाश से अपने को मुक्त करो।"

[देवगुप्त भयभीत होकर सुरमा को देखता है/सुरमा हताश दृष्टि से उसे देखती है/दूर से कोलाहल की ध्वनि]

देवगुप्त यह क्या?

[नेपथ्य से]

"यह है तुम्हारी सुख-निद्रा का अन्त-सूचक शत्रु-सेना का शब्द! मूर्ख! अब भी भागो?"

[देवगुप्त भयभीत सुरमा को छोड़कर जाता हे। 'प्रियतम सुनो-सुनो' कहती सुरमा रह जाती है। विकटघोष का प्रवेश]

सुरमा—हे भगवान्!

विकटघोष—रमणी! जब तुम्हे कोई चलने को कहता है, तो पैरो मे पीड़ा का अनुभव करने लगती हो। जब विश्राम का समय होता है, तो पवन से भी तीव्रगति धारण करती हो। तुम स्नेह मे पिच्छिल, जल से अधिक तरल, पत्थर से भी कठोर! इन्द्रधनुष से भी सुन्दर बहुरंगशालिनी स्त्री—तुमको.......

सुरमा—तुम कौन हो? यक्ष नही, तुम्हारा स्वर तो परिचित-सा है।

विकटघोष -**(बनावटी बाल अलग करके)**—परिचय? तुम लोगों से परिचय आकाश-तट के डूबते हुए तारों का-सा है उज्ज्वल आलोक फैलाकर अन्धकार में विलीन हो जाना। ओह, जब निःश्वास ले-लेकर सिसकती हुई, किसी मूर्ख की छाती पर कुमार कुसुम-सी व्याकुल होकर तुम पतित रहती हो, तब भी तुम्हारे भीतर व्यंग हँसा करता है! जब स्वयं प्राण देने के लिए प्रस्तुत होती हो, तब वह कितने जीवन

लेने का प्रस्ताव होता है ! प्रवञ्चना की पुजारिन ! युवती, रमणी, सुरमा तुमने मुझे पहचाना ?

सुरमा—पहचानती हूँ शान्तिभिक्षु ! मेरा अपराध क्षमा करोगे ?

शान्तिदेव--अपराध का पता लगा है अभी, सुरमा ? मैंने तो यही कहा था कि 'अभी विलम्ब है, थोड़ा ठहरो' —तब तुमने समीर की-सी गति धारण कर ली—आँधी चल पड़ी। ठहरने का क्षण समय की सारिणी से लोप हो गया-वाह-री छलना !

सुरमा—क्षमा करो शान्तिभिक्षु !

शान्तिदेव—अभी नही सुरमा ! विलम्ब है !

[प्रस्थान/दृश्यान्तर]

सप्तम दृश्य

[राज्यश्री बन्दीगृह में]

नरदत्त—कौन न कहेगा कि महत्त्वशाली व्यक्तियो के सौभाग्य-अभिनय मे धूर्त्तता का बहुत हाथ होता है। जिसके रहस्यों को सुनने से रोम-कूप स्वेद-जल से भर उठें, जिसके अपराध का पात्र छलक रहा है, वही समाज का नेता है। जिसके दण्डनीय कार्यो का न्याय करने मे परमात्मा को समय लगे, वही दण्ड-विधायक है। यदि किसी साधारण मनुष्य का यही काम होता, जो महाराज देवगुप्त ने किया है, तो वह चोर, लम्पट और धूर्त आदि उपाधियो मे विभूषित होता। परन्तु उन्हे कौन कह सकता है ? -**(राज्यश्री को देखकर)**—अहा, कैमा देवी का-सा रूप है ! देखते ही श्रद्धा होती है ।

[अन्य प्रहरियों का प्रवेश]

नरदत्त—क्यो जी, तुम लोग अव तक कहाँ थे ? वडा विलम्ब किया !

एक—आपको क्या मालूम नही ! उधर इतना बखेडा फैला है !

नरदत्त—क्या ? कुछ सुने भी। हम तो यही थे न !

एक—राज्यवर्द्धन की सेना घुमी चली आ रही है।

नरदत्त --और महाराज ?

एक—जायँगे कहाँ ? दुर्ग-द्वार पर तो भीषण युद्ध हो रहा है।

[नेपथ्य में रण-वाद्य और कोलाहल]

नरदत्त—अच्छा, तुम लोग मावधान रहना। मैं देख आऊँ ! **(प्रस्थान)**

दूसरा --क्या कहे, यह चुड़ैल भी हम लोगो के पीछे लगी है, नही तो अब तक हम लोग नौ-दो ग्यारह होते !

राज्यश्री--**(चैतन्य होकर)** क्यों जी, यह युद्ध का शब्द कैसा ?

पहला- घबराती क्यों हो ? कितनों को मारकर तुम मरोगी !

राज्यश्री—सुखी मनुष्य ! तुम मरने से इतना डरते हो। भग्न हृदयों से पूछो—वे मृत्यु की कैसी सुखद कल्पना करते है।

दूसरा—अनागत विपत्ति की कल्पना चाहे जितनी सुन्दर हो; पर आ पड़ने पर मृत्यु की विभीषिका उतनी टाल देने की वस्तु नहीं।

राज्यश्री—अस्त होने हुए अभिमानी भास्कर से पूछो—वह समुद्र में गिरने को कितना उत्सुक है ! पतंग-सदृश निराश हृदय से पूछो कि जल जाने में वह अपना सौभाग्य समझता है या नही ! और तुम तो सैनिक हो, मरने का ही वेतन पाते हो !

दूसरा—और तुम जीने के लिये ?

[रण कोलाहल—विकटघोष का प्रवेश]

विकटघोष क्यों, यही गप्प लड़ाने का समय है ? जाओ. शीघ्र युद्ध में जाओ, महाराज ने बुलाया है मुझे राज्यश्री को दूसरे स्थान मे ले जाने की आज्ञा हुई है।

पहला—तब तो आपके पास कोई आज्ञापत्र होगा ? ऐसे हम लोग कैसे टलें !

तीसरा—यह तो पागल है, भला आप असत्य कहेंगे। हम लोग जाते है— **(स्वगत)**—किसी प्रकार पिण्ड तो छूटे !

[सैनिकों का प्रस्थान]

विकटघोष—भद्रे ! शीघ्र चलो। महाराजकुमार राज्यवर्द्धन का आदेश है कि राज्यश्री को युद्ध से कही अलग ले जाओ।

राज्यश्री—क्या ? भाई राज्यवर्द्धन !

विकटघोष—हाँ, उन्होंने कहा है कि युद्ध के भीषण होने की सम्भावना है, इसलिए आपको शीघ्र ही किसी सुरक्षित स्थान मे पहुँचना चाहिये।

राज्यश्री—तो चलो।

विकटघोष—**(कुछ विचार कर ताली बजाता है—दो दस्युओं का प्रवेश)**—देखो, उसी गुप्त-मार्ग से इन्हें ले चलो, मैं अभी आता हूँ।

[राज्यश्री का दस्युओं के साथ प्रस्थान]

[नेपथ्य से सुरमा का क्रन्दन। रण-कोलाहल। विकटघोष का उस ओर जाना, सुरमा को लिये हुए फिर आना। सुरमा मूर्च्छित-सी]

विकटघोष—सुरमा ! सावधान ! नही तो प्राण न बचेंगे ?

सुरमा—कौन **(चैतन्य होकर)** शान्ति ?

विकटघोष—चुप तुम चाहे कितनी कुटिलता ग्रहण करो; पर मैं तुम्हे""

सुरमा--मेरे शान्ति—मेरे प्रिय !

विकटघोष—इस अभिनय का काम नहीं। चलो, वह देखो; युद्ध समीप आता जा रहा है। अरे, लो वे इधर ही आ रहे हैं।

[विकटघोष सुरमा को लेकर जाता है। एक ओर से देवगुप्त, दूसरी ओर से राज्यवर्द्धन का प्रवेश]

राज्यवर्द्धन—दुष्ट मालव ! अब भागने से काम न चलेगा—सावधान। तेरी नीचता का अन्त समीप है।

देवगुप्त—तो मैं प्रस्तुत हूँ।

[युद्ध—देवगुप्त की मृत्यु]

[यवनिका]

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

[पथ में]

सुरमा—तब ?

विकटघोष—तुम्हारी इच्छा सुरमा ! तुम्हारी शीघ्रता ने दो जीवन नष्ट किये—मैं दस्यु हुआ और तुम एक कामुक की वासना पूर्ण करने वाली वेश्या।

सुरमा—और तुम राज्यश्री को कहाँ छिपाये हो ?

विकटघोष—वह मैं नहीं जानता। मेरे साथी—दूसरे दस्यु—उसे ले भागे।

सुरमा—क्यों, क्या तुम्हारे विलम्ब का कारण राज्यश्री का रूप न था ?

विकटघोष—पर उसकी प्यास तुम्हीं ने जगा दी थी। मैं विचारता था कि किधर बढ़ूँ ? रूप और विभव दोनों के प्रभाव ने मुझे अभिभूत तो कर दिया था, किन्तु मैं तुम्हें भूला न था, सुरमा !

सुरमा—तो अब हम तुम एकत्र संसार की यात्रा कर सकते हैं। विचार लो !

विकटघोष—पतन की चरम सीमा तक चलें, सुरमा ! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही !

सुरमा—यही तो मैं चाहती थी। तुम कुछ ऐसा करो, और मैं तुम्हारी बनूँ।

विकटघोष—तो चलो, गौड़ शिविर में चलें।

सुरमा—वहाँ क्या करना होगा !

विकटघोष—वहाँ चलने पर बताऊँगा; पहले किसी प्रकार शिविर में घुसना होगा।

सुरमा—तुम किसी बात को सोचने हो तो बड़ी तीव्रता से !

विकटघोष—यही तो मेरी सरलता का प्रमाण है, सुरमा ! अब शील-संकोच का डर मुझे नही भयभीत कर सकता। यहाँ तक बढ आने पर लौटना असम्भव है !

[नरेन्द्रगुप्त का एक सहचर के साथ प्रवेश/ विकटघोष और सुरमा का छिप जाना]

नरेन्द्रगुप्त—वयस्य ! बडी विषम समस्या है। राज्यवर्द्धन आज मेरे शिविर मे आवेगा, बस यही अवसर है। मगध के गुप्तो का गौरव इन वर्द्धनो के चरणो मे लोट रहा है ! मुझसे नही देखा जाता।

सहचर—इसीलिये तो परभट्टारक ने आपको सुदूर गौड मे भेज दिया है। आपकी तेजस्विता से आपके कुल के लोग भी सशंक है।

नरेन्द्रगुप्त—किन्तु भभक उठने वाली अग्नि को किसी उपाय से शान्त कर लेना सहज नही - मै इन उपायो से और भी उत्तेजित हो गया हूँ। सम्बन्धी होकर वे मेरी अवमानना करे और मै शील की आड लेकर अपनी दुर्बलता छिपाता फिरूँ ?—असम्भव है ! आज इसका निबटारा करना है। राज्यवर्द्धन मेरे हाथ मे होगा, उसका अन्त होने पर हर्षवर्द्धन—कल का छोकरा—उसे उँगलियों पर नचा दूँगा।

सहचर—परन्तु क्या आप स्वय हत्या करेगे ?

नरेन्द्रदेव—नही—यह तो असम्भव है। मुझे एक साहसिक और वेश्या की आवश्यकता है, जिसमे वह प्राणो के साथ कीर्त्ति से भी वचित रहे। परन्तु मिले जब तो !

सहचर—यह घटना आकस्मिक रूप से होनी चाहिये। तो फिर कहिये, मै लाऊँ !

[विकटघोष सुरमा से संकेत करता है, दोनों बाहर आते हैं]

नरेन्द्रगुप्त—तुम लोग कौन हो ?

विकटघोष—हम लोग गायक है।

नरेन्द्रगुप्त **(देख कर)** क्यो जी, यह तो हम लोगो के काम का मनुष्य हो सकता है ?- **(विकटघोष से)**—तुम गायक नही हो, तुम्हारे मुख पर तो कला की एक भी रेखा नही है। स्पष्ट, रक्त और हत्या का उल्लेख तुम्हारे ललाट पर है।

विकटघोष—जीवन बडा कठोर है, इसकी आवश्यकता जो न करावे ! सच बात तो यह है कि मुझे अपने सुख के लिए सब कुछ करना अभीष्ट है।

नरेन्द्रगुप्त- वही तो पुरुषार्थ की बात है, तुममे पूर्ण मनुष्यता है **(सुरमा की**

ओर देखकर) और तुम तो अवश्य गा सकती हो। चलो, मुझे तुम दोनों की आवश्यकता है।

विकटघोष—तो मेरा पुरस्कार ?

नरेन्द्रगुप्त—काम देखकर मिलेगा। आज शिविर में राज्यवर्द्धन का निमंत्रण है, उसी उत्सव में तुम लोगों को चलना होगा।

विकटघोष—(अलग सुरमा से) राज्यवर्द्धन—सुरमा, तुम्हारे भाग्याकाश का धूमकेतु; और मेरे लिए तो सभी शत्रु है। बोलो, क्या कहती हो ?

सुरमा— जो करो, मैं प्रस्तुत हूं। (अलग) हाय, दूसरा पथ नही यदि मैं कहती हूँ कि नहीं तो, उहूँ···फिर, यही सही; इस ओर से भी प्राण नहीं बचता।

विकटघोष—हम लोग चलेंगे।

नरेन्द्रगुप्त —तो चलो।

[सब जाते हैं/मधुकर का प्रवेश]

मधुकर—प्राण बचे बाबा, अब इन राजाओं के फेर में न पड़ूँगा। ओह उस विकटघोष का बुरा हो, कहाँ से टपक पड़ा ! राज्यश्री भी कहीं इधर-उधर चली गयी होगी। सुरमा का दुर्भाग्य ! वह भी कुछ ही दिनों के लिए रानी बन गयी थी ? मुझे छुट्टी मिली इस प्रतिज्ञा पर कि मैं राज्यश्री की खोज निकालूंगा; पर जाऊँ किधर ? वह बड़े-बड़े शिविर पड़े दिखाई दे रहे है, तो उधर ही चलूं। हूँ, सोंधी बास भी तो आ रही है—-चलं ? नहीं अब भागो; ब्राह्मण देवता ! भीख माँग कर खा लेना ठीक है; पर किसी राजा के यहाँ कदापि न···(प्रस्थान)

[दृश्यान्तर]

द्वितीय दृश्य

[कानन में राज्यश्री को लिये हुए दोनों दस्यु]

राज्यश्री —मैं दुखी हूँ, दस्यु ! तुम धन चाहते हो; पर वह मेरे पास नही ! इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिये नही, पर जीवन ? आह ! जितनी साँसें चलनी है, वे चलकर ही रुकेंगी। तुम मनुष्य होकर हिंस्र पशुओं को क्यों लज्जित कर रहे हो; इस श्मशान को कुरेद कर जली हुई हड्डियों के टुकड़ों के अतिरिक्त मिलेगा क्या ?

पहला दस्यु—परन्तु मै तुमको छोड़ूं कैसे, क्या करूँ ? तुम मुझे कुछ धन दिलवा दो।

राज्यश्री—अर्थी ! तुम इतने मूर्ख हो ! मेरा राज्य छिन गया, सब लुट गया, भला अब मैं कहाँ से दिलवा दूं ?

पहला दस्यु—तब मैं तुम्हें किसी के हाथ बेच दूंगा। क्योंजी, यही ठीक रहा।

दूसरा दस्यु—और किया क्या जायगा ?

राज्यश्री—तब अच्छा हो कि मेरे जीवन का अन्त हो जाय! भगवान तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो!

[नेपथ्य से गान]

अब भी चेत ले तू नीच
दुःख-परितापित धरा को स्नेह-जल से सींच
शीघ्र तृष्णा-पाश से नर, कण्ठ को निज खींच
स्नान कर करुणा-सरोवर, धुले तेरा कीच

पहला दस्यु— यह क्या ?

दूसरा दस्यु—हम लोग क्या कर रहे हैं ?

[दिवाकरमित्र का प्रवेश]

दिवाकरमित्र—क्षणिक संसार! इस महाशून्य में तेरा इन्द्रजाल किसे नहीं भ्रान्त करता! मैंने बहुत दिनों तक शास्त्रों का अध्ययन किया, पण्डितों को परास्त किया, तर्क से कितनों का मुँह बन्द कर दिया, परन्तु क्या मन को शान्ति मिली ? नहीं; तब ? भगवान् की करुणा का अवलम्ब शेष है। करुणे! इस दुःखपूर्ण धरती को अपनी क्रोड़ में चिरकालिक शान्ति दे, विश्राम दे। (देखकर)—अरे, यह वनलक्ष्मी-सी कौन है ? विषाद की यह कालिमा क्यों ? और तुम लोग कौन हो, भाई ?

दस्यु—हम लोग दस्यु हैं!

दिवाकरमित्र—और तुम देवी ?

राज्यश्री—जब विपत्ति हो, जब दुर्दशा की मलिन छाया पड़ रही हो, तब अपने उज्ज्वल कुल का नाम बताना, उसका अपमान करना है! देव, मैं एक विपन्न अनाथा हूँ। जीवन का अन्त चाहती हूँ—मृत्यु चाहती हूँ।

दिवाकरमित्र—यह पाप! देवि, आत्मदाह या स्वेच्छा से मरने के लिये प्रस्तुत होना—भगवान की अवज्ञा है। जिस प्रकार सुख-दुःख उसके दान है—उन्हें मनुष्य झेलता है, उसी प्रकार प्राण भी उसी की धरोहर है। तुम अधीर न हो। क्यों भाई, तुम प्राण चाहते हो या धन ?

पहला—मुझे तो धन चाहिये।

दिवाकरमित्र—तो चलो, मेरे कुटीर पर जो कुछ हो सब ले लो।

दूसरा—किन्तु, मुझे तो अपनी शान्ति दीजिये! देव, मैं इस कर्म से अत्यन्त व्यथित हो गया हूँ। अब अपने पद-रज की विभूति दीजिये।

दिवाकरमित्र—(हँस कर) अच्छा वैसा ही होगा; चलो सब लोग आश्रम पर। रेवा-तट पर कुमार हर्षवर्द्धन और पुलकेशिन चालुक्य का युद्ध चल रहा है।

अनेक लोग हताहत हो गये हैं। क्या तुम लोग उन आहतों की सेवा-शुश्रूषा कर सकोगे ?

राज्यश्री—क्या ? कुमार हर्षवर्द्धन !

दिवाकरमित्र—हाँ देवी, चलो आश्रम समीप है।

[प्रस्थान/दृश्यान्तर]

तृतीय दृश्य

[रेवा-तट की युद्ध-भूमि—रण-वाद्य बजता है। एक ओर से हर्षवर्द्धन और दूसरी ओर से पुलकेशिन् अपनी सेना के साथ जाते हैं]

हर्षवर्द्धन—चालुक्य ! तुम वीर हो।

पुलकेशिन् –उत्तरापथेश्वर ! अभी मुझे अपनी वीरता की परीक्षा देनी है, क्योंकि विदेशी हूणों को विताड़ित करने वाले महावीर हर्षवर्द्धन के अस्त्र का आज ही सामना है।

हर्षवर्द्धन—पर मैं अब युद्ध न करूँगा। **(हाथ उठाकर)** ठहरो कोई अस्त्र न चलावे।

[रण-वाद्य बन्द हो जाते हैं]

पुलकेशिन्—क्यों ? युद्ध से विश्राम क्यों ?

हर्षवर्द्धन—मुझे साम्राज्य की सीमा नही बढानी है। वसुन्धरा के शासन के लिए एक प्रवीर की आवश्यकता होती है, सो इधर दक्षिणापथ में उसका अभाव नही। महाराष्ट्र सुशासित वीरनिवास है। मुझे तो उत्तरापथ के द्वार की रक्षा करनी है।

पुलकेशिन्—नही, नही, बातों से काम नही चलेगा सम्राट् ! आज मुझे क्षात्र-धर्म की परीक्षा देनी है—युद्ध होगा।

हर्षवर्द्धन—कभी नही। यों तुम अपनी विजय-घोषणा कर सकते हो, क्योंकि मेरी गजवाहिनी तुम्हारे अश्वारोहियो से विस्त्रस्त हो चुकी है—परन्तु अब मैं युद्ध न करूँगा; व्यर्थ इतने प्राणो का नाश न होने दूँगा। चालुक्य, मैं सन्धि का प्रार्थी हूँ। और भी सुनोगे ? हम लोग साम्राज्य नही स्थापित करना चाहते थे; मगध के सम्राटों की दुर्बलता से उत्तरापथ हूणों से अरक्षित था आपाततः मुझे युद्ध करना पड़ा। उधर मेरे आत्मीय मौखरी ग्रहवर्मा का षड्यन्त्र से वध हुआ ही था—भाई राज्यवर्द्धन की भी हत्या हुई। मैं अकारण दूसरो की भूमि हड़पने वाला दस्यु नही हूँ। यह एक संयोग है कि कामरूप से लेकर सौराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर रेवा तक, एक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया। मुझे और न चाहिये। यदि इतने ही मनुष्यो को सुखी कर सकूँ—राज-धर्म का पालन कर सकूँ, तो कृतकृत्य हो जाऊँगा।

पुलकेशिन्—उदार महापुरुष। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मेरे शरीर पर हूणों का अहेर करने वाले इन हाथों से प्रहार हो और मैं उसे झेलूं तो!

हर्षवर्द्धन– मैं इस वीरोन्माद, इस उत्साह का आदर करता हूँ। चालुक्य! मेरा मन व्यथित हो उठा है। मैंने सुना है कि मेरी अनाथा दुखिया बहन कही इसी विन्ध्यपाद मे है। मैं अभी जाना चाहता हूँ।

पुलकेशिन्—क्या महारानी राज्यश्री अभी जीवित है?

हर्षवर्द्धन—हाँ पुलकेशिन्! मुझे अभी-अभी चर ने यह सन्देश दिया है। दक्षिणा-पथेश्वर, मैं अभी विदा चाहता हूँ।

पुलकेशिन्—महावीर, जैसी आप की इच्छा! मै आपसे सन्धि, युद्ध, सब में अपने को धन्य समझता हूँ।

हर्षवर्द्धन—(हाथ फैलाकर)—तो आओ भाई!

[दोनों गले से मिलते हैं]

[दृश्यान्तर]

चतुर्थ दृश्य

[सरयू का तट—अशोक-कानन। विकटघोष अपने साथी डाकुओं के साथ बैठा हुआ। सामने देवी उग्र तारा की मूर्ति]

विकटघोष—सुरमा, तुम्हारे हाथो मे आकर यह कड़वी मदिरा कितनी मीठी, कितनी हल्की हो जाती है—पिलाओ और प्रेयसी!

सुरमा—लो—(पिलाती है)।

विकटघोष—अभी तक सब नही आये! वह चीनी यात्री अवश्य बड़ा धनी होगा, सुरमा! तब तक तुम कुछ गाओ न!

सुरमा—गाती है

जब प्रीति नहीं मन में कुछ भी
तब क्यों फिर बात बनाने लगे।
सब रीति प्रतीति उठी पिछली
फिर भी हँसने मुसकाने लगे॥
मुख देख सभी सुख खो दिया था
दुख मोल इसी सुख को लिया था।
सर्वस्व ही तो हमने दिया था
तुम देखने को तरसाने लगे॥

विकटघोष—सुरमा ! वह उपालम्भ बड़ा कठोर है ! सुरमा, मैं देवलोक से तुम्हारे लिये गिर पड़ा—केवल तुम्हें पाने के लिये, फिर भी यह ! **(मद्यप की-सी चेष्टा करता है)**

[सुएनच्वाङ्ग को लिये हुये डाकुओं का प्रवेश]

विकटघोष—हा हा हा हा ! आ गया ! क्यों, धर्म कमाने आया था, तो पूँजी के लिये कुछ रुपये भी लाया था ?

सुएनच्वाङ्ग—दस्युराज ! मैं रुपये लेकर नहीं आया हूँ। मेरे पास थोड़ा-सा धर्म और कुछ शान्ति है—तुम चाहते हो लेना ?

विकटघोष—मूर्ख ! शान्ति को मैंने देखा है, कितने शवों में वह दिखायी पड़ी ! शान्ति को मैंने देखा है दरिद्रों के भीख माँगने में। मैं उस शान्ति को धिक्कारता हूँ। धर्म को मैंने खोजा—जीर्ण पत्रों में, पण्डितों के कूटतर्क मे उसे बिलखते पाया, मुझे उसकी आवश्यकता नही।

सुएनच्वांग—तब क्या चाहिये।

विकटघोष -या तो धन दे या रक्त। जो मुझे धन नही देता, उसे मेरी देवी को रक्त देना पड़ता है।

सुएनच्वांग—रक्त से किसकी प्यास बुझती है, जानते हो ?—पिशाचों, पशुओं की—तुम तो मनुष्य हो।

विकटघोष—ओह ! मेरी प्रतिमा—मेरी क्रूरता की देवी—नरबलि चाहती है। तू बहुत स्वस्थ है—विदेशी। मैंने राज-रक्त से पहले-पहल हाथ रँगा था वह कितना लाल था ! उसका मनोरंजन कितना ललित था ! सुरमा ! स्मरण है वह राज्यवर्द्धन की हत्या ? बड़ी उत्साहवर्धक थी वह !

सुरमा—प्रिय ! वह भयानक दृश्य था—आह मैं गा रही थी, राज्यवर्द्धन के हाथ मे मदिरा का पात्र था और तुम थे खड़े। उसकी मदिर दृष्टि मुझ पर पड़ी थी। अनुचर सब मद-विह्वल थे। सहसा तुम्हारी आँखें चमक उठी, ज्योंही राजकुमार ने मेरी ओर हाथ वढ़ाया—दूसरा पात्र माँगा, तुमने कितनी भीषणता से प्रहार किया ! वह छुरी पत्थर का कलेजा भी छेद देती—राज्यवर्द्धन तो साधारण मनुष्य था।

विकटघोष—हाँ सुरमा ! वह मेरा हाथ ! अब तो मैं रक्त देख कर अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ ! यात्री ! तो आज ही तुम्हारी बलि होगी, प्रस्तुत रहो !

सुएनच्वांग—मुझे प्रार्थना कर लेने दो।

सुरमा—देवी की जय !

[सुरमा के साथ सब विकट-नृत्य करने लगते हैं। भिक्षु प्रार्थना करता है। अकस्मात् आँधी के साथ अन्धकार फैलता है। सब चिल्लाने लगते हैं—"दस्यु पति ! उस भिक्षु को छोड़ दो"। "उसी के कारण यह विपत्ति है," "छोड़ो उसे !"—प्रार्थना करते हुए सुएनच्वाङ्ग को सब धक्का देकर हटा देते हैं]

[दृश्यान्तर]

पंचम दृश्य

[दिवाकर मित्र का तपोवन—एक चिता सजी है]

राज्यश्री—दुःखो को छोड कर और कोई न मुझसे मिला, मेरा चिर सहचर ! परन्तु अब उसे भी छोड़ूंगी। आर्य, मुझे आज्ञा दीजिये। स्त्रियो का पवित्र कर्तव्य पालन करती हुई इस क्षण-भगुर संसार से बिदाई लूं—नित्य की ज्वाला से, यह चिता की ज्वाला प्राण बचावे।

दिवाकरमित्र—देवि, मै यह कदापि नही कह सकता। यह धर्म नही, आत्महत्या है। सती होना जल मरने से ही नही हो सकता। यह तो मै नही कह सकता कि इस पुतले को बना कर दुःख का सम्बल देकर विधाता ने क्यो अनन्तपथ का यात्री बनाया, पर, इसमे इतना भयभीत क्यो रहूँ? उस करुणानिधान की स्नेहानुभूति इसी मे तो झलकती है। प्राणी दुःखो मे भगवान् के समीप होता है, देवि ! उसको....।

राज्यश्री—परन्तु अब इस हृदय मे बल नही है, महात्मन् ! आज्ञा दीजिये। मेरे इस अन्तिम सुख मे बाधा न दीजिये—(प्रार्थना करती है)

जय जयति करुणा-सिन्धु।
जय दीनजन के बन्धु॥
जय अखिल लोक ललाम।
जय जय भुवन अभिराम॥
जय पतित पावन नाम।
जय प्रणत जन सुख धाम॥
जय देव धर्म स्वरूप।
जय जय जगत्पति भूप॥

[चिता प्रज्ज्वलित होती है। राज्यश्री का उसमें प्रवेश करने का उपक्रम। सहसा—'ठहरो-ठहरो !' का शब्द। वह दस्यु—जो भिक्षु हो गया था—दौड़ता हुआ आता है]

राज्यश्री —अब क्या ?

भिक्षु—सम्राट् हर्षवर्द्धन आ रहे है।

राज्यश्री—कौन ? भैया हर्ष ?

[हर्षवर्द्धन का प्रवेश]

राज्यश्री—आओ हर्ष ! इस अन्तिम समय मे तुम आ गये ! मेरा सारा विषाद चला गया।

हर्षवर्द्धन—हे भगवान् ! मैं यह क्या देखता हूँ। प्रतिहिसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणों का संहार करनेवाले हृदय, और भी वज्र हो जा ! बहन, मैने इतना रक्तपात किया, क्या इसीलिये कि राज्यश्री जल मरे और तना दस राजचक्र फिर मेरी असफलता पर एक बार हँस दे ? उत्तरापथ के समस्त नरपति आज इन चरणो में प्रणत हैं। बहन ! यह मरण का समय नही है, चलो एक बार देखो कि तुम्हारे नीच शत्रुओं का क्या परिणाम हुआ। कान्यकुब्ज के सिहासन पर वर्द्धनवश की एक बालिका उर्जस्वित शासन कर सकती है, यही तो मुझे दिखला देना था।

राज्यश्री—भाई हर्ष, यह रत्नजटित मुकुट तुम्हे भगवान ने इसलिये नही दिया कि लाखों सिरों को तुम पैरो से ठुकराओ। मेरी शान्ति ढूँढकर तुमने उसे इतनी बडी नर-हत्या मे पाया ! हर्ष ! विचार करो, तुमने मेरे सदृश कितनी स्त्रियो को दुखिया बनाया ! तुम्हें क्या हो गया था ?

हर्षवर्द्धन—(सिर नीचा करके) मेरा भ्रम था ! किन्तु अब ?

राज्यश्री—अब मुझे आज्ञा दो कि मैं तुम्हारा प्रायश्चित करूँ और सती धर्म का पालन भी।

हर्षवर्द्धन—बहन ! हम लोग दो ही तो बचे है। भाई राज्यवर्द्धन की हत्या हुई, अब तुम भी जाना चाहती हो, मेरे वर्द्धन कुल की यह दशा ! तो फिर यही हो राज्यश्री !

राज्यश्री—क्या भाई राज्यवर्द्धन भी नही रहे ?

हर्षवर्द्धन—हाँ बहन ! जब उन्होने दुष्ट मालव को दण्ड देकर कान्यकुब्ज का उद्धार किया, उसी समय बन्धु नामधारी नरेन्द्र —नीच नरेन्द्र ने षड्यन्त्र से उनका प्राणनाश कराया ! आज तक भण्डि उसका पीछा कर रहे है, वह भाग रहा है। तो फिर मैं ही क्या करूँगा ?—(दिवाकरमित्र से) आर्य ! मुझे भी काषाय दीजिये।

राज्यश्री—(चिता से हट आती है) —भाई ! तुम भी····! नही, ऐसा नही होगा। मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी। मेरे अकेले भाई ! मुझे क्षमा करो, मै कठोर हो गयी थी।

हर्षवर्द्धन—बहन ! इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन कितना लघु है ! सब

गर्व, सारी वीरता, अनन्त विभव, अपार ऐश्वर्य, हृदय की एक चोट से—संसार की एक ठोकर से—निस्सार लगने लगा।

राज्यश्री—भाई! दुःखमय मानव जीवन है। उसे अभ्यास पड़ जाता है, इसीलिये सबके मन में तीव्र विराग नहीं होता। पर, तुम इतने दुर्बल होगे, यह मैं नही जानती थी! मैं स्त्री हूँ—स्वभाव-दुर्बल नारी! मेरा अनुकरण न करो, भाई! चलो हम लोग दूसरों के दुख-सुख में हाथ बँटावें।

हर्षवर्द्धन—चलो, पराक्रम से जो सम्पत्ति, शस्त्र-बल से जो ऐश्वर्य मैंने छीन लिया है, उसे पात्रों को दे दूं। हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करे।

राज्यश्री—चलो भाई! जहाँ तक बन पड़े, लोक-सेवा करते अन्त में हम दोनों साथ ही काषाय लेंगे।

[सबका प्रस्थान]

[यवनिका]

चतुर्थ अङ्क

प्रथम दृश्य

[कानन में—साधु के वेष में विकटघोष]

सुरमा—यह आज नया रूप कैसा?

विकटघोष—कान्यकुब्ज में स्वर्ण और रत्न की वर्षा हो रही है सुरमा! राज्यश्री अपने समस्त कोष का अद्भुत दान कर रही है। वहाँ भी लूटना चाहिये न।

सुरमा—अब समझी! मुझे तो तुम्हारा यह रूप देख कर बड़ा सन्देह हुआ था।

विकटघोष—यही न कि मैं फिर साधु तो नहीं हो गया? (हँसता है)

[उसके साथी दस्यु साधु के रूप में आते हैं]

एकदस्यु—परन्तु अब हम लोग कहाँ चलेंगे, कान्यकुब्ज का दान तो अन्तप्राय है। अब सुना गया है कि यही प्रयाग में ही फिर से दान होगा। और, वह चीनी भिक्षु भी साथ ही आ रहा है।

विकटघोष—चीनी भिक्षु!—न जाने क्यों उसे इतना आदर मिल रहा है!

दूसरादस्यु—और साथ-ही-साथ धन भी। सुना है कि पञ्चनद के उदितराज; कामरूप के कुमारराज, वलभी के ध्रुवभट भी यही आ रहे हैं और सम्राट् हर्षवर्द्धन सर्वस्व दान करेंगे।

सुरमा—तो मैं भी चलूंगी।

विकटघोष—इसी रूप में ?

[सुरमा नेपथ्य में जाती है और अवधूती बनकर आती है]

सुरमा—

अलख अरूप

तेरा नाम, सब सुखधाम,
जीवन ज्योति स्वरूप।
मंगल गान, एक समान,
सब छाया की धूप॥

अलख अरूप

[सब गाते हुए जाते हैं]

[दो बौद्ध साधुओं का प्रवेश]

धर्मसिद्धि—इतना अपमान ! वह चीनी भिक्षु भयानक पण्डित निकला !

शीलसिद्धि—महायान ! तान्त्रिक उपासनाओं से भरा हुआ एक इन्द्रजाल ! उसकी उन्नति ! भगवान् तथागत ! तुम्हारे सत्य का इतना दुरुपयोग !

धर्मसिद्धि—अज्ञान प्राय: प्रबल हो जाता है और असत्य अधिक आकर्षक होता है, किन्तु यह चीनी यात्री और हर्ष दोनों ही इसके प्रधान कारण हैं।

शीलसिद्धि—फिर उपाय ?

धर्मसिद्धि—उपाय होगा। देखा नहीं—यह दस्युओं का दल साधु बनकर आ रहा है। दान का अतिरूप है यह; जब ऐसे लोग भी उस पुण्यभाग के अधिकारी होंगे, तब वह स्वयं विकृत होगा। चलो महास्थविर से कहना है।

शीलसिद्धि—वे तो अत्यन्त उत्तेजित हैं।

धर्मसिद्धि—चलो भी।

[प्रस्थान/दृश्यान्तर]

द्वितीय दृश्य

[प्रयाग में गङ्गा-तट पर हर्षवर्द्धन सपरिवार]

राज्यश्री—भाई, भण्डि ने क्या कहा ?

हर्षवर्द्धन—गुप्तकुल का दुर्नाम नरेन्द्र प्राणों के लिए अत्यन्त भयभीत है। वह सन्धि का प्रार्थी है और वह कहता है कि उस हत्या में वेश्या का सम्पर्क था, उसका नहीं।

राज्यश्री —फिर भी वह क्षम्य है। अपना सम्बन्धी है। भाई, जाने दो ! आज हम लोग दान देने चल रहे है, क्षमा करो भाई !

हर्षवर्द्धन —तब तुम्हारी इच्छा। मेरा हृदय नही क्षमा करेगा, मैं अशक्त हूँ।

[एक दौवारिक का प्रवेश]

दौवारिक—जय हो देव !

हर्षवर्द्धन—क्या है ?

दौवारिक—महाश्रमण पर आज एक भयानक आक्रमण हुआ था, किन्तु वे बच गये।

हर्षवर्द्धन—महाश्रमण पर ! उपद्रवी पकड़े गये ?

दौवारिक—नही देव ! वे निकल भागे। ऐसा विदित होता है कि महाश्रमण के प्राण लेने का षड्यन्त्र था, जिसके भीतर धार्मिक द्वेष काम कर रहा था।

हर्षवर्द्धन—धर्म में भी यह उपद्रव ! राज्यश्री, देखो बहन ! सब स्थानों पर क्षमा की एक सीमा होनी है—(दौवारिक से)—जाओ डौंड़ी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया, तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पड़ेगा।

राज्यश्री—चलो भाई ! हम लोग यह महासमारोह दूर से देखें।

[सबका प्रस्थान। दूसरी ओर से दो भिक्षुओं का प्रवेश]

पहला—यही होना चाहिये। अब धर्म नहीं बचेगा।

दूसरा—अब दूसरा उपाय नही।

पहला—तो फिर वही ठीक किया जाय।

दूसरा—वह तो प्रस्तुत है !

पहला—तो फिर चलो।

[दोनों का प्रस्थान/दृश्यान्तर]

तृतीय दृश्य

[प्रयाग का दूसरा भाग, सुरमा का प्रवेश]

सुरमा—जैसे अंतिम अभिनय हो ! आज यह क्या होगा ? इतना बड़ा उत्पात ऐसे ही चला करेगा ? असम्भव है। तो ? मैंने रोक नही लिया, नहीं मानता—हत्या करते-करते कितना निर्दय-हृदय हो गया है ! और मैं कहाँ चल रही हूँ, वही जीवन, किन्तु वह धीर धारा न रही ! ठठा कर हँसना, नाचते हुए स्थिर जीवन में एक आन्दोलन उत्पन्न कर देना, नहीं, यह कृत्रिम है, यह नही चलेगा ! राज्यश्री को देखती हूँ, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है—पता चलता है कि मैं कहाँ हूँ ! चलूँ, रोक सकूँ !

[सुरमा का प्रस्थान, दो नागरिकों व्यग्र भाव से प्रवेश]

पहला—इतना बड़ा उत्पात !

दूसरा—होम करते हाथ जले !

पहला - ना भाई ! कितने ही ढोंगी घुस आते है—अधिक पुण्य भी करने में कितना पाप हो सकता है !

दूसरा—परन्तु वह राजा का प्रताप था ! सुना नही कि उस नीच हत्यारे का हाँथ काँप कर रह गया।

पहला—पकड़ लिया गया कि नही ?

दूसरा—चलो देखा जाय।

[दोनों का प्रस्थान/दृश्तान्तर]

चतुर्थ दृश्य

[बुद्ध-प्रतिमा के सम्मुख सम्राट् हर्षवर्द्धन और प्रमुख सामन्तगण—
तथा चीनी यात्री सुएनच्वाङ्ग]

[हर्षवर्द्धन सब मणि रत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है]

हर्षवर्द्धन—(राज्यश्री से) दो बहन। एक वस्त्र।

[राज्यश्री देती है]

हर्षवर्द्धन—क्यो मेरी इसी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न ? मैं आज सबसे अलग हो रहा हूँ—यदि कोई शत्रु मेरा प्राणदान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ।

["जय महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन की जय"—का तुमुलघोष]

सुएनच्वांग—यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट् ! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।

[विकटघोष को लिये हुए प्रहरियों का प्रवेश]

राज्यश्री—महाश्रमण, मुझे भी एक वस्त्र दीजिये।

सुएनच्वांग—सर्वस्व दान करने वाली देवी ! मैं तुम्हे कुछ दूँ—यह मेरा भाग्य ! तुम्ही मुझे वरदान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है, वह जाकर अपने देश में सुनाऊँ। लो देवि !—(वस्त्र देता है)

[हर्ष और राज्यश्री एक-एक वस्त्र में खड़े होते हैं]

भण्डि—देव, यह दान तो हो चुका, अब मैं भी कुछ माँगता हूँ—न्याय दीजिये।

हर्षवर्द्धन—यह ! साहसिक ! क्यों तुम मेरे प्राण चाहते थे न ?

[विकटघोष चुप रहता है]

भण्डि—देव ! यही नीच है, जिसने कुमार राज्यवर्द्धन की हत्या की थी। मैंने इसे भागते हुए देखा था; परन्तु उस समय मैं नरेन्द्र के पीछे पड़ा था।

हर्षवर्द्धन—क्या ? यही है ?

सब लोग—बध करो ! बध करो !!

राज्यश्री—ठहरो (देखकर)—मुझे स्मरण हो रहा है। हाँ, वही तो है ! तुम तो भिक्षु शान्तिदेव थे !

विकटघोष—हाँ देवि !

हर्षवर्द्धन—क्या ? भिक्षु !

राज्यश्री—हाँ, यह भिक्षु था, भाई ! मैंने इससे कहा था—'तुम संयत करो अपने मन को श्लाघा और आकांक्षा का पथ बहुत पहले छोड़ चुके हो' परन्तु यह—हे भगवान् !

विकटघोष—मेरे वध की आज्ञा दीजिये। ओह ! प्राण जल रहे है। रोम-रोम से चिनगारियाँ निकल रही है....दण्ड ! दण्ड ! हे भगवान् !

राज्यश्री—आज हम लोगो ने सर्वस्व दान किया है, भाई ! आज महाव्रत का उद्यापन है। क्यो एक यही दान रह जाय—इसे प्राणदान दो भाई !

["देवी राज्यश्री की जय" का तुमुल घोष]

सुरमा—(दौड़ती हुई आयी)—मुझे भी महारानी ! स्त्री की मर्यादा ! करुणा की देवी ! राज्यश्री ! मुझे भी दण्ड !

राज्यश्री—अरे तू मालिन !

सुरमा—हाँ भगवति ! मेरा प्रायश्चित्त ?

राज्यश्री—महाश्रमण ! आज सबका प्रायश्चित्त चित्त-शुद्धि-पूर्वक काषाय लेने मे है। आप इन दोनो को भी काषाय दीजिये।

[महाश्रमण आगे बढ़कर दो काषाय देते है। विकटघोष का बन्धन खोला जाता है]

सुएनच्वांग—'दस्युराज ! मै रुपये लेकर नही आया हूँ। मेरे पास थोडा-सा धर्म है और कुछ शान्ति—तुम चाहते हो लेना ?'—मैने यही एक दिन तुमसे कहा था, वही आज भी कहता हूँ।

[विकटघोष और सुरमा दोनों महाश्रमण के पैर पर गिरते हैं। थालों में मणि, आभूषण और वस्त्र लिये कुमारराज, उदितराज इत्यादि आते है]

हर्षवर्द्धन—यह क्या ?

कुमारराज—उसी धर्म की रक्षा के लिए बोधिसत्त्व का व्रत ग्रहण कीजिये। आप भिक्षु होकर लोक का कल्याण नहीं कर सकते—राजदण्ड से ही आपका कर्त्तव्य पूर्ण होगा। लोक-सेवा छोड़कर आप व्रत-भंग न कीजिये।

सुएनच्वांग—हाँ महाराज ! इस धर्मराज्य का शासन करने के लिए आपको राजमुकुट और दण्ड ग्रहण करना ही पड़ेगा।

राज्यश्री—भाई ! यहाँ त्याग का प्रश्न नहीं है। यह लोक-सेवा है। ऐसा राज्य करने का आदर्श आर्यावर्त की ही उत्तम-श्री है।

[हर्ष नत होकर मुकुट और राजदण्ड ग्रहण करता है]

[जयघोष]

"जय महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन की जय !" "जय देवी राज्यश्री की जय !"

[आलोक—पुष्पवर्षा]

[समवेत स्वर से]

करुणा-कादम्बिनि बरसे !
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।
प्रेम-प्रचार रहे जगतीतल दया-दान दरसे।
मिटे कलह शुभ शान्ति प्रकट हो अचर और चर से।

[यवनिका]

●

विशाख

●

पात्र-परिचय

●

पुरुष-पात्र

नरदेव : काश्मीर का राजा

महापिंगल : राजा का सहचर

सुश्रवा : नागसरदार

विशाख : ब्राह्मण नागरिक

प्रेमानन्द : संन्यासी

सत्यशील : कानीर बिहार का बौद्ध महन्त

स्त्री-पात्र

चन्द्रलेखा : सुश्रवा की कन्या

इरावती . चन्द्रलेखा की बहिन

रमणी : सुश्रवा की बहिन

तरला : महापिंगल की स्त्री

रानी : नरदेव की स्त्री

सरला : गायिका

नाग, भिक्षु, दौवारिक, दासी, सैनिक, प्रहरी इत्यादि ।

●

विशाख

प्रथम अङ्क

प्रथम दृश्य

[स्थान—काश्मीर का एक कुञ्ज, पास ही हरा-भरा खेत, शिला-खण्ड पर बैठा हुआ स्नातक विशाख]

विशाख—(आप ही आप)—

वरुणालय चित्त शान्त था,
अरुणा थी पहली नयी उषा,
तरुणाब्ज अतीत था खिला,
करुणा की मकरन्द वृष्टि थी,
सुषमा वनदेवता बनी--
करती आदर थी अनन्त की,
कल कोकिल कल्पनावरी,
मुद में मंगल गान गा रही,
स्मृतियाँ सब जन्म-जन्म की—
खिलतीं थीं सुमनावली बनी,
वह कौन ? कहाँ ? न ज्ञात था,
मुख में केवल व्यस्त चित्त था।
वह बीत गया अतीत था,
तम-सन्ध्या उसको छिपा गयी,
न भविष्य रहा समीप में—
किसको चञ्चल चित्त सौंप दूँ ?

शैशव ! जब से तेरा साथ छूटा तब से असन्तोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं ने हृदय को घोंसला बना डाला। इन विहंगमों का कलरव मन को शान्त होकर थोड़ी देर भी सोने नहीं देता। यौवन सुख के लिये आता है--यह एक भारी भ्रम है। आशामय भावी सुखों के लिए इसे कठोर कर्मों का संकलन ही कहना होगा। उन्नति के लिए मैं भी पहली दौड़ लगाने चला हूँ। देखूँ, क्या अदृष्ट में है। थोड़ा विश्राम कर लूँ, फिर चलूँगा। [वृक्ष के सहारे टिक जाता है]

[चन्द्रलेखा अपनी बहिन इरावती के साथ मलिन वेश में उसी खेत में आती है, सेम की फलियाँ तोड़ती है, विशाख उसे देखता है]

विशाख—**(मन में)**—ऐसा सुन्दर रूप और वेश ऐसा मलिन !

सलोने अंग पर पट हो मलिन भी रंग लाता है।
कुसुम-रज से ढँका भी हो कमल फिर भी सुहाता है ।।

विधाता की लीला ! ठीक भी है, रत्न मिट्टियों में से ही निकलते हैं। स्वर्ण से जड़ी हुई मञ्जूषाओं ने तो कभी एक भी रत्न उत्पन्न नहीं किया। **(फिर देखकर)** इनकी दरिद्रता ने इन्हें सेम की फलियों पर ही निर्वाह का आदेश किया है।

[फलियाँ तोड़कर वृक्षों के नीचे विश्राम करती हुई दोनों गाती हैं]

चन्द्रलेखा—

सखी री ! सुख किसको है कहते ?
बीत रहा है जीवन सारा केवल दुख ही सहते ।।
करुणा, कान्त कल्पना है बस; दया न पड़ी दिखायी ।
निर्दय जगत—कठोर-हृदय है, और कहीं चल रहते ।।
सखी री ! सुख किसको है कहते ?

विशाख—**(सामने जाकर)**—देवियों ! आप कौन हैं ? क्या कृपा करके बतावेंगी कि आपका दुःख किस प्रकार बाँटा जा सकता है ? सौन्दर्य में सुर-सुन्दरियों को भी लज्जित करनेवाली आप लोग क्यों दुखी है ? और, ये फलियाँ आप क्यों एकत्र कर रही हैं ?

इरावती—**(भयभीत होकर)**—क्षमा कीजिये, मै अब कभी इधर न आऊँगी। दरिद्रता ने विवश किया है इसी से आज सेम की फलियाँ, पेट भरने के लिए, अपने बूढ़े बाप की रक्षा करने के लिए, तोड़ ली हैं। यदि आज्ञा हो तो इन्हें भी रख दूँ।

[सब फलियाँ उछाल देती है]

चन्द्रलेखा—हा निर्दय दैव !

विशाख—डरो मत, डरो मत। मैं इस कानन या क्षेत्र का स्वामी नहीं हूँ। मैं तो एक पथिक हूँ। आप लोगों का शुभ नाम क्या है, परिचय क्या है ?

इरावती—हम दोनों सुश्रवा नाग की कन्यायें है। किसी समय मेरा पिता इस रमण्याटवी प्रदेश का स्वामी था, और तब—सब तरह के सुखों ने हम लोगों के शैशव में साथ दिया था। पर हा !

विशाख—उन बीती बातों को सोच कर हृदय को दुखी न बनाओ। अपना शुभ नाम बताओ।

इरावती—मेरा नाम इरावती है और इस मेरी छोटी बहिन का नाम चन्द्रलेखा है।

विशाख—सच तो—

घने घन-बीच कुछ अवकाश में यह चन्द्रलेखा-सी।
मलिन पट में मनोहर निकष पर हेम-रेखा-सी।

[चन्द्रलेखा लज्जित होती है और हट जाती है]

इरावती—भद्र, हम लोग दारिद्रय-पीड़िता हैं, फिर आप भी उपहास करके अपमानित करते हैं!

विशाख—देवी, क्षमा करना। मेरा अभिप्राय ऐसा कभी नहीं था—**(रुक कर)**—हाँ आप लोगों की यह दशा कैसे हुई?

इरावती—देव! हम नागों की सारी भू-सम्पत्ति हरण करके इस क्षत्रिय राजा ने एक बौद्धमठ में दान कर दिया है!

विशाख—**(स्वगत)**—क्यों न हो, इसी को आजकल धर्म्म कहते हैं। किसी भी प्रकार से उपार्जित धन को धर्म्म मे व्यय करने का अधिकार ही कहाँ है। ऐसों को धर्मात्मा कहें कि दुष्टात्मा! क्योंकि वे यह नही जानते कि दूसरों का गला काट कर कोई धर्मशाला, मठ या मन्दिर बना देने से ही उनका पाप नही धुल जाता है। अच्छा फिर—

इरावती—हम लोग तबसे अन्नहीन, दीन-दशा में, इस कष्टमयी स्थिति में जीवन व्यतीत कर रही है। इन क्षेत्रों का अन्न यदि गिरा पड़ा भी बटोर ले जाती हूँ तो भी डर कर, छिपकर।

विशाख—आप लोगों के पिता से कहाँ भेंट हो सकती है? अभी तो मैं तक्षशिला से पढ़कर लौटा आ रहा हूँ, संसार मे मेरा अभी कुछ समझा हुआ नहीं है। इसलिये व्यवहार की दृष्टि से यदि मेरा कोई प्रश्न अनुचित भी हो तो, देवियो! क्षम्य है।

इरावती—फिर आप क्यों इस पचड़े में पड़ते है?

विशाख—उपाध्याय ने यह उपदेश दिया है कि दुखी की अवश्य सहायता करनी चाहिये। इसलिये मेरी इच्छा है कि मेरी सेवा आप लोगों के सुख के लिये हो।

इरावती—भद्र! आपकी बड़ी दया है किन्तु आप इस झंझट में न पड़ें।

विशाख—**(स्वगत)**—मैं तो कभी न पड़ता यदि इस संसार में पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि में यह चन्द्रलेखा न दिखाई पड़ती। **(प्रकट)**—संसार में रह कर कौन इससे अलग हो सकता है!

चन्द्रलेखा—**(स्वगत)**—धन्य पर-दुःख-कातरता!

इरावती—रमणकह्लद पर मेरे पिता रहते हैं, वहीं आप उनसे मिल सकते हैं। **(बौद्ध महन्त को आते देख)**—यह महन्त बड़ा ही भयानक है। आप इससे सचेत रहियेगा। वह देखिये आ रहा है। अब हम लोग चली जायें, नहीं तो····

विशाख—घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है, आप लोग जायें। मैं अभी कुछ उससे बातचीत करूँगा।

[चन्द्रलेखा और इरावती जाती हैं। बौद्ध भिक्षु का प्रवेश]

महन्त—**(आप-ही-आप)**—ऐसा खेत किसी का भी नहीं है। किन्तु हाँ, जानवरों से बढ़कर उन लोगों से इसकी रक्षा होनी चाहिये जो दो पैर पशु हैं! **(गाता है)**

जीवन भर आनन्द मनावे,
खाये पीये जो कुछ पावे।
लोग कहें छोड़ो यह तृष्णा—लिपट रही है साँपिन कृष्णा,
सुखद बना संसार कुहक है, क्यों छुटकारा पावे।
जननी अपनी हाथों से जब, बालक को ताड़न करती तब
रोकर करुणाप्लुत हो सुत फिर माँ को उसी बुलावे।
उसी तरह से दुख पाकर भी, मानव रोकर या गाकर भी,
संसृति को सर्वस्व मानता, इसमें ही सुख पावे।

विशाख—**(सामने आकर)**—महास्थविर, अभिवादन करता हूँ।

भिक्षु—धर्म-लाभ हो। किन्तु यह तो कहो, इस तरह तुम यहाँ क्यों छिपे हो? मेरा खेत तो····

विशाख—चर नहीं गया, आप घबरायें नहीं।

भिक्षु—नहीं, नहीं; इससे हमारे-जैसे अनेक धार्मिक और निरीह व्यक्तियों का निर्वाह होता है, इसलिए इसकी रक्षा करनी उचित है।

विशाख—आपको यह भूमि किसने दी है? आपका इस पर कैसा अधिकार है?

भिक्षु—**(क्रोध से)**—तू कौन? राजा का साला कि नाती कि घोड़ा; तुझसे मतलब?

विशाख—मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया है कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर और मोटा होने की आवश्यकता नहीं।

भिक्षु—और तुझे है? चला जा सीधे यहाँ से, नहीं तो अभी खेत की चोरी में पकड़ा दूँगा, यह लम्बी-चौड़ी बहस भूल जायेगी। अरे दौड़ो-दौड़ो!

विशाख—**(एक ओर देखकर)**—अरे वह देखो भेड़िया आया!

[भिक्षु घबरा कर गिर पड़ता है और विशाख चला जाता है]

भिक्षु—**(इधर-उधर देखकर उठता हुआ)**—धत्तेरे की! धूर्त बड़ा दुष्ट था। चला गया, नहीं तो मारे डण्डों के, मारे डण्डों के—**(डण्डा पटकता)**—खोपड़ी तोड़ डालता।

[सुश्रवा नाग गाता हुआ आता है]

उठती है लहर—हरी-हरी
पतवार पुरानी, पवन प्रलय का कैसा किये पछेड़ा है
उठती है लहर—हरी-हरी।
निस्तब्ध जगत है, कहीं नही कुछ फिर भी मचा बखेड़ा है
उठती है लहर—हरी हरी।
नक्षत्र नही हैं कुहू निशा में बीच नदी में बेड़ा है
उठती है लहर—हरी-हरी।
'हाँ पार लगेगा घबराओ मत' किसने यह स्वर छेड़ा है ?
उठती है लहर—हरी-हरी।

भिक्षु—ऐ बेड़ा बखेड़ा ! खेत मत रौंद, नहीं तो पैर तोड़ दूंगा।

सुश्रवा—नही महाराज, मैं तो पगडण्डी से जा रहा हूँ।

भिक्षु—मुझी को अन्धा बनाता है !

सुश्रवा—हा दुर्दैव ! यह हमारे पितृ-पितामहों की भूमि थी, उसी पर चलने में यह कदर्थना !

भिक्षु—क्या ! क्या ! क्या ! तेरे पितृ-पितामहों की भूमि थी ? अरे मूर्ख, भूमि किसकी हुई है ? यदि तेरे बाप-दादों की थी तो मेरे भी लकड़दादा, नकड़दादा या किसी खपड़दादा की रही होगी। क्या तू इस पर चल-फिर कर अपना अधिकार जमाना चाहता है ? निकल जा यहाँ से, चला जा—**(उसे ढकेलता है, सुश्रवा गिर कर उठता है)**

सुश्रवा—जब तुमको इतनी तृष्णा है तो फिर मैं तो बाल-बच्चोंवाला गृहस्थ हूँ; यदि मेरे मुँह से दबी हुई आत्मश्लाघा निकल ही पड़ी तो फिर उस पर इतना क्रोध क्यों ? तुम जानते हो, मैं वही सुश्रवा नाग हूँ जिसके आतंक से यह रमणक प्रदेश थर्राता था ! अभी भी तुम्हारे जैसे कीड़ों को मसल डालने के लिये इन वृद्ध बाँहों में कम बल नहीं है।

भिक्षु—**(डरता हुआ भी घुड़क कर)**—चुपचाप चला जा, नही तो कान सीधे कर दिये जायँगे।

सुश्रवा—क्या मैंने कुछ अपराध किया है जो दब कर चला जाऊँ ? ठहर जा, अभी कचूमर निकालता हूँ ?—**(डण्डा उठाता है)**

भिक्षु—**(स्वगत)**—डण्डा तो मेरे पास भी है पर काम गले से लेना चाहिये। **(प्रकट)** अरे दौड़ो, यह मुझे मारता है; कोई विहार में है कि नही ई ई ई ? **(पाँच-सात युवा भिक्षु निकल पड़ते हैं और उस वृद्ध सुश्रवा को पकड़ लेते हैं। दौड़ती हुई चन्द्रलेखा आती है)**

चन्द्रलेखा - मैं तो खोज रही थी, अभी ही घर से निकल पड़े है। जाने दो। क्षमा करो। मुझे मार लो। मेरे बूढ़े पिता को छोड़ दो।

[घुटने के बल बैठ जाती है]

भिक्षु--अर र र, यह कहाँ से आ गई ! छोडो जी, उस बूढ़े को छोड़ दो ! जब यह स्वयं कहती है तो उसे छोड़ दो, इसे ही पकड लो !

[सब भिक्षु आपस में इंगित करते हुए बूढ़े को छोड़ कर चन्द्रलेखा को पकड़ ले जाते हैं। महन्त भी जाता है। सुश्रवा मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है]

दृश्यान्तर

द्वितीय दृश्य

[स्थान—राजद्वार के समीप छोटा-सा उपवन, महापिंगल और विशाख]

महापिंगल—क्यों. हमको जानते हो--हम कौन है ?

विशाख– क्षमा कीजियेगा, अभी तक पूरी जानकारी नही है। फिर भी आप मनुष्य है, इतना तो अवश्य कह सकूँगा।

महापिंगल--मूर्ख महामूर्ख; विदित होता है कि अभी तुम कोरे बछडे हो। पाठशाला का जुआ फेंक कर या तोड-ताडकर भगे हो ! राजसभा के विनय-पाठ तुमको सिखाये नही गये क्या ? बताओ तो तुम्हारा कौन शिक्षक है, उसे अभी शिक्षा दूँगा !

विशाख—मेरे शिक्षक आपकी तरह कोई दुमदार वा उपाधिधारी जीव नही है। उन्ही के यहाँ तुम्हारे ऐसे कोड़ियो पशु, राजमान्य मनुष्य बनाये जाते है।

महापिंगल--मै उन महाराज की, जिनके यहाँ बुद्धि नाटको के स्वगत की तरह रहती है, आँख, नाक और कान हूँ, तुम नही जानते ?

विशाख--आँख, नाक और कान ? कदापि नही, हाँ चरण वा चरण-रज हो सकते हो।

महापिंगल---चुप रह, क्या बड़-बड़ करता है।

विशाख---धन्य ! ऐसे शब्द मुँह मे निकालना आप ही को आता है। भला कहिए, बुद्धि नाटको के स्वगत की तरह कैसी ?

महापिंगल---जैसे नाटको के पात्र स्वगत जो कहते है, वह दर्शक-समाज वा रंगमञ्च तो सुन लेता है, पर पास खड़ा हुआ दूसरा पात्र नही सुन सकता, उसको भरत बाबा की शपथ है, उसी तरह राजा की बुद्धि, देश-भर का न्याय करती है, पर राजा को न्याय नही सिखा सकती।

विशाख---फिर आप लोगों का कैसे निर्वाह होता है ?

महापिंगल—अरे लण्ठ ! अभी मूर्खता का क, ख, ग, घ, पढ़ रहा है ! तुझे यह पूछना चाहिये कि हमारे ऐसे दुमदारों के बिना बिचारे राजा की क्या स्थिति होती ? वे कैसे रहते ? उठ-बैठ सकते कि नहीं ? उनकी समझ की ज्वाला में आहुति पड़ती कि नहीं ?

विशाख—अस्तु-अस्तु, वही कहिये, वही कहिये।

महापिंगल—महाराज को हमारे ऐसे यदि दो-चार चाटुकार, सामन्त न मिलते तो उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो जाता—और उनकी हाँ-में-हाँ न मिलने से फिर भयानक वात की संग्रहणी हो जाती और निरीह प्रजा से अनेक विधानों से कर न मिलने के कारण उन्हें उपवास करके ही अच्छा होना पड़ता था।

विशाख—**(बात को दूसरे रुख पर ले जाने के लिए)**—मेरा मन गाना सुनना चाहता है।

महापिंगल—तो क्या तुमने यह कोई नाटच-गृह समझ रखा है ?

विशाख—खेद, साहित्य और संगीत तो सुयोग्य नागरिकों को ही आता है। मैंने आपके गाने की बड़ी प्रशंसा सुनी है, इसी से—हाँ।

महापिंगल—**(प्रसन्न होकर)** तुम रसिक भी हो। अच्छा-अच्छा, सुनाऊँगा, ठहरो, चित्त उसके अनुकूल हो जाय—**(खाँसता है)**

विशाख—**(अलग)**—मुझे तो बच्चा, तुमसे काम निकालना है। **(प्रकट)** चित्त को भी स्वर के साथ मिलाना पड़ता है ' संगीत क्या साधारण....

महापिंगल—तुमने भी कैसी अच्छी संगीत-विज्ञान की बात कही है, वाद्य तो पीछे मिलता है, पहले मन तो मिले।

विशाख—मन मिलने से कण्ठ मिलता है।

महापिंगल—यथार्थ है, क्या कहा—वाह वाह ! अच्छा गाता हूँ—**(खाँसता है)**

[महापिंगल भीषण स्वर में गाता है]

मचा है जग भर में अन्धेर।
उल्टा-सीधा जो कुछ समझा वही हो गया ढेर।
बुद्धि-अन्ध के हाथों जैसे कोई लगी वटेर,
किसी तरह से करो उड़न्छू औरों का धन ढेर।
बक-बक करके चुप कर दो बस चतुर हुए, क्या देर ?
चलती है यह चला करेगी चालें इसकी घेर।
चतुर सयाने किया करेंगे इसमें हेराफेर।
मचा है जग भर में अन्धेर।

विशाख—धन्य धन्य, क्या गाया !

महापिंगल—तुम्हारा सिर ! और क्या ? ऐसा मूर्ख तो देखा नहीं। कहाँ से यहाँ चला आया; निकल जा यहाँ से ! कोई है ?

विशाख—क्षमा हो, मुझसे अपराध क्या हुआ ? मैं तो एक क्षुद्र-जीव आपका शरणागत हूँ।

महापिंगल—हाँ बच्चा ! अब तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। बड़े लोगों का चित्त अव्यवस्थित रहता है, वह अपना भूला हुआ क्रोध कभी अचानक ध्यान कर लेने पर, इसी तरह बिगड़ बैठते हैं। उस समय उनकी बातों से इसी तरह ठण्डा करना चाहिये। अब तुमको राजा का दर्शन मिलेगा।

विशाख—(अलग)—हे भगवान्, तो क्या ये आदमी भी काटनेवाले कुत्तों से कम हैं ! उनको क्रोध का रोग होता है या अभिमान और गर्व दिखलाने का यह बहाना है ? (प्रकट) श्रीमन् कब ?

महापिंगल—अच्छा फिर कभी आना। क्या राजा लोग इस तरह शीघ्र किसी से भेंट करते हैं। हाँ तुम्हारा अभीष्ट क्या है ? सो तो कहो।

विशाख—कुछ नही, एक सुन्दरी की कुछ करुण कथा निवेदन करनी है। उसके दुःख-मोचन की प्रार्थना है।

महापिंगल—क्या विरह-निवेदन ! तब तो महाराज से तुम्हें शीघ्र मिला दूंगा। किन्तु गड़बड़ बातें न कहना।

विशाख—श्रीमान् राज-सहचर हैं। बौद्ध साधु की कुकर्म-कथा राजा के कानों तक पहुँचाना मेरा अभीष्ट है, उसने एक सुन्दरी को अपने मठ में बन्द कर रक्खा है।

महापिंगल—सुन्दरी और साधु का सरस प्रयोग है—साधु वर्ण विन्यास है, सु····सा··· साहित्य का सुन्दर समावेश है। फिर तुम्हारे-से अरसिक उसमें गड़बड़ क्यों मचाना चाहते हे ?

विशाख—श्रीमन् ! आपके कानों ने आपकी बुद्धि को मूर्ख बनाया है। साधु ने सुन्दरी को पकड़ मँगाया है, कुछ सुन्दरी ने साधुता नही ग्रहण की है।

महापिंगल—सत्य है क्या ? बौद्ध भिक्षु होकर अपने मठ में उसने स्त्री रख ली है !

विशाख—वे तो उसे मठ नही, विहार कहते हैं !

महापिंगल—अच्छा चलो, तुम्हे राजा से मिलाता हूँ।

दृश्यान्तर

तृतीय दृश्य

[स्थान—राज-सभा; महाराज नरदेव सिंहासनासीन हैं। नर्त्तकी नाचती और गाती है]

कुञ्ज में वंशी बजती है !
स्वर में खिचा जा रहा मन, क्यों बुद्धि बरजती है,
सन्ध्या रागमयी—तानों का भूषण सजती है,
दौड़ चलूं, देखूं लज्जा अब मुझको तजती है,
कुञ्ज में वंशी बजती है !

नरदेव—वाह वाह ? कुछ और गाओ —

[नर्त्तकी नमस्कार करके फिर गाती है]

आज मधु पी ले, यौवन वसन्त खिला !
शीतल निभृत प्रभात में, बैठ हृदय के कुञ्ज,
कोकिल कलरव कर रहा, बरसाता सुख पुञ्ज,
देख मञ्जरित रसाल हिला ?
आज मधु पी ले, यौवन वसन्त खिला ?
चन्दन-वन की छाँह में, चलकर मन्द समीर,
अब मेरा निःश्वास हो, करता किसे अधीर,
मधुप क्यों मञ्जु मुकुल से मिला ?
आज मधु पी ले, यौवन वसन्त खिला !

नरदेव—प्रतिहारी ! इन्हें पुरस्कार दिलाओ।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। **(नर्त्तकी जाती है)**

नरदेव—आज महापिंगल दिखाई नहीं देता है, कहाँ है ?

सभासद—महाराज, आज उसके यहाँ प्रीति-भोज है। हम सबों का न्योता है। उसी में व्यस्त होगा।

महापिंगल—**(दौड़ा हुआ आता है)**—दोहाई महाराज, झूठ बिल्कुल झूठ ! यह सब हमारा घर खा डालना चाहते है। लम्बी-चौड़ी प्रशंसा करके, तुम्हारे नाम जो है सो, सब खा गये। और न्योता सिर पर। हम बुलायें या नहीं, ये सब आप ही नाई बनकर अपने को न्योंत लेते हैं।

सभासद—पृथ्वीनाथ ! यह बड़ा कंजूस है। नित्य कहता है कि आज खिलायेंगे, कल खिलायेंगे, कभी इसने हाथ भी न धुलाया।

महापिंगल—कोई है जी, लाओ पानी, इनका हाथ धुला दो, तनिक मुँह तो देखो, पहले उसे धो लो ! कहीं से माल उठा लाये हैं, जो है सो तुम्हारे नाम,

खिलाओ! खिलाओ! और जब खा-पी चुके तब बड़े भारी शास्त्री की तरह आलोचना करने लगे। उसमें नमक विशेष था, खीर में मीठा कुछ फीका था। लड्डू गीला था, ऐं?

सभासद—वह तो जब हम लोग सन्ध्या को पहुँचेंगे तब मालूम होगा?

महापिंगल—अरे बाबा तुम्हें प्रीति-भोज ही लेना है तो उन मालदार महन्तों के यहाँ क्यों नहीं जाते, जहाँ नित्य मालपुआ और लड्डू बना करते हैं। यदि कुत्ते की तरह बाहर भी बैठे रहोगे, तो जूठी पत्तलों से पेट भर जायगा।

सभासद—तुम बड़े असभ्य हो!

महापिंगल—और यह बड़े सभ्य हैं, जो बिना बुलाये भोजन करने को प्रस्तुत हैं। जाओ-जाओ, बड़े-बड़े विहारों में यदि तुम मिट्टी फेंकते तो भी तुम लड्डू के लिए लालायित न रहते।

नरदेव—आज तो बौद्ध महन्त और विहारों के पीछे बहुत पड़ रहे हो! कुशल तो है?

महापिंगल—महाराज! अब तो मैं तपस्या करूँगा कि यदि पुनर्जन्म हो, तो मैं किसी विहार का महन्त होऊँ। राज-कर से मुक्त, अच्छी खासी जमीदारी, बड़े-बड़े लोग सिर झुकावे और चेली लोग पैर दबावें, तुम्हारे नाम जो है सो।

नरदेव—चुप मूर्ख! भिक्षुओं के साथ हँसी ठीक नहीं, वे पूजनीय हैं।

महापिंगल—क्षमा हो पृथ्वीनाथ, उसी झगड़े मे देर हुई है। अभी उनकी साधुता का सुन्दर नमूना ड्योढ़ी पर है। यदि आज्ञा हो तो बुलाऊँ।

नरदेव—क्यों कोई आया है?

महापिगल—हाँ, दुःखी विनती सुनाने आया है।

नरदेव—उसे बुलाओ।

महापिंगल—जो आज्ञा—(जाता है, विशाख को लेकर आता है)

विशाख—जय हो देव! राज्य-श्री बढ़े! प्रजा का कल्याण हो।

नरदेव—प्रणाम ब्राह्मण देवता—कहिये क्या काम है?

विशाख—राजन्! पुण्य को पाप न होने देना, आप ही से प्रबल प्रतापी नरेश का कर्त्तव्य है।

नरदेव—उसका अर्थ सविस्तार कहिये।

विशाख—कानीर विहार का बौद्ध महन्त जिसे राज्य की ओर से बहुत-सी सम्पत्ति मिली है, प्रमादी हो गया है। दीन-दुखियों की कुछ नहीं सुनता—मोटे निठल्लों को एकत्र कर के विहार में विहार कर रहा है। एक दरिद्र नाग की कन्या को अकारण पकड़ कर अपने मठ में बन्द कर रक्खा है। उसका वृद्ध पिता दुखी होकर द्वार-द्वार विलाप कर रहा है।

नरदेव—क्या ? मेरे राज्य में ऐसा अन्याय और सो भी राजधानी के समीप ही ! भला वह किसकी कन्या है ?

विशाख—पृथ्वीनाथ, सुश्रवा नाग की। उसी की भूमि अपहृत करके—आपके स्वर्गीय पिता ने विहार में दान कर दिया था।

मन्त्री—चुप मूर्ख, राज-सभा में तुझे बोलना नहीं आता, अपहृत कैसी ? भूमि का अधिपति तो राजा है, वह जब जिसे चाहे दे सकता है।

विशाख—क्षमा मन्त्रिवर ! क्षमा ! बोलना तो आता है; परन्तु क्या राजसभा में सत्य उपेक्षित रहता है ? यदि ऐसा हो, तो हम क्षम्य हैं। क्योंकि, हम अभी गुरुकुल से निकले हैं, राज-व्यवहार से अनभिज्ञ हैं।

नरदेव—बस ब्राह्मणदेव पर्याप्त हुआ **(मन्त्री से)** क्यों मन्त्रिवर ! क्या यही प्रबन्ध राज्य का है ? खेद की बात है। अभी इस ब्राह्मण की बातों की खोज जाय, और गुप्त रीति से। देखो आलस न हो ! हम स्वयं इसका न्याय करेंगे।

महापिंगल—स्वामी ये भी तो 'ग्राम कण्टक' है। इनकी अवश्य खोज लेनी चाहिये। शास्त्र मे लिखा भी है 'कण्टकेनैव कण्टकं' जो है सो।

नरदेव—चुप रहो, तुम्हारी बाते अच्छी नही लगती। मन्त्री शीघ्र प्रबन्ध करो, बस जाओ।"

[मन्त्री और विशाख तथा महापिंगल जाते हैं]

दृश्यान्तर

चतुर्थ दृश्य

(स्थान—विहार के समीप का पथ)

(एक रँगीला साधु गाता हुआ आता है)

साधु—

तू खोजता किसे, अरे आनन्दरूप है।
उस प्रेम के प्रभाव ने पागल बना दिया।
सब को ममत्त्व मोह का आसव पिला दिया॥
अपने पर आप मर रहा यह भ्रम अनूप है॥
यह सत्य यही स्वर्ग यही पुण्य-घोष है।
सत्कर्म कर्मयोग यही विश्व कोश है॥
किसने कहा कि झूठ है संसार कूप है॥
सेवा, परोपकार, प्रेम सत्य कल्पना।
इनके नियम अमोघ और झूठ जल्पना॥
हो शान्ति की सत्ता वही शक्ति-स्वरूप है॥

आसक्ति अन्य पर न किसी अन्य के लिये।
उसका ममत्व घूम रहा चेतना लिये॥
सर्वस्व उसी का वही सब का स्वरूप है॥
वह है कि नहीं है? विचित्र प्रश्न मत करो।
इस विश्व दयासिन्धु बीच सन्तरण करो॥
वह और कुछ नहीं, विशाल विश्व-रूप है;
तू खोजता किसे अरे आनन्दरूप है॥

भिक्षु—(विहार से निकल कर)—वन्दे!

साधु—स्वस्ति! आनन्द! कहो जी, इस विहार का क्या नाम है और इसके स्थविर कौन हैं?

भिक्षु—महाशय, आर्य सत्यशील इस विहार के स्थविर हैं और कानीर विहार इसका नाम है।

साधु—वाह, क्या यहाँ आतिथ्य के लिए भी कोई प्रबन्ध है? क्या कोई श्रमण अतिथि रूप से यहाँ थोड़ा विश्राम कर सकता है?

भिक्षु—आर्य, आपका शुभ नाम सुनूं, फिर जाकर स्थविर से निवेदन करूँ।

साधु—कह देना कि प्रेमानन्द आया है।

[भिक्षु भीतर जाकर लौट आता है]

भिक्षु—चलिये, आतिथ्य के लिए हम लोग प्रस्तुत हैं।

[बड़बड़ाता हुआ विशाख आता है]

विशाख—(आप ही)—सिर घुटाते ही ओले पड़े। कोई चिन्ता नहीं। इसी में तो आना था। झञ्झट जितनी जल्द आवे—आवे चली जावे तो अच्छा! अच्छा हम जो इस पचड़े में पड़े तो हमको क्या? परोपकार! ना बाबा! झूठ बोलना पाप है। चन्द्रलेखा को यदि न देखता तो सम्भव है कि यह धर्म-भाव न जगता। मैंने सुना है कि मेरे गुरुदेव श्री प्रेमानन्दजी आये हैं और इसी अधर्म विहार में ठहरे हैं। वह भिक्षु तो मुझे देखते काटने को दौड़ेगा; फिर भी कुछ चिन्ता नहीं, गुरुदेव का तो दर्शन अवश्य करूँगा (उच्च स्वर में) अजी यहाँ कौन है?

भिक्षु—(बाहर निकल कर) क्या है जी, क्या कोलाहल मचाया है?

विशाख—गुरुजी यहाँ पधारे हैं, मैं उनका दर्शन करना चाहता हूँ।

भिक्षु—कौन? तुम्हारे गुरुजी कौन है; एक प्रेमानन्द नाम का संन्यासी आया है। क्या वही तो तुम्हारा गुरु नहीं है?

विशाख—क्या तुम उसी स्थविर के चेले हो, जिसने कि एक अनूढ़ा कन्या को पकड़ कर रक्खा है?

भिक्षु—क्या तुम झगड़ा करने आये हो ?

विशाख—क्या तुमको शील और विनय की शिक्षा नहीं मिली है ?

भिक्षु—अशिष्ट पुरुषों के लिये अन्य प्रकार का शिष्टाचार है। और अब तुम यहाँ से सीधे चले जाओ, इसी में तुम्हारी भलाई है ?

विशाख—बस ! मिट्टी के बर्तन थोड़ी ही आँच में तड़क जाते हैं। नये पशु एक ही प्रहार में भड़क जाते हैं। यह राजपथ है, यहाँ से हटाने का तुम्हें अधिकार नहीं है। बस अब तुम्हीं अपने विहार-बिल में घुस जाओ !

भिक्षु—(**कमर बाँधता हुआ**) तो क्या तुम नही जाओगे ?

विशाख—समझ लो, कही गाँठ पड़ जायगी तो कमर न खुलेगी, और तुम्हें ही व्यथा होगी (**हँसता है**)।

[सत्यशील और प्रेमानन्द निकल पड़ते हैं]

सत्यशील—क्या है ? क्यों झगड़ते हो ? (**विशाख को देखता है**)

प्रेमानन्द—विशाख ! यह क्या है ? (**विशाख अभिवादन करता है**)

विशाख—गुरुदेव, आपका यहाँ आना सुनकर मैं भी चला आया।

प्रेमानन्द—क्या तुम अभी अपने घर नही गये ?

विशाख—गुरुकुल से निकलते ही कर्त्तव्य सामने मिला। आपकी आज्ञा थी कि सेवा, परोपकार और दुखी की सहायता मनुष्य के प्रधान कर्त्तव्य है।

प्रेमानन्द—भला ! तुम्हारे कार्य का विवरण तो सुनूं।

विशाख—मुझे कहते संकोच होता है।

प्रेमानन्द—नही। संकोच की क्या आवश्यकता है, स्पष्ट कह सकते हो।

विशाख—आपने जिनका आतिथ्य ग्रहण किया है, इन्ही महात्मा ने एक कुटुम्ब को बड़ा दुखी बनाया है, और उसकी कन्या को अपने विहार में बन्द कर रक्खा है।

प्रेमानन्द—सत्यशील, क्या यह सत्य है ?

सत्यशील—तुम कौन होते हो। अजी तुमने किस संघ मे उपसम्पदा ग्रहण की है ? केवल सिर घुटा लेने से ही श्रमण नही होता, हाँ। पहले अपनी तो कहो, तुम्हें प्रश्न करने का क्या अधिकार है ? क्या आतिथ्य का यही प्रतिकार है ? बस चले जाओ सीधे, हाँ !

प्रेमानन्द—मैं शाश्वत संघ का अनुयायी हूँ। प्रेम की सत्ता को संसार में जगाना मेरा कर्त्तव्य है। तो भी संसारी नियम, जिसमें समाज का सामंजस्य बना रहे, पालनीय हैं, और तुम उससे उपेक्षा दिखलाते हो। क्या तुम उस कन्या को न छोड़ दोगे ? क्या धर्म की आड़ में प्रभूत पाप बटोरोगे ?

सत्यशील—तुम्हें यहाँ से जाना है या नहीं ?

विशाख—गुरुदेव सहनशीलता की भी सीमा होती है। अब आप इस पाखण्डी से बात न कीजिये। घड़ा भर गया है ! स्वतः फूटेगा।

प्रेमानन्द—मना आनन्द मत, कोई दुखी है।
सुखी संसार है तो तू सुखी है॥
न कर तू गर्व औरों को दवा कर।
कठिनता से दबाकर तू दुखी है॥

—बस चले जाओ। अपने विहार में विहार करो। किन्तु यह ध्यान रखना, तुम्हें इसका प्रतिफल मिलेगा।

सत्यशील—भला, भला ! बहुत-सा देखा है।

[सत्यशील और भिक्षु जाते हैं]

प्रेमानन्द—बेटा विशाख ! तुम अब कहाँ जाओगे ?

विशाख—गुरुदेव ! कृपा कर बतलाइये कि आप यहाँ कैसे ? मुझे जहाँ आज्ञा मिलेगी वही जाऊँगा !

प्रेमानन्द—**(कुछ विचार कर)**—ठीक है, तेरा मार्ग भिन्न है, तुझे आवश्यकता है। जब तक सुख भोग कर चित्त को उनसे नही उपराम होता, मनुष्य पूर्ण वैराग्य नहीं पाता है। तुझे कर्मयोग के व्यावहारिक रूप का ही अनुकरण करना चाहिये।

विशाख—भगवन्, सुख भोग कर भी बहुत लोग उससे नही घबराते है और शान्ति को नही पाते है ?

प्रेमानन्द—और यह भी देखा गया है कि बिना कुछ भी सुख किये, किशोर अवस्था में ही कितनों को पूर्ण शान्तिमय वैराग्य हो जाता है। इसका कारण केवल संस्कार है। इसलिये वैराग्य अनुकरण करने की वस्तु नही, जब वह अन्तरात्मा में विकसित हो, जब उलझन की गाँठ सुलझ जावे, उसी समय हृदय स्वतः आनन्दमय हो जाता है—

समीर स्पर्श कली को नही खिलाता है।
विकस गयी, खुली, मकरन्द जब कि आता है॥

विशाख—देव ! फिर परिश्रम की कोई आवश्यकता नही। वह तो जब आने को होगा, आवेगा।

प्रेमानन्द—विशाख उधर देखो; कमल पर भँवरों को—

मधुमत्त मिलिन्द माधुरी,
मधुराका जग कर बिता चुके।
अरविन्द प्रभात में भला,
फिर देता मकरन्द क्यों उन्हे ?

—सन्ध्या के मधु ने रात भर भ्रमरों को आनन्द-जागरण में रखा, सबेरे ही फिर मिला, दिन भर फिर मस्त। हृदय-कमल जब विकसित हो जाता है, तब चेतना बराबर आनन्द मकरन्द पान किया करती है जिसमें नशा टूटने न पावे। सत्कर्म हृदय को विमल बनाता है और हृदय में उच्च वृत्तियाँ स्थान पाने लगती हैं; इसलिये सत्कर्म-कर्मयोग को आदर्श बनाना, आत्मा की उन्नति का मार्ग स्वच्छ और प्रशस्त करना है।

विशाख—फिर क्या आज्ञा है?

प्रेमानन्द—यही कि जब तक शुद्ध-बुद्धि का उदय न हो, तब तक स्वार्थ-प्रेरित होकर भी सत्कर्म करणीय है। तुम्हारा उद्देश्य उत्तम होना चाहिये। जो कर्त्तव्य है उसे निर्भय होकर करो।

विशाख—(चरण पकड़ कर)—वही होगा गुरुदेव! कृपा बनी रहे। हाँ, आपने क्या गुरुकुल छोड़ दिया? अब वहाँ पर कौन है?

प्रेमानन्द—स्थान कभी खाली नही रहते, अब वह सब अच्छा नहीं लगता। परिव्राजक होकर प्रकृति का दर्शन करूँ, यही अभिलाषा है—

घबराना मत इस विचित्र ससार से।
औरो को आतंक न हो अविचार से॥
कमी न हो आनन्द-कोश मे, पूर्ण हो।
वही न चालो में पड कोई चूर्ण हो॥
सीधी राह पकड कर सीधे चले चलो।
छले न जाओ औरों को भी मत छलो॥
निर्बल भी हो, सत्य-पक्ष मत छोड़ना,
शुचिता से इस कुहक-जाल को तोडना॥

[प्रस्थान]

दृश्यान्तर

पंचम दृश्य

[स्थान—संघाराम का एक अंश]

[बन्दिनी चन्द्रलेखा गाती है]

देखी नयनो ने एक झलक, वह छवि की छटा निराली थी।
मधु पीकर मधुप रहे सोये, कमलो मे कुछ-कुछ लाली थी।
सुरभित हाला पी चुके पलक; वह मादकता मतवाली थी।
भोले मुख पर वे खुले अलक, सुख की कपोल पर लाली थी।
देखी नयनों०॥

(स्वगत) हा ! प्रेम का विकास और विपत्ति का परिहास साथ-ही-साथ दोनों उबल पड़े; हृदय में विपत्ति की दारुण ज्वाला जल रही थी, उसी में प्रणय सुधाकर ने शीतलता की वर्षा की, मरुभूमि लहलहा उठी। इस कुत्सित कोठरी में आँख बन्द कर उसी स्वर्ग का आनन्द लेती हूँ। निष्ठुर पाखण्ड ने मुझे कितना प्रलोभन दिया। यदि एक बार देख लेने पाती ! पिताजी तो मुक्त है, इरावती बहिन उनकी सेवा कर लेगी। मैं तो इस दुःख व सुखी जीवन से छुट्टी पाने के लिये प्रस्तुत हूँ।

[घबराये हुए एक भिक्षु का प्रवेश, बाहर कोलाहल]

भिक्षु—भाग चाण्डाली ! तेरे कारण सब सत्यानाश हुआ। निकल ! क्या अब उठा नही जाता ?

चन्द्रलेखा—क्यों, बात क्या है ? क्या अब मै चली जाऊँ ?

भिक्षु—हाँ, हाँ, चली जाओ। अभी जाओ।

[दूसरी ओर से नरदेव और पकड़ा हुआ सत्यशील आता है]

नरदेव—**(चन्द्रलेखा को देखकर आप-ही-आप)** आह ! ऐसा रंग तो मेरे रंगमहल मे भी नही। **(प्रकट)** क्यो सत्यशील, तुम्हारे सत्य और शील का यही न प्रमाण है ?

सत्यशील—नरेश, यह प्रव्रज्या ग्रहण करने आयी है।

चन्द्रलेखा—कभी नही ! यह झूठा है। मेरे बूढे पिता को मारता था, मैं छुड़ाने आयी। बस मुझे ही पकड कर इसने यहाँ बन्द कर रखा है। यह दुराचारी है नरनाथ !

नरदेव—**(स्वगत)**—रूप की सत्ता ही ऐसी है। कौन इससे बच सकता है ? **(प्रकट)**—किन्तु सत्यशील ! तुम तो अधम कीट हो, तुम्हारे लिये यही दण्ड है कि तुम लोगों का अस्तित्व पृथ्वी पर से उठा दिया जाय, नहीं तो तुम लोग बड़ा अन्याय फैलाओगे ! सेनापति ! सब विहारो को—राज्य भर मे जलवा दो।

सेनापति—जो आज्ञा।

नरदेव—इस मिथ्याशील को इसी कोठरी मे बन्द करो, और इस विहार मे भी आग लगवा दो। अभी।

सेनापति—जैसी आज्ञा।

[राजा और चन्द्रलेखा तथा अन्य लोग खड़े होकर आग लगते देखते हैं]

[झपटते हुए प्रेमानन्द और विशाख का प्रवेश]

प्रेमानन्द—राजन् क्रोध से न्याय नही होता। यह क्या अनर्थ कर रहे हो ? धर्म का तुम नाम उठा देना चाहते हो, सो भी उसी की दुहाई देकर ! अन्य विहार व भिक्षुओं ने क्या किया था ?

नरदेव—(हँसकर) आप भी तो ऐसे ही परिव्राजक हैं न। ऐसों को ऐसा ही कड़ा दण्ड देना चाहिये। चुप रहिये।

प्रेमानन्द—मैं वैसा भिक्षु नहीं। राजन्, सत्ता का अपव्यय न करो। सत्ता-शक्तिमानों को निर्बलों की रक्षा के लिए मिली है, औरों को डराने के लिए नहीं। प्रजा के पाप का फल या परिणाम ही न्याय है। तब, राजा को और पाप करके पाप नहीं दबाना चाहिये। न्याय के दोनों ही आदेश हैं, दण्ड और दया। इसलिए शासक के आचरण ऐसे होने चाहिए जिससे प्रजा को उत्तम आदर्श मिले, प्रजा में दया आदि सद्‌गुणों का प्रचार हो।

नरदेव—(सिर झुकाकर)—जैसी आज्ञा।

प्रेमानन्द—यह अपनी आज्ञा बन्द करो कि सब विहार जला दिए जायँ। सुन्दर आराधना की, करुणा की भूमि को नृशंसता-बर्बरता का राज्य न बनाओ। तुम नहीं जानते कि 'यथा राजा तथा प्रजा।'

नरदेव—वैसा ही होगा।

विशाख—हटिये यहाँ से वह देखिये जली हुई दीवार गिरना चाहती है।

[सब लोग हटते हैं। दीवाल गिरती है]

यवनिका

•

द्वितीय अङ्क

प्रथम दृश्य

[स्थान—पहाड़ी झरने के समीप विशाख और चन्द्रलेखा]

विशाख—चन्द्रलेखा! यह कैसा रमणीक प्रदेश है? जी नहीं ऊबता। वनस्थली भी ऐसी मधुरिमामयी होती है, इसका मुझे कभी ध्यान नहीं था। हम लोग क्या सदैव इसी तरह प्रकृति सुन्दर भ्रूभंगी देखते जीवन व्यतीत कर सकेंगे?

चन्द्रलेखा—विशाख! कौन कह सकता है? क्या क्षितिज की सीमा से उठते हुए नीलनीरद खण्ड को देख कर कोई बतला देगा कि यह मधुर फुहारा बरसावेगा कि करकापात करेगा। भविष्य को भगवान् ने बड़ी सावधानी से छिपाया है और उसे आशामय बनाया है।

विशाल—प्रिये! आज मैं भी क्या उस आशामय भविष्य का आनन्द मनाऊँ, हृदय में रसीली वंशी बजाऊँ? क्या मैं····

चन्द्रलेखा—(बात काट कर)—बस, उसे हृदय से उठकर मस्तिष्क तक ही जाने दो, रसना पर लाने में रस नहीं है।

विशाख—(व्याकुल होकर)—मैं कहूँगा—

हृदय की सब व्यथायें मैं कहूँगा।
तुम्हारी झिड़कियाँ सौ-सौ सहूँगा॥
मुझे कहने न दो, फिर चुप रहूँगा।
तुम्हारी प्रेम धारा में बहूँगा॥
हृदय अपना तुम्हीं को दे दिया है।
नहीं; तुमने स्वयं ही ले लिया है॥

चन्द्रलेखा—अब तुम्हीं बताओ कि मैं क्या कहूँ? मुझे तो तुम्हारी तरह कवितायें कण्ठस्थ नहीं! हृदय के इस बनिज-व्यापार को मैं अच्छी तरह नहीं जानती। फिर भी....

विशाल—फिर भी; फिर वही, उतना ही कह दो।

चन्द्रलेखा—यही कि जब तुमसे बात-चीत होने लगती है तब मेरा मन न-जाने कैसा-कैसा करने लगता है। तुम्हारी सब बात स्वीकार कर लेने की इच्छा होती है। तो भी....

विशाख—तो भी! फिर वही तो भी। अरे तो भी क्या?

चन्द्रलेखा—यही कि मुझे अपने बूढ़े बाप की गोद से छीन लिया चाहते हो—यह बड़ी भयानक बात है।

विशाख—तो क्या मैं इतना निष्ठुर हूँ, मुझे तुम्हें कहीं लेकर चला जाना नही है। मैं तो केवल आज्ञा चाहता हूँ कि....

चन्द्रलेखा—(बात काट कर)—कि नहीं!

विशाख—तो अब मैं कुछ न कहूँ। (जाना चाहता है)

चन्द्रलेखा—सुनो तो, कहाँ जा रहे हो?

विशाख—जहाँ भाग्य ले जावे।

चन्द्रलेखा—तब तो तुम बड़े सीधे मनुष्य हो। अच्छा आओ चलो, उस कुंज से कुछ दाड़िम तोड़ लें।

विशाख—(गम्भीर होकर)—नहीं चन्द्रलेखा, परिहास का समय नहीं है। तुम देख रही हो कि समीप ही बड़ी गहरी खाई है और तुम अपनी सहारे की डोरी खींच लिया चाहती हो (सामने दिखाता है)

चन्द्रलेखा—(घबरा कर उसे पकड़ लेती है)—हाँ हाँ, तो क्या तुम उसमें कूद पड़ोगे! ऐसा न करना, मैं तुम्हारी हूँ।

[नेपथ्य से "अन्त को तू गयी"]

चन्द्रलेखा—इरावती बहिन है क्या ?

विशाख—मैंने तो एक दृष्टान्त दिया था। सचमुच तुम तो घबरा गई हो। अच्छा इस घबराहट ने ही मेरा काम कर दिया....

इरावती—(प्रवेश करते)—और इस बेचारी को बेकाम कर दिया।

[चन्द्रलेखा लज्जित होती है]

इरावती—चन्द्रलेखा ! बुआ इधर ही आ रही हैं। वह कुछ कहना चाहती हैं।

[रमणी का प्रवेश]

रमणी—वत्स विशाख ! तुम दोनों का अनुराग देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई। भाई सुश्रवा भी आज ही कल में आने वाले है। राजा नरदेव ने उसकी सारी सम्पत्ति जो विहार से मिली है, लौटा दी है। **(चन्द्रलेखा से)**—बेटी चन्द्रलेखा, मैंने जो तुमसे कहा है उन बातों को कभी न भूलना।

चन्द्रलेखा—बुआ ! आपकी शिक्षा मैं सादर ग्रहण करती हूँ।

[रमणी जाती है। कुछ सखियाँ आती हैं]

पहली—अरी चन्द्रलेखा ! तूने अपना ब्याह भी ठीक कर लिया, हम लोगों को पूछा तक नहीं।

दूसरी—अरी वाह ! इसमें पूछने की कौन-सी बात है। ऐसा तो तू भी करेगी।

तीसरी—अरी ! चल, क्या तेरी ही तरह सब हैं ?

चौथी—तुम सब बड़ी पगली हो ! पहले अभी वर-वधू का स्वागत कर लो। आ इरावती, तू भी हम लोगों के संग आ।

[विशाख और चन्द्रलेखा को घेर कर सब गाती और नाचती हैं]

हिये में चुभ गयी, हाँ ऐसी मधुर मुसकान।
लूट लिया मन, ऐसा चलाया नैन का तीर-कमान॥
भूल गयी चौकड़ी, प्राण में हुआ प्रेम का गान।
मिले दो हृदय, अमल अछूते, दो शरीर इक प्रान॥

दृश्यान्तर

द्वितीय दृश्य

[महापिंगल का घर]

महापिंगल—कौन कहता है कि मैं नी[illegible]र हूँ। प्रेम-रस यदि मेरे रोम-कूपों से निकाला जाय तो चार-चार रहट चलने लगें। अब मैं प्रेम करूँगा ! प्रेम ! अच्छा तो किससे करूँ, सोच-समझ कर करूँ, जिसमें नाम हँसाई न हो। अच्छा वह जो उस

दिन सन्ध्या को वितस्ता के तट पर बाल खोले सुन्दरी बैठी थी। है तो अच्छी, पर बाल उसके झाड़ू की तरह लम्बे थे। ऊँहूँ, वह नहीं। अच्छा वह, हाँ हाँ! परन्तु नहीं, उसकी नाक इतनी लम्बी थी कि सुवा केला की फली समझ कर ठोर चलाने लगे। नहीं-नहीं, वह तो मेरे प्रेम के योग्य नहीं। अच्छा! वह तो ठीक रही, न-न-न, बाप रे! उसकी आँखें देखकर डर लगता है। जैसे किसी ने मार दिया हो और वह निकली पड़ती हों। भाई मुझे तो कोई समझ में नहीं आती। अरे यहाँ कोई है (इधर-उधर देखकर)—कोई नहीं है कि मुझे इस विपत्ति में सलाह दे। इसीलिये तो बड़े आदमी पार्श्वचर रखते हैं (सोचता है)—हा-हा-हा-हा, बुद्धू ही रहे। कहाँ-के-कहाँ दौड़े गये, पर अपना सिर नहीं टटोला। अरे, वह मेरी घरवाली। नहीं-नहीं उसके दोनों नथुने दो भयानक सुरंग के मुँह-से खुले रहते हैं, कभी ऊँघते हुए उसी में न घुस जाऊँ। ना बाबा, हाँ, अब याद आया, धत्तेरे की, उस दिन सुश्रवा नाग के यहाँ जो मैं गया था तो एक चन्द्रलेखा थी, दूसरी कौन थी? वह इरावती, अहा हा, मैं तो प्रेमी हो गया। राजा, चन्द्रलेखा और इरावती पर मैं आसक्त हुआ। हो गया। अब मैं प्रेम करने लगा। तनिक लम्बी-लम्बी साँस तो लूँ। आँखों से आँसू बहाऊँ। प्रिये, प्रियतमे! इस दास....

(लेट जाता है। तरला आकर धौल जमाती है)

तरला—बुढ़ापे में प्रेम की अफीम खाने चला है।

महापिंगल—(घबड़ाकर हाथ जोड़ता हुआ) नही, मैं तो अफीम नही भाँग पीता हूँ। भाँग तो अभी है न?

तरला—पिलाती हूँ। तुझे संखिया घोलकर पिलाती हूँ। कौन निगोड़ी है, जिस पर तुझे बुढ़ापे में मरने का सुख मिलने वाला है।

महापिंगल—(उसी तरह) कोई नही, कोई नहीं, तुम्हारी चञ्चलता की शपथ।

तरला—कोई नहीं। अभी क्या कहते थे बैल के भाई! हम लोगों ने तो कभी दूसरे की ओर हँसकर देखा कि प्रलय मचा, व्यभिचारिणी हुई, और तुम्हारे ऐसे साठ वर्ष के खपट्टों को प्रेम वाले दूध के दाँत जमे।

महापिंगल—(बिगड़ कर) क्या कहा, मैं साठ वर्ष का हूँ। यह मुझे नहीं सहन हो सकता, अभी मेरी मूँछें काली है। आँखों में लाली है। (उँगली पर गिनता हुआ) चालीस पाँच पैंतालिस तीन अड़तालीस वर्ष ग्यारह महीना एक पक्ष एक सप्ताह छः दिन पाँच पहर एक घड़ी सवा दण्ड साढ़े तीन पल का हूँ। तात्पर्य, पचास वर्ष से भी कम से भी कम का हूँ।

तरला—(सफेद बालों का गुच्छा पकड़ कर खींचती हुई) और यह क्या है!

महापिंगल—दुहाई है। मेरे बाल नहीं। ये काले हैं, हां-हां चूना लग गया है। शास्त्र की आज्ञा से अभी मैं ब्याह, प्रेम या और इसी तरह का सब गड़बड़ कर सकता हूं। दुहाई है। मेरे बाल काले हैं।

तरला—चूना लगा है तुम्हारे मुंह में।

[महापिंगल मुँह पोछने लगता है। तरला हँसती है और बाल खींचती है]

महापिंगल—देखो यह हँसी अच्छी नही लगती। छोड़ दो।

तरला—प्रेम करोगे? सहज में?

महापिंगल—अरे, तुम बड़ी मूर्खा हो। वह सब एक स्वांग था। भला राजा-का-सा रूप न धरें तो मिले क्या। अभी तक तुम्हारा चन्द्रहार नहीं बन सका, जब राजा को अपने ढंग का बनाऊँ तब तो काम हो।

तरला—हां, सच तो। मेरा चन्द्रहार लाओ।

महापिंगल—देखो कैसी पिघल गई। गर्म कढ़ाई में घी हो गई। गहने का जब नाम सुना, बस पानी-पानी।

तरला—बातें न बनाओ। लाओ मेरा हार।

महापिंगल—अभी तार लगे तब न हार मिले। तुम तो बीच में ही बिल्ली की तरह रास्ता काटने लगी।

तरला—तब? अब की ला दोगे।

महापिंगल—अच्छा। पर कान में एक बात तो सुन जाओ।

तरला—जाओ, जाओ, मैं नही सुनती।

महापिंगल—तब फिर।

तरला—अच्छा। अच्छा।

[दोनों हाथ मिलाकर गाते हैं]

लगा दो गहने का बाजार।
कुछ है चिन्ता नही और क्या मिले नही आहार
नाक छेद लो, कान छेद लो, किसको अस्वीकार।
सोना-चाँदी उसमे डालो, तब हो पूरा प्यार॥

[दौवारिक का प्रवेश]

दौवारिक—शीघ्र चलिये, महाराज ने बुलाया है।

महापिंगल—अरे हम नही—**(भागता है। उसके पीछे दौवारिक जाता है)**

दृश्यान्तर

तृतीय दृश्य

[राजकीय उद्यान; नरदेव अकेला गाता है]

छाने लगी जगत में सुषमा निराली।
गाने लगी मधुर मंगल कोकिलाली॥
फैला पराग, मलयानिल की बधाई।
देत मिलिन्द कुसुमाकर की दुहाई॥

(स्वगत) यह हृदय ही दूसरा हो गया है या समय ही। मन अकस्मात् एक मनोहर मूर्ति का एकान्त-भक्त होता जा रहा है। चित्त में अलस उदासी विचित्र मादकता फैला रही है। आप-ही-आप चुटीला मन और भी घायल होने के लिये ललच रहा है। कौन है ? प्रतिहारी !

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी—जय हो देव ! क्या आज्ञा है !

नरदेव—महापिंगल को शीघ्र बुलाओ।

प्रतिहारी—जो आज्ञा पृथ्वीनाथ, मन्त्री महोदय बाहर खड़े हैं।

नरदेव—नहीं समय नहीं है। कह दो फिर आवें। तुम जाओ।

[प्रतिहारी सिर झुका कर जाता है]

(स्वगत) जब चित्त को चैन नहीं, एक घड़ी भी अवकाश नही—शान्ति नही, तो ऐसा राज लेकर कोई क्या.करे; केवल अपना सिर पीटना है। वैभव केवल आडम्बर के लिये है। सुख के लिए नही। क्या वह दरिद्र किसान भी जो अपनी प्रिया के गले में बाँह डाल कर पहाड़ी निर्झर के तट पर बैठा होगा, मुझसे सुखी नही है ? किसी भी देश के बुद्धिमान शान्ति के लिए सार्वजनिक नियम बनाते हैं, किन्तु वह क्या सबके व्यवहार में आता है ? जिस प्रतारणा के लिए शासक दण्ड-विधाता है, कभी उन्ही अपराधों को स्वयं करके दण्डनायक भी छिपा लेता है। धींगा-धींगी, और कुछ नहीं। राजा नियम बनाता है. प्रजा उसको व्यवहार में लाती है। उन्हीं नियमों में जनता बँधी रहती है। राजा भी अपने बनाये हुए नियमों में मकड़ी और जाला की तरह मुक्त नही, किन्तु, कभी-कभी उलटा लटक जाता है। उस रमणी को बरजोरी अपने वश में करने के लिए जी मचल रहा है, किन्तु नीति ! नियम !! आह ! हमारा शासन मुझे ही बोझ हो रहा है, मन की यह उच्छृंखलता क्यों है ?

महापिंगल—**(प्रवेश करके)**—क्यों क्या वह बन्दर भाग गया ? अरे कोई दूसरी सिकड़ी लाओ। नही तो अश्वशाला की रखवाली कौन करेगा ?

नरदेव—(हँसता हुआ)—अरे मूर्ख ! बन्दर नहीं भागा है।

महापिंगल—फिर यह विचारों की चौलत्ती क्यों चल रही है ?

नरदेव—दुष्ट ! भला क्या तूने मेरे हृदय को घुड़साल समझ रक्खा है।

महापिंगल—तो फिर और क्या ! संकल्प-विकल्प सुख-दु.ख पाप-पुण्य, दया-क्रोध इत्यादि की जोड़ियाँ इसी घुड़साल में बँधती है।

नरदेव—पर लात तुम्हीं खाते हो। **(हँसता है)**

महापिंगल—और पीड़ा आपको हो रही है ?

नरदेव—सच तो पिंगल ! आज चित्त बड़ा उदास है, कही भी मन नहीं लगता।

महापिंगल—मन बैठे-बैठे चरखे की तरह घूमता है। यदि रथ के चक्के की तरह आप भी घूमने लगिये, फिर तो वह धुरे की तरह स्थिर हो जायेगा।

नरदेव—**(हँस कर)**—तो कहाँ घूमने चलूँ ?

महापिंगल—देव ! मृगया के समान और कौन विनोद है।

नरदेव—विषम-वन की ओर चलूँ ?

महापिंगल—नही, नही, उधर तो फाड़ खाने वाले जन्तु मिलते है। रमण्याटवी की ओर चलिए, जहाँ मेरे खाने योग्य कुछ मिले।

नरदेव—डरपोक। अच्छा उधर ही सही !

महापिंगल—**(अलग)**—बहुत शीघ्र प्रस्तुत हो गये। उधर तो सोंधी बास आती है **(प्रकट)**—अच्छा तो मैं अश्व प्रस्तुत करने को कहता हूँ।

नरदेव—शीघ्र **(महापिंगल जाता है)**—उधर वसन्त की वनश्री भी देखने में आवेगी, साथ ही मनोराज्य की देवी का भी दर्शन होगा। अहा !

[महापिंगल दौड़ता हुआ आता है]

महापिंगल—महाराज ! विनोद यही हो गया। आ गयी, सरला गाना सुनाने आ गयी है। दुहाई है, आज इसका नृत्य देखिये। कल मृगया को चलिये।

नरदेव—अच्छा।

[सरला आती है और गाती है]

मेरे मन को चुरा के कहाँ ले चले।
मेरे प्यारे मुझे क्यों भुला के चले॥
ऐसे जले हम प्रेमानल में जसे नही थे पतंग जले !
प्रीति लता कुम्हिलाई हमारी विषम पवन बन कर क्यों चले।

दृश्यान्तर

चतुर्थ दृश्य

[रमण्याटवी में—विशाख का गृह, चन्द्रलेखा और विशाख]

विशाख—अच्छा तो प्रिये ! अब मैं जाता हूँ। शीघ्र ही लौटकर यह मुखचन्द्र देखूंगा।

चन्द्रलेखा—ना, ना—मैं न जाने दूंगी, तुम्हे कही जाने की क्या आवश्यकता है ? मैं कैसे रहूँगी ?

विशाख—मुझे कमी तो किसी बात की नही है; फिर भी उद्योगहीन मनुष्य शिथिल हो जाता है। उसका चित्त आलसी हो जाता है, इसलिये कुछ थोड़ा भी इधर-उधर कर आऊँगा तो मन भी बहल जायगा और कुछ लाभ भी हो जायगा।

चन्द्रलेखा—क्या इतने ही दिनों मे तुम्हारा मन ऊब गया ? क्या मुझसे घृणा हो गयी ? लाभ; यह तो केवल बहाना है। हा !

विशाख—बस इसी से तो मैं कुछ कहता नही था। क्या मैं भी तुम्हारी तरह बैठा रहूँ ? पर्याप्त सुख तुम्हें देना क्या मेरा कर्त्तव्य नही है ? सुख क्या बिना सम्पत्ति के हो सकता है ? तुम्हे मैं क्या समझाऊँ ?

चन्द्रलेखा—बस-बस रहने दो। मैं तो तुम्हें पाकर अपने सुख मे कोई भी कमी नहीं देखती हूँ—

सुख की सीमा नही सृष्टि में नित्य नये ये बनते हैं।
आवश्यकता जितनी बढ़ जावे उतने रूप बदलते हैं॥
सच्चा सुख, सन्तोष जिसे है उसे विश्व में मिलता है।
पूर्ण काम के मानस में बस शान्ति-सरोरुह खिलता है॥

मुझे तो जीवनधन ! तुम्हें पा जाने पर और किसी की आवश्यकता नही। पर तुम्हारे मन में न जाने कितनी अभिलाषायें है।

विशाख—संसार उन्नति का साथी है, क्या मुझे उससे अलग रहना चाहिये ? क्या इसमें तुम मेरे प्रणय की कमी समझती हो ?

चन्द्रलेखा—मैं क्या जानूं कि संसार क्या चाहता है। मैं तो केवल तुम्हें चाहती हूँ ! मेरे संकीर्ण हृदय में तो इतना स्थान नही कि संसार की बातें आ जायें किन्तु—

अकेली छोड़कर जाने न दूंगी।
प्रणय को तोड़कर जाने न दूंगी॥
तुम्हें इस गेह से जाने न दूंगी।
हृदय को देह से जाने न दूंगी॥

विशाख—तो मुझे क्या करोगी ?

चन्द्रलेखा—प्रियतम !

बनाकर आँख की पुतली तुम्हें।
तुम्हारे साथ मैं खेला करूँगी

विशाख—इस अनुरोध से जीवन सार्थक हुआ। अब तो मेरा ही मन कही नहीं जाना चाहता। अच्छा, तब तक मैं यही थोड़ी दूर टहल आऊँ। क्या तुम भी मेरे साथ चलोगी ?

चन्द्रलेखा—अच्छा, जब तक मैं धान रखवाती हूँ, तब तक तुम आ जाना।

विशाख—अभी आता हूँ। **(जाता है)**

[दूसरी ओर से घोड़ा आकर धान खाने लगता है। चन्द्रलेखा स्वयं उसे हटा देती है। नरदेव और महापिंगल का प्रवेश]

नरदेव—स्वेद से भीगे हुए घोड़े की पीठ पर कैसी सुन्दर सुकुमार कर की छाप थी ? महापिंगल, यही स्थान है न ? अहा—

स्वीकृति प्रेम प्रशस्ति पर कञ्चन कर की छाप।
हमे ज्ञात होती सखे, मिटा हृदय का ताप॥

[महापिंगल चन्द्रलेखा को दिखाता है]

महापिंगल—पर यह तो कहिये आप बिना कहे-सुने किसी के घर में क्यों चले गये ?

नरदेव—इस सुहावने कानन में किसी का घर है, यह जान कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और बिना कहे-सुने ही तो अतिथि आते हैं।

महापिंगल—न-न-न ! आपके-से अतिथि को दूर ही से दण्डवत। **(चन्द्रलेखा की ओर देख कर)**—क्यों सुन्दरी। **(राजा भी उसे देखता है)**

चन्द्रलेखा—**(राजा को पहचान कर नमस्कार करती है)** पृथ्वीनाथ, यह दासी आपसे क्षमा माँगती है। मैंने जाना कि घोड़ा श्रीमान् का हा है।

महापिंगल—हाँ, हाँ, उसे जानने की क्या आवश्यकता थी जिसने धान खाया उसने चपत पाया।

नरदेव—यह तुम्हारा ही घर है ? सुन्दरी !

चन्द्रलेखा—यह झोपड़ी दासी की है। श्रीमान्, यदि मृगया से थके हुए हों तो विश्राम कर लें। मैं आतिथ्य करने के योग्य नही, तब भी दीनों की भेंट फलमूल स्वीकार कीजिये।

महापिंगल—मैं तो हिरन के पीछे चौकड़ी भरते-भरते थक गया हूँ। अब तो बिना कुछ भोजन किये मैं चल नहीं सकता ! जो है सो क्या नाम, एक पग भी।

[बैठ जाता है। चन्द्रलेखा राजा के लिये मंच लाती है। नरदेव भी बैठता है]

नरदेव—तो फिर सुन्दरी ! तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ।

चन्द्रलेखा—(**दूध लाती है**) श्रीमान्, कष्ट क्यों हो ? जो लब्ध पदार्थ हैं उन्हें आदरणीय अतिथि के सामने रखने में मुझे कुछ संकोच नही है, और कृत्रिमता का यहाँ साधन भी नही है।

[राजा और महापिंगल दूध पीते है]

महापिंगल—तृप्त हुआ—अब आशीर्वाद क्या दूँ (**कुछ ठहर कर**) अच्छा तुम राजरानी हो।

चन्द्रलेखा—ब्राह्मण देवता, यह कैसा अन्याय ! आप मुझे शाप न दीजिये। मेरी इस झोपड़ी मे राजमन्दिर से कही बढ़ कर आनन्द है। हमारे नरपति के सुराज्य में हम लोगो को कानन मे भी सुख है।

महापिंगल—ठीक है। खटमल को पुरानी गुदडी मे ही सुख है। राज-सुख क्या सहज लभ्य है ?

चन्द्रलेखा—यह क्या ! प्रलोभन है या परिहास है ?

नरदेव—नही, नही, प्रिये, यह नरदेव सचमुच तुम्हारा दास है।

चन्द्रलेखा—तो क्या मै अपने को अधर्म के पंजे मे समझूँ और नीति को केवल मौखिक कल्पना मान लूँ।

नरदेव—डरो मत, मैं तुम्हारा होकर रहूँगा। क्या मेरी इस प्रार्थना पर तुम न पिघलोगी।

चन्द्रलेखा—राजन् मुझमे अनादृत न हूजिये, बस यहा से चले जाइए।

महापिंगल—अच्छा अच्छा—जो है सो क्या नाम—चलिये महाराज !

[दोनों जाते है]

चन्द्रलेखा—भगवान् ! तूने रूप देकर यह भी झझट लगाया। देखूँ इसका क्या परिणाम होता है। प्राणनाथ से मुझे यह बात न कहनी चाहिये, उनका चित्त और भी चंचल हो जायगा। अब तो एक वही इसमे बचा सकता है। प्रभो ! एक तुम्ही इस दुःख से उबारने मे समर्थ हो। दीनो के पुकार पर तुम्ही तो आते हो। आओगे ? बचाओगे नाथ ! कितना ही दु.ख दो, फिर भी मुझे बिश्वास है कि तुम्ही मुझे उनसे उबारोगे, तुम्ही सुधारोगे, विपद्भञ्जन !—

कार्तिक, कृष्णा कुहू क्रोध से काले कारका भरे हुए,
नीरद जलधि क्षुब्ध हो भीमा प्रकृति, हृदय भय भरे हुए।
खोजा हमने हाथ पकड़ ले साथी कोई नही मिला,
दीप मालिका हुई वही पर तेरी छवि की, प्राण मिला।

दृश्यान्तर

पंचम दृश्य

[एक बौद्ध संन्यासी और नागरिक]

भिक्षु—अमिताभ यह कैसा जनपद है जहाँ भिक्षुओं को देख कर कोई वन्दना भी नही करता, भिक्षा की तो कौन कहे? **(नागरिक को देखकर)** उपासक! धर्मलाभ हो।

नागरिक—मुझे तुम्हारा धर्म नही चाहिये। दया कीजिये, यहाँ से किसी और स्थान को पधारिये।

भिक्षु—क्यो यहाँ पर क्या भगवान् की कृपा नही है? क्या यह उनके करुणाराज्य के बाहर है?

नागरिक—मुझे इन चाटूक्तियों के उत्तर देने का अवकाश नही। भस्मावशेष विहार और भग्नस्तूपों से तुम्हे इसका उत्तर मिलेगा। तुम लोगों को गृहस्थ मोटा बना कर अब अपना अपकार न करावेगे। बढ़ो यहाँ से! **(जाता है)**

भिक्षु—धर्म भी क्या अधर्म हो जाता है? पुण्य क्या पाप मे परिवर्तित होता है? भगवन, यह तुम्हारे धर्मराज की कैसी व्यवस्था है? क्या धर्म मे भी प्रतिघात होता? उसका भी पतन और उत्थान है?

[महापिंगल का प्रवेश]

महापिंगल—एक दिन भीख न मिली और धर्म पर पानी फिर गया, सारी करुणा और विश्वमैत्री कर्पूर हो गयी, क्या श्रमणजी?

भिक्षु—उपासक! बात तो तुम यथार्थ कह रहे हो किन्तु तथागत के धर्म में ऐसी शिथिलता क्यों?

महापिंगल—अजी धर्म जब व्यापार हो गया और उसका कारबार चलने लगा फिर तो उसमे हानि और लाभ दोनो होगा। इसमे चिन्ता क्या है। तुम्हे भोजन की आवश्यकता हो तो चलो मेरे साथ। किन्तु, थोड़ा काम भी करना होगा।

भिक्षु—और यदि मै काम न करूँ तो?

महापिंगल—भोजन न मिलेगा। मेरे ही यहाँ नही, प्रत्युत इस देश-भर में। शीघ्र बोलो; स्वीकार है?

भिक्षु—क्या करना होगा?

महापिंगल—जितने टूटे हुए विहार है उनमे से जिसके चाहो स्थविर बन जाओ।

भिक्षु—परिहास न करो, टूटे विहारों के लिए कोई लंगड़ा भिक्षु खोज लो।

महापिंगल—अजी, राजा प्रसन्न होंगे तो तुम्हारे लिए उसको फिर से बनवा देंगे, किन्तु हाँ, काम करना होगा।

भिक्षु—अभी तो काम भी नहीं समझ में आया।

महापिंगल—रमण्याटवी में एक दम्पति रहते है। स्त्री का नाम है चन्द्रलेखा। वह परम सुन्दरी है, इसी कारण महाराज उसको चाहते है।

भिक्षु—तो इसमें मैं क्या करूँ ?

महापिंगल—चैत्य की पूजा करने जब वह जाती है तब तुम वहाँ के देवता बनकर उसे आज्ञा दो कि वह राजा से प्रेम करे।

भिक्षु—तो फिर क्या होगा ?

महापिंगल—होगा क्या—तुम धर्म-महामात्य होगे और मैं दण्डनायक हूँगा। चन्द्रलेखा रानी होगी।

भिक्षु—और यदि न करूँ ?

महापिंगल—तब तो राज्य-रहस्य जाननेवाला मुण्डित मस्तक लोटन-कबूतर हो जायगा।

भिक्षु—तथागत! यहाँ मैं क्या करूँ ? (कुछ सोच कर) अच्छा मुझे स्वीकार है।

[दोनों जाते हैं]

दृश्यान्तर

सप्तम दृश्य

[अँधेरी रात। स्थान-चैत्य भूमि—प्रेमानन्द वहीं पर बैठा है]

प्रेमानन्द :

मान लूँ क्यों न उसे भगवान ?
नर हो या किन्नर कोई हो निर्बल या बलवान;
किन्तु कोश करुणा का जिसका हो पूरा; दे दान।
मान लूँ क्यों न उसे भगवान ?
विश्व-वेदना का जो सुख से करता है आह्वान,
तृण से त्रायस्त्रिंश तक जिसको समसत्ता का भान।
मान लूँ क्यों न उसे भगवान ?
मोह नहीं है किन्तु प्रेम का करता है सम्मान,
द्वेषी नहीं किसी का, तब सब क्यों न करें गुणगान।
मान लूँ क्यों न उसे भगवान ?

—यह चैत्य है। इसमें बुद्ध का शव-भस्म है। भस्म से ही यह रक्षित है। और भी कितने जीवों का भस्म इसी स्थान पर पहले भी रहा होगा। चीटे यहाँ भी शव को खा गये होंगे। वे ही शव होंगे और फिर वही भस्म होगा, उसी में फिर चीटे होंगे, ऐसा सुन्दर परिणाम संसार का है ! अजी, अब तो मैं यहाँ से इस समय कहीं नहीं जाता। थोड़ी देर तक पड़ा-पड़ा चोरों को धोखा दूंगा, फिर देखा जायगा। इस अँधेरी रात में किसी गृही को क्यों दुःख दूं !

[प्रेमानन्द एक ओर लेट जाता है भिक्षु का प्रवेश]

भिक्षु—भयानक रात है—अभी तो सन्ध्या हुई है, किन्तु विभीषिका ने अपनी काली चादर अच्छी तरह तान ली है। मैं तो यहाँ नही ठहरूँगा, चाहे बधिक सिर भले काट ले, पर यह प्रतिक्षण भय से बीसों बार मरना तो नही अच्छा। कीड़े-मकोड़े से ? ऊँहूँ ! वह विषैले ! जाने दो उनका ध्यान करना भी ठीक नही। फिर भाग चलूं। क्या चन्द्रलेखा आधी रात को आती है ? वह डरती नही, कामिनी है कि डाकिनी ! अच्छा बैठ जाऊँ।

[बैठता है। प्रेमानन्द नाक बजाता है जिसे सुनकर भिक्षु चौंक कर खड़ा हो जाता है]

भिक्षु—नमो तस्स····नमो····न न मैं नहीं भगवतो···भग जाता हूँ (काँपता है, शब्द बन्द होता है, भिक्षु फिर डरता हुआ बैठता है)

प्रेमानन्द—(अलग खड़ा होकर)—देखूं तो यह दुष्ट आज कौन कुकर्म करता है।

[फिर छिप जाता है। भिक्षु काँपता हुआ सूत्र-पाठ करने लगता है। लोमड़ी दौड़ कर निकल जाती है, भिक्षु घबड़ा कर जप-चक्र फेंक उसे मारता है]

प्रेमानन्द—(स्वगत)—वाह, जप-चक्र तो सुदर्शन चक्र का काम दे रहा है ! देखूं इसकी क्या अभिलाषा है।

भिक्षु—(टूटा हुआ जप-चक्र लेकर बैठते हुए)—आज कैसी मूर्खता में हम लगे हैं—यहाँ तो भगवान् लोमड़ी के रूप मे आकर भाग जाते है और मुझे भी भगाना चाहते है; क्या करूँ ? अभी वह नही आयी। जब अपने पहले दिनों में, किसी की आशा में मै अभिसार मे बैठता था, तब इससे भी बढ़ी हुई भयानकता मेरा कुछ नही कर सकती थी; किन्तु अब वह वेग नही रहा, वह बल नही रहा ! नही तो क्या बताऊँ—(अकड़ता है) अच्छा कोई चिन्ता नही, देखा जायगा। अब तो बिना काम किये मैं टलनेवाला नही। (दूर से प्रकाश होता है)—अरे यह क्या —हाँ हाँ, वही चन्द्रलेखा आती है ! छिप जाऊँ ! (चैत्य की दूसरी ओर छिप जाता है)

[हाथ में छोटा-सा दीप लिये चन्द्रलेखा आती है और दीप चैत्य के समीप रख कर नमस्कार करती है]

चन्द्रलेखा—भगवन् ! अपनी कल्याण-कामना के लिए मैं यह दीप प्रति सन्ध्या को जलाती हूँ। करुणासिन्धु ! तुम कामना-विहीन हो, पर मैं अबला स्त्री और गृहस्थ, सुख की आशाओं से लदी हुई—फिर क्योंकर कामना न करूँ ? आप विश्व के उपकार में व्यस्त हैं, किन्तु मेरा यह नव गठित छोटा-सा विश्व मेरे ऊपर निर्भर करता है; चाहे यह मेरा अहंकार ही क्यों न हो, किन्तु मैं इसे त्यागने में असमर्थ हूँ ! मेरा वसन्तमय जीवन है। प्रभो ! इसमें पतझड़ न आने पावे ! मेरा कोमल हृदय छोटे सुख में सन्तुष्ट है, फिर बड़े सुख वाले उसमें क्यों व्याघात डालते है ! क्या उन्हें इतने में भी ईर्ष्या है जो संसार भर का सुख अपनाना चाहते हैं ? इसका क्या उपाय है ! हमारे सम्बल तुम्हीं हो नाथ !

[गाती है]

कर रहे हो नाथ, तुम जब, विश्व-मंगल-कामना,
क्यों रहें चिन्तित हमी, क्यों दुःख का हो सामना ?
क्षुद्र जीवन के लिये, क्यों कष्ट हम इतने सहें—
कर्णधार ! सम्हाल कर, पतवार अपनी थामना।

[नमस्कार करती है और फूल चढ़ाती है]

—आज देर हो गई। नित्य यहाँ पर आती हूँ किन्तु आज-सा हृदय कभी भयभीत नही हुआ। घर तो समीप ही है, चलूँ !

[दीप बुझ जाता है—चन्द्रलेखा त्रस्त होती है। भिक्षु चैत्य की आड़ से बोलता है]

"चन्द्रलेखा, तेरी धर्मवृत्ति देखकर मैं प्रसन्न हुआ।"

[चन्द्रलेखा घुटना टेक देती है]

चन्द्रलेखा—बड़ी कृपा, धन्य भाग्य !

चैत्य की आड़ से—किन्तु मैं तुझे सुख देना चाहता हूँ।

चन्द्रलेखा—भगवान् की करुणा से मैं सुख पाऊँगी।

चैत्य की आड़ से—तू नरदेव की रानी हो जा !

चन्द्रलेखा—(तमक कर) हैं—यहाँ यही भगवान् की वाणी है ? या आप मेरी ? परीक्षा लेना चाहते है। नहीं भगवन्; ऐसी आज्ञा न दीजिये। मैं सन्तुष्ट हूँ।

चैत्य की आड़ से—तुझे होना पड़ेगा।

चन्द्रलेखा—तब तू अवश्य इस चैत्य का कोई दुष्ट अपदेवता है। मैं जाती हूँ, आज से इस राख के टीले पर कभी नहीं आऊँगी !

[जाना चाहती है, भिक्षु बड़ा भयानक गर्जन करता है, चन्द्रलेखा घबड़ा कर गिर पड़ती है]

प्रेमानन्द—**(निकल कर)**—डरो मत, डरो मत; मैं आ गया। **(प्रेमानन्द भिक्षु को पकड़ कर उसका गला दबाता है, वह चिल्लाता है)**—हाय हाय ! यहाँ तो कोई यक्ष है। छोड़ दे, अब मैं ऐसा न करूँगा।

प्रेमानन्द—**(भिक्षु को चन्द्रलेखा के सामने लाता हुआ)**—बेटी ! डरो मत, यह पाखण्ड भिक्षु था। भगवान् किसी को पाप की आज्ञा नही देते, धैर्य धरो।

[तलवार लिये हुए विशाख का प्रवेश]

विशाख –गुरुदेव ! प्रणाम। प्रिये, यह क्या !

प्रेमानन्द—यह दुष्ट भिक्षु चन्द्रलेखा को डरा कर राजकीय प्रलोभन देता था। मैं यही था, चन्द्रलेखा-सी सती का इन्द्र भी अपकार नही कर सकता। किन्तु अब इसे अकेली पूजा को न भेजना।

विशाख—क्यों रे दुष्ट। काट लूं तेरा मुड़ा हुआ सिर !

[तलवार उठाता है, भिक्षु गिर पड़ता है, प्रेमानन्द उसे रोक लेता है]

प्रेमानन्द—क्षमा सर्वोत्तम दण्ड है विशाख !

यवनिका

तृतीय अङ्क

प्रथम दृश्य

[स्थान—वितस्ता का तट, नरदेव और महापिंगल]

नरदेव - पिंगल ! तुम जानते हो कि प्रतिरोध से बड़ी शक्तियाँ रुकती नही प्रत्युत उनका वेग और भी भयानक हो जाता है। वही अवस्था मेरे प्रेम की है। इसने कोमलता के स्थान पर कठोरता का आश्रय लिया है। माधुर्य छोड़ कर भयानक रूप धारण किया है।

महापिंगल—किन्तु मुझे तो प्रेम की जगह यह कोई प्रेत समझ पड़ता है, जो आपके हृदय पर अधिकार जमाये है ?

नरदेव - क्या मेरे प्रेम की तू अवहेलना किया चाहता है ? क्या उसकी परीक्षा लिया चाहता है ? अभी मै उसकी आज्ञा से, यह अपनी कटार अपने वक्षस्थल में उतार सकता हूं।

[कटार निकालता है]

महापिंगल—यथार्थ है श्रीमान्, उसे भीतर कीजिये; नही तो मेरी बुद्धि घूमने चली जायगी। अपना हृदय क्या वस्तु है उसकी आज्ञा लिये बिना सहस्रों के हृदय का रक्त यह कटार पी सकती है, और क्या प्रेम इसे कहते हैं। हाँ जी, कुछ ऐसा-वैसा नही, प्रेम भी तो राजाओं का है।

[एक सुन्दर नाव पर रानी का प्रवेश, डाँड़ें चलाने वाली सखियाँ गा रही हैं]

नदी नीर से भरी।

संचित जल ले शैल का, हुई नदी में बाढ़।
मानस में एकत्र था, इधर प्रणय भी गाढ़॥
नेह नाव उतरा चली, लगते हलके डाँड़।
लगती है किस कूल पर, बस्ती है कि उजाड़॥

मेरी स्नेह की तरी।

नरदेव—अहा ! महारानी भी आज इधर आ गयी।

महापिंगल—(धीरे से) भागिये।

महारानी—(नाव से उतर कर) महाराज ! दासी का आगमन कुछ कष्ट-दायक तो नही हुआ ?

नरदेव—भला प्रिये, यह क्या कहती हो !

महापिंगल—सच बोलिये पृथ्वीनाथ !

महारानी—(हँसकर) क्या कहता है पिंगल ?

महापिंगल—जंगल मे मगल।

महारानी—प्राणनाथ ! आज कितने दिनों पर दर्शन हुए।

नरदेव—क्या मैं कही बाहर गया था ?

महारानी—मैं तो अपने को दूर ही समझती हूँ।

महापिंगल—यह रेखागणित का सिद्धान्त तो मेरी समझ में न आया।

महारानी—दूर जब हो गया कही मन से
क्या हुआ तन लगा रहे तन से।
स्वप्न मे सैर सैकड़ों योजन
कर चुका मन, न छू गया तन से॥

नरदेव—(लज्जित होकर) प्रिये, यह क्या कह रही हो !

महारानी—नाथ ! कैसा शोचनीय प्रसंग है कि मै ऐसा कहूँ—

मधुपान कर चुके मधुप, सुमन मुरझाये,
शीतल मलयानिल गया, कौन सिचवाये ?
पत्ते नीरस हो गये सुखा कर डाली,
चलती उपवन में लूह कहाँ हरियाली ?

नरदेव—(हाथ पकड़ कर) प्रिये, तुमको ऐसी बातें न कहनी चाहिये।

महारानी—वही तो मैं चाहती थी, किन्तु प्राणनाथ की कल्याण-कामना मुझे मुखर बनाती है।

नरदेव—क्या मुझसे तुम विशेष बुद्धिमती हो?

महारानी—यह मैंने कब कहा? पर राज्य की व्यवस्था देखिये, कैसी शोचनीय है! आपकी मानसिक अवस्था तो और भी···

नरदेव—बस जाओ, इन बातों को मै सुनना नही चाहता। जी बहलाने के लिये कुछ दिन उपवन में चला आया, यही क्या बड़ा भारी अन्याय हुआ?

[बौद्ध भिक्षु को लिये प्रहरियों का प्रवेश]

भिक्षु—न्याय! न्याय!! मैने क्या किया है, हाय हाय!!

नरदेव—क्या बात है?

प्रहरी—महापिंगलजी ने कहा कि यह भिक्षु राजाज्ञा से कारागार में रक्खा जाय। यह वहाँ नही रहता, अपना सिर पटक कर प्राण देना चाहता है।

महापिंगल—तो तुम लोगों को इस मुड़े हुए सिर के लिए इतनी चिन्ता क्यों है; ले जाओ इसे।

महारानी—भिक्षु का क्या अपराध है?

नरदेव—मैं तो नही जानता, क्यों जी क्या बात है?

भिक्षु—महापिंगल ने मुझे धमकाया कि यदि तुम उस पुराने चैत्य पर जाकर चन्द्रलेखा को डरा करके महाराज से मिलने पर न विवश करोगे तुम शूली पर चढ़ाये जाओगे।

[नरदेव और रानी महापिंगल को देखती हैं, महापिंगल भागना चाहता है]

महारानी—सावधान होकर खड़े रहो। कहो, क्या तुमने महाराज के आदेश से ही यह काम कराया था?

नरदेव—मैने कब इसे कहा···

महापिंगल—महाराज, जब आप इतने व्याकुल हुए कि हाँ···तब मैंने ऐसा प्रबन्ध किया था, जो है सो—

नरदेव—तुम झूठे हो।

महारानी—प्रहरियों, इस भिक्षु को छोड़ दो और महापिंगल को बाँध लो।

[प्रहरी आगे बढ़ते हैं]

महापिंगल—दुहाई! चन्द्रलेखा मुझे नहीं प्यारी थी महाराज! आप बचाइये, नही तो फिर···

नरदेव—प्रिये! उसे जाने दो, वह मूर्ख है।

महारानी—महाराज ! आप देश के राजा हैं और हमारे पति हैं, क्या इसी तरह राज्य रहेगा ? क्या अन्याय का घड़ा नही फूटेगा ? क्या आपको इसका प्रतिफल नही भोगना पड़ेगा ? मान जाइये । ऐसे कुटिल सभासदों का संग छोड़िये । इसे दण्ड पाने दीजिये ।

महापिंगल—दुहाई महाराज ! चन्द्रलेखा के डर से यह मुझे मरवाना चाहती हैं, न्यायवाय कुछ नही ।

नरदेव—(स्वगत) आह चन्द्रलेखा ! (प्रहरियों से) छोडो जी, जाओ तुम लोग !

महापिगल –बडी दया हुई । इसी रानी की सौतिया-डाह से तो वह झिझकती है ।

महारानी—चुप नरक के कीड़े ! तेरी जीभ बिजली से भी चपल है ।

नरदेव—रानी ! तुम अब जाओ, अपने महल मे जाओ ।

महारानी—आपने कुपथ पर पैर रक्खा है और मै आपको बचा न सकी । परिणाम बडा ही भयंकर होने वाला है । वह मैं नही देखना चाहती । किन्तु, कहे जाती हूँ कि अन्याय का राज्य बालू की भीत है । अब मैं रह कर क्या करूँगी, मैं चली, किन्तु सावधान ! (नदी में कूद पड़ती है)

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

[विशाख और चन्द्रलेखा प्रकोष्ठ में]

विशाख—प्रिये, क्या किया जाय ?

चन्द्रलेखा—भगवान ही महाय है । धैर्य धारण करो ।

विशाख—कामान्ध नरपति से रक्षा कैसे होगी ? चलो प्रिये ! हिमवान की बहुत-सी सुरक्षित गुफाये है, प्रकृति के आश्रय मे वही सुख से रहेगे ।

चन्द्रलेखा—मे तो अनुचरी हूँ । किन्तु अब समय कहाँ है, पिताजी को तो समाचार भेज चुकी हूँ ।

विशाख—हाँ, जो विपत्ति में आश्रय है, जो परित्राण है, वही यदि विभीषिकामयी कृत्या का रूप धारण करे तो फिर क्या उपाय है ! राजा के पास प्रजा न्याय कराने के लिये जाती है, किन्तु जब वही अन्याय पर आरूढ़ है तब क्या किया जाय ! (कुछ सोचता है)—कोई चिन्ता नही प्रिये ! डरो मत ।

[महापिंगल का प्रवेश]

महापिंगल—विशाख ! मै तुम्हारी भलाई के लिये कुछ कहना चाहता हूँ ।

विशाख—बस चुप रहो, तुम ऐसे नीचों का मुँह भी देखने में पाप है।

महापिंगल—चन्द्रलेखा को राजा के महल मे जाना ही होगा। क्यों तब और व्यर्थ प्राण जावें।

[विशाख तलवार खींच लेता है]

विशाख—अच्छा सावधान ! इस अपमान का प्रतिफल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जा।

[महापिंगल भागना चाहता है, चन्द्रलेखा बचाना चाहती है, किन्तु विशाख की तलवार उसका प्राण संहार कर देती है]

चन्द्रलेखा—अनर्थ हो गया प्राणनाथ ! यह क्या अब तो भविष्य भयानक होकर स्पष्ट है।

विशाख—मरण जब दीन जीवन से भला हो,
सहे अपमान क्यो फिर इस तरह हम।
मनुज होकर जिया धिक्कार से जो,
कहेगे पशु गया-बीता उसे हम॥

[सैनिकों का प्रवेश। विशाख को घेर लेते है। वह तलवार चलाता हुआ बन्दी होता है। चन्द्रलेखा भी पकड़ ली जाती है]

[सुश्रवा का प्रवेश]

सुश्रवा—यह क्या अनर्थ ?

सैनिक—देखता नही है –राजानुचर महापिंगल का यह शव है। इसी विशाख ने अभी इसकी हत्या की है।

सुश्रवा—क्यो वत्स विशाख ! यह क्या सत्य है ?

विशाख—सत्य है। इसने मेरा अपमान किया और मेरे सामने मेरी स्त्री को प्रलोभन दिया—उसे सामान्य वेश्या से भी नीच समझ लिया !

सैनिक—इसका निर्णय तो महाराज स्वयं करेगे। अब चलो यहाँ से !

सुश्रवा—ठीक तो, किन्तु यह बताओ चन्द्रलेखा ने क्या अपराध किया है—उसे क्यों ले जाते हो ?

चन्द्रलेखा—मुझे जाने दो बाबा ! मै साथ जा रही हूँ। कोई चिन्ता नही।

सैनिक—बूढ़े ! चुप रह। राजाज्ञा के विरुद्ध कुछ नही कर रहे है।

[दोनों को लेकर जाता है। रमणी और इरावती तथा कुछ नागों का प्रवेश]

सुश्रवा—चन्द्रलेखा गई, विशाख भी गया, हा!....

रमणी—आने मे देर हुई, कोई चिन्ता नही।

पहला नाग—देवी ! तब क्या उपाय है ?

दूसरा नाग—चन्द्रलेखा का उद्धार करना ही होगा।

तीसरा नाग—चाहे प्राण भले ही जायँ, इससे पीछे न हटूंगा, जो देवी की आज्ञा हो।

चौथा नाग—तो मैं जाता हूँ और भाइयों को बुलाता हूँ।

रमणी—शीघ्र जाओ।

[प्रेमानन्द का प्रवेश]

प्रेमानन्द—किन्तु क्या अन्याय का प्रतिफल अन्याय है ? क्या राजा मनुष्य नहीं है ? रक्त-मांस का उसका भी शरीर है, फिर क्या उसे भ्रम नही हो सकता ?

रमणी—भ्रम नही, यह स्पष्ट समझ कर किया गया, अन्याय है।

प्रेमानन्द रमणी ! अग्नि मे घी न डालो ! समझ से काम लो।

रमणी—तो हम लोग चुपचाप बैठे ?

इरावती—और, बहिन चन्द्रलेखा को न खोजें ?

प्रेमानन्द—देश की शान्ति भंग करना और निरपराधों को दुख देना—इसमें तुम्हे क्या मिलेगा ? देखो, सावधान हो; इस उत्तेजना राक्षसी के पीछे न पड़ो—एक अपराध के लिए लाखों को दण्ड न दो ! हरी-भरी भूमि के लिये पत्थर वाले बादल न बनो ! अन्यथा पछताओगे।

सुश्रवा-तब क्या करें ?

प्रेमानन्द—सत्य को सामने रक्खो, आत्मबल पर भरोसा रक्खो, न्याय की माँग करो।

सब—अच्छा तो पहले यही किया जाय।

· दृश्यान्तर

तृतीय दृश्य

[तरला का गृह]

भिक्षु—(आप-ही-आप)—जब भिक्षु होने होने पर भी माँगे भीख न मिली; तो हम क्या करे ? ऐ बोलो ! आकाश की स्याही को चन्द्रमा की चाँदनी से कब तक धोया करें ? बिल्ली कब तक छीछटों से अपना जी चुरावे। गड़बड़झाला न करें तो क्या करें। भगवान तुम चाहे कुछ हो, पर संकट के समय कभी काम आ जाते हो, ऐं बोलो, फिर क्यों न तुम्हे मान लेने के लिये जी चाहे। लेकिन हाँ, सब उसी समय तक; फिर, तुम हो—हुआ करो।

अरे बाप रे !—(काँपता है)—जब चन्द्रलेखा का पति तलवार निकाल कर—ओह ! नही, बच गये—बच; अजी हाँ, वह भी बिल्ली की राह काटने वाली सायत

थी। चलो अब तो पौ बारह है—भरा घड़ा मिला है ! चुप, क्या बकता है। अरे निर्भयानन्द, तुझे क्या हो गया है—(सोच कर)—हाँ यह यक्षिणी सोना बनाने वाली। आ तो इस टूटे-फूटे घर मे सोने की पाटी, पन्ने का पावा, चाँदी की चूल्ही और मिट्टी का तावा ? अगड़-बगड़ रगड़-बगड़ साध तो झगड़—(तरला को आते देख आँख मूँद कर बैठ जाता है)

[पोटली लिए हुए तरला का प्रवेश]

तरला—लीजिये महाराज ! यह भिक्षा प्रस्तुत है। दरिद्र की रूखी-सूखी ग्रहण कीजिये। जूठन गिरा कर मेरा घर पवित्र करिये।

भिक्षु—(आँख खोलकर)—उपासिका ! तू आ गई। अहा, कैसी पवित्र मूर्ति है ! तुझे शान्ति मिले। अरे यह क्या लायी, भिक्षा ? नही-नही, तू बडी दुखी है, मैं तेरी भिक्षा नही ग्रहण करूँगा। मै यो ही प्रसन्न हूँ।—(जाना चाहता है)

तरला—(स्वगत)—अहा कैसे महात्मा है--(प्रकट)—भगवान्, मुझसे अवश्य कोई अपराध हुआ, आप रूठे जाते है। दया कीजिये। क्षमा दीजिये।

भिक्षु—नही नही, दरिद्र की भिक्षा सच्चे साधु नही लेते है। तुझे दुःख होगा, अपने [illegible], कोई-न-कोई भगवान् का भक्त मिल ही जायगा। मुझे समाधि में ज्ञात हुआ कि तुझे बडा कष्ट है।

तरला—(रोने लगती है)—भगवान् यह क्या ! आप तो अन्तर्यामी है। आप सत्य कहते हैं—मैं सचमुच ही बडी दुखिया हूँ। अभी थोड़े दिन हुए, मेरे स्वामी किसी दुष्ट के हाथ मारे गये है, और मेरे लिये कुछ जीवन-वृत्ति भी नही छोड़ गये है।

भिक्षु—(स्वगत)—मै जानता हूँ, तू महापिंगल की स्त्री है। उसी दुष्ट ने मेरी दुर्दशा करायी। राजा का सहचर ही था, बड़ा मालदार रहा है। अच्छा—(प्रकट)—विचार था कि तुझे दुःख से बचा लें, किन्तु नही, ऐसा करने से हम विरक्त लोगों को बड़े झगड़े में पड़ना पड़ता है—राज पीछे लग जाते है। —(सोचने का ढोंग करता है)—नही नही, फिर फिर भी दया आती है।

तरला—भगवान्, दया कीजिये, मेरा उपकार कीजिये— मै दासी हूँ !

भिक्षु—एक बार दया कर देने से हल्ला मच जाता है, सभी तग करने लगते हैं कि मुझे भी धनी बना दो। किन्तु तुझ पर तो…

तरला—(स्वगत)—क्या यह सोना बनाना जानते है ? (प्रकट) फिर क्यों नही दया करते ! यह दुखिया भी सुखी होकर आपका गुण-गान करेगी !

भिक्षु—अच्छा, आँख मूँद कर हाथ जोड़, मैं भी देखूँ कि तेरा भाग्य कैसा है। —(तरला वैसा ही करती है)—इचिलु मिचिलु खिचिलु बयुजारे श्वयुनश्वे खिचिटि खिचिटि फट् (ठहरकर)—ठीक है, खोल दे आँख।

तरला—(आँख खोल कर) क्या देखा भगवन् !

भिक्षु—समुद्र की रेत की तरह !

तरला—क्या रेत की तरह ?

भिक्षु—हाँ, रेत की तरह लम्बा-चौड़ा चमकता हुआ उज्ज्वल....

तरला—उज्ज्वल ! क्या उज्ज्वल ?

भिक्षु—(क्रोध से) तेरा--कपाल और क्या ?

तरला - (पैर पकड़ कर)—खुल गये, भाग्य खुल गये !

भिक्षु—(सिर हिलाता है)—खुल गये, अवश्य खुल गये। पर तू सब से कहेगी और मै तंग किया जाऊँगा।

तरला—कभी नही, जो आज्ञा कीजिये।

भिक्षु—(कड़क कर)—अच्छा तो ला फिर जो तेरे पास चाँदी-ताँबा हो। ताँबा-चाँदी हो जाय, चाँदी सोना हो जाय—(ऐंठता हुआ)—चल तो स्वर्णयक्षिणी—हाँ देर न कर !

[तरला घर में जाकर गहने निकाल लाती है। भिक्षु उसे देखकर विचित्र चेष्टा करता है]

भिक्षु—अच्छा, इचिलु, मिचिनु खिचिलु बयुजारे श्वयुनश्वे खिचिट खिचिट फट् स्वर्ण कुरु-कुरु स्वाहा —(गड्ढा दिखा कर)—रख दे इसी मे (रखने पर उसे ढँक देता है)—आँखे बन्द कर हाथ जोड —(तरला वैसे ही करती है। भिक्षु मन्त्र पढ़ता है, वह पढ़ती है)

भिक्षु—अच्छा तो देख।

तरला —देखूँ क्या, आँखें तो बन्द है, खोल दूँ ?

भिक्षु —न न न न न न, ऐसा न करना नही तो सब छू मन्तर !

तरला—तब क्या करूँ ?

भिक्षु—सुन, जब तक हम देवता की पूजा करके ध्यान लगाते है, नैवेद्य चढ़ाते है, समझा न—बोलो कहो।

तरला—बोलो कहो क्या कहूँ !

भिक्षु—चुप रहो, जो मै कहता हूँ वह।

तरला—वही तो।

भिक्षु—नैवेद्य लगाने पर सब एकदम छू मन्तर।

तरला—सब एकदम छू मन्तर ! (सिर हिलाती है)

[भिक्षु पूजा का ढोंग करता है। तरला आँखे बन्द किये है। भिक्षु गड्ढे में से सब निकाल कर बाँधता है]

भिक्षु—उपासिका, मैं इसी चतुष्पथ पर यज्ञ-बलि देकर आता हूँ। तब इसको खोलना होगा। बस सब एकदम छू मन्तर !

तरला—सब छू मन्तर ?

भिक्षु—तब तक आँख न खोलना, नहीं तो सब....

तरला—क्या छू मन्तर ?

भिक्षु—हाँ हाँ, चुप होकर मन्त्र का जप-ध्यान करो।

[तरला 'खिचिट स्वाहा' जपती है। भिक्षु सब लेकर चम्पत हो जाता है। तरला थोड़ी देर बाद आँख खोलती है। गड्ढा खाली देख कर कहती है—'हाय रे सब छू मन्तर !']

[गिर पड़ती है]

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[स्थान—राजदरबार। राजा नरदेव सिंहासन पर। विशाख और चन्द्रलेखा बन्दी के रूप में]

नरदेव—क्यों विशाख ! हमारे उपकारों का क्या यही प्रतिफल है कि तुम मेरा अपमान करते हुए मेरे सहचर की हत्या करो ? तुम्हारा इतना साहस !

विशाख—नहीं जानता हूँ कि उस समय क्या उत्तर दिया जाता है जब कि अभियोग ही उल्टा हो और जो अभियुक्त हो—वही न्यायाधीश हो !

नरदेव—ब्राह्मणत्त्व की भी सीमा होती है, राज्यशासन के वह वहिर्भूत नही है। क्या अपने दण्ड का तुम्हें ध्यान नही है ?

विशाख—न्याय यदि सचमुच दण्ड देता है तो मैं नहीं कह सकता कि हम दोनों में, किसे वह पहिले मिलेगा।

नरदेव—चुप रहो। दौवारिक !

दौवारिक—(प्रवेश करके)—पृथ्वीनाथ ! क्या आज्ञा है ?

नरदेव—इस विशाख ने अपराध स्वीकार किया है। इसका सर्वस्व अपहरण करके इसे केवल राज्य से बाहर कर दो।

चन्द्रलेखा—और मुझे क्या आज्ञा है ?

नरदेव—तुम्हारा विचार फिर होगा।

चन्द्रलेखा—मेरा अपराध ?

नरदेव—मैं सब बातों का उत्तर देने को बाध्य नहीं।

विशाख—तो मैं भी बाहर जाने को बाध्य नहीं।

नरदेव—इतनी धृष्टता! प्रहरी, ले जाओ इसे।

चन्द्रलेखा—मुझे भी।

नरदेव—(क्रुद्ध होकर)—दोनों को ले जाओ, शूली दे दो!

[बाहर कोलाहल होता है]

नरदेव—देखो तो बाहर क्या है!

[एक बाहर जाकर देखकर आता है]

दौवारिक—महाराजधिराज, नाग जाति की एक बडी जनता महाराज से प्रार्थना करने आई है।

नरदेव—उसमे से थोडे लोग यहा आवें।

(दौवारिक जाकर कुछ नाग सरदारों को ले आता है)

नाग—न्याय! न्याय!!

नरदेव—कैसा आतक है! क्यो तुम लोग चिल्ला रहे हो?

सुश्रवा—आपके सैनिको ने मेरी कन्या चन्द्रलेखा और जामाता विशाख को अकारण पकड रखा है, उसे छोड दिजिये।

नरदेव—उसने हत्या की थी। उसके अपराधो का विचार हुआ है कि वह देश से निकाला जाय। इसलिए तुम लोगो को अब उस विषय मे कुछ न बोलना चाहिए।

नाग-रमणी—तो सारे सभासदो और नागरिको के सामने राजा! मै तुम्हे अभियुक्त बनाती हूँ। जो दोष कि एक निरपराध नागरिक को देश-निकाला दे सकता है वही अपराध देखूं तो सत्ताधारी का क्या कर सकता है? क्या तुम चन्द्रलेखा पर आसक्त नही हो, और क्या तुमने एकान्त मे उससे प्रणय-भिक्षा नही की थी? क्या तुम्हारी ओर से प्रेरित होकर महापिंगल नही गया था? क्या अपने पति को छोडकर चन्द्रलेखा से राजरानी बनने का घृणित प्रस्ताव नही किया? बोलो, उत्तर दो।

नरदेव—अभागिनी! क्या तेरी मृत्यु निकट है? क्या स्त्री होने की ढाल तुझे उससे बचा लेगी? अपनी जीभ रोक!

चन्द्रलेखा—यह सब सत्य है कि राजा नरदेव मेरी प्रणय-कामना मे पड कर यह अनर्थ करा रहे है—धर्म की दुहाई!

जनता—अनर्थ! न्याय के नाम पर अत्याचार!! इसका सुविचार होना चाहिये।

नरदेव—क्या तुम लोगो को कुछ विचार नही है कि हम न्यायाधिकरण के सामने है।

जनता—न्यायाधिकरण मे क्या अत्याचार ही होता है? हम अन्यायपूर्ण आज्ञा नही मानेगे।

नरदेव— तुम लोग शान्ति के साथ घर लौट जाओ।

जनता—तो हमें चन्द्रलेखा और विशाख मिल जायें।

नरदेव—कभी नहीं। अपराधी इस तरह नहीं मुक्त हो सकता। नियम यों नहीं भंग किये जा सकते।

जनता—तो हम भी नहीं टलेंगे !

[प्रेमानन्द का प्रवेश]

प्रेमानन्द—राजन्, सावधान ! यह क्या ? बच्चे जब हठ करें तो क्या पिता भी रोष से उन्हीं का अनुकरण करे ? क्या राजा प्रजा का पिता नहीं है जो एक बार उसका मचलना नहीं सम्हाल सकता ?

नरदेव--यह मठ नही है भिक्षु ! तुम्हें यहाँ बोलने का अधिकार नहीं है।

प्रेमानन्द--राजन् ! सुविचार कीजिये।

नरदेव—महादण्डनायक !

दण्डनायक—क्या आज्ञा है महाराज।

नरदेव—इन लोगों को बाहर निकाल दो और चन्द्रलेखा तथा विशाख को अभी शूली न दी जावे।

प्रेमानन्द—उन्हें छोड़ दीजिये। राजन्, प्रजा को सुख दीजिये। क्या आप ही ने इसी एक स्त्री पर अत्याचार होने के कारण सैकड़ों विहार नहीं जलवाये ? क्या वह न्याय दूसरों के लिए ही था ? भगवान् की सर्वहारिणी योगमाया की यह उज्ज्वल सृष्टि है। नरनाथ ! वह तुम्हारा न्याय नही था, न्याय का अभिमान मात्र था। आज तुम वही पाप कर रहे हो ! कैसा रहस्यमय प्रतिघात है। इसी से कहता हूँ कि भगवान् की करुणा ही सबको न्याय देती है। तुम मान जाओ।

नरदेव—चले जाओ संन्यासी, तुम क्यों व्यर्थ अड़ते हो हां ? यह नहीं हो सकता। निकालो जी, इन्हें बाहर करो।

सत्रनाग—तब हम लोगों पर कोई उत्तरदायित्व नहीं, और, बिना विशाख और चन्द्रलेखा को लिये हम नही जायेंगे।

नरदेव—(कड़क कर)—मारो इन दुष्टों को।

[सैनिक प्रहार करते हैं। 'आग आग !'—का हल्ला। नरदेव घबरा कर भीतर भागता है। चन्द्रलेखा और विशाख को लेकर नाग लोग भागते हैं। आग फैल जाती है। अग्नि में से घुसकर प्रेमानन्द राजा को उठा लाता है और पीठ पर लादकर चला जाता]

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[कानन में इरावती का कुटीर]

इरावती—**(प्रवेश करके)**—क्रोध ! प्रतिहिंसा और भयानक रक्तपात ! ! यह क्या सुन रही हूँ भगवन् तुमने चिरकाल से मनुष्य को किस मायाजाल में उलझाया है ! वह अपनी पाशववृत्ति के वशीभूत होकर उपद्रव कर ही बैठता है—सब समझदारी, सारा ज्ञान, समस्त क्रमागत उच्च सिद्धान्त बुल्लों के समान विलीन हो जाते हैं; और उठने लगती हैं भयानक तरंगें ! चन्द्रलेखा को लेकर इतना बड़ा उपद्रव हो जायगा, कौन जानता था। अहा स्नेह, वात्सल्य, सौहार्द, करुणा और दया सब विलीन हो गये—केवल क्रूरता, प्रतिहिंसा का आतंक रह गया। इतना दुःखपूर्ण संसार क्यों बनाया मेरे देव ! यह तुम्हारी ही सृष्टि है—करुणासिन्धु ! मेरे नाथ !

[प्रार्थना करती है]

दीन दुखी न रहे कोई,
सुखी हों सब लोग।
देश समृद्धि प्रपूरित हो—जनता नीरोग,
कूटनीति टूटे जग मे—सबमे सहयोग
भूप प्रजा समदर्शी हों—तजकर सब ढोंग।
दीन दुखी न रहे०

[अचेत नरदेव को लिए प्रेमानन्द का प्रवेश]

इरावती—**(देख कर)**—अहा, घायल है कोई ! और आप महात्मा ! इन्हें ढोकर ले आ रहे हैं—तो क्या मैं भी कोई सेवा कर सकती हूँ ?

प्रेमानन्द—**(नरदेव को लिटाते हुए)**—सेवा करने का सभी को अधिकार है देवि ! इसे थोड़ा-सा दूध चाहिये।

[इरावती जाती है, प्रेमानन्द किसी जड़ी का रस नरदेव के मुँह में टपकाता है वह कुछ चैतन्य होता है। इरावती दूध लाती है]

प्रेमानन्द—अभी तुम्हें बल नहीं है। लो, थोड़ा-सा दूध पी लो—**(इरावती दूध पिलाती है)**

नरदेव—**(स्वस्थ होकर)**—देवदूत ! मेरे अपराध क्षमा कीजिये।

प्रेमानन्द—अपराध ! अपराध तो नरदेव ! एक भी क्षमा नहीं किये जाते और उसी अवस्था में अपराधों से अच्छा फल होता होता है ! सज्जनों के लिए वही उदाहरण हो जाता है। किन्तु तुम्हें तो पूर्ण दण्ड मिला और अब तुम तपाये हुए

सोने की तरह हो गये। अभी तुम्हारी व्यथायें शान्त नहीं हुई, इसलिए तुम लेटो। थोड़ी-सी जड़ी और लाकर तुम्हारे अंगों पर मल दूँ, जिससे तुम पूर्ण स्वस्थ हो जाओ। (जाता है)

नरदेव—हाय हाय, मैंने क्या किया—एक पिशाच-ग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी! मैंने सोचा था कि नदी को अपने बाहुबल से सन्तरण कर जाऊँगा, पर मैं स्वयं बह गया। सत्य है, परमात्मा की सुन्दर सृष्टि को, व्यक्तिगत मानापमान, द्वेष और हिंसा से किसी को भी आलोड़ित करने का अधिकार नहीं है। प्राय: देखा जाता है कि दूसरों के दोष दिखाने वाले घटनाचक्र से जब स्वयं किसी अन्याय को करने लगते हैं तो पशु से भी भयानक हो जाते हैं। न्याय और स्वतन्त्रता के बदले 'घोर आवश्यक' बताने वाले परतन्त्रता के बन्धन का पाश अपने हाथ में लेकर मानवसमाज के सामने प्रकट होते हैं। इसीलिये प्रकृति के दास मनुष्य को—आत्मसंयम, आत्मशासन की पहली आवश्यकता है। नही तो वह प्रमादवश अनर्थ ही करता है····।

प्रेमानन्द—(प्रवेश करके)—ठीक है नरदेव! यह विचार तुम्हारा ठीक है। प्रमाद, आ[illegible], उद्वेग आदि स्वप्न है, अलीक है। किन्तु क्या इसे पहले भी विचार किया था? क्या मानवता का परम उद्देश्य तुम्हारी अविचार-वन्या में नही बह गया था? विचारो, सोचो, फिर राजा होना चाहते हो?

नरदेव—नही भगवन्! अब नही। उस प्रमादी मुकुट को मैं स्वीकार नहीं करूँगा। हृदय मे असीम घृणा है। उसे निकालने दीजिये। गुरुदेव, मैं आपकी शरण हूँ; मुझे फिर से शान्ति दीजिये।

प्रेमानन्द—नरदेव! तुम आज सच्चे राजा हुए। तुम्हारे हृदय पर आज ही तुम्हारा अधिकार हुआ। तुम्हारा स्वराज्य तुम्हे मिला। हृदय राज्य पर जो अधिकार नही कर सका, जो उसमे पूर्ण शान्ति न ला सका, उसका शासन करना एक ढोंग करना है। भगवान् तुम्हारा सार्वत्रिक कल्याण करेंगे।

[चन्द्रलेखा का एक बालक को गोद में लिए हुए आना]

चन्द्रलेखा—महात्मन्! यह बालक राजमन्दिर मे मिला है। उत्तेजित नागों ने इसे राजकुमार समझ कर मार डालना चाहा। पर मैं किसी तरह इसे बचा लायी।

नरदेव—(देखकर)—भगवान्, तू धन्य है, इस प्रकाण्ड दावाग्नि में नन्हीं-सी दूब तेरी शीतलता मे बची रही। मेरे प्यारे बच्चे।

प्रेमानन्द—मूर्तिमती करुणे! तुम्हारा जीवन सफल हो! स्त्री जाति का सुन्दर उदाहरण तुमने दिखाया। नरदेव को मार कर भी तुमने जिलाया।

चन्द्रलेखा—अरे नरदेव····मै तो पहचान भी न सकी····

नरदेव—देवि, क्षमा हो। अधम के अपराध क्षमा हों।

[बच्चे को गोद में लेता है]

चन्द्रलेखा—राजन्, रूप की ज्वाला ने तुम्हें दग्ध कर दिया, कामना ने तुम्हें कलुषित कर दिया, क्या मेरा कुछ इसमें सहयोग था ! नहीं; इस सोने के रंग ने तुम्हारी आँखों में कमल रोग उत्पन्न कर दिया । तुम्हें सर्वत्र चम्पकवर्ण दिखलाई देने लगा । पर क्या यह रंग ठहरेगा । किन्तु इस दुखद घटना का इतिहास साक्षी रहेगा, तुम्हारी दुर्बलता की घोषणा किया करेगा । परमात्मा तुम्हें अब भी शान्ति दे !

विशाख—(प्रवेश करके)—यह क्या, तुम नरदेव हो ? अभी जीवित हो !

प्रेमानन्द—विशाख, वत्स ! प्रतिहिंसा पाशववृत्ति है । नरदेव अब संन्यासी हो गया है । उसे राष्ट्र से कोई काम नहीं । यदि मेरा कहा मानो, तो तुम अपने सज्जनता के हृदय से इन्हें क्षमा कर दो, और इस बालक को ले जाकर प्रजा के अनुकूल राजा बनने की शिक्षा दो । तुम्हें भी कर्म करने के बाद मेरे ही पथ पर शान्ति पाने के लिए आना होगा ।

विशाख—जैसी आज्ञा ।

नरदेव—भाई विशाख, मुझे क्षमा करना ।

विशाख—भगवान् क्षमा करें ।

नरदेव—शान्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये ।

प्रेमानन्द—प्रार्थना करो, तुम्हें शान्ति मिलेगी ।

नरदेव—(हाथ जोड़ कर बैठकर)

हृदय के कोने कोने से
स्वर उठता है कोमल मध्यम, कभी तीव्र होकर भी पंचम,
मन के रोने से ।
इन्दु स्तब्ध होकर अविचल है; भाव नही कुछ वह निर्मल है
हृदय न होने से ।
उसे देख सन्तोष न होता, वह मेघों में छिप कर सोता,
तेजस् खोने से ।
तुम आओ तब अच्छा होगा, हृदय भाव कुछ सच्चा होगा,
तेरे टोने से ।
किन्तु हुआ अब लज्जित हूँ मैं कर्म फलों से सज्जित हूँ मैं,
उनके बोने से ।
आवृत हो अतीत सब मेरा, तूने देखा, सब कुछ मेरा,
पर्दा होने से ।

[यवनिका]

●

अजातशत्रु

•

पात्र-परिचय

बिम्बिसार : मगध का सम्राट्

अजातशत्रु (कुणीक) : मगध का राजकुमार

उदयन : कौशाम्बी का राजा, मगध-सम्राट् का जामाता

प्रसेनजित् : कोसल का राजा

विरुद्धक (शैलेन्द्र) : कोसल का राजकुमार

गौतम : बुद्धदेव

सारिपुत्र : सद्धर्म के आचार्य

आनन्द : गौतम के शिष्य

देवदत्त (भिक्षु) · गौतम बुद्ध का प्रतिद्वन्द्वी

समुद्रदत्त : देवदत्त का शिष्य

जीवक : (कुमारभृत्य) मगध का राजवैद्य

वसन्तक : उदयन की सभा का विदूषक

बन्धुल : कोसल का सेनापति

सुदत्त : कोसल का कोषाध्यक्ष

दीर्घकारायण : सेनापति बन्धुल का भांजा, सहकारी सेनापति

लुब्धक : शिकारी

(काशी का दण्डनायक, अमात्य, दूत, दौवारिक और अनुचरगण)

वासवी : मगध-सम्राट् की बड़ी रानी

छलना (चेल्लना) : मगध सम्राट् की छोटी रानी और राजमाता, लिच्छवि कुमारी

पद्मावती : मगध की राजकुमारी
मागन्धी (श्यामा) : आम्रपाली
वासवदत्ता : उज्जयिनी की राजकुमारी
} उदयन की रानियाँ

शक्तिमती : (महामाया) : शाक्यकुमारी, कोसल की रानी

मल्लिका : सेनापति बन्धुल की पत्नी

बाजिरा : कोसल की राजकुमारी

नवीना : मागन्धी की सेविका

(विजया, सरला, कंचुकी, दासी, नर्त्तकी इत्यादि)

अजातशत्रु

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

[प्रकोष्ठ में अजातशत्रु, पद्मावती, समुद्रदत्त और लुब्धक]

अजातशत्रु—क्यों रे लुब्धक ! आज तू मृगशावक नही लाया ! मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा ?

समुद्रदत्त—कुमार ! यह बडा दुष्ट हो गया हैं। आज कई दिनों से यह मेरी बात सुनता ही नही है।

लुब्धक—कुमार ! हम तो आज्ञाकारी अनुचर है। आज मैंने जब एक मृगशावक को पकडा, तब उसकी माता ने ऐसी करुणा भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा कि उसे छोड़ ही देते बना। अपराध क्षमा हो !

अजातशत्रु—हाँ, तो फिर मैं तुम्हारी चमडी उधेडता हूँ। समुद्र ! ला तो कोडा !

समुद्रदत्त—(कोड़ा लाकर देता है)—लीजिये। इसकी अच्छी पूजा कीजिये।

पद्मावती—(कोड़ा पकड़ कर)—भाई कुणीक ! तुम इतने दिनों में ही बड़े निष्ठुर हो गये। भला उसे क्यो मारते हो ?

अजातशत्रु—उसने मेरी आज्ञा क्यो नही मानी ?

पद्मावती—उसे मैंने ही मना किया था, उसका क्या अपराध ?

समुद्रदत्त—(धीरे से)—तभी तो उसको आज-कल गर्व हो गया है। किसी की बात नही सुनता।

अजातशत्रु—तो इस प्रकार तुम उसे मेरा अपमान करना सिखाती हो ?

पद्मावती—यह मेरा कर्तव्य है कि तुमको अभिशापों से बचाऊँ और अच्छी बातें सिखाऊँ। जा रे लुब्धक, जा, चला जा। कुमार जब मृगया खेलने जायें, तो उनकी सेवा करना। निरीह जीवो को पकड कर निर्दयता सिखाने में सहायक न होना।

अजातशत्रु—यह तुम्हारी बढ़ाबढ़ी मैं सहन नही कर सकता।

पद्मावती—मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यो तो क्रूरता के निदर्शन हिंस्र पशु-जगत में क्या कम है ?

पात्र-परिचय

बिम्बिसार : मगध का सम्राट्
अजातशत्रु (कुणीक) : मगध का राजकुमार
उदयन : कौशाम्बी का राजा, मगध-सम्राट् का जामाता
प्रसेनजित् : कोसल का राजा
विरुद्धक (शैलेन्द्र) : कोसल का राजकुमार
गौतम : बुद्धदेव
सारिपुत्र : सद्धर्म के आचार्य
आनन्द : गौतम के शिष्य
देवदत्त (भिक्षु) : गौतम बुद्ध का प्रतिद्वन्द्वी
समुद्रदत्त : देवदत्त का शिष्य
जीवक : (कुमारभृत्य) मगध का राजवैद्य
वसन्तक : उदयन की सभा का विदूषक
बन्धुल : कोसल का सेनापति
सुदत्त : कोसल का कोषाध्यक्ष
दीर्घकारायण : सेनापति बन्धुल का भांजा, सहकारी सेनापति
लुब्धक : शिकारी

(काशी का दण्डनायक, अमात्य, दूत, दौवारिक और अनुचरगण)

वासवी : मगध-सम्राट् की बड़ी रानी
छलना (चेल्लना) : मगध सम्राट् की छोटी रानी और राजमाता, लिच्छवि कुमारी
पद्मावती : मगध की राजकुमारी
मागन्धी (श्यामा) : आम्रपाली
वासवदत्ता : उज्जयिनी की राजकुमारी
(पद्मावती, मागन्धी, वासवदत्ता — उदयन की रानियाँ)
शक्तिमती : (महामाया) : शाक्यकुमारी, कोसल की रानी
मल्लिका : सेनापति बन्धुल की पत्नी
बाजिरा : कोसल की राजकुमारी
नवीना : मागन्धी की सेविका

(विजया, सरला, कंचुकी, दासी, नर्त्तकी इत्यादि)

अजातशत्रु

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

[प्रकोष्ठ में अजातशत्रु, पद्मावती, समुद्रदत्त और लुब्धक]

अजातशत्रु—क्यों रे लुब्धक ! आज तू मृगशावक नहीं लाया ! मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा ?

समुद्रदत्त—कुमार ! यह बड़ा दुष्ट हो गया है। आज कई दिनों से यह मेरी बात सुनता ही नहीं है।

लुब्धक—कुमार ! हम तो आज्ञाकारी अनुचर हैं। आज मैंने जब एक मृगशावक को पकड़ा, जब उसकी माता ने ऐसी करुणा भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा कि उसे छोड़ ही देते बना। अपराध क्षमा हो !

अजातशत्रु—हाँ, तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र ! ला तो कोड़ा !

समुद्रदत्त—**(कोड़ा लाकर देता है)**—लीजिये। इसकी अच्छी पूजा कीजिये।

पद्मावती—**(कोड़ा पकड़ कर)**—भाई कुणीक ! तुम इतने दिनों में ही बड़े निष्ठुर हो गये। भला उसे क्यों मारते हो ?

अजातशत्रु—उसने मेरी आज्ञा क्यों नही मानी ?

पद्मावती—उसे मैंने ही मना किया था, उसका क्या अपराध ?

समुद्रदत्त—**(धीरे से)**—तभी तो उसको आज-कल गर्व हो गया है। किसी की बात नहीं सुनता।

अजातशत्रु—तो इस प्रकार तुम उसे मेरा अपमान करना सिखाती हो ?

पद्मावती—यह मेरा कर्तव्य है कि तुमको अभिशापों से बचाऊँ और अच्छी बातें सिखाऊँ। जा रे लुब्धक, जा, चला जा। कुमार जब मृगया खेलने जायँ, तो उनकी सेवा करना। निरीह जीवों को पकड़ कर निर्दयता सिखाने में सहायक न होना।

अजातशत्रु—यह तुम्हारी बढ़ाबढ़ी मैं सहन नहीं कर सकता।

पद्मावती—मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शन हिंस्र पशु-जगत में क्या कम हैं ?

समुद्रदत्त—देवि ! करुणा और स्नेह के लिये तो स्त्रियाँ हुई हैं, किन्तु पुरुष भी क्या वही हो जायँ ?

पद्मावती—चुप रहो समुद्र ! क्या क्रूरता ही पुरुषार्थ का परिचय है ? ऐसी चाटूक्तियाँ भावी शासक को नहीं बनाती।

[छलना का प्रवेश]

छलना—पद्मावती ! यह तुम्हारा अविचार है। कुणीक का हृदय छोटी-छोटी बातों मे तोड़ देना उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है।

पद्मावती—माँ, यह क्या कह रही हो ! कुणीक मेरा भाई है, मेरे सुखों की आशा है, मैं उसे कर्तव्य क्यों न बताऊँ ? क्या उसे चाटुकारों की चाल में फँसते देखूँ और कुछ न कहूँ !

छलना—तो क्या तुम उसे बोदा और डरपोक बनाना चाहती हो ? क्या निर्बल हाथों से भी कोई राजदण्ड ग्रहण कर सकता है ?

पद्मावती—माँ क्या कठोर और क्रूर हाथो से ही राज्य सुशासित होता है ? ऐसा विष-वृक्ष लगाना क्या ठीक होगा ? अभी कुणीक किशोर है, यही समय सुशिक्षा का है। बच्चों का हृदय कोमल थाला है, चाहे इसमे कँटीली झाड़ी लगा दो, चाहे फूलों पौधे।

अजातशत्रु—फिर तुमने मेरी आज्ञा क्यों भंग होने दी ? क्या दूसरे अनुचर इसी प्रकार मेरी आज्ञा का तिरस्कार करने का साहस न करेगे ?

छलना—यह कैसी बात ?

अजातशत्रु—मेरे चित्रक के लिए जो मृग आता था, उसे ले आने के लिये लुब्धक रोक दिया गया। आज वह कैसे खेलेगा ?

छलना पद्म ! तू क्या इसकी मंगल-कामना करती है ? इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्दी सीख है ? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा, उसे भिखमंगों का पाठ नही पढाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दण्ड के आधार पर है। क्या तुझे नही मालूम कि वह भी हिंसामूलक है ?

पद्मावती—माँ, क्षमा हो। मेरी समझ मे तो मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।

छलना तू कुटिलता की मूर्ति है। कुणीक को आयोग्य शासक बनाकर उसका राज्य आत्मसात करने के लिए कौशाम्बी से आयी है।

पद्मावती—माँ ! बहुत हुआ, अन्यथा तिरस्कार न करो। मैं आज ही चली जाऊँगी !

[वासवी का प्रवेश]

वासवी—वत्स कुणीक ! कई दिनों से तुमको देखा नही। मेरे मन्दिर में इधर क्यो नही आये ? कुशल तो है ?

[अजात के सिर पर हाथ फेरती है]

अजातशत्रु—नहीं माँ, मैं तुम्हारे यहाँ न आऊँगा, जब तक पद्मा घर न जायगी।

वासवी—क्यों! पद्मा तो तुम्हारी ही बहिन है। उसने क्या अपराध किया है? वह तो बड़ी सीधी लड़की है।

छलना—**(क्रोध से)**—वह सीधी और तुम सीधी! आज से कभी कुणीक तुम्हारे पास न जाने पावेगा, और तुम भी यदि भलाई चाहो तो प्रलोभन न देना।

वासवी—छलना! बहिन! यह क्या कह रही हो? मेरा वत्स कुणीक! प्यारा कुणीक! हा भगवान! मैं उसे देखने न पाऊँगी? मेरा क्या अपराध!

अजातशत्रु—यह पद्मा, बार-बार मुझे अपदस्थ किया चाहती है, और जिस बात को मैं कहता हूँ उसे ही रोक देती है।

वासवी—यह मैं क्या देख रही हूँ। छलना! यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाना चाहती है? राज-परिवार मे क्या सुख अपेक्षित नही है--

बच्चे बच्चे से खेलें, हो स्नेह बढा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उसके जीवन में!
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर?

छलना—यह सब जिन्हें खाने को नही मिलता, उन्हें चाहिये। जो प्रभु हैं, जिन्हे पर्याप्त है, उन्हे किसी की क्या चिन्ता -जो व्यर्थ अपनी आत्मा को दबावें।

वासवी—क्या तुम मेरा भी अपमान किया चाहती हो? पद्मा तो जैसी मेरी, वैसी ही तुम्हारी! उसे कहने का तुम्हे अधिकार है। किन्तु तुम तो मुझ से छोटी हो, शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखा कर बच्चों की क्यों हानि कर रही हो?

छलना—**(स्वगत)**—मैं छोटी हूँ, यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नही है। **(प्रकट)**—छोटी हूँ या बड़ी, किन्तु राजमाता हूँ। अजात को शिक्षा देने का मुझे अधिकार है। उसे राजा होना है। वह भिखमंगो का— जो अकर्मण्य होकर राज्य छोड़ कर दरिद्र हो गये है—उपदेश नही ग्रहण करने पावेगा।

पद्मावती—माँ अब चलो, यहाँ से चलो! नही तो मैं ही जाती हूँ।

वासवी—चलती हूँ बेटी! किन्तु छलना—सावधान! यह असत्य—गर्व मानवसमाज का बड़ा भारी शत्रु है।

[पद्मावती और वासवी जाती हैं]

दृश्यान्तर

द्वितीय दृश्य

[महाराज बिम्बिसार एकाकी बैठे हुए आप-ही-आप कुछ विचार रहे हैं]

बिम्बिसार—आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नीव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरो से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते है, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन संग्राम मे प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड-ताण्डव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अन्धकार की गुफा मे ले जाकर उसका शान्तिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है, किन्तु वह कब मानता है? मनुष्य, व्यर्थ महत्त्व की आकांक्षा मे मरता है, अपनी नीची, किन्तु सुदृढ परिस्थिति मे उसे सन्तोष नही होता, नीचे से ऊँचे चढना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या।

छलना—(**प्रवेश करके**) और नीचे के लोग वही रहे! वे मानो कुछ अधिकार नही रखते? ऊपरवालो का यह क्या अन्याय नही है?

बिम्बिसार—(**चौक कर**) कौन, छलना?

छलना—हाँ महाराज! मैं ही हूँ।

बिम्बिसार—तुम्हारी बात मै नही समझ सका!

छलना—साधारण जीवो मे भी उन्नति की चेष्टा दिखाई देती है महाराज! इसकी किसको चाह नही है। महत्व यह अर्थ नही कि सबको क्षुद्र समझे।

बिम्बिसार—तब?

छलना—यही कि मैं छोटी हूँ इसलिये पटरानी नही हो सकी, और वासवी मुझे इसी बात पर अपदस्थ किया चाहती है।

बिम्बिसार—छलना! यह क्या! तुम तो राजमाता हो। देवी वासवी के लिये थोडा-सा भी सम्मान रक्षित कर लेना तुम्हे विशेष लघु नही बना सकता—उन्होने कभी तुम्हारी अवहेलना भी तो नही की।

छलना—इन भुलावो मे नही आ सकती। महाराज! मेरी धमनियो मे लिच्छवि-रक्त बडी शीघ्रता मे दौडता है। यह नीरव अपमान, यह सांकेतिक घृणा, मुझे सह्य नही, और जब कि खुल कर कुणीक का अपकार किया जा रहा है, तब तो—

बिम्बिसार—ठहरो! तुम्हारा यह अभियोग अन्यायपूर्ण है। क्या इसी कारण तो बेटी पद्मावती नही चली गयी? क्या इसी कारण तो कुणीक मेरी भी आज्ञा सुनने मे आनाकानी नही करने लगा है? कैसा उत्पात मचाया चाहती हो?

छलना—मैं उत्पात रोकना चाहती हूँ। आपको कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।

वासवी—(**प्रवेश करके**) नाथ, मैं भी इससे सहमत हूँ। मैं चाहती हूँ कि यह उत्सव देखकर और आपकी आज्ञा लेकर मैं कोसल जाऊँ। सुदत्त आज आया है, भाई ने मुझे बुलाया भी है।

बिम्बिसार—कौन, देवी वासवी!

वासवी—हाँ महाराज!

कंचुकी—(**प्रवेश करके**)—महाराज! जय हो! भगवान् तथागत गौतम आ रहे हैं।

बिम्बिसार—सादर लिवा लाओ—(**कंचुकी का प्रस्थान**) छलना! हृदय का आवेग कम करो, महाश्रमण के सामने दुर्बलता न प्रकट होने पावे।

[अजात के साथ गौतम का प्रवेश सब नमस्कार करते हैं]

गौतम—कल्याण हो! शान्ति मिले!

बिम्बिसार—भगवन्, आपने पधारकर मुझे अनुगृहीत किया।

गौतम—राजन्! कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता। विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा ही है, जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है—

गोधूली के राग-पटल में स्नेहांचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती॥
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस बूँद भर लाती है॥
निष्ठुर आदि-सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्त्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से॥

बिम्बिसार—करुणामूर्ति! हिंसा से रँगी हुई वसुन्धरा आपके चरणों के स्पर्श से अवश्य ही स्वच्छ हो जायगी। उसकी कलंक-कालिमा धुल जायगी!

गौतम—राजन्, शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है। केवल साक्षी रूप से सब दृश्य देखती है। तब भी, इन सांसारिक झगड़ों में उसका उद्देश्य होता है कि न्याय का पक्ष विजयी हो—यही न्याय का समर्थन है। तटस्थ की यही शुभेच्छा सत्त्व से प्रेरित होकर समस्त सदाचारों की नीव विश्व में स्थापित करती है। यदि वह ऐसा न करे; तो अप्रत्यक्ष रूप से अन्याय का समर्थन हो जाता है—हम विरक्तों को भी इसीलिए राजदर्शन की आवश्यकता हो जाती है।

बिम्बिसार—भगवान् की शान्तिवाणी की धारा प्रलय की नरकाग्नि को भी बुझा देगी। मैं कृतार्थ हुआ।

छलना—(**नीचा सर करके**)—भगवन्! यदि आज्ञा हो, तो मैं जाऊँ।

गौतम—रानी! तुम्हारे पति और देश के सम्राट् के रहते हुए मुझे कोई अधिकार नहीं है कि तुम्हें आज्ञा दूँ। तुम इन्हीं से आज्ञा ले सकती हो।

बिम्बिसार—(घूमकर देखते हुए)—हाँ, छलने ! तुम जा सकती हो; किन्तु कुणीक को न ले जाना, क्योकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है ।

[छलना का क्रोध से प्रस्थान]

गौतम—यह तो मै पहले ही से समझता था, किन्तु छोटी रानी के साथ अन्य लोगों को विचार से काम लेना चाहिये ।

बिम्बिसार—भगवन् ! हम लोगो का क्या अविचार आपने देखा ?

गौतम- शीतल वाणी—मधुर व्यवहार—से क्या वन्य पशु भी वश मे नही हो जाते ? राजन्, संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग है । हृदय में जितना यह घुसता है, उतनी कटार नही । वाक्-संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है । अस्तु, अब मैं तुमसे एक काम की बात कहना चाहता हूँ । क्या तुम मानोगे—क्यों महारानी ?

बिम्बिसार—अवश्य ।

गौतम—तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बना दो और इस भीषण-भोग से कुछ विश्राम लो । क्यों राजकुमार, तुम राज्य का कार्य मन्त्रि-परिषद् की सहायता से चला सकोगे ।

अजातशत्रु—क्यों नही, पिताजी यदि आज्ञा दे ।

गौतम—यह बोझ, जहाँ, तक शीघ्र हो, यदि एक अधिकारी व्यक्ति को सौप दिया जाय, तो मानव को प्रसन्न ही होना चाहिये, क्योकि राजन्, इससे कभी-न-कभी तुम हटाये जाओगे, जैसा विश्व भर का नियम है । फिर यदि तुम उदारता से उसे भोग कर छोड़ दो, तो इसमे क्या दु:ख ?

बिम्बिसार—योग्यता होनी चाहिये महाराज ! यह बड़ा गुरुतर कार्य है । नवीन रक्त राज्यश्री को सदैव तलवार के दर्पण मे देखना चाहता है ।

गौतम—(हँसकर)—ठीक है । किन्तु, काम करने के पहले तो किसी ने भी आज तक विश्वस्त प्रमाण नही दिया कि वह कार्य के योग्य है । यह तुम्हारा बहाना राज्याधिकार की आकांक्षा प्रकट कर रहा है । राजन् ! समझ लो, इस गृह-विवाद और आन्तरिक झगड़ो से विश्राम लो ।

वासवी—भगवन् ! हम लोगो के लिए तो छोटा सा उपवन पर्याप्त है । मैं वही नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी ।

बिम्बिसार—तब जैसी आपकी आज्ञा । (**कंचुकी से**) राज-परिषद् सभागृह में एकत्र हो; कंचुकी ! शीघ्रता करो ।

[कंचुकी का प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

तृतीय दृश्य

[पथ में समुद्रदत्त और देवदत्त]

देवदत्त—वत्स ! मैं तेरी कार्यवाही से प्रसन्न हूँ। हाँ, फिर क्या हुआ—क्या अजात का राज तिलक हो गया ?

समुद्रदत्त—शुभ मुहूर्त में सिंहासन पर बैठना ही शेष है और परिषद् का कार्य तो उनकी देख-रेख में होने लगा। कुशलता से राजकुमार ने कार्यारम्भ किया है, किन्तु गौतम यदि न चाहते तो यह काम सरलता मे न हो सकता।

देवदत्त—फिर उसी ढकोसले वाले ढोंगी की प्रशंसा ! अरे समुद्र, यदि मैं इसकी चेष्टा न करता, तो यह सब कुछ न होता—लिच्छविकुमारी मे इतना मनोबल कहाँ कि वह यों अड़ जाती !

समुद्रदत्त—तो युवराज ने आपको बुलाया है, क्योंकि रानी वासवी और महाराज बिम्बिसार सम्भवतः अपनी नवीन कुटी मे चले गये होगे। अब यह राज्य केवल राजमाता और युवराज के हाथ में है। उनकी इच्छा है कि आपके सदुपदेश से राज्य सुशासित हो।

देवदत्त—(कुछ बनता हुआ)—यह झंझट भला मुझ विरक्त से कहाँ होगा। फिर भी लोकोपकार के लिए तो कुछ करना ही पड़ता है।

समुद्रदत्त—किन्तु गुरुदेव ! युवराज है बडा उद्धत, उसके संग रहने में भी डर मालूम पड़ता है। बिना आपकी छाया के मैं तो नही रह सकता।

देवदत्त—वत्स समुद्र ! तुम नही जानते कि कितना गुरुतर काम तुम्हारे हाथ में है। मगध-राष्ट्र का उद्धार इस भिक्षु के हाथो से करना ही होगा। जब राजा ही उसका अनुयायी है, फिर जनता क्यों न भाड़ मे जायगी। यह गौतम बड़ा ही कपट-मुनि है। देखते नहीं, यह कितना प्रभावशाली होता जा रहा है; नही तो मुझे इन झगड़ों से क्या काम ?

समुद्रदत्त—तब क्या आज्ञा है ?

देवदत्त—गौतम का प्रभाव मगध पर से तब तब नही हटेगा, जब तक बिम्बिसार राजगृह से दूर न जायगा। यह राष्ट्र का शत्रु गौतम समग्र जम्बूद्वीप को भिक्षु बनाना चाहता है और अपने को उनका मुखिया। इस तरह जम्बूद्वीप भर पर एक दूसरे रूप में शासन करना चाहता है।

जीवक—(सहसा प्रवेश करके)—आप विरक्त है और मैं गृही। किन्तु जितना मैंने आपके मुख से अकस्मात् सुना है यही पर्याप्त है कि आपको रोककर कुछ कहूँ। संघभेद करके आपने नियम तोड़ा है, उसी तरह राष्ट्रभेद करके क्या देश का नाश करना चाहते हैं ?

देवदत्त—यह पुरानी मण्डली का गुप्तचर है, समुद्र ! युवराज से कहो कि इसका उपाय करें। यह विद्रोही है, इसका मुख बन्द होना चाहिये।

जीवक—ठहरो, मुझे कह लेने दो। मैं ऐसा डरपोक नहीं हूँ कि जो बात तुमसे कहनी है, उसे मैं दूसरों से कहूँ। मैं भी राजकुल का प्राचीन सेवक हूँ। तुम लोगों की यह कूटमन्त्रणा अच्छी तरह समझ रहा हूँ। इसका परिणाम कदापि अच्छा नहीं। सावधान, मगध का अधःपतन दूर नही है। **(जाता है)**

सुदत्त—**(प्रवेश करके)**—आर्य समुद्रदत्तजी ! कहिये, मेरे जाने का प्रबन्ध ठीक हो गया है न ? शीघ्र कोसल पहुँच जाना मेरे लिए आवश्यक है। महारानी तो अब जायेंगी नहीं क्योंकि मगध-नरेश ने वानप्रस्थ आश्रम का अवलम्बन लिया है; फिर मैं ठहर कर क्या करूँगा ?

समुद्रदत्त—किन्तु युवराज ने तो अभी आपको ठहरने के लिये कहा है।

सुदत्त—नहीं, मुझे एक क्षण भी यहाँ ठहरना अनुचित जान पड़ता है, मैं इसीलिए आपको खोजकर मिला हूँ। मुझे यहाँ का समाचार कोसल शीघ्र पहुँचाना होगा। युवराज से मेरी ओर से क्षमा माँग लीजियेगा। **(जाता है)**

देवदत्त—चलो, युवराज के पास चलें **(दोनों जाते हैं)**

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[उपवन में महाराज बिम्बसार और महारानी वासवी]

बिम्बिसार—देवि, तुम कुछ समझती हो कि मनुष्य के लिए एक पुत्र का होना क्यों इतना आवश्यक समझा गया है ?

वासवी—नाथ ! मैं तो समझती हूँ कि वात्सल्य नाम का जो पुनीत स्नेह है, उसी के पोषण के लिए।

बिम्बसार—स्नेहमयी ! वह भी हो सकता है, किन्तु मेरे विचार में कोई और ही बात है।

वासवी—वह क्या, नाथ ?

बिम्बसार—संसारी को त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं होता; क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।

वासवी—मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वंचित होने का दुःख नहीं।

बिम्बिसार—दुःख तो नहीं, देवि ! फिर भी इस कुणीक के व्यवहार से

अधिकार का ध्यान हो आता है। तुम्हे विश्वास हो या न हो, किन्तु कभी-कभी याचकों का लौट जाना, मेरी वेदना का कारण होता है।

वासवी—तो नाथ! जो आपका है वही न राज्य का है, उसी का अधिकारी कुणीक है, और जो कुछ मुझे मेरे पीहर से मिला है, उसे जब तक मैं न छोड़ूँ तब तक तो मेरा ही है।

बिम्बिसार—इसका क्या अर्थ है?

वासवी—काशी का राज्य मुझे, मेरे पिता ने, आँचल में दिया है, उसकी आय आपके हाथ मे आनी चाहिये मगध-साम्राज्य की एक कौडी भी आप न छुएँ। नाथ! मैं ऐसा द्वेष से नही कहती हूँ, किन्तु केवल आपका मान बचाने के लिये।

बिम्बिसार—मुझे फिर उन्ही झगडो मे पडना होगा देवि, जिन्हें अभी छोड़ आया।

[जीवक का प्रवेश]

जीवक—महाराज की जय हो!

बिम्बिसार—जीवक, यह कैसा परिहास? यह सम्बोधन अब क्यो? यहाँ तुम कैसे आये?

जीवक—यह अभ्यास का दोष है। मैं श्रीमान् के साथ ही रहूँगा; अब मुझे वह पुरानी गृहस्थी अच्छी नही लगती।

बिम्बिसार—इस अकारण वैराग्य का कोई अर्थ भी है?

जीवक—कुछ नही राजाधिराज! और है तो यही कि जिन आत्मीयों के लिए निष्कपट भाव से मैं परिश्रम करता हुआ उन्हे सुख देने का प्रबन्ध करता हूँ, वे भी विद्रोही हो जाते हैं।

वासवी—महाराज, जीवन की सारी क्रियाओ का अन्त केवल अनन्त विश्राम मे है। इस वाह्य हलचल का उद्देश्य आन्तरिक शान्ति है, फिर जब उसके लिए व्याकुल पिपासा जग उठे, तब उसमे विलम्ब क्यो करे?

जीवक—यही विचार कर मैं भी स्वामी की शरण मे आया हूँ, क्योंकि समुद्रदत्त की चाले मुझे नही रुचती। अदृष्ट का आदेश जानकर मैं भी आपका अनुगामी हो गया हूँ।

बिम्बिसार—क्या अदृष्ट सोचकर, अकर्मण्य बनकर, तुम भी मेरी तरह बैठ जाना चाहते हो?

जीवक—नही महाराज! अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़ कर मैं निर्भय कर्मकूप मे कूद सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही, फिर कायर क्यो बनूँ—कर्म से क्यो विरक्त रहूँ—मैं इस उच्छृंखल नवीन राजशक्ति का विरोधी होकर आपकी सेवा करने आया हूँ।

वासवी—यह तुम्हारी उदारता है, किन्तु हम लोगों को किस बात की शंका है जो तुम व्यस्त हो ?

जीवक—देवदत्त, निष्ठुर देवदत्त के कुचक्र से महाराज की जीवन-रक्षा होनी ही चाहिये।

बिम्बिसार—आश्चर्य ! यह मै क्या सुन रहा हूँ ! जीवक ! मुझे भ्रान्ति मे न डालो—विष का घडा मेरे हृदय पर न ढालो। भला अब मेरे प्राण से मगध-साम्राज्य का क्या सम्बन्ध है ? देवदत्त मुझ मे क्यों इतना असन्तुष्ट है ?

जीवक—बुद्धदेव की प्रतिद्वन्द्विता ने उसे अन्धा कर दिया है—महत्त्वाकांक्षा उसे एक गर्त्त मे गिरा रही है। उसकी वह आशा तब तक सफल न होगी, जब तक आप जीवित रहकर गौतम की प्रतिष्ठा बढ़ाते रहेगे और उनकी सहायता करते रहेगे।

बिम्बिसार—मूर्खता, नही, नही, यह देवदत्त की क्षुद्रता है। भला आत्मबल या प्रतिभा किसी की प्रशंसा के बल मे विश्व मे खडी होती है ? अपना अवलम्ब वह स्वय है, इसमे मेरी इच्छा वा अनिच्छा क्या। वह दिव्य ज्योति स्वत: सबकी आँखो को आकर्षित कर रही है। देवदत्त का विरोध केवल उसे उन्नति दे सकेगा।

जीवक—देव ! फिर भी जो ईर्ष्या की पट्टी आँखो पर चढ़ाये हैं, वे इसे नही देख सकते। अब मुझे क्या आज्ञा है, क्योंकि यह जीवन अब आप ही की सेवा के लिए उत्सर्ग है।

वासवी—जीवक, तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी सद्‌बुद्धि तुम्हारी चिर संगिनी रहे। महाराज को अब स्वतन्त्र वृत्ति की आवश्यकता है, अन काशी-प्रान्त का राजस्व, जो हमारा प्राप्य है, लाने का उद्योग करना होगा। मगध-साम्राज्य से हम लोग किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखेगे।

जीवक—देवि ! इसके पहले एक बार मेरा कौशाम्वी जाना आवश्यक है।

बिम्बिसार—नही जीवक ! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नही, अब वह राष्ट्रीय झगडा मुझे नही रुचता।

वासवी—तब भी आपको भिक्षावृत्ति नही करनी होगी। अभी हम लोगों में वह त्याग, मानापमान-रहित अपूर्व स्थिति नही आ सकेगी। फिर, जो शत्रु से भी अधिक घृणित व्यवहार करना चाहता हो, उसकी भिक्षावृत्ति पर अवलम्बन करने को हृदय नही कहता।

जीवक—तो सुदत्त कोसल जा चुके है और कौशाम्बी में भी यह समाचार पहुँचना आवश्यक है। इसीलिये मैं कहता था, और कोई बात नही। काशी के दण्डनायक से भी मिलता जाऊँगा।

बिम्बिसार—जैसी तुम लोगों की इच्छा।

वासवी—नाथ ! मैं आपसे छिपाती थी, फिर भी कहना ही पड़ा कि हम लोग वानप्रस्थ आश्रम में भी स्वतन्त्र नहीं रखे गये हैं ।

बिम्बिसार—**(निःश्वास लेकर)**—ऐसा !—जो कुछ हो—

[गाते हुए भिक्षुओं का प्रवेश]

न धरो कहकर इसको 'अपना' ।
यह दो दिन का है सपना ॥ न धरो० ॥
वैभव का बरसाती नाला, भरा पहाड़ी झरना ।
बहो, बहाओ नहीं अन्य को, जिससे पड़े कलपना ॥ न धरो० ॥
दुखियों का कुछ आँस पोछ लो, पड़े न आहें भरना ।
लोभ छोड़कर हो उदार, बस, एक उसी को जपना ॥ न धरो० ॥

बिम्बिसार—देवि, इन्हें कुछ दो—

वासवी—और तो कुछ नहीं है—**(कंकण उतार कर देती है)** प्रभु ! इस स्वर्ण और रत्नों का आँखों पर बड़ा रंग रहता है, जिससे मनुष्य अपना अस्थि-चर्म का शरीर तक नहीं देखने पाता —

[भिखारी जाते हैं]

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[कौशाम्बी में मागन्धी का मन्दिर]

मागन्धी—**(स्वगत)**—इस रूप का इतना अपमान ! सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ ! मुझसे ब्याह करना अस्वीकार किया ! यहाँ मैं राजरानी हुई, फिर भी वह ज्वाला न गयी, यहाँ रूप का गौरव हुआ, तो धन के अभाव से दरिद्र-कन्या होने के अपमान की यन्त्रणा में पिस रही हूँ ! अच्छा इसका भी प्रतिशोध लूँगी, अब से यही मेरा व्रत हुआ । उदयन राजा है, तो मैं भी अपने हृदय की रानी हूँ । दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं !

[एक दासी का प्रवेश]

दासी—देवि क्या आज्ञा है ?

मागन्धी—तू ही न गयी थी गौतम का समाचार लाने, वह आजकल पद्मावती के मन्दिर में भिक्षा लेने आता है न ?

दासी—आता है स्वामिनी ! वह घण्टों महल में बैठकर उपदेश करता है । महाराज भी वहीं बैठकर उसकी वक्तृता सुनते है, बड़ा आदर करते हैं ।

मागन्धी—तभी कई दिनों से इधर नहीं आते हैं, अच्छा नर्त्तकियों को तो बुला ला। नवीना से भी कह दे कि वह शीघ्र आवे और आसव लेती आवे।

[दासी का प्रस्थान]

मागन्धी—(आप-ही-आप)—गौतम ! यह तुम्हारी तितिक्षा तुम्हें कहाँ ले जायगी ? यह तुमने कभी न विचारा कि सुन्दरी स्त्रियाँ भी संसार मे अपना कुछ अस्तित्व रखती हैं। अच्छा तो देखें कौन खडा रहता है ?

[नवीना का पान-पात्र लेकर प्रवेश]

नवीना—देवी की जय हो !

मागन्धी—तुम्हे भी बुलाना होगा, क्यों ? महाराज नही आते है तो तुम सब महारानी हो गयी हो न ?

नवीना—दासी को आज्ञा मिलनी चाहिये, यह तो प्रतिक्षण श्रीचरणों में रहती है। (पान कराती है)

मागन्धी—महाराज आयेंगे कि नही, इसका पता लगाकर शीघ्र आओ—

(नवीना जाती है, मागन्धी आप-ही-आप गाती है)

अली ने क्यों भला अवहेला की।
चम्पक-कली खिली सौरभ से उषा मनोहर बेला की।
विरस दिवस, मन वहलाने को मलयज से फिर खेला की।
अली ने क्यों भला अवहेला की।

नवीना—(प्रवेश करके)—महाराज आया ही चाहते हैं।

मागन्धी—अच्छा आज मुझे बड़ा काम करना है, नवीना ! नर्त्तकियों को शीघ्र बुला। मेरी वेष-भूषा ठीक है न—देखो तो—

नवीना—वाह स्वामिनी, तुम्हें वेष-भूषा की क्या आवश्यकता है—यह सहज सुन्दर रूप बनावटों से और भी बिगड़ जायगा।

मागन्धी—(हँसकर)—अच्छा, अच्छा, रहने दे, और सब उपकरण ठीक रहे, समझी ? कोई वस्तु अस्त-व्यस्त न रहे। अप्रसन्नता की कोई बात न होने पावे। उस दिन जो कहा है, वह ठीक रहे।

नवीना—वह भी आपके फिर से कहने की आवश्यकता है ? मैं सब अभी ठीक किये देती हूँ। (जाती है)

[एक ओर से उदयन का और दूसरी ओर से नर्त्तकियों का प्रवेश। सब नाचती हैं और मागन्धी उदयन का हाथ पकड़कर बैठाती है]

[नर्त्तकियों का गान]

प्यारे, निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे !
बरसो सदा दया-जल शीतल,
सिंचे हमारा हृदय-मरुस्थल,
अरे कँटीले फूल इसी में फूलना रे !

[नर्त्तकियाँ जाती है]

मागन्धी— आर्यपुत्र ! क्या कई दिनों तक मेरा ध्यान भी न आया ? क्या मुझसे कोई अपराध हुआ था।

उदयन— नहीं प्रिये ! मगध से गौतम नाम के महात्मा आये है, जो अपने को 'बुद्ध' कहते है। देवी पद्मावती के मन्दिर में उनका संघ निमन्त्रित होता था और वे उपदेश देते थे। महादेवी वासवदत्ता भी वहीं नित्य आती थीं।

मागन्धी—**(बात काटकर)**—तब फिर मुझे क्यों पूछा जाय !

उदयन—**(आदर से)**—नहीं-नहीं, यह तो तुम्हारी ही भूल थी, बुलवाने पर भी नहीं आयी। वाह ! सुनने के योग्य उपदेश होता था। अभी तो कई दिन होगा। हमने अनुरोध किया है कि वे कुछ दिनों तक ठहर कर कौशाम्बी में धर्म का प्रचार करें।

मागन्धी—आप पृथ्वीनाथ हैं, आपको सब कुछ सोहाता है, किन्तु मैं तो अच्छी आँखों से इस गौतम को नही देखती। मगध के राजमन्दिर मे ही मुड़ियों का स्वाँग अच्छा है। कौशाम्बी इस पाखण्ड से बची रहे तो बड़ा उत्तम हो। स्त्रियों के मन्दिर में उपदेश क्यों हो —क्या उन्हें पातिव्रत छोड़कर किसी और भी धर्म की आवश्यकता है ? **(पान-पात्र बढ़ाती है)**

उदयन—ठहरो मागन्धी ! पुरुष का हृदय बड़ा सशंक होता है, क्या तुम इसे नहीं जानती ? क्या अभी-अभी तुमने कुछ विषाक्त व्यंग नही किया है ? यह मदिरा अब मैं नही पीऊँगा। अभी आज ही भगवान् का इसी पर उपदेश हुआ है, पर मैं देखता हूँ कि मदिरा से पहले तुमने हलाहल मेरे हृदय मे उँड़ेल दिया। यह व्यंग सूखे ग्रास की तरह नीचे भी नही उतरता और बाहर भी नहो हो पाता।

मागन्धी—क्षमा कीजिये नाथ ! मैं प्रार्थना करती हूँ, अपने हृदय को इस हाला से तृप्त कीजिये। अपराध क्षमा हो ! मैं दरिद्र-कन्या हूँ। मुझे आपके आने पर और किसी की अभिलाषा नहीं है। वे आपको पा चुकी हैं, अब उन्हें और कुछ की बलवती आकांक्षा है, चाहे लोग उसे धर्म ही क्यो न कहें। मुझमें इतनी सामर्थ्य भी नहीं।

उदयन—हूँ, अच्छा देखा जायगा। **(मुग्ध होकर)** उठो मागन्धी, उठो ! मुझे अपने हाथों से अपना प्रेम-पूर्ण पात्र शीघ्र पिलाओ, फिर कोई बात होगी **(मागन्धी मदिरा पिलाती है)**

उदयन—**(प्रेमोन्मत्त होकर)**—तो मागन्धी, कुछ गाओ। अब मुझे मुखचन्द्र

को निर्निमेष देखने दो—एक अतीन्द्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ मैं भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ, और तुम्हारा सुरभि-निःश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे।

मागन्धी—वही तो मैं भी चाहती हूँ कि मेरी मूर्च्छना मेरे प्राणनाथ की विश्वमोहिनी वीणा की सहकारिणी हो, हृदय और तन्त्री एक होकर बज उठें, विश्व-भर जिसके सम पर सिर हिला दे और पागल हो जाय।

उदयन—हाँ, मागन्धी ! वह रूप तुम्हारा बड़ा प्रभावशाली था, जिसने उदयन को तुम्हारे चरणों में लुटा दिया **(मद्यप की-सी चेष्टा करता है)**—किसी को भेजो कि पद्मवती के मन्दिर से····

मागन्धी—**(दासी से)**—आर्यपुत्र की हस्तिस्कन्ध-वीणा ले आओ।

[दासी जाती है]

उदयन—तब तक तुम्ही कुछ सुनाओ।

[मागन्धी पान कराती है और गाती है]

आओ हिये मे अहो प्राण प्यारे !
नैन भये निर्मोही, नही अब देखे बिना रहते है तुम्हारे ।।
सबको छोड़ तुम्हे पाया है, देखूँ कि तुम होते हो हमारे ।।
तपन बुझे तन की औ' मन की, हों हम-तुम पल एक न न्यारे ।।
आओ हिये मे अहो प्राण प्यारे !

उदयन—हृदयेश्वरी ! कौन मुझसे तुमको अलग कर सकता है ?

हमारे वक्ष में बनकर हृदय, यह छवि समायेगी।
स्वयं निज माधुरी छवि का रमीला गान गायेगी ।।
अलग तब चेतना ही चित्त में कुछ रह न जायेगी।
अकेले विश्व-मन्दिर में तुम्ही को पूज पायेगी ।।

मागन्धी—मैं दासी हूँ प्रियतम !

उदयन—नही, तुम आज से स्वामिनी बनो।

[दासी वीणा लेकर आती है और उदयन के सामने रखती हैं, उदयन के उठाने के साथ ही साँप का बच्चा निकल पड़ता है—मागन्धी चिल्ला उठती है]

मागन्धी—पद्मावती ! तू यहाँ तक आगे बढ़ चुकी है ! जो मेरी शंका थी, वह प्रत्यक्ष हुई।

उदयन—**(क्रोध से उठकर खड़ा हो जाता है)**—अभी इसका प्रतिशोध लूँगा। ओह ! ऐसा पाखण्ड-पूर्ण आचरण ! असह्य !

मागन्धी—क्षमा सम्राट् ! आपके हाथ में न्यायदण्ड है। केवल प्रतिहिंसा से

आपका कोई कर्त्तव्य निर्धारित न होना चाहिए, सहसा भी नहीं। प्रार्थना है कि आज विश्राम करें, कल विचार कर कोई काम कीजियेगा।

उदयन—नही। (सिर पकड़कर) किन्तु फिर भी तुम कह रही हो—अच्छा, मैं विश्राम चाहता हूँ।

मागन्धी—यही....?

[उदयन लेटता है, मागन्धी पैर दबाती है]

दृ श्या न्त र

षष्ठम दृश्य

[कौशाम्बी के पथ में जीवक]

जीवक—(आप-ही-आप)—राजकुमारी से भेंट हुई और गौतम के दर्शन भी हुए, किन्तु मैं तो चकित हो गया हूँ कि क्या करूँ ! वासवी देवी और उनकी कन्या पद्मावती, दोनों की अवस्था एक तरह की है। जिसे अपना ही सँभालना दुष्कर है, वह वासवी की क्या सहायता कर सकेगी ! सुना है कि कई दिनों से पद्मावती के मन्दिर मे उदयन जाते ही नही, और व्यवहार से भी कुछ असन्तुष्ट से दिखलाई पडते हैं; क्योंकि उन्ही के परिजन होने के कारण मुझसे भी अच्छी तरह न बोले, और महाराज बिम्बिसार की कथा सुनकर भी कोई मत नही प्रकट किया। दासी आने को थी, वह भी नही आयी। क्या करूँ ?

दासी—(प्रवेश करके) नमस्कार ! देवी ने कहा है, आर्य जीवक से कहो कि मेरी चिन्ता न करे। माताजी की देख-रेख उन्ही पर है, अब वे शीघ्र ही मगध चले जायँ। देवता जब प्रसन्न होगे उनसे अनुरोध करके कोई उपाय निकालूंगी और पिताजी के श्रीचरणों का भी दर्शन करूँगी। इस समय तो उनका जाना ही श्रेयस्कर है। महाराज की विरक्ति से मै उनसे भी कुछ कहना नही चाहती। सम्भव है कि उन्हें किसी षड्यन्त्र की आशंका हो, क्योंकि नयी रानी ने मेरे विरुद्ध कान भर दिये हैं, इसलिये मुझे अपनी कन्या समझ कर क्षमा करेगे। मैं इस समय बहुत दु.खी हो रही हूँ, कर्तव्य-निर्धारण नही कर सकती।

जीवक—राजकुमारी से कहना कि मैं उनकी कल्याण कामना करता हूँ। भगवान् की कृपा से वे अपने पूर्व-गौरव का लाभ करे और मगध की कोई चिन्ता न करें। मैं केवल सन्देश कहने यहाँ आया था। अभी मुझे शीघ्र कोसल जाना होगा।

दासी—बहुत अच्छा। (नमस्कार करके जाती है)

[गौतम का संघ के साथ प्रवेश]

जीवक—महाश्रमण के चरणों मे अभिवादन करता हूँ।

गौतम—कहो, मगध के क्या समाचार हैं ? मगध-नरेश सकुशल तो हैं ?

जीवक—तथागत ! आपसे क्या छिपा है ? मगध-राजकुल में बड़ी अशान्ति है। वानप्रस्थ-आश्रम मे भी महाराज बिम्बिसार को चैन नही है।

गौतम—जीवक !

चंचल चन्द्र सूर्य है चंचल, चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चंचल अनिल, अनल, जल, थल, सब चंचल जैसे पारा है।
जगत प्रगति से अपने चंचल, मन की चचल लीला है।
प्रति क्षण प्रकृति चचला जैसी यह परिवर्त्तनशीला है।
अणु-परमाणु, दु ख-सुख चंचल, क्षणिक सभी सुख साधन है।
दृश्य सकल नश्वर-परिणामी, किसको दुख, किसको धन है ?
क्षणिक सुखो को स्थायी कहना दु ख-मूल यह भूल महा।
चचल मानव ! क्यो भूला तू, इस सीठी मे सार कहाँ ?

जीवक—सत्य है प्रभु !

गौतम—कल्याण हो। सत्य की रक्षा करने से, वही सुरक्षित कर लेता है। जीवक ! निर्भय होकर पवित्र कर्तव्य करो।

[गौतम का सघ सहित प्रस्थान, विदूषक वसन्तक का प्रवेश]

वसन्तक—अहा वैद्यराज ! नमस्कार ! बस एक रेचक और थोडा-सा वस्तिकर्म्म–इसके बाद गर्मी ठण्ढी ! अभी आप हमारे नमस्कार का भी उत्तर देने के लिये मुख न खोलिये। पहले रेचक प्रदान कीजिये। निदान मे समय नष्ट न कीजिये।

जीवक—**(स्वगत)**—यह विदूषक इस समय कहाँ से आ गया ! भगवान्, किसी तरह हटे।

वसन्तक—क्या आप निदान कर रहे है ? अजी अजीर्ण है, अजीर्ण। पाचक देना हो दो, नही तो हम अच्छी तरह जानते है कि वैद्य लोग अपने मतलब से रेचन तो अवश्य ही देंगे। अच्छा, हाँ कहो तो, बुद्धि के अजीर्ण मे तो रेचन ही गुणकारी होगा ? सुनो जी, मिथ्या आहार से पेट का अजीर्ण होता है और मिथ्या विहार से बुद्धि का, किन्तु महर्षि अग्निवेश ने कहा है कि इसमे रेचन ही गुणकारी होता है। **(हँसता है)**

जीवक—तुम दूसरे की तो कुछ सुनोगे नही ?

वसन्तक—सुना है कि धन्वन्तरि के पास एक ऐसी पुड़िया थी कि बुढ़िया युवती हो जाय और दरिद्रता का केचुल छोड़कर मणिमयी बन जावे ! क्या तुम्हारे पास भी—उहूँ—नही है ? तुम क्या जानो।

जीवक—तुम्हारा तात्पर्य क्या है ? हम कुछ न समझ सके।

वसन्तक—केवल खलबट्टा चलाते रहे और मूर्खता का पुटपाक करते रहे। महाराज ने एक नयी दरिद्र कन्या से ब्याह कर लिया है, मिथ्या विहार करते-करते उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो गया है। महादेवी वासवदत्ता और पद्मावती जीर्ण हो गयी हैं, तब कैसे मेल हो ? क्या तुम अपनी औषधि से उन्हे विवाह करने के समय की अवस्था का नही बना सकते जिसमें महाराज इस अजीर्ण से बच जायँ ?

जीवक—तुम्हारे ऐसे चाटुकार और भी चाट लगा देंगे, दो-चार और जुटा देंगे।

वसन्तक—उसमें तो गुरुजनो का ही अनुकरण है ! श्वसुर ने दो ब्याह किये, तो दामाद ने तीन। कुछ उन्नति ही रही।

जीवक—दोनों अपने कर्म के फल भोग रहे है। कहो, कोई यथार्थ बात भी कहने-सुनने की है या यही हँसोड़पन ?

वसन्तक—घबराइये मत। बडी रानी वासवदत्ता पद्मावती को सहोदरा भगिनी की तरह प्यार करती है। उनका कोई अनिष्ट नही होने पावेगा। उन्होंने ही मुझे भेजा है और प्रार्थना की है कि "आर्यपुत्र की अवस्था आप देख रहे हैं, उनके व्यवहार पर ध्यान न दीजियेगा। पद्मावती मेरी सहोदरा-सी है, उसकी ओर से आप निश्चिन्त रहे। कोसल से समाचार भेजियेगा।" नमस्कार ! **(हँसता-हँसता जाता है)**

जीवक—अच्छा, अब मैं भी कोसल जाऊँ। **(जाता है)**

दृ श्या न्त र

सप्तम दृश्य

[श्रावस्ती में राजसभा, प्रसेनजित् सिंहासन पर और अमात्य, अनुचरगण यथास्थान बैठे हैं]

प्रसेनजित्—क्या यह सब सच है सुदत्त ? तुमने आज मुझे एक बड़ी आश्चर्यजनक बात सुनायी है। क्या सचमुच अजातशत्रु ने अपने पिता को सिंहासन से उतारकर उनका तिरस्कार किया है ?

सुदत्त—पृथ्वीनाथ ! यह उतना ही सत्य है, जितना श्रीमान् का इस समय सिंहासन पर बैठना। मगध-नरेश से एक षड्यन्त्र के द्वारा सिंहासन छीन लिया गया है।

विरुद्धक—मैंने तो सुना है कि महाराज बिम्बिसार ने वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकार किया है और उस अवस्था में युवराज का राज्य सँभालना अच्छा ही है।

प्रसेनजित्—विरुद्धक ! क्या अजात की ऐसी परिपक्व अवस्था अवस्था है कि मगध नरेश उसे साम्राज्य का बोझ उठाने की आज्ञा दें ?

विरुद्धक—पिताजी ! यदि क्षमा हो, तो मैं यह कहने में संकोच न करूँगा कि युवराज को राज्य संचालन की शिक्षा देना महाराज का ही कर्तव्य है।

प्रसेनजित्—(**उत्तेजित होकर**)—और आज तुम दूसरे शब्दों मे उसी शिक्षा को पाने का उद्योग कर रहे हो ! क्या राज्याधिकार ऐसी प्रलोभन की वस्तु है कि कर्तव्य और पितृभक्ति एक बार ही भुला दी जाय ?

विरुद्धक—पुत्र यदि पिता से अपना अधिकार माँगे, तो उसमें दोष ही क्या ?

प्रसेनजित्—(**और भी उत्तेजित होकर**)—तब तू अवश्य ही नीच रक्त का मिश्रण है। उस दिन, जब तेरी ननिहाल में तेरे अपमानित होने की बात मैने सुनी थी, मुझे विश्वास नहीं हुआ। अब मुझे विश्वास हो गया कि शाक्यों के कथनानुसार तेरी माता अवश्य ही दासी-पुत्री है। नही तो तू इस पवित्र कोसल की विश्व-विश्रुत गाथा पर पानी फेर कर अपने पिता के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर न करता। क्या इसी कोसल मे रामचन्द्र और दशरथ के सदृश पुत्र और पिता अपना उदाहरण नही छोड़ गये है ?

सुदत्त—दयानिधे ! बालक का अपराध मार्जनीय है।

विरुद्धक—चुप रहो सुदत्त ! पिता कहे और पुत्र उसे सुने। तुम चाटुकारिता करके मुझे अपमानित न करो।

प्रसेनजित्—अपमान ! पिता से पुत्र का अपमान ! क्या यह विद्रोही युवक-हृदय, जो नीच रक्त से कलुषित है, युवराज होने के योग्य है ? क्या भेड़िये की तरह भयानक ऐसी दुराचारी सन्तान अपने माता-पिता का ही वध न करेगी ! अमात्य !

अमात्य—आज्ञा पृथ्वीनाथ !

प्रसेनजित्—(**स्वगत**) अभी से इसका गर्व तोड देना चाहिये।—(**प्रकट**) आज से यह निर्भीक किन्तु अशिष्ट—बालक अपने युवराजपद से वञ्चित किया गया। और, इसकी माता का राजमहिषी का-सा सम्मान नही होगा—केवल जीविका-निर्वाह के लिए उसे राजकोष से व्यय मिला करेगा।

विरुद्धक— पिताजी, मैं न्याय चाहता हूँ।

प्रसेनजित्—अबोध, तू पिता से न्याय चाहता है ! यदि पक्ष निर्बल है और पुत्र अपराधी है, तो किस पिता ने पुत्र के लिए न्याय किया है ? परन्तु मैं यहाँ पिता नही राजा हूँ। तेरा बड़प्पन और महत्वाकांक्षा से पूर्ण हृदय अच्छी तरह कुचल दिया जायगा—बस चला जा।

[विरुद्धक सिर झुकाकर जाता है]

अमात्य—यदि अपराध क्षमा हो, तो कुछ प्रार्थना करूँ। यह न्याय नही है। कोसल के राजदण्ड ने कभी ऐसी व्यवस्था नही दी। किसी दूसरे के पुत्र का कलंकित

कर्म सुनकर श्रीमान् उत्तेजित हो अपने पुत्र को दण्ड दें, यह श्रीमान् की प्रत्यक्ष निर्बलता है। क्या श्रीमान् उसे उचित शासक नहीं बनाना चाहते ?

प्रसेनजित्—चुप रहो मन्त्री, जो कहता हूँ वह करो।

[दौवारिक आता है]

दौवारिक—महाराज की जय हो ! मगध से जीवक आये हे।

प्रसेनजित्—जाओ, लिवा लाओ।

[दौवारिक जाता है और जीवक को लिवा लाता है]

जीवक—जय हो कोसल-नरेश की !

प्रसेनजित्—कुशल तो है जीवक ? तुम्हारे महाराज की तो सब बातें हम सुन चुके हैं, उन्हें दुहराने की कोई आवश्यक्ता नहीं। हाँ, कोई नया समाचार हो तो कहो।

जीवक—दयालु देव, कोई नया समाचार नहीं है। अपमान की यन्त्रणा हीं महादेवी वासवी को दुखित कर रही है, और कुछ नहीं।

प्रसेनजित—तुम लोगों ने तो राजकुमार को अच्छी शिक्षा दी। अस्तु, देवी वासवी को अपमान भोगने की आवश्यकता नहीं। उन्हे अपनी सपत्नी-पुत्र के भिक्षान्न पर जीवन निर्वाह नहीं करना होगा। मन्त्री ! काशी की प्रजा के नाम एक पत्र लिखो कि वह अजात को राज-कर न देकर वासवी को अपना कर-दान करे, क्योंकि काशी का प्रान्त वासवी को मिला है, सपत्नी-पुत्र का उस पर कोई अधिकार नहीं है।

जीवक—महाराज ! देवी वासवी ने कुशल पूछा है और कहा है कि इस अवस्था में मैं आर्य-पुत्र छोडकर नहीं आ सकती, इसलिये भाई कुछ अन्यथा न समझें।

प्रसेनजित्—जीवक, यह तुम क्या कहते हो। कोसल-कुमारी दशरथनन्दिनी शान्ता का उदाहरण उसके सामने है; दरिद्र ऋषि के साथ जो दिव्य जीवन व्यतीत कर सकती थी। क्या वासवी किसी दूसरे कोसल की राजकुमारी है ? कुल-शील-पालन ही तो आर्य-ललनाओं का परमोज्वल आभूषण है। स्त्रियों का वही मुख्य धन है। अच्छा, जाओ विश्राम करो।

[जीवक का प्रस्थान सेनापति बन्धुल का प्रवेश]

बन्धुल—प्रबलप्रताप कोसल-नरेश की जय हो !

प्रसेनजित्—स्वागत सेनापते ! तुम्हारे मुख से 'जय' शब्द कितना सुहावना सुनाई पड़ता है ! कहो, क्या समाचार है ?

बन्धुल—सम्राट्, कोसल की विजयिनी पताका वीरों के रक्त में अपने अरुणोदय का तीव्र तेज दौड़ाती है और शत्रुओं को उसी रक्त में नहाने की सूचना देती है। राजाधिराज ! हिमालय का सीमाप्रान्त बर्बर लिच्छिवियों के रक्त से और भी ठण्ढा

कर दिया गया है। कोसल के प्रचण्ड नाम से ही शान्ति स्वयं पहरा दे रही है। यह सब श्रीचरणों का प्रताप है। अब विद्रोह का नाम भी नहीं है। विदेशी बर्बर शताब्दियों तक उधर देखने का भी साहस न करेंगे।

प्रसेनजित्—धन्य हो विजयी वीर! कोसल तुम्हारे ऊपर गर्व करता है और आशीर्वादपूर्ण अभिनन्दन करता है। लो, यह विजय का स्मरण-चिह्न!....

[हार पहनाता है]

सब—जय, सेनापति बन्धुल की जय!

प्रसेनजित्—(चौंकते हुये) हैं! जाओ, विश्राम करो।

[बन्धुल जाता है]

दृ श्या न्त र

अष्टम दृश्य

[प्रकोष्ठ में कुमार विरुद्धक एकाकी]

विरुद्धक—(आप-ही-आप) घोर अपमान! अनादर की पराकाष्ठा और तिरस्कार का भैरवनाद! यह असहनीय है। धिक्कार पूर्ण कोसल-देश की सीमा कभी की मेरी आँखों से दूर हो जाती किन्तु मेरे जीवन का विकास-सूत्र एक बड़े कोमल कुसुम के साथ बँध गया है। हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व-भर की मदिरा बनकर मेरे उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भण्डार हो गया। मल्लिका! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्धरात्रि मे आलोकपूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक-कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कण्ठों की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हे सँभालकर उतारने के लिये, नक्षत्रलोक गयी थी। शिशिरकणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलते-खेलते तुम्हे उस आसन से भी उठाया और गिराया। तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत् की कुटिल गृहस्थी के आल-बाल मे आश्चर्यपूर्ण सौन्दर्यमयी रमणी के रूप में तुम्हें सबने देखा। वह कैसा इन्द्रजाल था - प्रभात का वह मनोहर स्वप्न था सेनापति बन्धुल, एक हृदयहीन क्रूर सैनिक ने तुम्हें अपने उष्णीष का फूल बनाया। और, हम तुम्हे अपने घेरे मे रखने के लिए कँटीली झाड़ी बनकर पड़े ही रहे! आज भी हम कोसल के कण्टकस्वरूप हैं.... !

[कोसल की रानी शक्तिमती का प्रवेश]

शक्तिमती—छिः राजकुमार ! इसी दुर्बल हृदय से तुम संसार में कुछ कर सकोगे। स्त्रियों की-सी रोदनशीला प्रकृति लेकर तुम कोसल के सम्राट बनोगे ?

विरुद्धक—माँ, क्या कहती हो ! हम आज एक तिरस्कृत युवकमात्र हैं, कहाँ का कोसल और कौन राजकुमार !

शक्तिमती—देखो, तुम मेरी सन्तान होकर मेरे सामने ऐसी नीच बात न कहो। दासी की पुत्री होकर भी मै राजरानी बनी और हठ से मैने इस पद को ग्रहण किया, और तुम राजा के पुत्र होकर इतने निस्तेज और डरपोक होगे, यह कभी मैने स्वप्न में भी न सोचा था। बालक ! मानव अपनी इच्छा-शक्ति और पौरुष से ही कुछ होता है। जन्मसिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरो के समर्थन का सहारा चाहता है। विश्वभर मे छोटे से बडा होना, यही प्रत्यक्ष नियम है। तुम इसकी क्यों अवहेलना करते हो ? महत्त्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड मे कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमने करने के लिए कालस्वरूप बनो साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायँगी। मल्लिका तो क्या, राजलक्ष्मी तुम्हारे पैरों पर लोटेगी। पुरुषार्थ करो ! इस पृथ्वी पर जियो तो कुछ होकर जियो, नही तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें अधिकार नही !

विरुद्धक—बस माँ ! अब कुछ न कहो। आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा। माँ मै प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के कारण इन शाक्यो का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त मे नहाकर, कोसल के सिंहासन पर बैठकर, तेरी वन्दना करूँगा। आशीर्वाद दो कि इस क्रूर परीक्षा मे उत्तीर्ण होऊँ।

शक्तिमती—(सिर पर हाथ फेर कर)—मेरे बच्चे, ऐसा ही हो।

[दोनों जाते है]

दृ श्या न्त र

नवम दृश्य

[अपने प्रकोष्ठ में पद्मावती वीणा बजाना चाहती है, कई बार प्रयास करने पर भी सफल नहीं होती]

पद्मावती—जब भीतर की तन्त्री बेकल है तब यह कैसे बजे ! मेरे स्वामी ! मेरे नाथ ! यह कैसा भाव है प्रभु !

[फिर वीणा उठाती है और रख देती है, गाने लगती है]

मीड़ मत खिंचे बीन के तार।
निर्दय उँगली ! अरी ठहर जा,
पल-भर अनुकम्पा से भर जा,
यह मूर्च्छित मूर्च्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार।
छेड़-छेड़कर मूक तन्त्र को,
विचलित कर मधु मौन मन्त्र को—
लय हो स्वर-संसार।
मचल उठेगी सकरुण वीणा,
किसी हृदय को होगी पीडा,
नृत्य करेगी नग्न विकलता
परदे के उस पार।

पद्मावती—(आप ही आप)—यह सौभाग्य ही है कि भगवान् गौतम आ गये है, अन्यथा पिता की दुरवस्था मोचते-मोचते तो मेरी बुरी अवस्था हो गयी थी। महाश्रमण की अमोघ सान्त्वना मुझे धैर्य देती है, किन्तु मैं यह क्या सुन रही हूँ—स्वामी मुझसे असन्तुष्ट है। भला गह वेदना मुझसे कैसे सही जायगी ! कई बार दासी गयी, किन्तु वहाँ तो तेवर ही ऐसे ही है कि किसी को अनुनय-विनय करने का साहस ही नही होता। फिर भी कोई चिन्ता नही, राजभक्त प्रजा को विद्रोही होने का भय ही क्यों हो ?

हमारा प्रेमनिधि सुन्दर सरल है।
अमृतमय है, नही इसमे गरल है॥

[नेपथ्य से—' भगवान् बुद्ध की जय हो"]

पद्मावती—अहा ! संघ-सहित करुणानिधान जा रहे हैं, दर्शन तो करूँ।

(खिड़की से देखती है)

[पीछे से उदयन का प्रवेश]

उदयन—(क्रोध से)—पापीयसी, देख ले, यह तेरे हृदय का विष—तेरी वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिये न यह नया झरोखा बना है।

पद्मावती –(चौंककर खड़ी हो जाती है; हाथ जोड़कर)—प्रभु ! स्वामी ! क्षमा हो ! यह मूर्ति मेरी वासना का विष नही है किन्तु अमृत है, नाथ ! जिसके रूप पर आपकी भी असीम भक्ति है, उसी रमणी-रत्न मागन्धी का भी जिन्होंने तिरस्कार किया था—शान्ति के सहचर, करुणा के स्वामी—उन बुद्ध को, मांसपिण्डों की कभी आवश्यकता नही।

उदयन—किन्तु मेरे प्राणों की है। क्यों, इसीलिये न वीणा में सांप का बच्चा छिपाकर भेजा था! तू मगध की राजकुमारी है, प्रभुत्व का विष जो तेरे रक्त में घुसा है, वह कितनी ही हत्यायें कर सकता है। दुराचारिणी! तेरी छलना का दाँव मुझ पर नही चला—अब तेरा अन्त है, सावधान!* **(तलवार निकालता है)**

पद्मावती—मैं कौशाम्बी-नरेश की रामभक्त प्रजा हूँ। स्वामी, किसी छलना का आपके मन पर अधिकार हो गया है। वह कलंक मेरे सिर पर ही सही, विचारक दृष्टि मे यदि मैं अपराधिनी हूँ, तो दण्ड भी मुझे स्वीकार है, और वह दण्ड, वह शान्तिदायक दण्ड यदि स्वामी के कर-कमलों से मिले, तो मेरा सौभाग्य है। प्रभु! पाप का सब दण्ड ग्रहण कर लेने से वही पुण्य हो जाता है। **(सिर झुकाकर घुटने टेकती है)**

उदयन—पापीयसी! तेरी वाणी का घुमाव-फिराव मुझे अपनी ओर नही आकर्षित करेगा। दुष्टे! इस हलाहल से भरे हुए हृदय को निकाला ही होगा। प्रार्थना कर ले।

पद्मावती—मेरे नाथ। इस जन्म के सर्वस्व! और परजन्म के स्वर्ग! तुम्ही मेरी गति हो और तुम्ही मेरे ध्येय हो, जब तुम्ही समक्ष हो तो प्रार्थना किसकी करूँ? मैं प्रस्तुत हूँ।

[तलवार उठाता है, इसी समय वासवदत्ता प्रवेश करती है]

वासवदत्ता—ठहरिये! मागन्धी की दासी नवीना आ रही है, जिसने सब अपराध स्वीकार किया है। आपको मेरे इस राजमन्दिर की सीमा के भीतर, इस तरह, हत्या करने का अधिकार नही है। मैं इसका विचार करूँगी और प्रमाणित कर दूंगी कि अपराधी कोई दूसरा है। वाह! इसी बुद्धि पर आप राज्य-शासन कर रहे है? कौन है जी? बुलाओ मागन्धी और नवीना को।

दासी—महादेवी की जो आज्ञा **(जाती है)**

उदयन—देवि! मेरा तो हाथ ही नही उठता—है, यह क्या माया है?

वासवदत्ता—आर्यपुत्र! यह सती का तेज है सत्य का शासन है, हृदयहीन मद्यप का प्रलाप नही। देवी पद्मावती! तू पति के अपराधों को क्षमा कर।

पद्मावती—**(उठकर)**—भगवान्, यह क्या! मेरे स्वामी! मेरा अपराध क्षमा हो—नसे चढ़ गयी होंगी। **(हाथ सीधा करती है)**

दासी—**(प्रवेश करके)**—महाराज, भागिये! महादेवी हटिये वह देखिये आग की लपट इधर ही चली आ रही है। नयी महारानी के महल मे आग लग गयी है, और उसका पता नही है! नवीना मरती हुई कह रही थी कि मागन्धी स्वयं मरी और मुझे भी उसने मार डाला; वह महाराज का सामना नही करना चाहती थी।

उदयन—क्या ? षड्यन्त्र ! अरे, क्या मैं पागल हो गया था ! देवि अपराध क्षमा हो (पद्मावती के सामने घुटने टेकता है।)

पद्मावती—उठिये उठिये महाराज ! दासी को लज्जित न कीजिये।

वासवदत्ता—यह प्रणय-लीला दूसरी जगह होगी—चलो हटो, यह देखो लपट फैल रही है।

[वासवदत्ता दोनों का हाथ पकड़कर खींचकर खड़ी हो जाती है। पर्दा हटता है—मागन्धी के महल में आग लगी हुई दिखाई पड़ती है]

[यवनिका]

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

[मगध में अजातशत्रु की राजसभा]

अजातशत्रु—यह क्या सच है समुद्र ! मैं यह क्या सुन रहा हूँ ! प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है ? चीटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है ! 'राज-कर मैं न दूंगा'—यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गयी ? काशी का दण्डनायक कौन मूर्ख है ? तुमने उसी समय उसे बन्दी क्यों नही किया ?

समुद्रदत्त—देव ! मेरा कोई अपराध नही। काशी मे वड़ा उपद्रव मचा था। शैलेन्द्र नामक विकट डाकू के आतंक से लोग पीड़ित थे। दण्डनायक ने मुझसे कहा कि काशी के नागरिक कहते हैं कि हम कोसल की प्रजा है, और·····।

अजातशत्रु—कहो, कहो रुकते क्यों हो ?

समुद्रदत्त—और हम लोग उस अत्याचारी राजा को कर न देगे जो अधर्म के बल से पिता के जीते ही सिंहासन छीनकर बैठ गया है। और, जो पीड़ित प्रजा की रक्षा भी नही कर सकता—उनके दु:खो को नही सुनता तथा·····।

अजातशत्रु—हाँ, हाँ, कहो, सकोच न करो।

समुद्रदत्त—सम्राट् ! इसी तरह की बहुत-सी बाते वे कहते है, उन्हे सुनने से कोई लाभ नही। अब, जो आज्ञा दीजिये वह किया जाय।

अजातशत्रु—ओह ! अब समझ मे आया। यह काशी की प्रजा का कण्ठ नही, इसमें हमारी विमाता का व्यंग्य-स्वर है। इसका प्रतिकार आवश्यक है। इस प्रकार अजातशत्रु को कोई अपदस्थ नही कर सकता। (कुछ सोचता है)

दौवारिक—(प्रवेश करके)—जय हो देव आर्य देवदत्त आ रहे हैं।

(देवदत्त का प्रवेश)

देवदत्त—सम्राट् कल्याण हो, धर्म की वृद्धि हो, शासन सुखद हो !

अजातशत्रु—नमस्कार भगवन् ! आपकी कृपा से सब कुछ होगा और यह उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आवश्यकता के समय आप पुकारे हुए देवता की तरह आ जाते है।

देवदत्त—(बैठता हुआ)—आवश्यकता कैसी राजन् ! आपको कमी क्या है, और हम लोगों के पास आशीर्वाद के अतिरिक्त और धरा ही क्या है ? फिर भी सुनूं—

अजातशत्रु—कोसल के दाँत जम रहे हैं। वह काशी की प्रजा में विद्रोह कराना चाहता है। वहाँ के लोग मगध को राजस्व देना अस्वीकार करते है।

देवदत्त—पाखण्डी गौतम आजकल उसी ओर घूम रहा है, इसीलिये। कोई चिन्ता नही। गौतम की कोई चाल नही लगेगी। यदि मुनिव्रत धारण करके भी वह ऐसे साम्राज्य के षड्यन्त्रो मे लिप्त है, तो मै भी हठवश उसका प्रतिद्वन्दी बनूंगा। परिषद का आह्वान करो।

अजातशत्रु—जैसी आज्ञा—**(दौवारिक से)**—जाओ जी, परिषद् के सभ्यों को बुला लाओ।

[दौवारिक जाता है, फिर प्रवेश करता है]

दौवारिक—सम्राट् की जय हो ! कोसल से कोई गुप्त अनुचर आया है और दर्शन की इच्छा प्रकट करता है।

देवदत्त—उसे लिवा लाओ।

[दौवारिक जाकर लिवा लाता है]

दूत—मगध-सम्राट् की जय हो ! कुमार विरुद्धक ने यह पत्र श्रीमान् की सेवा मे भेजा है।

[पत्र देता है, अजातशत्रु पत्र पढ़कर देवदत्त को देता है]

देवदत्त—(पढ़ कर)—वाह, कैसा सुयोग ! हम लोग क्यों न सहमत होंगे ! दूत, तुम्हें शीघ्र पुरस्कार और पत्र मिलेगा—जाओ, विश्राम करो। **(दूत जाता है)**

अजातशत्रु—गुरुदेव, बड़ी अनुकूल घटना है ! मगध जैसा परिवर्तन कर चुका है, वही तो कोसल भी चाहता है। हम नही समझते कि बुड्ढो को क्या पड़ी है और उन्हे सिंहासन का कितना लोभ है। क्या यह पुरानी नियन्त्रण मे बंधी हुई, संसार के कीचड़ मे निमज्जित राजतन्त्र की पद्धति, नवीन उद्योग को असफल कर देगी ? तिल-भर भी जो अपने पुराने विचारो से हटना नही चाहता, उसे अवश्य नष्ट हो जाना चाहिये, क्योकि यह जगत ही गतिशील है।

देवदत्त—अधिकार, चाहें वे कैसे भी जर्जर और हल्की नीव के हों, अथवा अन्याय ही से क्यों न संगठित हों, सहज मैं नही छोडे जा सकते। भद्रजन उन्हें विचार से काम में लाते है और हठी तथा दुराग्रही उनमें तब तक परिवर्तन भी नहीं करना चाहते, जब तक वे एक बार ही न हटा दिये जायँ।

दौवारिक—**(प्रवेश करके)**—जय हो देव! महामान्य परिषद् के सभ्यगण आये है।

देवदत्त—उन्हे लिवा आओ।

[दौवारिक जाकर लिवा लाता है]

सभ्यगण—सम्राट् की जय हो! **(देवदत्त का अभिवादन करते हैं)**

देवदत्त—राष्ट्र का कल्याण हो। राजा और परिषद् की श्री-वृद्धि हो।

[सब बैठते हैं]

एक सभ्य—क्या आज्ञा है?

अजातशत्रु—आप लोग राष्ट्र के शुभचिन्तक है। जब पिताजी ने यह प्रकाण्ड बोझ मेरे सिर पर रख दिया और मैने इसे ग्रहण किया, तब इसे भी मैने किशोर जीवन का एक कौतुक ही समझा था। किन्तु बात वैसी नही थी! मान्य महोदयो, राष्ट्र मे एक ऐसी गुप्त-शक्ति का कार्य खुले हाथो चल रहा है, जो इस शक्तिशाली मगध-राष्ट्र को उन्नत नही देखना चाहती। और मैने इस बोझ को केवल आप लोगों की शुभेच्छा का सहारा पाकर लिया था। आप लोग बताइये कि उस शक्ति का दमन आप लोगों को अभीष्ट है कि नही? या अपने राष्ट्र और सम्राट् को आप लोग अपमानित करना चाहते है?

दूसरा सभ्य—कभी नही। मगध का राष्ट्र सदैव गर्व से उन्नत रहेगा और विरोधी शक्तियाँ पददलित होंगी।

देवदत्त—कुछ मै भी कहना चाहता हूँ। ऐसे समय जब मगध का राष्ट्र अपने यौवन मे पैर रख रहा है, तब विद्रोह की आवश्यकता नही, राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को उसकी उन्नति सोचनी चाहिये। राजकुल के कौटुम्बिक झगडो से और राष्ट्र से कोई ऐसा सम्बन्ध नही कि उनके पक्षपाती होकर हम अपने देश की और जाति की दुर्दशा करावें। सम्राट् की विमाता बार-बार विप्लव की सूचना दे रही हैं। यद्यपि महामान्य सम्राट् बिम्बिसार ने अपने सब अधिकार अपनी सुयोग्य सन्तान को दे दिये है, फिर भी ऐसी दुश्चेष्टा क्यों की जा रही है? काशी, जो कि बहुत दिनों से मगध का एक सम्पन्न प्रान्त रहा है, वासवी देवी के षड्यन्त्र से राजस्व देना अस्वीकार करता है। वह कहता है कि मैं कोसल का दिया हुआ वासवी देवी का रक्षित धन हूँ। क्या ऐसे सुरम्य और धनी प्रदेश को मगध छोड़ देने को प्रस्तुत है?

क्या फिर इसी तरह और प्रदेश भी स्वतन्त्र होने की चेष्टा न करेंगे ? क्या इसी में राष्ट्र का कल्याण है ?

सभ्यगण—कभी नही, कभी नही। ऐसा कदापि न होने पावेगा।

अजातशत्रु—तब आप लोग मेरा साथ देने के लिए पूर्ण रूप से प्रस्तुत हैं ? देश को अपमान से बचाना चाहते है ?

सभ्यगण —अवश्य ! राष्ट्र के कल्याण के लिए प्राण तक विसर्जन किया जा सकता है, और हम सब ऐसी प्रतिज्ञा करते है।

देवदत्त -तथास्तु ! क्या इसके लिए कोई नीति आप लोग निर्धारित करेंगे ?

एक सभ्य—मेरी विनीत सम्मति है कि आप ही इस परिषद् के प्रधान बनें और नवीन सम्राट् को अपनी स्वतन्त्र सम्मति देकर राष्ट्र का कल्याण करे, क्योंकि आप सदृश महात्मा सर्वलोक के हित की कामना रखते हैं। राष्ट्र का उद्धार करना भी भारी परोपकार है।

अजातशत्रु—यह मुझे भी स्वीकार है।

देवदत्त मेरी सम्मत्ति है कि साम्राज्य का सैनिक अधिकार स्वयं लेकर सेनापति के रूप मे कोसल के साथ युद्ध और उसका दमन करने के लिए अजातशत्रु को अग्रसर होना चाहिये। समुद्रदत्त गुप्त प्रणिधि बनकर काशी जावे और प्रजा को मगध के अनुकूल बनावे, तथा शासन-भार परिषद् अपने सिर पर ले।

दूसरा सभ्य यदि सम्राट् बिम्बिसार इसमे अपमान समझे ?

देवदत्त—जिसने राज्य अपने हाथ से छोड़कर स्त्री की वश्यता स्वीकार कर ली, उसे इसका ध्यान भी नहीं हो सकता। फिर भी उनके समस्त व्यवहार वासवी देवी की अनुमति से होगे **(सोचकर)**—और भी एक बात है, मै भूल गया था, वह यह कि इस कार्य को उत्तम रूप मे चलाने के लिए महादेवी छलना परिषद् की देखरेख किया करे।

समुद्रदत्त—यदि आज्ञा हो, तो मै भी कुछ कहूँ।

परिषदगण— हाँ, हाँ, अवश्य।

समुद्रदत्त -यह एक भी सफल नहीं होगा, जब तक वासवी देवी के हाथ-पैर चलते रहेगे। यदि आप लोग राष्ट्र का निश्चित कल्याण चाहते है, तो पहले इसका प्रबन्ध करे।

देवदत्त -तुम्हारा तात्पर्य क्या है ?

समुद्रदत्त—यही कि वासवी देवी को महाराज बिम्बिसार से अलग तो किया नही जा सकता -फिर भी आवश्यकता से बाध्य होकर उपवन की रक्षा पूर्णरूप से होनी चाहिये।

तीसरा सभ्य—क्या महाराज बन्दी बनाए जायँगे ? मैं ऐसी मन्त्रणा का विरोध करता हूँ। यह अनर्थ है ! अन्याय है !

देवदत्त—ठहरिये ! अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण कीजिये और विषय के गौरव को मत भुला दीजिये। समुद्रदत्त सम्राट् बिम्बिसार को बन्दी नही बनाना चाहता, किन्तु नियन्त्रण चाहता है, सो भी किस पर, केवल वासवी देवी पर, जो कि मगध की गुप्त शत्रु हैं। इसका और कोई दूसरा सरल उपाय नही। यह किसी पर प्रकट करके सम्राट् का निरादर न किया जाय, किन्तु युद्धकाल की राज-मर्यादा कहकर अपना काम निकाला जाय, क्योकि ऐसे समय मे राजकुल की विशेष रक्षा होनी चाहिये।

तीसरा सभ्य—तब मेरा कोई विरोध नही।

अजातशत्रु—फिर, आप लोग आज की इस मन्त्रणा से सहमत है ?

सभ्यगण—हम सबको स्वीकार है।

अजातशत्रु—तथास्तु।

[सब जाते है]

दृश्यान्तर

द्वितीय दृश्य

[स्थान—पथ, मार्ग में बन्धुल]

बन्धुल—(स्वगत)—इस अभिमानी राजकुमार से तो मिलने की इच्छा भी नही थी, किन्तु क्या करूँ, उसे अस्वीकार भी तो नही कर सका। कोसल-नरेश ने जो मुझे काशी का सामन्त बनाया है, वह मुझे अच्छा नही लगता, किन्तु राजा की आज्ञा। मुझे तो सरल और सैनिक-जीवन ही रुचिकर है। सामन्त का यह आडम्बर-पूर्ण पद कपटाचरण की सूचना देता है। महाराज प्रसेनजित् ने कहा कि 'शीघ्र ही मगध काशी पर अधिकार करना चाहेगा, इसलिये तुम्हारा वहाँ जाना आवश्यक है।' यहाँ का दण्डनायक तो मुझसे प्रसन्न है। अच्छा देखा जायगा—(टहलता है)—यह समझ मे नही आता कि एकान्त मे कुमार क्यो मुझसे मिलना चाहता है !

[विरुद्धक का प्रवेश]

विरुद्धक—सेनापते ! कुशल तो है ?

बन्धुल——कुमार की जय हो ! क्या आज्ञा है ? आप अकेले क्यो हैं ?

विरुद्धक—मित्र बन्धुल ! मैं तो तिरस्कृत राज-सन्तान हूँ। फिर अपमान सहकर, चाहे वह पिता का सिंहासन क्यो न हो, मुझे रुचिकर नही।

बन्धुल—राजकुमार ! आपको सम्राट् ने निर्वासित तो किया नहीं, फिर आप क्यों इस तरह अकेले घूमते है ? चलिये—काशी का सिंहासन आपको मैं दिला सकता हूँ।

विरुद्धक—नहीं बन्धुल ! मैं दया से दिया हुआ दान नहीं चाहता, मुझे तो अधिकार चाहिये, स्वत्त्व चाहिये।

बन्धुल—फिर आप क्या करेंगे ?

विरुद्धक—जो कर रहा हूँ।

बन्धुल—वह क्या ?

विरुद्धक—मैं बाहुबल से उपार्जन करूँगा। मृगया करूँगा। क्षत्रिय-कुमार हूँ, चिन्ता क्या है ? स्पष्ट कहता हूँ बन्धुल, मैं साहसिक हो गया हूँ। अब वही मेरी वृत्ति है। राज्य-स्थापन के पहले मगध के भूपाल भी तो यही किया करते थे !

बन्धुल—सावधान ! राजकुमार ! ऐसी दुराचार की बात न सोचिये यदि आप इस पथ से नहीं लौटते, तब मेरा भी कुछ कर्त्तव्य होगा, जो आपके लिए बड़ा कठोर होगा। आतंक का दमन करना प्रत्येक राजपुरुष का कर्म है, यह युवराज को भी मानना ही पड़ेगा।

विरुद्धक—मित्र बन्धुल ! तुम बड़े सरल हो। जब तुम्हारी सीमा के भीतर कोई उपद्रव हो, तो मुझे इसी तरह आवाहित कर सकते हो, किन्तु इस समय तो मैं एक दूसरी—तुम्हारे शुभ की बात कहने आया हूँ। कुछ समझते हो कि तुमको काशी का सामन्त क्यों बनाकर भेजा है ?

बन्धुल—यह तो बड़ी सीधी बात है—कोसल-नरेश इस राज्य को हस्तगत करना चाहते हैं, मगध भी उत्तेजित है, युद्ध की सम्भावना है; इसलिए मैं यहाँ भेजा गया हूँ। मेरी वीरता पर कोसल को विश्वास है।

विरुद्धक—क्या ही अच्छा होता कि कोसल तुम्हारी बुद्धि पर भी अभिमान कर सकता, किन्तु बात कुछ दूसरी ही है।

बन्धुल—वह क्या ?

विरुद्धक—कोसल-नरेश को तुम्हारी वीरता से सन्तोष नहीं; किन्तु आतंक है। राजशक्ति किसी को भी इतना उन्नत नहीं देखना चाहती।

बन्धुल—फिर सामन्त बनाकर मेरा क्यों सम्मान किया गया ?

विरुद्धक—यह एक षड्यन्त्र है जिससे तुम्हारा अस्तित्व न रह जाय।

बन्धुल—विद्रोही राजकुमार ! मैं तुम्हें बन्दी बनाता हूँ। सावधान हो !

[पकड़ना चाहता है]

विरुद्धक—अपनी चिन्ता करो, मैं 'शैलेन्द्र' हूँ।

[विरुद्धक तलवार खींचता हुआ निकल जाता है, बन्धुल भी चकित होकर चला जाता है]

[श्यामा का प्रवेश]

श्यामा—(स्वगत)—रात्रि चाहे कितनी भयानक हो, किन्तु प्रेममयी रमणी के हृदय से भयानक वह कदापि नही हो सकती। यह देखो, पवन मानो किसी डर से धीरे-धीरे साँस ले रहा है। किसी आतंक से पक्षिवृन्द अपने घोंसलों में जाकर छिप गये हैं। आकाश में तारों का झुण्ड नीरव सा है, जैसे कोई भयानक बात देखकर भी वे बोल नही सकते, केवल आपस में इंगित कर रहे है! संसार किसी भयानक समस्या मे निमग्न-सा प्रतीत होता है! किन्तु मै शैलेन्द्र से मिलने आयी हूँ---वह डाकू है तो क्या, मेरी भी अतृप्त वासना है। मागन्धी! चुप, वह नाम क्यों लेती है। मागन्धी कौशाम्बी के महल मे आग लगाकर मरी -अब तो मै श्यामा, काशी की प्रसिद्ध वार-विलासिनी हूँ। बड़े-बड़े राजपुरुष और श्रेष्ठि इसी चरण को छूकर अपने को धन्य समझते है। धन की कमी नही मान का कुछ ठिकाना नही; राजरानी होकर और क्या मिलता था, केवल सापत्न्य ज्वाला की पीड़ा!

[विरुद्धक का प्रवेश]

विरुद्धक—रमणी! तुम क्यो इस घोर कानन मे आयी हो?

श्यामा—शैलेन्द्र, क्या तुम्हे यह बताना होगा! मेरे हृदय मे जो ज्वाला उठ रही है, उसे अब तुम्हारे अतिरिक्त कौन बुझावेगा? तुम मेरे स्नेह की परीक्षा चाहते थे—बोलो, तुम कैसी परीक्षा चाहते हो?

विरुद्धक—श्यामा, मैं डाकू हूँ यदि तुमको इसी समय मार डालूँ!

श्यामा—तुम्हारे डाकूपन का ही विश्वास करके आयी हूँ। यदि साधारण मनुष्य समझती—जो ऊपर से बहुत सीधा सादा बनता है- तो मै कदापि यहाँ आने साहस न करती। शैलेन्द्र, लो यह अपनी नुकीली कटार, इस तड़पते हुए कलेजे मे भोंक दो! **(घुटने के बल बैठ जाती है)**

विरुद्धक—किन्तु श्यामा! विश्वास करने वाले के साथ डाकू भी ऐसा नही करते, उनका भी एक सिद्धान्त होता है। तुमसे मिलने मे इसलिये डरता था कि तुम रमणी हो और वह भी वारविलासिनी; मेरा विश्वास है कि ऐसी रमणियाँ डाकुओं से भी भयानक है।

श्यामा—तो क्या अभी तक तुम्हें मेरा विश्वास नहीं? क्या तुम मनुष्य नही हो, आन्तरिक प्रेम की शीतलता ने तुम्हे कभी स्पर्श नही किया? क्या मेरी प्रणय-भिक्षा असफल होगी? जीवन की कृत्रिमता में दिन-रात प्रेम का बनिज करते-करते क्या प्राकृतिक स्नेह का स्रोत एक बार ही सूख जाता है? क्या वार-विलासिनी प्रेम करना नही जानती? क्या कठोर और क्रूर कर्म करते-करते तुम्हारे हृदय में

चेतनालोक की गुदगुदी और कोमलता स्पन्दन नाम को भी अवशिष्ट नहीं हैं ? क्या तुम्हारा हृदय केवल मांडपिण्ड है ? उसमें रक्त का संचार नही ? नही-नही, ऐसा नही, प्रियतम—**(हाथ पकड़कर गाती हैं)**

बहुत छिपाया, उफन पड़ा अव, सँभालने का समय नही है।
अखिल विश्व मे सतेज फैला अनल हुआ यह प्रणय नही है॥
कही तडप कर गिरे न विजली, कही न वर्षा हो कालिमा की।
तुम्हें न पाकर शशांक मेरे, बना शून्य यह, हृदय नही है॥
तड़प रही है कही कोकिला, कही पपीहा पुकारता है।
यही विरुद क्या तुम्हे सुहाता, कि नील नीरद सदय नही है॥
जली दीपमालिका प्राण की, हृदय-कुटी स्वच्छ हो गयी है।
पलक-पाँवड़े बिछा चुकी हूँ, न दूसरा और भय नही है॥
चपल निकल कर कहाँ चले अब, इसे कुचल दो मृदुल चरण से।
कि आह निकले दबे हृदय से, भला कहो, यह विजय नही है॥

[दोनों हाथ-में-हाथ मिलाये हुए जाते हैं]

दृ श्या न्त र

तृतीय दृश्य

[मल्लिका के उपवन में मल्लिका और शक्तिमती]

मल्लिका—वीर-हृदय युद्ध का नाम सुनकर ही नाच उठता है। शक्तिशाली भुजदण्ड फड़कने लगते है। भला मेरे रोकने से वे रुक सकते थे। कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर तले का कण्टक भी मै नही होना चाहती। यह मेरे अनुराग—सुहाग की वस्तु है। फिर भी उनका कोई स्वतन्त्र आस्तित्व भी है, जो हमारी शृंगार-मंजूषा मे बन्द करके नही रखा जा सकता। महान् हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही कर्तव्य नही है।

शक्तिमती—मल्लिका तेरा कहना ठीक है, किन्तु फिर भी····।

मल्लिका—किन्तु-परन्तु नही। वे तलवार की धार है, अग्नि की भयानक ज्वाला है, और वीरता के वरेण्य दूत है। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध में शक्र भी उनके प्रचण्ड आघातो को रोकने मे असमर्थ है। रानी ! एक दिन मैने कहा कि 'मैं पावा के अमृतसर का जल पीकर स्वस्थ होना चाहती हूँ; पर वह सरोवर पाँच सौ प्रधान मल्लों से सदैव रक्षित रहता है। दूसरी जाति का कोई भी उसमें जल नही पीने पाता।' उसी दिन स्वामी ने कहा कि 'तभी तो तुम्हें वह जल अच्छी तरह पिला सकूँगा।'

शक्तिमती—फिर क्या हुआ ?

मल्लिका—रथ पर अकेले मुझे लेकर वहाँ चले। उस दिन मेरा परम सौभाग्य था, सारी मल्लजाति की स्त्रियाँ मुझ पर ईर्ष्या करती थी। जब मैं अकेली रथ पर बैठी थी, मेरे वीर स्वामी ने उन पाँच सौ मल्लों से अकेले युद्ध आरम्भ किया और मुझे आज्ञा दी—'तुम निर्भय होकर जाओ सरोवर में स्नान करो या जल पी लो।'

शक्तिमती—उस युद्ध मे क्या हुआ ?

मल्लिका—वैसी बाण-विद्या पाण्डवों की कहानी में मैने सुनी थी। देखा, उनके धनुष कटे थे और कमरबंद से ही वे चल सकते थे। जब वे समीप आकर खड्ग-युद्ध मे आह्वान करने लगे, तब स्वामी ने कहा—'पहले अपने शरीर की अवस्था को देखो, मैं अर्द्धमृतक घायलो पर अस्त्र नही चलाता।' फिर उन्होने ललकार कर कहा—'वीर मल्लगण, जाओ, अस्त्रवैद्य से अपनी चिकित्सा कराओ, बीच मे जो अपनी कमरबंद खोलेगा, उसकी मृत्यु निश्चित है !' 'मल्ल-महिलाओं की ईर्ष्या और उस सरोवर का जल स्वेच्छा से पान कर मैं कोसल लौट आयी।

शक्तिमती—आश्चर्य, ऐसी बाण-विद्या तो अब नही देखने मे आती ! ऐसी वीरता तो विश्वास करने की बात ही है, फिर भी मल्लिका ! राजशक्ति का प्रलोभन, उसका आदर—अच्छा नही है, विष का लड्डू है, गन्धर्वनगर का प्रकाश है। कब क्या परिणाम हो—निश्चय नही है और इसी वीरता से महाराज को आतक हो गया है। यद्यपि मैं इस समय निरादृत हूँ, फिर भी मुझसे उनकी बाते छिपी नही है। मल्लिका ! मै तुम्हे बहुत प्यार करती हूँ, इसलिए कहती हूँ—

मल्लिका—क्या कहना चाहती हो रानी !

शक्तिमती—शैलेन्द्र डाकू के नाम गुप्त आज्ञापत्र जा चुका है, कि यदि तुम बन्धुल का वध कर सकोगे, तो तुम्हारे पिछले सब अपराध क्षमा कर दिये जायँगे, और तुम उनके स्थान पर सेनापति बनाये जाओगे।

मल्लिका—किन्तु शैलेन्द्र एक वीर पुरुष है। वह गुप्त हत्या क्यो करेगा ? यदि वह प्रकट रूप से युद्ध करेगा, तो मुझे निश्चय है कि कोसल के सेनापति उसे अवश्य बन्दी बनावेगे।

शक्तिमती—किन्तु मैं जानती हूँ कि वह ऐसा ही करेगा, क्योकि प्रलोभन बुरी वस्तु है।

मल्लिका—रानी ! बस करो ! मैं प्राणनाथ को अपने कर्तव्य से च्युत नही करा सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नही कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नही होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा—जब तक कि स्वयं राजा, राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाय।

शक्तिमती—क्या करूँ ! मल्लिका, मुझे दया आती है और तुमसे स्नेह भी है, क्योंकि तुम्हें पुत्रवधू बनाने की बड़ी इच्छा थी; किन्तु घमण्डी कोसल नरेश ने उसे अस्वीकार किया। मुझे इसका बड़ा दुःख है; इसीलिये तुम्हें सचेत करने आई थी।

मल्लिका—बस, रानी बस ! मेरे लिये मेरी स्थिति अच्छी है और तुम्हारे लिये तुम्हारी। तुम्हारे दुर्विनीत राजकुमार से न ब्याही जाने मे मैं अपना सौभाग्य ही समझती हूँ। दूसरे की क्यों, अपनी ही दशा देखो, कोसल की महिषी बनी थीं, अब--

शक्तिमती—**(क्रोध से)**—मल्लिका, सावधान ! मैं जाती हूँ। **(प्रस्थान)**

मल्लिका—गर्वीली स्त्री, तुझे राजपद की बड़ी अभिलाषा थी, किन्तु मुझे कुछ नही, केवल स्त्री-सुलभ सौजन्य और समवेदना तथा कर्तव्य और धैर्य की शिक्षा मिली है। भाग्य जो कुछ दिखावे।

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[काशी में श्यामा अपने गृह में बैठी है]

श्यामा—**(स्वगत)**—शैलेन्द्र ! यह तुमने क्या किया—मेरी प्रणयलता पर कैसा वज्रपात किया ! अभागे बन्धुल को ही क्या पडी थी कि उसने द्वन्द्वयुद्ध का आह्वान स्वीकार कर लिया ! कोसल का प्रधान सेनापति छल से मारा गया है और उसी के हाथ से घायल होकर तुम भी बन्दी हुए। प्रिय शैलेन्द्र ! तुम्हे किस तरह बचाऊँ—**(सोचती है)**

समुद्रदत्त—**(प्रवेश करते)** श्यामा ! तम्हारे रूप की प्रशंसा सुनकर यहाँ चले आने का साहस हुआ है। क्या मैंने कुछ अनुचित किया ?

श्यामा—**(देखती हुई)**—नही श्रीमान्, यह तो आपका घर है। श्यामा आतिथ्य-धर्म को भूल नही सकती—यह कुटीर आपकी सेवा के लिए सदैव प्रस्तुत है। सम्भवतः आप परदेसी है और इस नगर में नवागत व्यक्ति है। बैठिये—क्या आज्ञा है ? •

समुद्रगुप्त—**(बैठता हुआ)**—हाँ सुन्दरि, मै नवागत व्यक्ति हूँ, किन्तु एक बार और आ चुका हूँ—तभी तुम्हारे रूप की ज्वाला ने मुझे पतंग बनाया था, अब उसमें जलने के लिए आया हूँ। भला इतनी सी कृपा होगी ?

श्यामा—मैं आपसे विनती करती हूँ कि पहले आप ठण्ढे होइये और कुछ थकावट मिटाइये, फिर बातें होंगी। विजया ! श्रीमान् को विश्राम-गृह मे लिवा जा।

[विजया आती है और समुद्रदत्त को लिवा जाती है]

[एक दासी का प्रवेश]

दासी—स्वामिनी ! दण्डनायक ने कहा है कि श्यामा की आज्ञा ही मेरे लिए सब कुछ है। हजार मोहरों की आवश्यकता नही, केवल एक मनुष्य उसके स्थान पर चाहिये, क्योंकि सेनापति की हत्या हो गयी है, और यह बात भी छिपी नही है कि शैलेन्द्र पकड़ा गया है। तब, उसका कोई प्रतिनिधि चाहिये जो रातोरात सूली पर चढ़ा दिया जाय। अभी किसी ने उसे पहचाना भी नहीं है।

श्यामा—अच्छा, सुन चुकी। जा, शीघ्र संगीत का सम्भार ठीक कर; एक बड़े सम्भ्रान्त सज्जन आये है। शीघ्र जा, देर न कर—

[दासी जाती है]

(स्वगत)—स्वर्ण-पिञ्जर मे भी श्यामा को क्या वह सुख मिलेगा—जो उसे हरी डालो पर कसैले फलों को चखने मे मिलता है ? मुक्त नील गगन मे अपने छोटे-छोटे पंख फैलाकर जब वह उडती है, तब जैसी उसकी सुरीली तान होती है, उसके सामने तो सोने के पिंजड़े मे उसका गान क्रन्दन ही है। मै उसी श्यामा की तरह, जो स्वतन्त्र है, राजमहल की परतन्त्रता से बाहर आयी हूँ। हँसूंगी और हँसाऊँगी, रोऊँगी और रुलाऊँगी ! फूल की तरह आयी हूँ, परिमल की तरह चली जाऊँगी। स्वप्न की चन्द्रिका मे मलयानिल की सेज पर खेलूंगी। फूलो की धूल से अंगराग बनाऊँगी, चाहे उसमे कितनी ही कलियाँ क्यो न कुचलनी पडे ! चाहे कितनो ही के प्राण जायें, मुझे कुछ चिन्ता नही ! कुम्हला कर, फूलो को कुचल देने मे ही सुख है।

[समुद्रदत्त का प्रवेश]

श्यामा—(खड़ी होकर)—कोई कष्ट तो नही हुआ ? दासियाँ दुर्विनीत होती हैं, क्षमा कीजियेगा।

समुद्रदत्त—सुन्दरियो की तुम महारानी हो और तुम वास्तव में उसी तरह रहती भी हो, तब, जैसा गृहस्थ होगा, वैसे ही आतिथ्य की भी सम्भावना है—बड़ा सुख मिला, हृदय शीतल हो गया !

श्यामा—आप तो मेरी प्रशंसा करके मुझे बार-बार लज्जित करते है।

समुद्रदत्त—सुन्दरी ! मैं कह तो नही सकता; किन्तु मैं बिना मूल्य का दास हूँ। अनुग्रह करके कोमल कण्ठ मे कुछ सुनाओ।

श्यामा—जैसी आज्ञा।

[बजाने वाले आते हैं]

[गान और नृत्य]

चला है मन्थर गति में पवन रसीला नन्दन कानन का
नन्दन कानन का, रसीला नन्दन कानन का ।।चला है०।।

फूलों पर आनन्द भैरवी गाते मधुकर वृन्द,
बिखर रही है किस यौवन की किरण, खिला अरविन्द,
ध्यान है किसके आनन का
नन्दन कानन का, रसीला नन्दन कानन का ।।चला है०।।
उषा सुनहला मद्य पिलाती, प्रकृति बरसती फूल,
मतवाले होकर देखो तो विधि-निषेध को भूल,
आज कर लो अपने मन का।
नन्दन कानन का रसीला नन्दन कानन का ।।चला है०।।

समुद्रदत्त—अहा ! श्यामा का-सा कण्ठ भी है। सुन्दरी, तुम्हारी जैसी प्रशंसा सुनी थी, वैसी ही तुम हो ! एक बार इस तीव्र मादकता को और पिला दो। पागल हो जाने के लिए इन्द्रियाँ प्रस्तुत हैं।

[श्यामा इंगित करती है, सब जाते हैं]

श्यामा—क्षमा कीजिये, मैं इस समय बड़ी चिन्तित हूँ, इस कारण आपको प्रसन्न न कर सकी। अभी दासी ने आकर एक बात ऐसी कही है कि मेरा चित्त चञ्चल हो उठा। केवल शिष्टाचारवश इस समय मैंने आपको गाना सुनाया—

समुद्रदत्त—वह कैसी बात है, क्या मैं भी सुन सकता हूँ ?

श्यामा—**(संकोच से)**—आप अभी तो विदेश से आ रहे हैं, मुझसे कोई घनिष्ठता भी नहीं, तब कैसे अपना हाल कहूँ।

समुद्रदत्त—सुन्दरि ! यह तुम्हारा संकोच व्यर्थ है।

श्यामा—मेरा एक सम्बन्धी किसी अपराध में बन्दी हुआ है, दण्डनायक ने कहा है कि यदि रात-भर में मेरे पास हजार मोहरें पहुँच जायँ, तो मैं इसे छोड़ दूँगा नहीं तो नहीं। **(रोती है)**

समुद्रदत्त—तो इसमें कौन-सी चिन्ता की बात है। मैं देता हूँ; इन्हें भेज दो। **(स्वगत)**—मैं भी तो षड्यंत्र करने आया हूँ—इसी तरह दो-चार अन्तरंग मित्र बना लूँगा, जिसमें समय पर काम आवें। दण्डनायक से भी समझ लूँगा—कोई चिंता नहीं।

श्यामा—**(मोहरों की थैली देकर)**—तो दासी पर दया करके इसे दे आइये, क्योंकि मैं किस पर विश्वास करके इतना धन भेज दूँ ! और यदि आपको पहचाने जाने की शंका हो तो मैं आपका अभी वेश बदल दे सकती हूँ।

समुद्रदत्त—अजी, मोहरें तो मेरे पास हैं, इनकी क्या आवश्यकता है ?

श्यामा—आपकी कृपा है। वह भी मेरी ही है, किन्तु इन्हें ही ले जाइये; नहीं तो आप इसे भी वार-वनिताओं की एक चाल समझियेगा।

समुद्रदत्त—भला यह कैसी बात—सुन्दरी श्यामा, तुम मेरी हँसी उड़ाती हो ! तुम्हारे लिए प्राण प्रस्तुत हैं। बात इतनी ही है कि वह मुझे पहचानता है।

श्यामा—नही, यह तो मेरी पहली बात आपको माननी ही होगी। इतना बोझ मुझ पर न दीजिये कि मैत्री में चतुरता की गन्ध आने लगे और हम लोगों को एक-दूसरे पर शंका करने का अवकाश मिले। मै आपका वेश बदल देती हूँ।

समुद्रदत्त—अच्छा प्रिये ! ऐसा ही होगा। मेरा वेश-परिवर्तन करा दो।

[श्यामा वेश बदलती है और समुद्रदत्त मोहरों की थैली लेकर अकड़ता हुआ जाता है]

श्यामा—जाओ बलि के बकरे, जाओ ! फिर न आना। मेरा शैलेन्द्र, मेरा प्यारा शैलेन्द्र !

तुम्हारी मोहिनी छवि पर निछावर प्राण है मेरे
अखिल भूलोक बलिहारी मधुर मृदु हास पर तेरे

[प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[सेनापति बन्धुल का गृह, मल्लिका और दासी]

मल्लिका—संसार में स्त्रियों के लिये पति ही सब कुछ है, किन्तु हाय ! आज मैं उसी सोहाग से वंचित हो गयी हूँ। हृदय थरथरा रहा है, कण्ठ भरा आता है—एक निर्दय चेतना सब इन्द्रियों को अचेतन और शिथिल बनाये दे रही है। आज ! **(ठहरकर और निःश्वास लेकर)** हे प्रभु ! मुझे बल दो—विपत्तियों को सहन करने के लिए—बल दो ! मुझे विश्वास दो कि तुम्हारी शरण जाने पर कोई भय नहीं रहता, विपत्ति और दुःख उस आनन्द के दास बन जाते हैं, फिर सांसारिक आतंक उसे नही डरा सकते। मैं जानती हूँ कि मानव-हृदय अपनी दुर्बलताओं में ही सबल होने का स्वाँग बनाता है—किन्तु मुझे उस बनावट से, उस दम्भ से, बचा लो ! शान्ति के लिए साहस दो—बल दो !

दासी—स्वामिनी, धैर्य धारण कीजिये।

मल्लिका—सरला ! धैर्य न होता, तो अब तक यह हृदय फट जाता—यह शरीर निस्पन्द हो जाता। यह वैधव्य-दुःख नारी-जाति के लिए कैसा कठोर अभिशाप है, किसी भी स्त्री को इसका अनुभव न करना पड़े।

दासी—स्वामिनी, इस दुःख में भगवान् ही सान्त्वना दे सकेंगे—उन्हीं का अवलम्ब है।

मल्लिका—एक बात स्मरण हो आयी सरला !

दासी—क्या स्वामिनी ?

मल्लिका—सद्धर्म के सेनापति सारिपुत्र मौद्गल्यायन को कल मैं निमन्त्रण दे आयी हूँ, आज वे आवेंगे। देख, यदि न हुआ हो तो भिक्षा का प्रबन्ध शीघ्र कर, जा—शीघ्र जा—(दासी जाती है)—तथागत ! तुम धन्य हो, तुम्हारे उपदेशों से हृदय निर्मल हो जाता है। तुमने संसार को दु:खमय बतलाया और उससे छूटने का उपाय भी सिखाया, कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की; अपवित्रों को अपनाया, दुखियों को गले लगाया, अपनी दिव्य करुणा की वर्षा से विश्व को आप्लावित किया—अमिताभ तुम्हारी जय हो !

[सरला आती है]

सरला—स्वामिनी ! भिक्षा का आयोजन सब ठीक है, कोई चिन्ता नही, किन्तु····

मल्लिका—किन्तु नही, सरला ! मैं भी व्यवहार जानती हूँ, आतिथ्य परम धर्म है। मैं भी नारी हूँ, नारी के हृदय मे जो हाहाकार होता है, वह मैं अनुभव कर रही हूं। शरीर की धमनियाँ खिचने लगती है। जी रो उठता है, तब भी कर्तव्य करना ही होगा।

[सारिपुत्र और आनन्द का प्रवेश]

मल्लिका—जय हो ! अमिताभ की जय हो—दासी वन्दना करती है। स्वागत !

सारिपुत्र—शान्ति मिले—सन्तोष मे तृप्ति हो। देवि ! हम लोग आ गये—भिक्षा प्रस्तुत है ?

मल्लिका—देव ! यथाशक्ति प्रस्तुत है। पावन कीजिये ! चलिये।

[दासी जल लाती है, मल्लिका पैर धुलाती है, दोनों बैठते हैं और भोजन करते हैं। लाते समय स्वर्ण-पात्र दासी से गिरकर टूट जाता है, मल्लिका उसे दूसरा लाने को कहती है]

आनन्द—देवि ! दासी का अपराध क्षमा करना—जितनी वस्तुये बनती है, वे सब बिगड़ने ही के लिये। यही उसका परिणाम था, उसमे बेचारी दासी को कलंक-मात्र था।

मल्लिका—यथार्थ है !

सारिपुत्र—आनन्द ! क्या तुमने समझा कि मल्लिका दासी पर रुष्ट होगी ! क्या तुमने अभी नही पहिचाना ? स्वर्ण पात्र टूटने से इन्हे क्या क्षोभ होगा—स्वामी के मारे जाने का समाचार अभी हम लोगों के आने के थोड़ी ही देर पहले आया है, किन्तु वह भी इन्हें अपने कर्तव्य से विचलित नही कर सका ! फिर यह तो एक

धातुपात्र था ! (मल्लिका से)—तुम्हारा धैर्य सराहनीय है। आनन्द ! तो इस मूर्तिमती धर्म-परायणता से कर्तव्य की शिक्षा लो।

आनन्द—महिमामयी ! अपराध क्षमा हो। आज मुझे विश्वास हुआ कि केवल काषाय धारण कर लेने से ही धर्म पर एकाधिकार नही हो जाता—यह तो चित्त-शुद्धि से मिलता है।

मल्लिका—पतितपावन की अमोघ वाणी ने द्दश्यों की नश्वरता की घोषणा की है। अब मुझे वह मोह की दुर्बलता-सी दिखाई पड़ती है। उस धर्म-शासन से कभी विद्रोह न करूँगी, वह मानव का पवित्र अधिकार है, शान्तिदायक धैर्य का साधन है, जीवन का विश्राम है—(पैर पकड़ती है)—महापुरुष ! आशीर्वाद दीजिये कि मैं इससे विचलित न होऊँ।

सारिपुत्र—उठो देवि ! उठो ! तुम्हें मैं क्या उपदेश करूँ ? तुम्हारा चरित्र, धैर्य का—कर्तव्य का—स्वयं आदर्श है। तुम्हारे हृदय मे अखण्ड शान्ति है। हाँ, तुम जानती हो कि तुम्हारा शत्रु कौन है—तब भी विश्वमैत्री के अनुरोध से, उससे केवल उदासीन ही न रहो, प्रत्युत द्वेष भी न रखो।

[महाराजा प्रसेनजित् का प्रवेश]

प्रसेनजित्—महास्थविर ! मैं अभिवादन करता हूँ। मल्लिका देवी, मैं क्षमा माँगने आया हूँ।

मल्लिका—स्वागत महाराज ! क्षमा किस बात की ?

प्रसेनजित्—नही—मैने अपराध किया है। सेनापति बन्धुल के प्रति मेरा हृदय शुद्ध नही था—इसलिये उनकी हत्या का पाप मुझे भी लगता है।

मल्लिका—यह अब छिपा नही है महाराज ! प्रजा के साथ आप इतना छल, इतनी प्रवञ्चना और कपट-व्यवहार रखते है ! धन्य है।

प्रसेनजित्—मुझे धिक्कार दो—मुझे शाप दो—मल्लिका ! तुम्हारे मुखमण्डल पर तो ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का चिह्न भी नही है। जो तुम्हारी इच्छा हो कहो, मैं उसे पूर्ण करूँगा।

मल्लिका—(हाथ जोड़कर)—कुछ नही महाराज ! आज्ञा दीजिये कि आपके राज्य मे निर्विघ्न चली जाऊँ; किसी शान्तिपूर्ण स्थान मे रहूँ। ईर्ष्या से आपका हृदय प्रलय के मध्याह्न का सूर्य हो रहा है, उसकी भीषणता से बचकर किसी छाया में विश्राम करूँ और कुछ भी मैं नहीं चाहती।

सारिपुत्र—मूर्तिमती करुणे ! तुम्हारी विजय है। (हाथ जोड़ता है)

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[महाराज बिम्बिसार का गृह, बिम्बिसार और वासवी]

बिम्बिसार—रात में ताराओं का प्रभाव विशेष रहने से चन्द्र नही दिखायी देता और चन्द्रमा का तेज बढ़ने से तारे सब फीके पड़ जाते हैं, क्या इसी को शुक्ल-पक्ष और कृष्णपक्ष कहते हैं ? देवि ! कभी तुमने इस पर विचार किया है ।

वासवी—आर्यपुत्र ! मुझे तो विश्वास है कि नीला पर्दा इसका रहस्य छिपाये हैं, जितना चाहता है, उतना ही प्रकट करता है । कभी निशाकर को छाती पर लेकर खेला करता है, कभी ताराओं को बिखेरता और कृष्णा कुहू के साथ क्रीड़ा करता है ।

बिम्बिसार—और कोमल पत्तियों को, जो अपनी डाली मे निरीह लटका करती है, प्रभञ्जन क्यों झिझोड़ता है ?

वासवी—उसकी गति है, वह किसी से कहता नही है कि तुम मेरे मार्ग में अड़ो; जो साहस करता है, उसे हिलना पड़ता है । नाथ ! समय भी इसी तरह चला जा रहा है, उसके लिये पहाड़ और पत्ती बराबर है ।

बिम्बिसार—फिर उसकी गति तो सम नही है, ऐसा क्यों ?

वासवी—यही समझाने के लिए बड़े-बड़े दार्शनिकों ने कई तरह की व्याख्यायें की हैं, फिर भी प्रत्येक नियम में अपवाद लगा दिये है । यह नहीं कहा जा सकता कि यह अपवाद नियम पर है, या नियामक पर । सम्भवतः उसे ही लोग बवण्डर कहते हैं ।

बिम्बिसार—तब तो देवि ! प्रत्येक असम्भावित घटना के मूल में यही बवण्डर है । सच तो यह है कि विश्व-भर मे स्थान-स्थान पर वात्याचक्र है; जल में उसे भँवर कहते हैं, स्थल पर उसे बवण्डर कहते है, राज्य मे विप्लव, समाज में उच्छृंखलता और धर्म में पाप कहते है । चाहे इन्हे नियमों का अपवाद कहो, चाहे बवण्डर—यही न ?

[छलना का प्रवेश]

बिम्बिसार—यह लो, हम लोग तो बवण्डर की बातें करते थे, तुम यहाँ कैसे पहुँच गयी ! राजमाता महादेवी को इस दरिद्र-कुटीर में क्या आवश्यकता हुई ?

छलना—मैं बवण्डर हूँ—इसीलिये जहाँ मैं चाहती हूँ, असम्भावित रूप से चली जाती हूँ और देखना चाहती हूँ कि इस प्रवाह मे कितनी सामर्थ्य है—इसमे आवर्त्त उत्पन्न कर सकती हूँ कि नही !

वासवी—छलना ! बहिन ! तुमको क्या हो गया है ?

छलना—प्रमाद—और क्या। अभी सन्तोष नहीं हुआ? इतना उपद्रव करा चुकी हो, और भी कुछ शेष है?

वासवी—क्यों, अजात तो अच्छी तरह है? कुशल तो है?

छलना—क्या चाहती हो? समुद्रदत्त काशी में मारा ही गया। कोसल और मगध में युद्ध हो रहा है। अजात भी उसमें गया है। साम्राज्य-भर में आतंक है।

बिम्बिसार—युद्ध में क्या हुआ? **(मुँह फिराकर)**—अथवा मुझे क्या?

छलना—शैलेन्द्र नाम के डाकू ने द्वन्द्वयुद्ध में आह्वान करके फिर धोखा देकर कोसल के सेनापति को मार डाला। सेनापति के मर जाने से सेना घबरायी थी, उसी समय अजात ने आक्रमण कर दिया और विजयी हुआ—काशी पर अधिकार हो गया।

वासवी—तब इतना घबराती क्यों हो? अजात को रण-दुर्म्मद साहसी बनाने के लिए ही तो तुम्हे इतनी उत्कण्ठा थी। राजकुमार को तो ऐसी उद्धत शिक्षा तुम्ही ने दी थी, फिर उलाहना क्यों?

छलना—उलाहना क्यों न दूँ—जब कि तुमने जान-बूझकर यह विप्लव खड़ा किया है। क्या तुम इसे नही दबा सकती थी; क्योकि वह तो तुम्हारे पिता से तुम्हे मिला हुआ प्रान्त था।

वासवी—जिसने दिया था, यदि वह ले ले, तो मुझे क्या अधिकार है कि मैं उसे न लौटा दूँ? तुम्ही बतलाओ कि मेरा अधिकार छीनकर जब आर्यपुत्र ने तुम्हे दे दिया, तब भी मैंने कोई विरोध किया था?

छलना—यह ताना सुनने मैं नही आयी हूँ। वासवी, तुमको तुम्हारी असफलता सूचित करने आयी हूँ।

बिम्बसार—तो राजमाता को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी? यह तो एक सामान्य अनुचर भी कर सकता था।

छलना—किन्तु वह मेरी जगह तो नही हो सकता था और सन्देश भी अच्छी तरह से नही कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुडन पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।

बिम्बसार—**(खड़े होकर)**—छलना! मैंने राजदण्ड छोड़ दिया है; किन्तु मनुष्यता ने अभी मुझे नही परित्यक्त किया है। सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी! चली जा। तुझे लज्जा नहीं—बर्बर लिच्छिवि-रक्त!

वासवी—बहिन! जाओ, सिंहासन पर बैठकर राजकार्य देखो। व्यर्थ झगड़ने से तुम्हें क्या सुख मिलेगा? और अधिक तुम्हें क्या कहूँ; तुम्हारी बुद्धि!

[छलना जाती है]

वासवी—(प्रार्थना करती है)

दाता सुमति दीजिये !
मानव-हृदय-भूमि करुणा से सींचकर
बोधन-विवेक-बीज अंकुरित कीजिये
दाता सुमिति दीजिये ॥

[जीवक का प्रवेश]

जीवक—जय हो देव !

बिम्बसार—जीवक, स्वागत। तुम बड़े समय पर आये ! इस समय हृदय बड़ा उद्विग्न था। कोई नया समाचार सुनाओ।

जीवक—कौशाम्बी के समाचार तो लिखकर भेज चुका हूँ। नया समाचार यह है कि मागन्धी का सब षड्यन्त्र खुल गया और राजकुमारी पद्मावती का गौरव पूर्ववत् हो गया। वह दुष्टा मागन्धी महल मे आग लगाकर जल मरी !

बिम्बसार—बेटी पद्मा ! प्राण बचे। इतने दिनों तक बडी दु.खी रही, क्यों जीवक ?

वासवी—और कोसल का क्या समाचार है ? विरुद्धक को भाई ने क्षमा किया या नही ? वह आजकल कहाँ है ?

जीवक—वही तो काशी का शैलेन्द्र है। उसने मगध-नरेश—नही-नहीं—कुमार कुणीक से मिलकर कोसल सेनापति बन्धुल को मार डाला और स्वयं इधर-उधर विद्रोह करता फिर रहा है।

वासवी—यह क्या है ! भगवान् ! बच्चो को यह क्या सूझी है ? क्या यही राजकुल की शिक्षा है ?

जीवक—और महाराज प्रसेनजित् घायल होकर रणक्षेत्र से लौट गये। इधर कोई और नयी बात हुई हो, तो मैं नही जानता।

बिम्बसार—जीवक, अब तुम विश्राम करो। अब और कोई समाचार सुनने की इच्छा नही है। संसार-भर मे विद्रोह, सघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्यन्त्र और प्रतारणा है, यही सब तुम सुनाओगे, ऐसा मुझे निश्चय हो गया। जाने दो। एक शीतल नि.श्वास लेकर तुम विश्व के वात्याचक्र से अलग हो जाओ और इस पर प्रलय के सूर्य की किरणो से तप कर गलते हुए गीले लोहे की वर्षा होने दो। अविश्वास की आँधियों को सरपट दौडने दो। पृथ्वी के प्राणियो मे अन्याय बढे, जिससे दृढ़ होकर लोग अनीश्वरवादी हो जायँ, और प्रतिदिन नयी समस्या हल करते-करते कुटिल कृतघ्न-जीव मूर्खता की धूल उड़ावे—और विश्वभर मे इस पर एक उन्मत्त अट्टहास हो। (उन्मत्त भाव से प्रस्थान)

दृ श्या न्त र

सप्तम दृश्य

[कोसल की सीमा पर मल्लिका की कुटी के द्वारों पर मल्लिका और दीर्घकारायण]

दीर्घकारायण—नहीं, मैं कभी इसका अनुमोदन नही कर सकता ! आप चाहे इसे धर्म समझें; किन्तु साँप को जीवनदान करना कभी भी लोकहितकर नहीं है।

मल्लिका—कारायण ! तुम्हारा रक्त अभी बहुत खौल रहा है। तुम्हारी प्रतिहिंसा की बर्बरता वेगवती है, किन्तु सोचो, विचारो, जिसके हृदय में विश्वमैत्री के द्वारा करुणा का उद्रेक हुआ है, उसे अपकार का स्मरण क्या कभी अपने कर्तव्य से विचलित कर सकता है ?

दीर्घकारायण—आप देवी है। सौरमण्डल से भिन्न जो केवल कल्पना के आधार पर स्थित है, उस जगत् की बातें आप सोच सकती हैं। किन्तु हम इस संघर्षपूर्ण जगत् के जीव हैं, जिसमे कि शून्य भी प्रतिध्वनि देता है, जहाँ किसी को वेग से कंकडी मारने पर वही ककंड़ी—मारने वाले की ओर—लौटने की चेष्टा करती है। इसलिये मैं तो यही कहूँगा कि इस मरणासन्न—घमण्डी और दुर्वृत्त कोसल-नरेश की रक्षा आपको नहीं करनी चाहिये।

मल्लिका—अपना कर्त्तव्य मैं अच्छी तरह जानती हूँ। करुण की विजय-पताका के नीचे हमने प्रयाण करने का दृढ़ विचार करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली है। अब एक पग भी पीछे हटने का अवकाश नही। विश्वासी सैनिक के समान नश्वर जीवन का बलिदान करूँगी—कारायण !

दीर्घकारायण—तब मैं जाता हूँ—जैसी इच्छा !

मल्लिका—ठहरो, मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूँ। क्या तुम इस युद्ध में नही गये थे ? क्या तुमने अपने हाथों से जान-बूझकर कोसल को पराजित होने नहीं दिया ? क्या सच्चे सैनिक के समान ही तुम इस रण-क्षेत्र मे खड़े थे और तब भी कोसलनरेश की यह दुर्दशा हुई ? जब तुम इस लघु सत्य को पालने में असमर्थ हुए, तब तुमसे और महान् स्वार्थ-त्याग की क्या आशा की जाय ! मुझे विश्वास है कि यदि कोसल की सेना अपने सत्य पर रहती, तो यह दुःखद घटना न होने पाती।

दीर्घकारायण—इसमें मेरा क्या अपराध है ? जैसी सबकी वैसी ही मेरी भी इच्छा थी। **(कुटी से घायल प्रसेनजित् निकलता है)**

प्रसेनजित्—देवि, तुम्हारे उपकारों का बोझ मुझे असह्य हो रहा है। तुम्हारी शीतलता ने इस जलते हुए लोहे पर विजय प्राप्त कर ली है। बार-बार क्षमा माँगने पर हृदय को सन्तोष नही होता। अब मैं श्रावस्ती जाने की आज्ञा चाहता हूँ।

मल्लिका—सम्राट् ! क्या आपको मैंने बन्दी कर रखा है ? यह कैसा प्रश्न ! बड़ी प्रसन्नता से आप जा सकते हैं !

प्रसेनजित्—नही, देवि ! इस दुराचारी के पैरों में तुम्हारे उपकारों की बेड़ी और हाथों में क्षमा की हथकड़ी पड़ी है। जब तक तुम कोई आज्ञा देकर इसे मुक्त नहीं करोगी, यह जाने में असमर्थ है।

मल्लिका—कारायण ! यह तुम्हारे सम्राट् है—जाओ, इन्हें राजधानी तक सकुशल पहुँचा दो, मुझे तुम्हारे बाहुबल पर भरोसा है, और चरित्र पर भी।

प्रसेनजित्—कौन कारायण, सेनापति बन्धुल का भागिनेय ?

दीर्घकारायण—हाँ श्रीमान्। वही कारायण अभिवादन करता है।

प्रसेनजित्—कारायण ! माता ने आज्ञा दी है, तुम मुझे कल तक पहुँचा दोगे ? देखो जननी की यह मूर्ति ! विपद में बच्चे की तरह उसने मेरी सेवा की है। क्या तुम इसमें भक्ति करते हो ? यदि तुमने इन दिव्य चरणो की भक्ति पायी है, तो तुम्हारा जीवन धन्य है। **(मल्लिका का पैर पकड़ता है)**

मल्लिका—उठिये सम्राट् ! उठिये। मर्यादा भंग करने का आपको भी अधिकार नही है।

प्रसेनजित्- यदि आज्ञा हो तो मै दीर्घकारायण को अपना सेनापति बनाऊँ और इसी वीर में स्वर्गीय सेनापति बन्धुल की प्रतिकृति देखकर अपने कुकर्म का प्रायश्चित करूँ। देवि ! मै स्वीकार करता हूँ कि महात्मा बन्धुल के साथ मैंने घोर अन्याय किया है। और आपने क्षमा करके मुझे कठोर दण्ड दिया है। हृदय में इसकी बड़ी ज्वाला है। देवि ! एक अभिशाप तो दे दो, जिसमे नरक की ज्वाला शान्त हो जाय और पापी प्राण निकलने में सुख पावे।

मल्लिका—अतीत के वज्र-कठोर हृदय पर जो कुटिल रेखा-चित्र खिंच गये हैं, वे क्या कभी मिटेंगे ? यदि आपकी इच्छा है तो वर्तमान मे कुछ रमणीय सुन्दर चित्र खीचिये, जो भविष्य मे उज्ज्वल होकर दर्शको के हृदय को शान्ति दें। दूसरों को सुखी बनाकर सुख पाने का अभ्यास कीजिये।

प्रसेनजित्—आपका आशीर्वाद सफल हो ! चलो कारायण !

[दोनों नमस्कार करके जाते हैं]

मल्लिका—**(प्रार्थना करती है)**

अधीर हो न चित्त विश्व-मोह-जाल में।
यह वेदना-विलोल-बीचि-मय समुद्र है॥
है दुःख का भँवर चला कराल चाल मे।
वह भी क्षणिक, इसे कही टिकाव है नही॥
सब लौट जायँगे उसी अनन्त काल में।—अधीर०॥

अजातशत्रु—(प्रवेश करके)—कहाँ गया ! मेरे क्रोध का कन्दुक, मेरी क्रूरता का खिलौना, कहाँ गया ? रमणी ! शीघ्र बता—वह घमण्डी कोसल-सम्राट् कहाँ गया ?

मल्लिका—शान्त हो राजकुमार कुणीक ! शान्त हो। तुम किसे खोजते हो ? बैठो। अहा, यह सुन्दर मुख, इसमें भयानकता क्यों ले आते हो ? सहज सुन्दर वदन को क्यों विकृत करते हो ? शीतल हो, विश्राम लो। देखो, यह अशोक की शीतल छाया तुम्हारे हृदय को कोमल बना देगी, बैठ जाओ।

अजातशत्रु—(मुग्ध-सा बैठ जाता है)—क्या यहीं प्रसेनजित् नहीं रहा अभी मुझे गुप्तचर ने समाचार दिया है।

मल्लिका—हाँ, इसी आश्रम में उनकी शुश्रूषा हुई है और वे स्वस्थ होकर अभी-अभी गये हैं। पर तुम उन्हें लेकर क्या करोगे ? तुम उष्ण रक्त चाहते हो, या इस दौड़-धूप के बाद शीतल हिम-जल ? युद्ध मे जब यशार्जन कर चुके, तब हत्या करके क्या अब हत्यारे बनोगे ? वीरों को विजय की लिप्सा होनी चाहिये, न कि हत्या की।

अजातशत्रु—देवि, आप कौन है ? हृदय नम्र होकर आप-ही-आप प्रणाम करने को झुक रहा है। ऐसी पिघला देने वाली वाणी तो मैंने कभी नहीं सुनी।

मल्लिका—मैं स्वर्गीय कोसल-सेनापति की विधवा हूँ, जिसके जीवन से तुम्हारी बड़ी हानि थी और उसे षड्यन्त्र के द्वारा मरवा कर तुमने काशी का राज्य हस्तगत किया है।

अजातशत्रु—यह षड्यन्त्र स्वयं कोसल-नरेश का था, क्या यह आप नहीं जानतीं ?

मल्लिका—जानती हूँ, और यह भी जानती हूँ कि सब मृत्पिंड इसी मिट्टी में मिलेंगे।

अजातशत्रु—तब भी आपने उस अधम जीवन की रक्षा की ! ऐसी क्षमा ! आश्चर्य ! यह देव-कर्तव्य····!

मल्लिका—नहीं राजकुमार, यह देवता का नही, मनुष्य का कर्तव्य है। उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता मानव-हृदय के लिये ही बने हैं।

अजातशत्रु—क्षमा हो देवि ! मैं जाता हूँ—अब कोसल पर आक्रमण नहीं करूँगा। इच्छा थी कि इसी समय इस दुर्बल राष्ट्र को हस्तगत करूँ, किन्तु नहीं; अब लौट जाता हूँ।

मल्लिका—जाओ, गुरुजनों को सन्तुष्ट करो।

[अजातशत्रु जाता है]

दृ श्या न्त र

अष्टम दृश्य

[श्रावस्ती के उपवन में श्यामा और शैलेन्द्र मद्यपान करते हुए]

शैलेन्द्र—प्रिये ! यहाँ आकर मन बहल गया।

श्यामा—क्या वहाँ मन नहीं लगता था ? क्या रूप-रस से तृप्ति हो गयी ?

शैलेन्द्र—नहीं श्यामा ! तुम्हारे सौन्दर्य ने तो मुझे भुला दिया है कि मैं डाकू था। मैं स्वयं भूल गया हूँ कि मैं कौन था, मेरा उद्देश्य क्या था, और तुम ! एक विचित्र पहेली हो। हिंस्र पशु को पालतू बना लिया, आलसपूर्ण सौन्दर्य की तृष्णा मुझे किस लोक में ले जा रही है ! तुम क्या हो सुन्दरि ? (पान करता है)

श्यामा—(गाती है)—

निर्जन गोधूली प्रान्तर में खोले पर्णकुटी के द्वार,
दीप जलाए बैठे थे तुम किए प्रतीक्षा पर अधिकार।
बटमारों से ठगे हुए की ठुकराए की लाखों से,
किसी पथिक की राह देखते अलस अकम्पित आँखों से—
पलकें झुकीं यवनिका-सी थीं अन्तस्तल के अभिनय में।
इधर वेदना श्रम-सीकर आँसू की बूँदे परिचय में।
फिर भी परिचय पूछ रहे हो, विपुल विश्व में किसको दूँ ?
चिनगारी श्वासों में उठती, रो लूँ, ठहरो दम ले लूँ
निर्जन कर दो क्षण भर कोने में, उस शीतल कोने में,
यह विश्राम सँभल जायेगा सहज व्यथा के सोने में।
बीती वेला, नील गगन तम, छिन्न विपञ्ची, भूला प्यार,
क्षपा-सदृश छिपना है फिर तो परिचय देंगे आँसू-हार

[शैलेन्द्र उसे पान कराता है]

शैलेन्द्र—ओह, मैं बेसुध हो चला हूँ—इस संगीत के साथ सौन्दर्य और सुरा ने मुझे अभिभूत कर लिया है। तब यही सही।

[दोनों पान करते हैं, श्यामा सो जाती है]

शैलेन्द्र—(स्वगत)—काशी के उस संकीर्ण भवन में छिपकर रहते-रहते चित्त घबरा गया था। समुद्रदत्त के मारे जाने का मैं ही कारण था. इसीलिये प्रकाश्य रूप से अजातशत्रु से मिलकर कोई कार्य भी नही कर सकता था। इस पामरी की गोद में मुँह छिपाकर कितने दिन बिताऊँ ? हमारे भावी कार्यों में अब यह विघ्नस्वरूप हो रही है। यह प्रेम दिखाकर मेरी स्वतन्त्रता हरण कर रही है। अब नहीं, इस गर्त्त में अब नही गिरा रहूँगा। कर्मपथ के कोमल और मनोहर कण्टकों को कठोरता से, निर्दयता से—हटाना ही पड़ेगा। तब, आज से अच्छा समय कहाँ।

[श्यामा सोयी हुई भयानक स्वप्न देख रही है, उससे चौंक कर उठती है]

श्यामा—शैलेन्द्र····

शैलेन्द्र—क्यों प्रिये !

श्यामा—प्यास लगी है।

शैलेन्द्र—क्या पियोगी ?

श्यामा—जल।

शैलेन्द्र—प्रिये ! जल तो नही है। यह शीतल पेय है, पी लो।

श्यामा—विष ! ओह सिर घूम रहा है। मै बहुत पी चुकी हूँ। अब···जल···· भयानक स्वप्न। क्या तुम मुझे जलते हुए हलाहल की मात्रा पिला दोगे ! **(अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से देखती हुई)**

> अमृत हो जाएगा, विष भी पिला दो हाथ से अपने।
> पलक ये छक चुके हैं चेतना उसमे लगी कँपने ॥
> विकल है इन्द्रियाँ, हाँ देखते इस रूप के सपने।
> जगत विस्मृत हृदय पुलकित लगा वह नाम है जपने ॥

शैलेन्द्र—छि· ! यह क्या कह रही हो ? कोई स्वप्न देख रही हो क्या ? लो थोड़ी पी लो **(पिला देता है)**

श्यामा—मैंने अपने जीवन भर मे तुम्ही को प्यार किया है। तुम मुझे धोखा तो नही दोगे ? ओह ! कैसा भयानक स्थान हैं ! उसी स्वप्न की तरह····

शैलेन्द्र—क्या बक रही हो ! सो जाओ, वन-विहार से थकी हो।

श्यामा—**(आँखें बन्द किये हुए)**—क्यो यहाँ ले आये ! क्या घर मे सुख नहीं मिलता था ?

शैलेन्द्र—कानन की हरी-भरी शोभा देखकर जी बहलाना चाहिये, क्यों तुम इस प्रकार बिछली जा रही हो।

श्यामा—नही नही, मै आँख न खोलूंगी, डर लगता है, तुम्ही पर मेरा विश्वास है, यही रहो **(निद्रित होती है)**

शैलेन्द्र—**(स्वगत)**—सो गयी ! आह ! हृदय मे एक वेदना उठती है—ऐसी सुकुमार वस्तु ! नही-नही ! किन्तु विश्वास के बल पर ही इसने समुद्रदत्त के प्राण लिये ! यह नागिन है, पलटते देर नही। मुझे अभी प्रतिशोध लेना है····दावाग्नि-सा बढ़कर फैलना है, उसमे चाहे सुकुमार तृण-कुसुम हो अथवा विशाल शालवृक्ष; दावाग्नि या अन्धड़ छोटे-छोटे फूलो को बचाकर नही चलेगा। तो बस····

श्यामा—**(जगकर)**—शैलेन्द्र ! विश्वास ! देखो कही····ओह भयानक···· **(आँखें बन्द कर लेती है)**

शैलेन्द्र—तब देर क्या ! कही कोई आ जायगा ! फिर—(श्यामा का गला घोंटता है वह क्रन्दन करके शिथिल हो जाती है) बस चलें, पर नही, धन की आवश्यकता है (आभूषण उतारकर ले जाता है)

[गौतम बुद्ध और आनन्द का प्रवेश]

आनन्द—भगवान् ! देवदत्त ने तो अब बड़े उपद्रव मचाये। तथागत को कलंकित और अपमानित करने के लिए उसने कौन-से उपाय नही किये ? उसे इसका फल मिलना चाहिये।

गौतम—यह मेरा काम नही—वेदना और संज्ञाओ का दु:ख अनुभव करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। हमे अपना कर्त्तव्य करना चाहिये, दूसरों के मलिन कर्मों को विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पडती है।

आनन्द—देखिये, अभी चिञ्चा माणविका को लेकर उसने कितना बड़ा अपवाद लगाना चाहा था—केवल आपकी मर्यादा गिरा देने की इच्छा से।

गौतम—किन्तु सत्य सूर्य को कही कोई चलनी से ढक लेगा ? इस क्षणिक प्रवाह मे सब विलीन हो जायँगे। मुझे अकार्य करने से क्या लाभ ! चिञ्चा को ही देखा, अब वह बात खुल गयी कि उसे गर्भ नही है, वह केवल मुझे अपवाद लगाना चाहती थी। तभी तो उसकी कैसी दुर्गति हुई। शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करते रहना चाहिये। दूसरो की ओर उदासीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है। आनन्द, दूसरो का अपकार सोचने से अपना हृदय भी कलुषित होता है।

आनन्द—यथार्थ है प्रभु (श्यामा के शव को देखकर) अरे यह क्या ! चलिये गुरुदेव ! यहाँ से शीघ्र हट चलिये। देखिए, अभी यहाँ कोई काण्ड घटित हुआ है।

गौतम—अरे, यह तो कोई स्त्री है. उठाओ आनन्द ! इसे सहायता की आवश्यकना है।

आनन्द—तथागत आपके प्रतिद्वन्द्वी इससे बडा लाभ उठावेंगे। यह मृतक स्त्री विहार मे ले जाकर क्या आप कलकित होना चाहते है।

गौतम—क्या करुणा का आदेश कलंक के डर से भूल जाओगे ? यदि हम लोगों की सेवा से वह कष्ट से मुक्त हो गयी तब ? और मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि यह मरी नही है। आनन्द, विलम्ब न करो। यदि यह यो ही पडी रही, तब भी तो विहार के पीछे ही है। उस अपवाद से हम लोग कहाँ बचेंगे ?

आनन्द—प्रभु, जैसी आज्ञा।

[श्यामा को उठाकर ले जाते हैं]

[शैलेन्द्र का प्रवेश]

शैलेन्द्र—उसे कोई उठा ले गया। चलो मैं भी उसके घर मे जो कुछ था ले

आया। अब कहाँ चलना चाहिये। श्रावस्ती तो अपनी राजधानी है; पर यहाँ अब एक क्षण भी मैं नहीं ठहरूँगा। माता से भेंट हो चुकी, इतना द्रव्य भी हाथ लगा। बस कारायण से मिलता हुआ एक बार सीधे राजगृह। रहा अजात से मिलना किन्तु अब कोई चिन्ता नही, श्यामा तो रही नहीं, कौन रहस्य खोलेगा ? समुद्रदत्त के लिए मैं भी कोई बात बना दूँगा। तो चलूँ, इस संघाराम में कुछ भीड़-सी एकत्र हो रही है, यहाँ ठहरना अब ठीक तहीं (जाता है)

[एक भिक्षु का प्रवेश]

भिक्षु—आश्चर्य ! वह मृत स्त्री जी उठी और इतनी देर में दुष्टों ने कितना आतंक फैला दिया था। समग्र विहार मनुष्यों से भर गया था। दुष्ट जनता को उभाड़ने के लिए कह रहे थे कि पाखण्डी गौतम ने उसे मार डाला। इस हत्या में गौतम की ही कोई बुरी इच्छा थी ! किन्तु उसके स्वस्थ होते ही सबके मुँह में कालिख लग गयी। और अब तो लोग कहते हैं कि धन्य हैं, गौतम बड़े महात्मा हैं। उन्होंने मरी हुई स्त्री को जिला दिया !' मनुष्यों के मुख में भी तो साँपों की तरह दो जीभ हैं। चलूँ देखूँ, कोई बुला रहा है। (जाता है)

[रानी शक्तिमती और दीर्घकारायण का प्रवेश]

शक्तिमती—क्यों सेनापति, तुम तो इस पद से सन्तुष्ट होंगे ? अपने मातुल की दशा तो अब तुम्हें भूल गयी होगी ?

दीर्घकारायण—नहीं रानी ! वह भी इस जन्म में भूलने की बात है ! क्या करूँ, मल्लिका देवी की आज्ञा से मैंने यह पद ग्रहण किया है; किन्तु हृदय में बड़ी ज्वाला धधक रही है !

शक्तिमती—पर तुम्हें इसके लिए चेष्टा करनी चाहिये, स्त्रियों की तरह रोने से काम न चलेगा। विरुद्धक ने तुमसे भेंट की थी ?

दीर्घकारायण—कुमार बड़े साहसी हैं—मुझसे कहने लगे कि 'अभी मैंने एक हत्या की है और उससे मुझे यह धन मिला है, सो तुम्हे गुप्त-सेना-संगठन के लिए देता हूँ। मैं फिर उद्योग में जाता हूँ। यदि तुमने धोखा दिया, तो स्मरण रखना—शैलेन्द्र किसी पर दया करना नहीं जानता।' उस समय मैं तो केवल बात ही सुन कर स्तब्ध रह गया। बस स्वीकार करते ही बना रानी ! उस युवक को देखकर मेरी आत्मा काँपती है।

शक्तिमती—अच्छा, तो प्रबन्ध ठीक करो। सहायता मैं दूँगी। पर यहाँ भी अच्छा खेल हुआ…।

दीर्घकारायण—हम लोग भी तो उसी को देखने आये थे। आश्चर्य ! क्या जाने कैसे वह स्त्री जी उठी ! नहीं तो अभी ही गौतम का सब महात्मापन भूल जाता।

शक्तिमती—अच्छा, अब हम लोगों को शीघ्र चलना चाहिये, सब जनता नगर की ओर जा रही है। देखो, सावधान रहना, मेरा रथ भी बाहर खडा होगा।

दीर्घकारायण—कुछ सेना अपनी निज की प्रस्तुत कर लेता हूँ, जो कि राजसेना से बराबर मिली-जुली रहेगी और काम के समय हमारी आज्ञा मानेगी।

शक्तिमती—और भी एक बात कहनी है—कौशाम्बी का दूत आया है। सम्भवत: कौशाम्बी और कोसल की सेना मिलकर अजात पर आक्रमण करेगी। उस समय तुम क्या करोगे ?

दीर्घकारायण—उस समय वीरो की तरह मगध पर आक्रमण करूँगा और सम्भवत: इस बार अवश्य अजात को बन्दी बनाऊँगा। अपने घर की बात अपने घर मे ही निपटेगी।

शक्तिमती—(कुछ सोचकर)—अच्छा। (दोनों जाते है)

दृ श्या न्त र

नवम दृश्य

[कौशाम्बी के पथ में जीवक और वसन्तक]

वसन्तक—(हँसता हुआ)—तब इसमे मेरा क्या दोष ?

जीवक—जब तुम दिन-रात राजा के समीप रहते हो और उनके सहचर बनने का तुम्हे गर्व है, तब तुमने क्यो नही ऐसी चेष्टा की--

वसन्तक—कि राजा बिगड़ जायँ ?

जीवक—अरे बिगड जायँ कि सुधर जायँ। ऐसी बुद्धि को''''।

वसन्तक—धिक्कार है, जो इतना भी न समझे कि राजा पीछे चाहे स्वयं सुधर जायँ, अभी तो हमसे बिगड़ जायँगे।

जीवक—तब तुम क्या करते हो ?

वसन्तक—दिन-रात सीधा किया करते है। बिजली की रेखा की तरह टेढ़ी जो राजशक्ति है, उसे दिन-रात सँवार कर, पुचकार कर, भयभीत होकर, प्रशसा करके सीधा करते है। नही तो न जाने किस पर वह गिरे ! फिर, महाराज ! पृथ्वीनाथ ! यथार्थ है ! आश्चर्य ! इत्यादि के क्वाथ से पुटपाक''''।

जीवक—चुप रहो, बको मत, तुम्हारे ऐसे मूर्खों ने ही तो सभा को बिगाड़ रक्खा है ! जब देखो परिहास !

वसन्तक—परिहास नही अट्टहास। उसके बिना क्या लोगों का अन्न पचता है ! बल क्या है—तुम्हारी बूटी में ? अरे ! जो मै सभा को बनाऊँ, तो क्या अपने को बिगाड़ूँ ? और फिर झाड़ू लेकर पृथ्वी देवता को मोरछल करता फिरूँ ? देखो न अपना मुख आदर्श मे - चले सभा बनाने, राजा को सुधारने ! इस समय तो''''।

जीवक—तो इससे क्या, हम अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं, दु:ख से विचलित तो नही होते—

लोभ सुख का नही, न तो डर है
प्राण कर्त्तव्य पर निछावर है

वसन्तक—तो इससे क्या ? हम भी तो अपना पेट पालते है, अपनी मर्यादा बनाये रखते है, किसी और के दु:ख से हम भी टस-से-मस नही होते—एक बाल-भर भी नही, समझे ? और काम कितने सम पर और सुरीला करते है, सो भी जानते हो। जहाँ उन्होने आज्ञा दी कि "इसे मारो", हम तत्काल ही सम पर बोलते है कि "रोऽऽऽ"

जीवक—जाओ रोओ !

वसन्तक—क्या तुम्हारे नाम को ? अरे रोएँ तुम्हारे-से परोपकारी, जो राजा को समझाया चाहते है। घण्टो बकवाद करके उन्हे भी तग करना और अपने मुख को भी कष्ट देना। जो जीभ अच्छा स्वाद लेने के लिए बनी है, उसे व्यर्थ हिलाना-डुलाना ! अरे, यहाँ तो जब राजा ने एक लम्बी-चौडी आज्ञा सुनायी उसी समय "यथार्थ है श्रीमान्" कह कर विनीत होकर गर्दन झुका ली—बस इति श्री। नही तो राजसभा मे बैठने कौन देता है !

जीवक—तुम लोग-जैसे चाटुकारो का भी कैसा अधम जीवन है !

वसन्तक—और आप-जैसे लोगो का उत्तम ? कोई माने चाहे न माने—टाँग अडाये जाते हे ! मनुष्यता का ठीका लिये फिरते है।

जीवक—अच्छा भाई, तुम्हारा कहना ठीक है, जाओ, किसी प्रकार से पिंड भी छूटे !

वसन्तक—पद्मावती ने कहा है कि आर्य जीवक से कह देना कि अजात का कोई अनिष्ट न होने पावेगा। केवल शिक्षा के लिए यह आयोजन है। और, माताजी से विनती से कह देगे कि पद्मावती बहुत शीघ्र उनका दर्शन श्रावस्ती मे करेगी।

जीवक—अच्छा नो क्या युद्ध होना ध्रुव है ?

वसन्तक—हाँ जी, प्रसेनजित् भी प्रस्तुत है। महाराज उदयन से मन्त्रणा ठीक हो गयी है। आक्रमण हुआ ही चाहता है। महाराज बिम्बिसार की समुचित सेवा करने, अब वहाँ हम लोग आया हो चाहते है, पत्तल परसी रहे—समझे न ?

जीवक—अरे पेटू, युद्ध मे तो कौए-गिद्ध पेट भरते है।

वसन्तक—और इस आपस के युद्ध मे ब्राह्मण भोजन करेंगे, ऐसी तो शास्त्र की आज्ञा ही है। क्योकि युद्ध से तो प्रायश्चित लगता है। फिर बिना, ह-ह-ह-ह···।

जीवक—जाओ महाराज, दण्डवत्। [दोनों जाते हैं]

दृ श्या न्त र

दशम दृश्य

[मगध में छलना के प्रकोष्ठ में छलना और अजातशत्रु]

छलना—बस थोड़ी-सी सफलता मिलते ही अकर्मण्यता ने सन्तोष का मोदक खिला दिया ! पेट भर गया ! क्या तुम भूल गये कि 'सन्तुष्टश्च महीपति'।

अजातशत्रु—माँ क्षमा हो। युद्ध में बडी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्त्वमय चित्र न जाने किस षड्यन्त्रकारी मस्तिष्क की भयानक कल्पना है। सभ्यता से मानव की जो पाशव वृत्ति दबी हुई रहती है उसी को उत्तेजना मिलती है। युद्धस्थल का दृश्य बडा भीषण होता है।

छलना—कायर ! आँखें बन्द कर ले ! यदि ऐसा ही था, तो क्यों बूढे बाप को हटाकर सिंहासन पर बैठा ?

अजातशत्रु—तुम्हारी आज्ञा से माँ। मैं आज भी सिंहासन से हटकर पिता की सेवा करने को प्रस्तुत हूँ।

देवदत्त—(प्रवेश करके)—किन्तु अब बहुत दूर तक बढ आये, लौटने का समय नहीं है उधर देखो, कोसल और कौशाम्बी की सम्मिलित सेना मगध पर गरजती चली आ रही है।

छलना—यदि उसी समय कोसल पर आक्रमण हो जाता, तो आज इसका अवकाश ही न मिलता।

देवदत्त—समुद्रदत्त का मारा जाना आपको अधीर कर रहा है, किन्तु क्या समुद्रदत्त के ही भरोसे आप सम्राट् बने थे ? वह निर्बोध विलासी—उसका ऐसा परिणाम तो होना ही था। पौरुष करने वाले को अपने बल पर विश्वास करना चाहिये।

छलना—बच्चे ! मैंने बड़ा भरोसा किया था कि तुम्हे भरतखण्ड का सम्राट् देखूंगी और वीरप्रसू होकर एक बार गर्व से तुमसे चरण-वन्दना कराऊँगी, किन्तु आह ! पति-सेवा से भी वञ्चित हुई और पुत्र का····।

देवदत्त—नहीं, नहीं, राजमाता दुखी न हो, अजातशत्रु तुम्हारा अमूल्य वीर-रत्न है। रण की भयानकता देखकर तो क्षण भर के लिए वीर धनञ्जय का भी हृदय पिघल गया था !

[सहसा विरुद्धक का प्रवेश]

विरुद्धक—माता, वन्दना करता हूँ। भाई अजात ! क्या तुम विश्वास करोगे—मैं साहसिक हो गया हूँ। किन्तु मै भी राजपुत्र हूँ और हमारा-तुम्हारा ध्येय एक ही है।

अजातशत्रु—तुम्हें ! कभी नहीं, तुम्हारे षड्यन्त्र से समुद्रदत्त मारा गया, और····।

विरुद्धक—और कोसल-नरेश को पाकर भी मेरे कहने से छोड़ दिया, क्यों? यदि मेरी मन्त्रणा लेते, तो आज तुम मगध में सम्राट् होते और मैं कोसल के सिंहासन पर बैठकर सुख भोगता। किन्तु उस दुष्टा मल्लिका ने तुम्हें····।

अजातशत्रु—हाँ उसमें तो मेरा ही दोष था। किन्तु अब तो मगध और कोसल आपस में शत्रु हैं, फिर हम तुमपर विश्वास क्यों करें?

विरुद्धक—केवल एक बात विश्वास करने की है। यही कि तुम कोसल नहीं चाहते और मैं काशी-सहित मगध नहीं चाहता। देखो, सेनापति दीर्घ कारायण ही कोसल की सेना का नेता है। वह मिला हुआ है, और विशाल सम्मिलित वाहिनी क्षुब्ध समुद्र के समान गर्जन कर रही है। मैं खड्ग लेकर शपथ करता हूँ कि कौशाम्बी की सेना पर आक्रमण करूँगा और दीर्घकारायण के कारण जो निर्बल कोसल सेना है उस पर तुम; जिसमें तुम्हें विश्वास बना रहे। यही समय है, विलम्ब ठीक नही।

छलना—कुमार विरुद्धक! क्या तुम अपने पिता के विरुद्ध खड़े होगे? और किस विश्वास पर···।

विरुद्धक—जब मैं पदच्युत और अपमानित व्यक्ति हूँ, तब मुझे अधिकार है कि सैनिक कार्य में किसी का भी पक्ष ग्रहण कर सकूँ, क्योंकि यही क्षत्रिय की धर्मसम्मत आजीविका है। हाँ, पिता से मै स्वयं नही लड़ूंगा। इसीलिये कौशाम्बी की सेना पर मैं आक्रमण करना चाहता हूँ।

छलना—अब अविश्वास का समय नहीं है। रणवाद्य समीप ही सुनाई पड़ते हैं।

अजातशत्रु—जैसी माता की आज्ञा।

[छलना तिलक और आरती करती है]

[नेपथ्य में रणवाद्य, विरुद्धक और अजात की युद्ध-यात्रा]

[य व नि का]

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

[मगध के राजभवन में छलना और देवदत्त]

छलना—धूर्त्त! तेरी प्रवञ्चना से मैं इस दशा को प्राप्त हुई। पुत्र बन्दी होकर विदेश चला गया और पति को मैंने स्वयं बन्दी बनाया! पाखण्ड, तूने ही यह चक्र रचा है।

देवदत्त—नारी ! क्या तुझे राजशक्ति का घमण्ड हो गया है, जो परिव्राजकों से इस तरह बातें करती है ! तेरी राज्यलिप्सा और महत्त्वाकांक्षा ने ही तुझसे सब कुछ कराया, तू दूसरे पर क्यों दोषारोपण करती है, क्या मुझे ही राज्य भोगना है ?

छलना—पाखण्ड ! जब तूने धर्म के नाम पर उत्तेजित करके मुझे कुशिक्षा दी, तब मैं भूल में थी। गौतम को कलंकित करने के लिये कौन श्रावस्ती गया था ? और किसने मतवाला हाथी दौड़ाकर उनके प्राण लेने की चेष्टा की थी ? ओह ! मैं किस भ्रान्ति में थी ! जी चाहता है कि इस नर-पिशाच-मूर्ति को अभी मिट्टी में मिला दूं ! प्रतिहारी !

प्रतिहारी—(प्रवेश करके)—महादेवी की जय हो ! क्या आज्ञा है ?

छलना—अभी इस मुडिये को बन्दी बनाओ और वासवी को पकड़ लाओ !

[प्रतिहारी इंगित करता है, देवदत्त बन्दी होता है]

देवदत्त—इसका फल तुझे मिलेगा !

छलना—घायल बाघिनी को भय दिखाता है ! वर्षा की पहाडी नदी को हाथों से रोक लेना चाहता है ! देवदत्त ! ध्यान रखना, इस अवस्था मे नारी क्या नही कर सकती है ! अब तेरा अभिशाप मुझे नही डरा सकता। तू अपने कर्म भोगने के लिये प्रस्तुत हो जा !

[वासवी का प्रवेश]

छलना—अब तो तुम्हारा हृदय सन्तुष्ट हुआ ?

वासवी—क्या कहती हो छलना ? अजात बन्दी हो गया तो मुझे सुख मिला, यह बात कैसे तुम्हारे मुख से निकली ! क्या वह मेरा पुत्र नही है ?

छलना—मीठे मुंह की डायन ! अब तेरी बातो से मैं ठण्ढी नही होने की ! ओह ! इतना साहस, इतनी कूट-चातुरी ! आज मैं उसी हृदय को निकाल लूंगी, जिसमें यह सब भरा था। वासवी सावधान ! मै भूखी सिंहिनी हो रही हूँ।

वासवी—छलना, उसका मुझे डर नही है। यदि तुम्हे इसमे कोई सुख मिले, तो तुम करो। किन्तु एक बात और विचार लो—क्या कोसल के लोग जब मेरी यह अवस्था सुनेंगे, तो अजात को और शीघ्र मुक्त कर देने के बदले कोई दूसरा काण्ड न उपस्थित करेंगे ?

छलना—तब क्या होगा ?

वासवी—जो होगा वह तो भविष्य के गर्भ मे है, किन्तु मुझे एक बार कोसल अनिच्छापूर्वक भी जाना ही होगा और अजात को ले आने की चेष्टा करनी ही होगी।

छलना—यह और भी अच्छी रही—जो हाथ का है उसे भी जाने दूं ! क्यों वासवी ! पद्मावती को पढ़ा रही हो !

वासवी—बहिन छलना ! मुझे तुम्हारी बुद्धि पर खेद होता है। क्या मैं अपने

प्राणों को डरती हूँ; या सुख-भोग के लिये जा रही हूँ ? ऐसी अवस्था में आर्यपुत्र को छोड़कर मैं चली जाऊँगी, ऐसा भी तुम्हे अब तक विश्वास है ? मेरा उद्देश्य केवल विवाद मिटाने का है।

छलना—इसका प्रमाण ?

वासवी—प्रमाण आर्यपुत्र है। छलना, चौंको मत। तुम भी उन्ही की परिणीता पत्नी हो, तब भी तुम्हारे विश्वास के लिए मैं उन्हे तुम्हारी देख-रेख मे छोड़ जाऊँगी। हाँ, इतनी प्रार्थना है कि उन्हे कोई कष्ट न होने पावे, और क्या कहूँ, वे ही तुम्हारे भी पति है। हाँ, देवदत्त को मुक्त कर दो। चाहे इसने कितना भी हम लोगों का अनिष्टचिन्तन किया हो, फिर भी परिव्राजक मार्जनीय है।

छलना—**(प्रहरियों से)**—छोड दो इसको, फिर काला मुख मगध में न दिखावे।

[प्रहरी छोड़ते हैं, देवदत्त जाता है]

वासवी—देखो, राज्य मे आतक न फैलने पावे। दृढ होकर मगध का शासन करना! किसी को कष्ट भी न हो। और प्यारी छलना! यदि हो सके तो आर्यपुत्र की सेवा करके नारीजन्म सार्थक कर लेना।

छलना—वासवी! वहिन!—**(रोने लगती है)**—मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख माँगती हूँ। मैं नही जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, सन्तान के लिए, इस हृदय मे सञ्चित था। यदि जानती होती, तो इस निष्ठुरता का स्वाँग न करती।

वासवी—रानी! यही जो जानती कि नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्‌गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य-भक्ति का आदर्श है, तो पुरुषार्थ का ढोंग क्यो करती। रो मत बहिन! मैं जाती हूँ तू यही समझ कि कुणीक ननिहाल गया है।

छलना—तुम जानो। **(दोनों का प्रस्थान)**

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

[कोसल के प्रासाद से लगा बन्दीगृह, बाजिरा का प्रवेश]

बाजिरा—**(आप-ही-आप)**—क्या विप्लव हो रहा है। प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनो के लिये कितना प्रयास होता है! अन्धी जनता अँधेरे मे दौड रही है। इतनी छीना-झपटी, इतना स्वार्थ-साधन कि सहज-प्राप्य अन्तरात्मा की सुख-शान्ति को भी लोग खो बैठते हैं! भाई भाई से लड़ रहा है, पुत्र पिता से विद्रोह

कर रहा है, स्त्रियाँ पतियों से प्रेम नही उन पर शासन करना चाहती हैं ! मनुष्य, मनुष्य के प्राण लेने के लिए शस्त्रकला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओ को लेकर कवि कविता करते है, बर्बर रक्त मे और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं। राजमन्दिर बन्दीगृह में बदल गये हैं ! कभी सौहार्द से जिसका आतिथ्य कर सकते थे, उसे बन्दी बना कर रखा है। सुदर राजकुमार ! कितनी सरलता और निर्भीकता इस विशाल भाल पर अंकित है ! अहा ! जीवन धन्य हो गया है। अन्त करण मे एक नवीन स्फूर्ति आ गयी है। एक नवीन संसार इसमे बन गया है। यही यदि प्रेम है तो अवश्य स्पृहणीय है, जीवन की सार्थकता है। कितनी सहानुभूति, कितनी कोमलता का आनन्द मिलने लगा है ! **(ठहर कर सोचती हुई)** एक दिन पिताजी का पैर पकड कर प्रार्थना करूँगी कि इस बन्दी को छोड दो। किसी राष्ट्र का शासक होने के बदले इसे प्रेम के शासन मे रहने से मै प्रसन्न रहूँगी। मनोरम सुकुमार वृत्तियों का छायापूर्ण हृदय मे आविर्भाव-तिरोभाव होते देखूँगी और आँखे बन्द कर लूँगी। **(गाती है)**

हमारे जीवन का उल्लास, हमारे जीवन धन का रोष।
हमारी करुणा के दो बूंद मिले एकत्र, हुआ सतोष ॥
दृष्टि को कुछ भी रुकने दो, न यो चमका दो अपनी कान्ति।
देखने दो क्षण भर भी तो, मिले सौन्दर्य देखकर शान्ति ॥
नही तो निष्ठुरता का अन्त, चला दो चपल नयन के बाण।
हृदय छिद जाय विकल बेहाल, वेदना से हो उसका त्राण ॥

[खिड़की खुलती है, बन्दी अजातशत्रु दिखाई देता है]

अजातशत्रु—इस श्यामा रजनी मे चन्द्रमा की सुकुमार किरण-सी तुम कौन हो ? सुन्दरी, कई दिन मैंने देखा, मुझे भ्रम हुआ कि यह स्वप्न है ! किन्तु नही, अब मुझे विश्वास हुआ कि भगवान् ने करुणा की मूर्ति मेरे लिये भेजी है और इस बन्दीगृह मे भी कोई उसकी अप्रकट इच्छा कौशल कर रही है।

बाजिरा—राजकुमार ! मेरा परिचय पाने पर तुम घृणा करोगे और फिर मेरे आने पर मुँह फेर लोगे—तब मैं बडी व्यथित रहूँगी ! हम लोग इसी तरह अपरिचित रहें। अभिलाषाये नये रूप बदले, किन्तु वे नीरव रहे। उन्हे बोलने का अधिकार न हो। बस, तुम हमे एक करुण दृष्टि से देखो और मैं कृतज्ञता के फूल तुम्हारे चरणो पर चढाकर चली जाया करूँगी।

अजातशत्रु—सुन्दरि ! यह अभिनय कई दिन हो चका, अब धैर्य नही रुकता है। तुम्हे अपना परिचय देना ही होगा।

बाजिरा—राजकुमार ! मेरा परिचय पा कर तुम सन्तुष्ट न होगे, नही तो मै छिपाती क्यों ?

अजातशत्रु—तुम चाहे प्रसेनजित् की ही कन्या क्यों न हो; किन्तु मैं तुमसे असन्तुष्ट न हूँगा; मेरी समस्त श्रद्धा अकारण तुम्हारे चरणों पर लोटने लगी है, सुन्दरि !

बाजिरा—मैं वही हूँ राजकुमार ! कोसल की राजकुमारी। मेरा ही नाम बाजिरा है।

अजातशत्रु—सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है। आज विश्वास भी हो गया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर लिया। अब यदि कोसल-नरेश मुझे बन्दीगृह से छोड़ दें तब भी……।

बाजिरा—तब भी क्या ?

अजातशत्रु—मैं कैसे जा सकूँगा ?

बाजिरा—**(ताली निकाल कर जँगला खोलती है, अजात बाहर आता है)**—अब तुम जा सकते हो। पिता की सारी झिड़कियाँ मैं सुन लूँगी। उनका समस्त क्रोध मैं अपने वक्ष पर वहन करूँगी। राजकुमार, अब तुम मुक्त हो, जाओ !

अजातशत्रु—यह तो नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रतिफल में तुम्हें अपने पिता से तिरस्कार और भर्त्सना ही मिलेगी। शुभे ! अब यह तुम्हारा चिर-बन्दी मुक्त होने की चेष्टा भी न करेगा।

बाजिरा—प्रिय राजकुमार ! तुम्हारी इच्छा, किन्तु फिर मैं अपने को रोक न सकूँगी और हृदय की दुर्बलता या प्रेम की सबलता मुझे व्यथित करेगी।

अजातशत्रु—राजकुमारी ! तो हम लोग एक-दूसरे को प्यार करने के अयोग्य हैं, ऐसा कोई मूर्ख भी न कहेगा।

बाजिरा—तब प्राणनाथ ! मैं अपना सर्वस्व तुम्हें समर्पण करती हूँ—**(अपनी माला पहनाती है)**

अजातशत्रु—मैं अपने समेत उसे तुम्हें लौटा देता हूँ प्रिये ! हम तुम अभिन्न हैं। यह जंगली हिरन—इस स्वर्गीय संगीत पर—चौकड़ी भरना भूल गया है। अब यह तुम्हारे प्रेम-पाश में पूर्णरूप से बद्ध है। **(अँगूठी पहनाता है)**

[दीर्घकारायण का सहसा प्रवेश]

दीर्घकारायण—यह क्या ! बन्दीगृह में प्रेमलीला। राजकुमारी ! तुम कैसे यहाँ आयी हो ? क्या राजनियम की कठोरता भूल गयी हो ?

बाजिरा—इसका उत्तर देने के लिए मैं बाध्य नहीं हूँ।

दीर्घकारायण—किन्तु यह काण्ड एक उत्तर की आशा करता है। वह मुझे नहीं तो महाराज के समक्ष देना ही होगा। बन्दी, तुमने ऐसा क्यों किया ?

अजातशत्रु—मैं तुमको उत्तर नहीं देना चाहता। तुम्हारे महाराज से मेरी प्रतिद्वन्द्विता है—उनके सेवकों से नहीं।

दीर्घकारायण—राजकुमारी ! मैं कठोर कर्त्तव्य के लिए बाध्य हूँ। इस बन्दी राजकुमार को ढिठाई की शिक्षा देनी ही होगी।

बाजिरा—क्यों ? बन्दी भाग तो गया नहीं, भागने का प्रयास भी उसने नहीं किया; फिर !

दीर्घकारायण—फिर ? आह ! मेरी समस्त आशाओं पर तुमने पानी फेर दिया ! भयानक प्रतिहिंसा मेरे हृदय में जल रही है; उस युद्ध में मैंने तुम्हारे लिये ही····।

बाजिरा—सावधान ! कारायण अपनी जीभ सँभालो !

अजातशत्रु—दीर्घकारायण ! यदि तुम्हें अपने बाहुबल पर भरोसा हो तो मैं तुमको द्वन्द्व युद्ध के लिए आह्वान करता हूँ।

दीर्घकारायण—मुझे स्वीकार है, यदि राजकुमारी की प्रतिष्ठा पर आँच न पहुँचे। क्योंकि मेरे हृदय में अभी भी स्थान है। क्यों राजकुमारी, क्या कहती हो ?

अजातशत्रु—तब और किसी समय। मैं अपने स्थान पर जाता हूँ। जाओ राजनन्दिनी !

बाजिरा—किन्तु दीर्घकारायण ! मैं आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ।

दीर्घकारायण—यहाँ तक ! कोई चिन्ता नही। इस समय तो चलिये, क्योंकि महाराज आ रा ही चाहते है।

[अजात अपने जँगले में जाता है, एक ओर दीर्घकारायण और राजकुमारी बाजिरा जाती है, दूसरी ओर से वासवी और प्रसेनजित् का प्रवेश]

प्रसेनजित्—क्यों कुणीक, अब क्या इच्छा है ?

वासवी—न न, भाई ! खोल दो। इसे मैं इस तरह देखकर बात नहीं कर सकती। मेरा बच्चा कुणीक····

प्रसेनजित्—बहिन ! जैसा कहो। **(खोल देता है, वासवी अंक में ले लेती है)**

अजातशत्रु—कौन ? विमाता ! नही, तुम मेरी माँ हो ! माँ ! इतनी ठण्डी गोद तो मेरी माँ की भी नही है। आज मैंने जननी की शीतलता का अनुभव किया। मैंने तुम्हारा बडा अपमान किया है, माँ ! क्या तुम क्षमा करोगी ?

वासवी—वत्स कुणीक ! वह अपमान भी अब क्या मुझे स्मरण है। तुम्हारी माता, तुम्हारी माँ नही है, मैं तुम्हारी माँ हूँ। वह तो डायन है, उसने मेरे सुकुमार बच्चे को बन्दी-गृह मे भेज दिया ! भाई, मै इसे शीघ्र मगध के सिंहासन पर भेजना चाहती हूँ, तुम इसके जाने का प्रबन्ध कर दो।

अजातशत्रु—नही माँ, अब कुछ दिन उस विषैली वायु से अलग रहने दो। तुम्हारी शीतल छाया का विश्राम मुझसे अभी नही छोड़ा जायगा। **(घुटने टेक देता है, वासवी अभय का हाथ रखती है)**

दृश्यान्तर

तृतीय दृश्य

[कानन का प्रान्त]

विरुद्धक—आर्द्र-हृदय में करुण-कल्पना के समान आकाश में कादम्बिनी घिरी आ रही है ! पवन के उन्मत्त आलिंगन से तरुराजि सिहर उठती है। झुलसी हुई कामनायें मन में अंकुरित हो रही हैं। क्यों ? जलदागमन से ? आह !

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब,
सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरम्ब !
बरस पड़े क्यों आज अचानक सरसिज कानन का संकोच,
अरे जलद में भी यह ज्वाला ! झुके हुए क्यों किसका सोच ?
किस निष्ठुर ठण्ढे हृत्तल में जमे रहे तुम बर्फ समान ?
पिघल रहे हो किस गर्मी से ! हे करुणा के जीवन-प्राण ?
चपला की व्याकुलता लेकर चातक का ले करुण विलाप,
तारा आँसू पोंछ गगन के, रोते हो किस दुख से आप ?
किस मानस-निधि में न बुझा था बड़वानल जिससे बन भाप
प्रणय-प्रभाकर-कर से चढ़कर इस अनन्त का करते माप,
क्यों जुगनू का दीप जला, है पथ में पुष्प और आलोक ?
किस समाधि पर बरसे आँसू किसका है यह शीतल शोक।
थके प्रवासी बनजारों-से लौटे हो मन्थर गति से;
किस अतीत की प्रणय-पिपासा जगती चपला-सी स्मृति से ?

मल्लिका—(प्रवेश करके) तुम्हें सुखी देखकर मैं सन्तुष्ट हुई कुमार !

विरुद्धक—मल्लिका ! मैं तो आज टहलता-टहलता कुटी से इतनी दूर चला आया हूँ। अब तो मैं सबल हो गया, तुम्हारी इस सेवा से मैं जीवन भर उऋण नहीं हूँगा।

मल्लिका—अच्छा किया। तुम्हें स्वस्थ देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई। अब तुम अपनी राजधानी को लौट जा सकते हो।

विरुद्धक—मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है मेरे हृदय में बड़ी खलबली है। यह तो तुम्हें विदित था कि सेनापति बन्धुल को मैंने ही मारा है; और उसी की तुमने सेवा की ! इससे क्या मैं समझूँ। क्या मेरी शंका निर्मूल नहीं है ? कह दो मल्लिका !

मल्लिका—विरुद्धक ! तुम उसका मनमाना अर्थ लगाने का भ्रम मत करो। तुमने समझा होगा कि मल्लिका का हृदय कुछ विलचित है, छिः ! तुम राजकुमार हो न, इसीलिये। अच्छी बात क्या तुम्हारे मस्तिष्क में कभी आयी ही नहीं; मल्लिका उस मिट्टी की नहीं है, जिसकी तुम समझते हो।

विरुद्धक—किन्तु मल्लिका ! अतीत में तुम्हारे ही लिये मेरा वर्तमान बिगड़ा। पिता ने जब तुमसे मेरा ब्याह करना अस्वीकार किया, उसी समय से मैं पिता के विरुद्ध हुआ और उस विरोध का यह परिणाम हुआ।

मल्लिका—इसके लिये मैं कृतज्ञ नही हो सकती। राजकुमार ! तुम्हारा कलंकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा। और यह मेरी विश्वमैत्री की परीक्षा थी। जब इसमे मै उत्तीर्ण हो गयी तब मुझे अपने पर विश्वास हुआ। विरुद्धक, तुम्हारा रक्त-कलुषित हाथ मै छू भी नही सकती। तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियों का, किसी की भूल पर, निर्दयता से वध किया, तुमने पिता से विद्रोह किया विश्वासघात किया; एक वीर को छल से मार डाला और अपने देश के, जन्मभूमि के विरुद्ध अस्त्र ग्रहण किया ! तुम्हारे ऐसा नीच और कौन होगा ! किन्तु यह सब जानकर भी मै तुम्हे रणक्षेत्र से सेवा के लिये उठा लायी।

विरुद्धक—तब क्यो नही मर जाने दिया ? क्यो इस कलंकी जीवन को बचाया और अब····।

मल्लिका—तुम इसलिये नही बचाये गये कि फिर भी एक विरक्त नारी पर बलात्कार और लम्पटता का अभिनय करो। जीवन इसलिये मिला है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित करो, अपने को सुधारो।

[श्यामा का प्रवेश]

श्यामा—और भी एक भयानक अभियोग है—इस नर-राक्षस पर ! इसने एक विश्वास करने वाली स्त्री पर अत्याचार किया है, उसकी हत्या की है ! शैलेन्द्र ?

विरुद्धक—अरे श्यामा !

श्यामा—हाँ शैलेन्द्र, तुम्हारी नीचता का प्रत्यक्ष उदाहरण मै अभी जीवित हूँ। निर्दय ! चाण्डाल के समान क्रूर कर्म तुमने किया ! ओह, जिसके लिये मैंने अपना सब छोड दिया, अपने वैभव पर ठोकर लगा दी, उसका ऐसा आचरण ? प्रतिहिंसा और पश्चात्ताप से सारा शरीर भस्म हो रहा है !

मल्लिका - विरुद्धक ! यह क्या, जो रमणी तुम्हे प्यार करती है, जिसने सर्वस्व तुम्हे अर्पण किया था, उसे भी तुम न चाह सके ! तुम कितने क्षुद्र हो ? तुम तो स्त्रियों की छाया भी छू सकने के योग्य नही हो।

विरुद्धक—मै इसे वेश्या समझता था।

श्यामा—और मै तुम्हें डाकू समझने पर भी चाहने लगी थी ! इतना तुम्हारे ऊपर मेरा विश्वास था। तब मै नहीं जानती थी कि तुम कोसल के राजकुमार हो !

मल्लिका—यदि तुम प्रेम का प्रतिदान नही जानते हो तो व्यर्थ एक सुकुमार नारी को लेकर उसे पैरो से क्यों रौदते हो. विरुद्धक ! क्षमा मांगों; यदि हो सके तो इसे अपनाओ !

श्यामा—नहीं देवि ! अब मैं आपकी सेवा करूँगी, राजसुख मैं बहुत भोग चुकी हूँ। अब मुझे राजकुमार विरुद्धक का सिंहासन भी अभीष्ट नहीं है, मैं तो शैलेन्द्र डाकू को चाहती थी।

विरुद्धक—श्यामा, अब मैं सब तरह से प्रस्तुत हूँ, और क्षमा भी माँगता हूँ।

श्यामा—अब तुम्हे तुम्हारा हृदय अभिशाप देगा, यदि मैं क्षमा भी कर दूँ। किन्तु नही, विरुद्धक ! अभी मुझमें उतनी सहनशीलता नही है।

मल्लिका—राजकुमार। जाओ, कोसल लौट जाओ; और यदि तुम्हे अपने पिता के पास जाने मे डर लगता हो, तो मै तुम्हारी ओर से क्षमा माँगूँगी। मुझे विश्वास है कि महाराज मेरी बात मानेगे।

विरुद्धक—उदारता की मूर्ति ! मै किस तरह तुमसे, तुम्हारी कृपा से, अपने प्राण बचाऊँ ! देवि ! एसे भी जीव इसी संसार मे है, तभी तो यह भ्रम-पूर्ण संसार ठहरा है (पैरों पर गिरता है)—देवि ! अधम का अपराध क्षमा करो।

मल्लिका—उठो राजकुमार ! चलो, मै भी श्रावस्ती चलती हूँ। महाराज प्रसेनजित् से तुम्हारे अपराधो को क्षमा करा दूँगी, फिर इस कोसल को छोडकर चली जाऊँगी। श्यामा तब तक तुम इस कुटीर पर रहो, मै आती हूँ। (दोनों जाते हैं)

श्यामा—जैसी आज्ञा—(स्वगत)—जिसे काल्पनिक देवत्व कहते है—वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है। मागन्धी, धिक्कार है तुझे ! (गाती है)

स्वर्ग है नही दूसरा और।
सज्जन हृदय परम करुणामय यही एक है ठौर॥
सुधा-सलिल से मानस, जिसका पूरित प्रेम-विभोर।
नित्य कुसुममय कल्पद्रुम की छाया है इस ओर॥ स्वर्ग है०

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[प्रकोष्ठ में दीर्घकारायण और रानी शक्तिमती]

शक्तिमती—बाजिरा सपत्नि कन्या है, मेरा तो कुछ वश नही, और तुम जानते हो कि मै इस समय कोसल की कंकडी से भी गयी-बीती हूँ। किन्तु कोसल के सेनापति कारायण का अपमान करे ऐसा तो····।

दीर्घकारायण—रानी ! हम इधर से भी गये और उधर मे भी गये ! विरुद्धक को भी मुँह दिखाने लायक न रहे और बाजिरा भी न मिली !

शक्तिमती—तुम्हारी मूर्खता ! जब मगध के युद्ध मे मैने तुम्हे सचेत किया

था, तब तुम धर्मध्वज बन गये थे; और हमारे बच्चे को धोखा दिया ! अब सुनती हूँ कि वह उदयन के हाथ से घायल हुआ है। उसका पता भी नहीं है।

दीर्घकारायण—मैं विश्वास दिलाता हूँ कि कुमार विरुद्धक अभी जीवित हैं। वह शीघ्र कोसल आवेंगे।

शक्तिमती—किन्तु तुम इतने डरपोक और सहनशील दास हो, मैं ऐसा नहीं समझती थी। जिसने तुम्हारे मातुल का बध किया, उसी की सेवा करके अपने को धन्य समझ रहे हो ! तुम इतने कायर हो, यदि मैं पहले जानती !

दीर्घकारायण—तब क्या करती ? अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव, अपनी विजय-घोषणा स्वयं सुनाती ?

शक्तिमती—यदि पुरुष इन कामों को कर सकता है तो स्त्रियाँ क्यों न करें ? क्या उन्हें अन्तःकरण नहीं है ? क्या स्त्रियाँ अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखती ? क्या उनका जन्म-सिद्ध कोई अधिकार नहीं ? क्या स्त्रियों का सब कुछ, पुरुषों की कृपा से मिली हुई भिक्षा-मात्र है ? मुझे इस तरह पदच्युत करने का किसी को क्या अधिकार था ?

दीर्घकारायण—स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही, एक परिवर्तन है—जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं; किन्तु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती है उन मनुष्यों पर—जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो। वे मनुष्य पर राजरानी के समान एकाधिपत्य रख सकती हैं, तब उन्हें इस दुरभिसन्धि की क्या आवश्यकता है—जो केवल सदाचार और शान्ति को ही नहीं शिथिल करती किन्तु उच्छृंखलता को भी आश्रय देती है !

शक्तिमती—फिर बार-बार यह अवहेलना कैसी ? यह बहाना कैसा ? हमारी असमर्थता सूचित करा कर हमें और भी निर्मूल आशंकाओं में छोड़ देने की कुटिलता क्यों है ? क्या हम पुरुष के समान नहीं हो सकती ? क्या चेष्टा करके हमारी स्वतन्त्रता नहीं पददलित की गयी है ? देखो, जब गौतम ने स्त्रियों को भी प्रव्रज्या लेने की आज्ञा दी, तब क्या वे ही सुकुमार स्त्रियाँ परिव्राजिका के कठोर व्रत को अपनी सुकुमार देह पर नहीं उठाने का प्रयास करती ?

दीर्घकारायण—किन्तु यह साम्य और परिव्राजिका होने की बिधि भी तो उन्हीं पुरुषों में से किसी ने फैलायी है। स्वार्थत्याग के कारण वे उनकी घोषणा करने में समर्थ हुए, किन्तु समाज भर मे न तो स्वार्थी स्त्रियों की कमी है, न पुरुषों की; और सब एक हृदय के है भी नही, फिर पुरुषों पर ही आक्षेप क्यों ? जितनी अन्तःकरण की वृत्तियों का विकास सदाचार का ध्यान करके होता है—उन्हीं को जनता कर्तव्य का रूप देती है। मेरी प्रार्थना है कि तुम भी उन स्वार्थी मनुष्यों की कोटि में मिलकर बवण्डर न बनो।

शक्तिमती—तब क्या करूँ ?

दीर्घकारायण—विश्व भर में सब कर्म सबके लिए नहीं है, इसमें कुछ विभाग है अवश्य। सूर्य अपना काम जलता-बलता हुआ करता है और चन्द्रमा उसी आलोक को शीतलता से फैलाता है। क्या उन दोनों से परिवर्तन हो सकता है ? मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम हैं। और वह स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय वरद हस्त का आश्रय, मानव-की सारी वृत्तियो की कुञ्जी, विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति स्परूपा स्त्रियो के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट करके इस दौड़-धूप मे क्यों पडती हो देवि ! तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विशेषण है—स्त्रीजाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके वल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए है। इसीलिये प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है—रमणी का रूप, सगठन और आधार भी वैसे ही है। उन्हे दुरुपयोग मे न ले जाओ। क्रूरता अनुकरणीय नही है, उसे नारी-जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारो मे विप्लव होगा। फिर कैसी स्थिति होगी, यह कौन कह सकता है।

शक्तिमती—फिर क्या पदच्युत करके मै अपमानित और पददलित नही की गयी ? क्या यह ठीक था ?

दीर्घकारायण—पदच्युत होने का अनुभव करना भी एक दम्भ-मात्र है। देवि ! एक स्वार्थी के लिए समाज दोषी नही हो सकता। क्या मल्लिका देवी का उदाहरण कही दूर है ! वही लोलुप नर पिशाच मेरा और आपका स्वामी, कोसल का सम्राट्, क्या-उनके साथ कर चुका है, यह क्या आप नही जानती ? फिर भी उनकी सतीसुलभ वास्तविकता देखिए और अपनी कृत्रिमता से तुलना कीजिये।

शक्तिमती—(सोचती हुई)—कारायण यहाँ तो मुझे सिर झुकाना ही पड़ेगा।

दीर्घकारायण—देवि ! एक दिन मे इस कोसल को उलट-पलट देता, छत्र-चमर लेकर हठात् विरुद्धक को सिंहासन पर बैठा देता, किन्तु मन के बिगाड़ने पर भी मल्लिका देवी का शासन मुझे सुमार्ग से न हटा सका, और आप देखेंगी कि शीघ्र ही कोसल के सिंहासन पर राजकुमार विरुद्धक बैठेंगे, परन्तु आपकी मन्त्रणा के के प्रतिकूल।

[विरुद्धक और मल्लिका का प्रवेश]

शक्तिमती—आर्या मल्लिका को मैं अभिवादन करती हूँ।

दीर्घकारायण। मैं नमस्कार करता हूँ। (विरुद्धक माता का चरण छूता है)

मल्लिका—शान्ति मिले, विश्व शीतल हो। बहिन, क्या तुम अब भी राजकुमार को उत्तेजित करके मनुष्यता से गिराने की चेष्टा करोगी? तुम जननी हो तुम्हारा प्रसन्न मातृभाव क्या तुम्हे इसीलिये उत्साहित करता है? क्या क्रूर विरुद्धक को देखकर तुम्हारी अन्तरात्मा लज्जित नहीं होती?

शक्तिमती—वह मेरी भूल थी देवि! क्षमा करना। वह बर्बरता का उद्रेक था—पाशव-वृत्ति की उत्तेजना थी।

मल्लिका—चन्द्र, सूर्य; शीतल, उष्ण, क्रोध, करुणा; द्वेष, स्नेह का द्वन्द्व संसार का मनोहर दृश्य है। रानी! स्त्री और पुरुष भी उसी विलक्षण नाटक के अभिनेता हैं। स्त्रियों का कर्त्तव्य है कि पाशववृत्ति वाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करें, कठोर पौरुष के अनन्तर उन्हे जिस शिक्षा की आवश्यकता है—उस स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ उन्हे स्त्रियों से ही सीखना होगा हमारा यह कर्त्तव्य है। व्यर्थ स्वतन्त्रता और समानता का अहकार करके उस अपने अधिकार से हमको वचित न होना चाहिये। चलो, आज अपने स्वामी से क्षमा माँगो। सुना जाता है कि अजात और बाजिरा का व्याह होने वाला है, तुम भी उस उत्सव मे अपने घर को सूना मत रक्खो।

शक्तिमती—आपकी आज्ञा शिरोधार्य है देवि!

दीर्घकारायण—तो मै भी आज्ञा चाहता हूँ, क्योकि मुझे शीघ्र ही पहुँचना चाहिये। देखिए, वैतालिको की वीणा बजने लगी। सम्भवत. महाराज शीघ्र सिंहासन पर आया चाहते हे।—**(राजकुमार विरुद्धक से)**—राजकुमार, मैं आप से भी क्षमा चाहता हूँ, क्योकि आप जिस विद्रोह के लिए मुझे आज्ञा दे गये थे, मैं उसे करने मे असमर्थ था—अपने राष्ट्र के विरुद्ध यदि आप अस्त्र ग्रहण न करते, तो सम्भवत: मै आपका अनुगामी हो जाता, क्योकि मेरे हृदय मे भी प्रतिहिंसा थी। किन्तु वैसा न हो सका उसमे मेरा अपराध नही।

विरुद्धक—उदार सेनापति, मै हृदय से तुम्हारी प्रशसा करता हूँ और स्वयं तुमसे क्षमा माँगता हूँ।

दीर्घकारायण—मै सेवक हूं युवराज! **(जाता है)**

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[कोसल की राजसभा, वर-वधू के वेश में अजातशत्रु और बाजिरा तथा प्रसेनजित्, शक्तिमती, मल्लिका, विरुद्धक, वासवी और दीर्घकारायण का प्रवेश]

मल्लिका—बधाई है महाराज! यह शुभ सम्बन्ध आनन्दमय हो!

प्रसेनजित्—देवि ! आपकी असीम अनुकम्पा है, जो मुझ जैसे अधम व्यक्ति पर इतना स्नेह ! पतितपावनी, तुम धन्य हो !

मल्लिका—किन्तु महाराज ! मेरी एक प्रार्थना है।

प्रसेनजित्—आपकी आज्ञा शिरोधार्य है भगवती !

मल्लिका—आपकी इस पत्नी, परित्यक्ता शक्तिमती का क्या दोष है ? इस शुभ अवसर पर यह विवाद उठाना यद्यपि ठीक नही है तो भी····।

प्रसेनजित—इसका प्रमाण तो वह स्वयं है। उसने क्या-क्या नही किया—यह क्या किसी से छिपा है ?

मल्लिका—किन्तु इसके मूल कारण तो महाराज ही हैं। यह तो अनुकरण करती रही—यथा राजा तथा प्रजा—जन्म लेना तो इसके अधिकार मे नही था, फिर आप इस अबला पर क्यों ऐसा दण्ड विधान करते हैं ?

प्रसेनजित्—मै इसका क्या उत्तर दूं देवि !

शक्तिमती—वह मेरा ही अपराध था आर्यपुत्र ! क्या उसके लिए क्षमा नही मिलेगी—मैं अपने कृत्यो पर पश्चात्ताप करती हूँ। अब मेरी सेवा मुझे मिले, उससे मैं वंचित न होऊँ, यह मेरी प्रार्थना है। **(प्रसेनजित् मल्लिका का मुंह देखता है)**

मल्लिका—क्षमा करना ही होगा महाराज ! और उसका बोझ मेरे सिर पर होगा। मुझे विश्वास है कि यह प्रार्थना निष्फल न होगी।

प्रसेनजित्—मैं उसे कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ ! **(शक्तिमती का हाथ पकड़कर उठाता है)**

मल्लिका—मैं कृतज्ञ हुई सम्राट् ! क्षमा से बढ़कर दंड नहीं है, और आपकी राष्ट्रनीति इसी का अवलम्बन करे, मैं यही आशीर्वाद देती हूँ। किन्तु एक बात और भी है।

प्रसेनजित्—वह क्या ?

मल्लिका—मैं आज अपना सब बदला चुकाना चाहती हूँ, मेरा भी कुछ अभियोग है।

प्रसेनजित्—वह बड़ा भयानक है ! देवि, उसे तो आप क्षमा कर चुकी हैं; अब ?

मल्लिका—तब आप यह स्वीकार करते है कि भयानक अपराध भी क्षमा कराने का साहस मनुष्य को होता है ?

प्रसेनजित्—विपन्न की यही आशा है। तब भी····।

मल्लिका—तब भी ऐसा अपराध क्षमा किया जाता है—क्यों सम्राट् ?

प्रसेनजित्—मैं क्या कहूँ ? इसका उदाहरण तो मैं स्वयं हूँ !

मल्लिका—तब यह राजकुमार विरुद्धक भी क्षमा का अधिकारी है !

प्रसेनजित्—किन्तु वह राष्ट्र का द्रोही है, क्यों धर्माधिकारी, उसका क्या दण्ड है ?

धर्माधिकारी—(सिर नीचा कर)—महाराज !

मल्लिका—राजन्, विद्रोही बनाने के कारण भी आप ही है। बनाने पर विरुद्धक राष्ट्र का एक सच्चा शुभचिंतक हो सकता था। और इससे क्या, मैं तो स्वीकार करा चुकी हूँ कि भयानक अपराध भी मार्जनीय होते है।

प्रसेनजित्—तब विरुद्धक को क्षमा किया जाय !

विरुद्धक—पिता, मेरा अपराध कौन क्षमा करेगा ? पितृद्रोही को कौन ठिकाना देगा ? मेरी आँखें लज्जा से ऊपर नही उठती। मुझे राज्य नही चाहिये; चाहिये केवल आपकी क्षमा—पृथ्वी के साक्षात् देवता ! मेरे पिता ! मुझ अपराधी पुत्र को क्षमा कीजिये। (चरण पकड़ता है)

प्रसेनजित्—धर्माधिकारी ! पिता का हृदय इतना सदय होता है कि नियम उसे क्रूर नही बना सकता। मेरा पुत्र मुझसे क्षमा-भिक्षा चाहता है, धर्मशास्त्र के उस पन्ने को उलट दो, मैं एक वार अवश्य क्षमा कर दूंगा। उसे न करने से मैं पिता नहीं रह सकता—मैं जीवित नही रह सकता।

धर्माधिकारी—किन्तु महाराज ! व्यवस्था का भी कुछ मान रखना चाहिये।

प्रसेनजित्—यह मेरा त्याज्य पुत्र है। किन्तु अपराध का दण्ड मृत्युदण्ड, नही-वह किसी राक्षस पिता का काम हे। वत्स विरुद्धक ! उठो, मै तुम्हे क्षमा करता हूँ। (विरुद्धक को उठाता है)

[गौतम का प्रवेश]

सब—भगवान् के चरणों मे प्रणाम।

गौतम—विनय और शील की रक्षा करने मे सब दत्तचित्त रहें, जिससे प्रजा का कल्याण हो—करुणा की विजय हो। आज मुझे सन्तोष हुआ, कोसल-नरेश ! तुमने अपराधी को क्षमा करना सीख लिया, यह राष्ट्र के लिए कल्याण की बात हुई। फिर भी तुम इसे त्याज्य पुत्र क्यो कह रहे हो ?

प्रसेनजित्—महाराज, यह दासीपुत्र है, सिंहासन का अधिकारी नही हो सकता। •

गौतम—यह दम्भ तुम्हारा प्राचीन संस्कार है। क्यों राजन्। क्या दास, दासी, मनुष्य नही है ? क्या कई पीढ़ी ऊपर तक तुम प्रमाण दे सकते हो कि सभी राजकुमारियों की सन्तान ही इस सिंहासन पर बैठी है या प्रतिज्ञा करोगे कि आने वाली कई पीढी तक दासी-पुत्र इस पर न बैठने पावेगे ? यह छोटे-बड़े का भेद क्या अभी इस संकीर्ण हृदय मे इस तरह घुसा है कि निकल नही सकता ? क्या जीवन की वर्त्तमान स्थिति देखकर प्राचीन अन्धविश्वासों को, जो न जाने किस कारण होते

आये हैं तुम बदलने के लिए प्रस्तुस्त नही ? क्या इस क्षणिक भव में तुम अपनी स्वतन्त्र सत्ता अनन्त काल तक बनाये रक्खोगे ? और भी, क्या उस आर्य-पद्धति को तुम भूल गये कि पिता से पुत्र की गणना होती है ? राजन्, सावधान हो, इस अपनी सुयोग्य शक्ति को स्वयं कुण्ठित न बनाओ। यद्यपि इसने कपिलवस्तु में निरीह प्राणियो का वध करके बडा अत्याचार किया है और कारणवश क्रूरता भी यह करने लगा था, किन्तु अब इसका हृदय, देवी मल्लिका की कृपा से शुद्ध हो गया है। इसे तुम युवराज बनाओ।

सब—धन्य है !

प्रसेनजित्—तब जैसी आज्ञा—इस व्यवस्था का कौन अतिक्रमण कर सकता है, और यह मेरी प्रसन्नता का कारण भी होगा। प्रभु, आपकी कृपा से मैं आज सर्वसम्पन्न हुआ। और क्या आज्ञा है ?

गौतम—कुछ नही। तुम लोग कर्तव्य के लिये सत्ता के अधिकारी बनाये गये हो, उसका दुरुपयोग न करो। भूमण्डल पर स्नेह का, करुणा का, क्षमा का शासन फैलाओ। प्राणिमात्र मे सहानुभूति को विस्तृत करो। इन क्षुद्र विप्लवो से चौककर अपने कर्म पथ से च्युत न हो जाओ।

प्रसेनजित्—जो आज्ञा, वही होगा।

[अजातशत्रु उठकर विरुद्धक को गले लगाता है]

अजातशत्रु—भाई विरुद्धक, मैं तुमसे ईर्ष्या कर रहा हूँ।

विरुद्धक—और मे वह दिन शीघ्र देखूँगा कि तुम भी इसी प्रकार अपने पिता से क्षमा किये गये।

अजातशत्रु—तुम्हारी वाणी सत्य हो।

वाजिरा—भाई विरुद्धक ! मुझे क्या तुम भूल गये ? क्या मेरा कोई अपराध है, जो मुझसे नही बोलते थे ?

विरुद्धक—नही-नही, मै तुमसे लज्जित हूँ। मैं तुम्हे सदैव द्वेष की दृष्टि से देखा करता था, उसके लिए तुम मुझे क्षमा करो।

बाजिरा—नही भाई ! यही तुम्हारा अत्याचार है।

[सब जाते है]

वासवी—(स्वगत)—अहा ! जो हृदय विकसित होने के लिए है, जो मुख हँसकर स्नेह-सहित बाते करने के लिए है, उसे लोग कैसा बिगाड लेते है ! भाई प्रसेन, तुम अपने जीवन-भर मे इतने प्रसन्न कभी न हुए होगे, जितने आज। कुटुम्ब के प्राणियो मे स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा। भगवान् ! क्या कभी वह भी दिन आवेगा जब विश्व-भर मे एक कुटुम्ब स्थापित हो जायगा और मानव मात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी सम्हालेंगे ? (जाती है)

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[पथ में वार्तालाप करते हुए दो नागरिक]

पहला—किसने शक्ति का ऐसा परिचय दिया है! सहनशीलता का ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण—ओह!

दूसरा—देवदत्त का शोचनीय परिणाम देखकर मुझे तो आश्चर्य हो गया। जो एक स्वतन्त्र संघ स्थापित करना चाहता था—उसकी यह दशा.....।

पहला—जब भगवान् से भिक्षुओं ने कहा कि देवदत्त आपका प्राण लेने आ रहा है, उसे रोकना चाहिये.....।

दूसरा—तब?

पहला—तब उन्होने केवल यही कहा कि घबराओ नही, देवदत्त मेरा कुछ अनिष्ट नही कर सकता। वह स्वयं मेरे पास नही आ सकता, उसमे इतनी शक्ति नही क्योकि उसमे द्वेष है।

दूसरा—फिर क्या हुआ?

पहला—यही कि देवदत्त समीप आने पर प्यास के कारण उस सरोवर में जल पीने उतरा। कहा नही जा सकता कि उसे क्या हुआ—कोई ग्राह पकड ले गया कि उसने लज्जा से डूब कर आत्महत्या कर ली। वह फिर न दिखायी पड़ा।

दूसरा—आश्चर्य! गौतम की अमोघ शक्ति है। भाई, इतना त्याग तो आज तक देखा नही गया। केवल पर-दुःख-कातरता ने किस प्राणी से राज्य छुडवाया है! अहा, वह शान्त मुखमण्डल स्निग्ध गम्भीर दृष्टि, किसको नही आकर्षित करती। कैसा विलक्षण प्रभाव है!

पहला—तभी तो बड़े-बड़े सम्राट् लोग विनत होकर उनकी आज्ञा का पालन करते है। देखो, यह भी कभी हो सकता था कि राजकुमार विरुद्धक पुन. युवराज बनाये जाते? भगवान् ने समझा कर महाराज को ठीक कर ही दिया—और वे आनन्द से युवराज बना दिये गये।

दूसरा—हाँ जी, चलो, आज तो श्रावस्ती भर मे महोत्सव है, हम लोग भी घूम-घूम कर आनन्द ले।

पहला—श्रावस्ती पर से आतंक का मेघ टल गया, अब तो आनन्द-ही-आनन्द है। इधर राजकुमारी का ब्याह भी मगधराज से हो गया। अब युद्ध-विग्रह तो कुछ दिनों के लिए शान्त हुए। चलो हम लोग भी महोत्सव मे सम्मिलित हो। **(एक ओर से दोनों जाते हैं, दूसरी ओर से वसन्तक का प्रवेश)**

वसन्तक—फटी हुई बाँसुरी भी कही बजती है! एक कहावत है कि 'रहे मोची-के-मोची।' यह सब ग्रहो की गड़बडी है, ये एक बार ही इतना बड़ा काण्ड

उपस्थित कर देते हैं ! कहाँ साधारण ग्राम्यबाला—हो गयी थी राजरानी ! मैं देख आया—वही मागन्धी ही तो है। अब आम की बारी लेकर बेचा करती है और लड़कों के ढेले खाया करती है। ब्रह्मा भी कभी भोजन करने के पहले मेरी ही तरह भाँग पी लेते होंगे, तभी तो ऐसा॰उलटफेर '' ऐं, किन्तु, परन्तु, तथापि, वही कहावत 'पुनर्मूषिको भव' ! एक चूहे को किसी ऋषि ने दया करके व्याघ्र बना दिया, वह उन्हीं पर गुर्राने लगा। जब झपटने लगा तो चट से बाबा जी बोले—'पुनर्मूषिको भव'—जा बच्चा, फिर चूहा बन जा। महादेवी वासवदत्ता को यह समाचार चलकर सुनाऊँगा। अरे उसी के फेर मे मुझे देर हो गयी। महाराज ने वैवाहिक उपहार भेजे थे, सो अब तो मैं पिछड़ गया। लड्डू तो मिलेगे। अजी बासी होंगे तो क्या—मिलेंगे तो। ओह, नगर में तो आलोक-माला दिखाई देती है ! सम्भवतः वैवाहिक महोत्सव का अभी अन्त नहीं हुआ। तो चलूं। **(जाता है)**

दृ श्या न्त र

सप्तम दृश्य

[आम्र कानन में आम्रपाली—मागन्धी]

मागन्धी—(आप-ही-आप)—वाह री नियति ! कैसे कैसे दृश्य देखने में आये—कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नही थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठा कर पीने मे संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ ! इस बुद्धिमत्ता का क्या ठिकाना है ! वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता मे ले आयी। अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा में ही पड़ी—उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गये ! जो अब केवल एक संकोचदायिनी स्मृति के रूप में अवशिष्ट रह गये। **(गाती है)**

स्वजन दीखता न विश्व मे अब, न बात मन मे समाय कोई।
पड़ी अकेली विकल रो रही, न दुःख मे है सहाय कोई॥
पलट गये दिन सनेह वाले, नही नशा, अब रही न गर्मी।
न नीद सुख की, न रंगरलियाँ, न सेज उजला बिछाय सोई॥
बनी न कुछ इस चपल चित्त की, बिखर गया झूठ गर्व जो था।
असीम चिन्ता चिता बनी है, विटप कँटीले लगाय रोई॥
क्षणिक वेदना अनन्त सुख बस, समझ लिया शून्य में बसेरा।
पवन पकड़कर पता बताने न लौट आया न जाय कोई॥

[बुद्ध का प्रवेश, घुटने टेक कर हाथ जोड़ती है, सिर पर हाथ रखते हैं]

गौतम—करुणे, तेरी जय हो !

मागन्धी—(आँख खोल कर और पैर पकड़ कर)—प्रभु, आ गये ! इस प्यासे हृदय की तृष्णा मिटाने को अमृत-स्रोत ने अपनी गति परिवर्तित की—इस मरु-देश में पदार्पण किया !

गौतम—मागन्धी, तुम्हें शान्ति मिलेगी। जब तक तुम्हारा हृदय उस विशृंखलता में था, तभी तक यह विडम्बना थी।

मागन्धी—प्रभु ! मैं अभागिनी नारी, केवल उस अवज्ञा की चोट से बहुत दिन भटकती रही। मुझे रूप का गर्व बहुत ऊँचे चढ़ा ले गया था, और अब उसने ही नीचे पटका।

गौतम—क्षणिक विश्व का यह कौतुक है देवि ! अब तुम अग्नि से तपे हुए हेम की तरह शुद्ध हो गयी हो। विश्व के कल्याण मे अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा आवश्यकता है। इस दुःख समुद्र मे कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया, तो सहस्रो स्वर्ग तुम्हारे अन्तर मे विकसित होंगे। फिर तुमको पर-दु.ख-कातरता मे ही आनन्द मिलेगा। विश्वमैत्री हो जायगी—विश्व-भर अपना कुटुम्ब दिखायी पड़ेगा। उठो, असंख्य आहें तुम्हारे उद्योग से अट्टहास में परिणत हो सकती है।

मागन्धी—अन्त मे मेरी विजय हुई नाथ ! मैने अपने जीवन के प्रथम वेग में ही आपको पाने का प्रयास किया था। किन्तु वह समय ठीक भी नही था। आज मैं अपने स्वामी को, अपने नाथ को, अपना कर धन्य हो रही हूँ।

गौतम—मागन्धी ! अब उन अतीत के विकारो को क्यों स्मरण करती है, निर्मल हो जा !

मागन्धी—प्रभु ! मैं नारी हूँ, जीवन-भर असफल होती आयी हूँ। मुझे उस विचार के सुख से न वञ्चित कीजिये। नाथ ! जन्म-भर की पराजय मे भी आज मेरी ही विजय हुई। पतितपावन ! यह उद्धार आपके लिए भी महत्त्व देने वाला है और मुझे तो सब कुछ।

गौतम—अच्छा आम्रपाली ! कुछ खिलाओगी ?

मागन्धी—(आम की टोकरी लाकर रखती हुई)—प्रभु ! अब इस आम्र-कानन की मुझे आवश्यकता नही, यह संघ को समर्पित है।

[संघ का प्रवेश]

संघ—जय हो, अमिताभ की जय ! बुद्धं शरणं….।

मागन्धी—गच्छामि।

गौतम—संघं शरणं गच्छामि। (प्रस्थान)

दृ श्या न्त र

अष्टम दृश्य

[प्रकोष्ठ में पद्मावती और छलना]

छलना—बेटी ! तुम बडी हो, मैं बुद्धि में तुमसे छोटी हूँ । मैंने तुम्हारा अनादर करके तुम्हे भी दुःख दिया और भ्रान्त पथ पर चल कर स्वयं भी दु.खी हुई ।

पद्मावती—मुझे लज्जित न करो माँ ! तुम क्या माँ नही हो ! माँ, भाभी के बच्चा हुआ है—अहा कैसा सुन्दर नन्हा-सा बच्चा !

छलना—पद्मा ! तुम और अजात सहोदर भाई-बहन हो, मैं तो सचमुच एक बवण्डर हूँ । बहिन वासवी क्या मेरा अपराध क्षमा कर देगी ?

[वासवी का प्रवेश]

छलना—**(पैर पर गिरकर)**—कुणीक की तुम्ही वास्तव मे जननी हो, मुझे बोझ ढोना था ।

पद्मावती—माँ ! छोटी माँ पूछती है, क्या मेरा अपराध क्षम्य है ?

वासवी—**(मुस्करा कर)**—कभी नही इमने कुणीक को उत्पन्न करके मुझे बडा सुख दिया, जिसका इस छोटे मे हृदय से मै उपभोग नही कर सकती । इसलिये मैं इसे क्षमा नही करूँगी ।

छलना—**(हँस कर)**—तब तो बहिन, मैं भी तुमसे लडाई करूँगी, क्योकि मेरा दु ख हरण करके तुमने मुझे खोखली कर दिया है, हृदय हल्का होकर बेकाम हो गया है । अरे, सपत्नी का काम तो तुम्ही ने कर दिखाया । पति को तो बस मे किया ही था, मेरे पुत्र को भी गोद मे लिया । मै····।

वासवी—छलना ! तू नही जानती, मुझे एक बच्चे की आवश्यकता थी, इसलिये तुझे नौकर रख लिया था—अब तो तेरा काम नही है ।

छलना बहिन, इतनी कठोर न हो जाओ ।

वासवी—**(हँसती हुई)**—अच्छा जा, मैने तुझे अपने बच्चे की धात्री बना दिया । देख, अब अपना काम ठीक से करना, नही तो फिर····।

छलना—**(हाथ जोड़कर)** अच्छा स्वामिनी !

पद्मावती—क्यो माँ, अजात तो यहाँ अभी नही आया ! वह क्या छोटी माँ के पास नही आवेगा ?

वासवी—पद्मा ! जब उसे पुत्र हुआ, तब उससे कैसे रहा जाता । वह सीधे श्रावस्ती से महाराज के मन्दिर मे गया है । सन्तान उत्पन्न होने पर अब उसे पिता के स्नेह का मोल समझ पड़ा है ।

छलना—बेटी पद्मा ! चल । इसी से कहते हैं कि काठ की सौत भी बुरी होती है—देखी निर्दयता—अजात को यहाँ न आने दिया ।

वासवी—चल, चल, तुझे तेरा पति भी दिला दूँ और बच्चा भी । यहाँ बैठ कर ? मुझसे लड़ मत कंगालिन **(सब हँसती हुई जाती है)**

दृ श्या न्त र

नवम दृश्य

[कुटीर में बिम्बिसार लेटे हुए है]

[नेपथ्य से गान]

चल वसन्त बाला अञ्चल मे किस घातक सौरभ से मस्त,
आती मलयानिल की लहरे जब दिनकर होता है अस्त ।
मधुकर से कर सन्धि, विचर कर उषा नदी के तट उस पार,
चूसा रस पत्तो-पत्तों से फूलो का दे लोभ अपार ।
लगे रहे जो अभी डाल से बने आवरण फूलो के,
अवयव थे शृंगार रहे जो वनबाला के झूलो के ।
आशा देकर गले लगाया रुके न वे फिर रोके से,
उन्हे हिलाया बहकाया भी किधर उठाया झोंके से ।
कुम्हलाये, सूखे, ऐंठे फिर गिरे अलग हो वृन्तों से,
वे निरीह मर्माहत होकर कुसुमाकर के कुन्तो से ।
नवपल्लव का सृजन ! तुच्छ है किया वात से वध जब क्रूर,
कौन फूल सा हँसता देखे ! वे अतीत से भी जब दूर ।
लिखा हुआ उनकी नस-नस में इस निर्दयता का इतिहास,
तू अब 'आह' बनी घूमेगी उनके अवशेषों के पास ।

बिम्बिसार—(उठकर आप-ही-आप)—सन्ध्या का समीर ऐसा चल रहा है—जैसे दिन भर का तपा हुआ उद्विग्न संसार एक शीतल निश्वास छोड़कर अपना प्राण धारण कर रहा हो । प्रकृति की शान्तिमयी मूर्ति निश्चल होकर भी मधुर झोंके से हिल जाती है । मनुष्य-हृदय भी एक रहस्य है, एक पहेली है । जिस पर क्रोध से भैरवहुंकार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत रहता है । उन्माद ! और क्या ? क्या इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर मनुष्य कभी निश्चेष्टता नही ग्रहण कर सकता ? हाय रे मानव ! क्यों इतनी दुरभिलाषायें बिजली की तरह तू अपने हृदय मे आलोकित करता है ? क्या निर्मल-ज्योति तारागण की मधुर किरणो के सदृश सद्वृत्तियो का विकास तुझे नही रुचता !

भयानक भावुकता और उद्वेगजनक अन्त.करण लेकर क्यों तू व्यग्र हो रहा है ? जीवन की शान्तिमयी सच्ची परिस्थिति को छोड़ कर व्यर्थ के अभिमान मे तू कब तक पड़ा रहेगा ? यदि मैं सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट मे एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पडती—पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले मे चू पड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व मे न मचता। उस अस्तित्व को अनस्तित्व के साथ मिलाकर कितना सुखी होता ! भगवान्, असंख्य ठोकरे खाकर लुढकते हुए जड़ ग्रहपिण्डों से भी तो इस चेतन मानव की बुरी गति है। धक्के पर धक्के खाकर भी यह निर्लज्ज, सभा से नही निकलना चाहता। कैसी विचित्रता है ! अहा ! वासवी भी नही है। कब तक आवेगी ?

जीवक—**(प्रवेश करके)**—सम्राट्।

बिम्बिसार—चुप ! यदि मेरा नाम न जानते हो, तो मनुष्य कह कर पुकारो। वह भयानक सम्बोधन मुझे न चाहिये !

जीवक—कई रथ द्वार पर आये है और राजकुमार कुणीक भी आ रहे है।

बिम्बिसार—कुणीक कौन ! मेरा पुत्र या मगध का सम्राट् अजातशत्रु ?

अजातशत्रु—**(प्रवेश करके)**—पिता, आपका पुत्र यह कुणीक सेवा मे प्रस्तुत है। **(पैर पकड़ता है)**।

बिम्बिसार—नही, नही, मगधराज अजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नही भंग करनी चाहिए। आह, मेरे दुर्बल-चरण छोड दो।

अजातशत्रु—नहीं पिता, पुत्र का यही सिंहासन है। आपने सोने का झूठा सिंहासन देकर मुझे इस सत्य अधिकार से वञ्चित किया। अबाध्य पुत्र को भी कौन क्षमा कर सकता है ?

बिम्बिसार—पिता ! किन्तु, वह पुत्र को क्षमा करता है; सम्राट् को क्षमा करने का अधिकार पिता को कहाँ ?

अजातशत्रु—नही पिता, मुझे भ्रम हो गया था। मुझे अच्छी शिक्षा नही मिली थी। मिला था केवल जगलीपन की स्वतन्त्रता का अभिमान—अपने को विश्व भर से स्वतन्त्र जीव समझने का झूठा आत्म-सम्मान।

बिम्बिसार—वह भी तो तुम्हारे गुरुजन की ही दी हुई शिक्षा थी। तुम्हारी माँ थी—राजमाता।

अजातशत्रु—वह केवल मेरी माँ थी—एक सम्पूर्ण अंग का आधा भाग, उसमे पिता की छाया न थी पिता ! इसलिये आधी शिक्षा अपूर्ण ही रही।

छलना—**(प्रवेश करके चरण पकड़ती है)**—नाथ ! मुझे निश्चय हुआ कि वह मेरी उद्दण्डता थी। वह मेरी कूट-चातुरी थी, दम्भ का प्रकोप था। नारी-जीवन

के स्वर्ग से मैं वंचित कर दी गयी। ईंट-पत्थर के महल रूपी बन्दीगृह में मैं अपने को धन्य समझने लगी थी। दण्डनायक, मेरे शासक! क्यों न उसी समय शील और विनय के नियम-भंग करने के अपराध में मुझे आपने दण्ड दिया! क्षमा करके, सहन करके, जो आपने इस परिणाम की यन्त्रणा के गर्त्त में मुझे डाल दिया है, वह मैं भोग चुकी। अब उबारिये।

बिम्बसार—छलना, दण्ड देना मेरी सामर्थ्य के बाहर था! अब देखूं कि क्षमा करना भी मेरी सामर्थ्य में है कि नहीं!

वासवी—(प्रवेश करके)—आर्यपुत्र! अब मैंने इसको दण्ड दे दिया है, यह मातृत्व-पद से च्युत की गयी है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राजमाता को इतना बड़ा दण्ड कम नहीं है; अब आपको क्षमा करना ही होगा।

बिम्बसार—वासवी! तुम मानवी हो कि देवी?

वासवी बता दूं! मैं मगध के सम्राट् की राजमहिषी हूँ। और, यह छलना मगध के राजपौत्र की धाई है, और यह कुणीक मेरा बच्चा इस मगध का युवराज है और आपको भी....।

बिम्बसार—मैं अच्छी तरह अपने को जानता हूँ वासवी!

वासवी—क्या?

बिम्बसार- कि मैं मनुष्य हूं और इन मायाविनी स्त्रियों के हाथ का खिलौना हूँ।

वासवी—तब तो महाराज, मै जैसा कहती हूँ वैसा ही कीजिये, नही तो आपको लेकर मै नही खेलूंगी।

बिम्बसार—तो तुम्हारी विजय हुई वासवी! क्यों अजात! पुत्र होने पर पिता के स्नेह का गौरव तुम्हे विदित हुआ—कैसी उलटी बात हुई।

[कुणीक लज्जित होकर सिर झुका लेता है]

पद्मावती--(प्रवेश करके)—पिताजी, मुझे बहुत दिनो से आपने कुछ नही दिया है, पौत्र होने के उपलक्ष्य मे तो मुझे कुछ अभी दीजिये, नही तो मै उपद्रव मचाकर इस कुटी को खोद डालूंगी।

बिम्बसार—बेटी पद्मा! अहा तू भी आ गयी!

पद्मावती—हां पिताजी! बहू भी आ गयी है। क्या मै यही ले आऊँ?

वासवी—चल पगली! मेरी मोमे-सी बहू इस तरह क्या जहाँ-तहाँ जायगी—जिसे देखना हो, वही चले!

बिम्बसार—तुम सबने तो आकर मुझे आश्चर्य मे डाल दिया। प्रसन्नता से मेरा जी घबरा उठा है।

पद्मावती—तो फिर मुझे पुरस्कार दीजिये।

बिम्बसार—क्या लोगी ?

पद्मावती—पहिले छोटी माँ को, भइया को क्षमा कर दीजिये; क्योंकि इनकी याचना पहले की है; फिर....।

बिम्बसार—अच्छा री पद्मा ! देखूँगा तेरी दुष्टता। उठो वत्स अजात ! जो पिता है वह क्या कभी भी पुत्र को क्षमा—केवल क्षमा—माँगने पर भी नहीं देगा। तुम्हारे लिये यह कोष सदैव खुला है। उठो छलना, तुम भी। **(अजातशत्रु को गले लगाता है)**।

पद्मावती—तब मेरी बारी !

बिम्बसार—हाँ कह भी....

पद्मावती—बस चल कर मगध के नवीन राजकुमार को एक स्नेह-चुम्बन आशीर्वाद के साथ दीजिये।

बिम्बसार—तो फिर शीघ्र चलो—**(उठ कर गिर पड़ता है)** ओह ! इतना सुख एक साथ मैं सहन न कर सकूँगा ! तुम सब बहुत विलम्ब करके आये ! **(काँपता है)**

[गौतम का प्रवेश, अभय का हाथ उठाते हैं]

[आलोक सहित यवनिका-पतन]

●

जनमेजय का नाग यज्ञ

●

पात्र

जनमेजय	: इन्द्रप्रस्थ का सम्राट्
तक्षक	: नागों का राजा
वासुकि	: नाग सरदार
काश्यप	: पौरवों का पुरोहित
वेद	: कुलपति
उत्तंक	: वेद का शिष्य
आस्तीक	: मनसा और जरत्कारु का पुत्र
सोमश्रवा	: उग्रश्रवा का पुत्र और जनमेजय का नया पुरोहित
च्यवन	: महर्षि एवम् कुलपति
वेदव्यास	: कृष्ण द्वैपायन
त्रिविक्रम	: वेद का दूसरा विद्यार्थी
माणवक	: सरमा और वासुकि का पुत्र
जरत्कारु	: ऋषि, मनसा का पति
तुर कावषेय	: जनमेजय का ऐन्द्रमहाभिषेक करानेवाला पुरोहित
अश्वसेन	: तक्षक का पुत्र
भद्रक	: जनमेजय का शिकारी भृत्य
शौनक	: एक प्रधान ऋषि और ब्राह्मणों का नेता
	: **(दौवारिक, सैनिक, नाग, दास आदि)**
वपुष्टमा	: जनमेजय की रानी
मनसा	: जरत्कारु की स्त्री वासुकि की बहन
सरमा	: कुकुर वंश की यादवी
मणिमाला	: तक्षक की कन्या
दामिनी	: वेद की पत्नी
शीला	: सोमश्रवा की पत्नी

(दासियाँ और परिचारिकायें आदि)

प्रथम अङ्क

प्रथम दृश्य

[कानन में मनसा और सरमा]

सरमा—बहन मनसा, मैं तो आज तुम्हारी बात सुनकर चकित हो गयी।

मनसा—क्यों क्या तुमने यह समझ रखा था कि नाग जाति सदैव से इसी गिरी अवस्था में है ? क्या इस विश्व के रंगमञ्च पर नागो ने कोई स्पृहणीय अभिनय नही किया ? क्या उनका अतीत भी उनके वर्तमान की भांति अन्धकारपूर्ण था। सरमा, ऐसा न समझो। आर्यो के सदृश उनका भी विस्तृत राज्य था, उनकी भी एक संस्कृति थी।

सरमा—जब मैंने प्रभास के विप्लव के बाद अर्जुन के साथ आते हुए नागराज वासुकि को आत्म-समर्पण किया था, तब भी इस साहसी और वीर जाति पर मेरी श्रद्धा थी। श्रीकृष्ण की उस अपूर्व प्रतिभा ने मेरी नस-नस मे मनुष्य मात्र के प्रति एक अविचल प्रीति और स्वतन्त्रता भर दी थी। शूद्र, गोप से लेकर ब्राह्मण तक की समता और प्राणी मात्र के प्रति समदर्शी होने की अमोघ वाणी उनके मुख से कई बार सुनी थी। वही मेरे उस आत्म-समर्पण का कारण हुई।

मनसा—क्या कहूँ, जिसकी तू इतनी प्रशंसा कर रही है, उसी ने इस जाति का अधःपात किया है। और नही तो क्या प्रबल नाग जाति वीर्य या शौर्य मे आर्यो से कम थी ? जब नागों ने आभीरो के साथ मिल कर यादवियों का हरण किया था, तब धनञ्जय की वीरता भी विचलित हो गई थी !

सरमा—(बिगड़ कर) बहन, वह प्रसंग न छेडो ! वह आर्यों के लिए लज्जाजनक अवश्य है, किन्तु उनकी वीरता पर कलक नही है। क्या मैं तुम्हारे भाई पर मुग्ध होकर अपनी इच्छा से नही चली आई ? क्या और भी अनेक यादवियाँ अपने चरित्र-पतन की पराकाष्ठा दिखला कर उन आक्रमणकारियो के साथ नही चली गयी ? उसमें कुछ नागों की वीरता न थी। जिनको रक्षा करनी थी, स्वयं वे ही जब लुटेरों को आत्म-समर्पण कर रही थी तब अर्जुन की वीरता क्या करती ?

मनसा—जब उनमे कोई बात ही न थी, तब फिर वे क्यों आयी !

सरमा—मैं व्यंग सुनने नही आई हूँ ! श्रीकृष्ण ने पददलितों की जिस स्वतन्त्रता

और उन्नति का उपदेश दिया था, वह आसुरी भावों से भरकर उद्दाम वासना में परिणत हो गई। धर्म-सस्थापक ने जातीय पतन का वह भीषण आन्तरिक संग्राम भी अपनी आँखों देखा, किन्तु इस औद्धत्य को रुकते न देखकर उन्हे प्रकृति के चक्र मे पिस जाने दिया। यदि वे चाहते, तो यादवो का नाश न होता। किन्तु हाँ, उसका परिणाम अन्य जातियो के लिए भयानक होता। और, मनसा यह समझ रखना कि कुकुर वश से—यादवो की यह कन्या सरमा किसी के सिर का बोझ, अकर्मण्यता की मूर्ति होकर—नही आयी है। इस वक्षस्थल मे अबलाओ का रुदन ही नही भरा है।

मनसा—हाँ सरमा, मुझमे भी ओजपूर्ण नाग-रक्त है। इस मस्तिष्क मे अभी तक राजेश्वरी होने की कल्पना खुमारी की तरह भरी हुई है। वह अतीत का इतिहास याद करो, जब सरस्वती का जल पीकर स्वस्थ और पुष्ट नाग जाति कुरुक्षेत्र की सुन्दर भूमि का स्वामित्व करती थी! जब भरत जाति के क्षत्रियो ने उन्हे हटने को विवश किया, तब वे खाण्डव-वन मे अपना उपनिवेश बनाकर रहने लगे थे। उस समय तुम्हारे कृष्ण ने साम्य और विश्वमैत्री का जो मन्त्र पढा था, क्या उसे तुम सुनोगी? और जो नृशसता आर्यों ने की थी, उसे आँखो से देखोगी? लो, देखो मेरा मन्त्रबल, प्रदोष की गाढी नीलिमा मे अपनी आँखे गडा दो। सावधान!

[कुछ बढ़ती हुई क्षितिज की ओर अपना दाहिना हाथ फैलाती है, और उसके तमिल पटल पर खाण्डव की सीमा प्रकट होती है, अर्जुन और श्रीकृष्ण आते है]

अर्जुन—भयानक जन्तुओं से पूर्ण यह खाण्डव-वन देकर उन लोगो हमे अच्छा मूर्ख बनाया! क्या हम लोग भी जगली हैं जो वृक्षो के पत्ते पहन कर इन भयानक जन्तुओं के साथ इसी मे निवास करेगे? सखे कृष्ण! यह कपटपूर्ण व्यवहार असह्य है।

श्रीकृष्ण—अर्जुन! पृथ्वी पर कही-कही अब तक मनुष्यो और पशुओ मे भेद नही है। मनुष्य इसीलिये है कि वे पशु को भी मनुष्य बनावे। तात्पर्य यह कि सारी सृष्टि एक प्रेम की धारा मे वहे और अनन्त जीवन लाभ करे।

अर्जुन—किन्तु यह विषमता-पूर्ण विश्व क्या कभी एक-सा होगा? क्या जड़-चेतन, सुख-दु:ख, दिन-रात, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्व कभी एक होगे? क्या इनकी समता होगी? मनुष्य यदि चेष्टा भी करे तो क्या होगा?

श्रीकृष्ण—सखे! सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है। उसका कुछ-न-कुछ उद्देश्य अवश्य है। फिर ऐसी निराशा क्यो? द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है। उसी का निवारण होना आवश्यक है। देखो, दिन का अप्रत्यक्ष होना ही रात्रि है, आलोक का

अदर्शन ही अन्धकार है। ये विपक्षी द्वन्द्व अभाव हैं। क्या तुम कह सकते हो कि अभाव की भी कोई सत्ता है ? कदापि नही।

अर्जुन—पर यदि कोई दुःख, रात्रि, जडता पाप आदि को ही सत्ता माने, और अन्धकार को ही निश्चल जाने, तो ?

श्रीकृष्ण –तो फिर जीव दु ख के भँवर में भी आनन्द की अभिलाषा क्यों करता है ? रात्रि के अन्धकार में दीपक क्यों जलाता है क्या यह वास्तविकता की ओर उसका झुकाव नही है ? वयस्य, जिन पदार्थो की शक्ति अप्रकाशित रहती है, उन्हें जड कहते है। वे जब किसी विशेष मात्रा मे मिलते है, तब उनमे एक शक्ति उत्पन्न होती है, स्पन्दन होता है जिसे जडता नही कह सकते। वास्तव मे सर्वत्र शुद्ध चेतन है, जडता कहाँ ? यह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है। यदि तुम कहो कि इनका तो नाश होता है, और चेतन की सदैव स्फूर्ति रहती है, तो यह भी भ्रम है। सत्ता कभी लुप्त भले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश नही होता। गृह का रूप न रहेगा तो ईंटे रहेंगी, जिनके मिलने पर गृह बने थे। वह रूप परिवर्तित हुआ, तो मिट्टी हुई, राख हुई, परमाणु हुए। उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कही नही जाती और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है।[1] वही एक 'अद्वैत' है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप मे चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी, सबको अपनी समता मे ले आना होगा।

अर्जुन—तो फिर यह बताओ कि यहाँ क्या करना होगा। तुम तो सखे, न जाने कैसी बाते करते हो, जो समझ मे ही नही आती, और समझने पर भी उनको व्यवहार मे लाना बहुत दुरूह है। झाड़ियो मे छिप कर दस्युता करनेवाली और गुञ्जान जंगलो मे पशुओं के समान दौड़ कर छिप जाने वाली इस नाग जाति को हम किस रीति से अपनी प्रजा बनावे ? ये न तो सामने आकर लडते है और न अधीनता ही स्वीकृत करते है। अब तुम्ही बताओ, हम क्या करे ?

श्रीकृष्ण—पुरुषार्थ करो, जडता हटाओ। इस वन्य प्रान्त मे मानवता का विकास करो जिसमें आनन्द फैले। सृष्टि को सफल बनाओ।

अर्जुन—फिर वही पहेली ! यह बताओ कि इस समय हम क्या करें ! क्या इन पेड़ों पर बैठकर इन्हे सिंहासन समझ ले। क्या गीदड़ो और लोमड़ियों को अपनी प्रजा तथा भयानक सिंहो को अपना शत्रु समझ कर उनसे सन्धि-विग्रह करें, और सदा इन नागों के किए आक्रमणों से क्षुब्ध रहे ?

---

१. चिति का स्वरूप यह नित्य जगत् वह रूप बदलता है शत-शत (कामायनी-दर्शनसर्ग)।

श्रीकृष्ण—तब तो तुम्हारे जैसे सैकड़ों अर्जुन केवल इस खाण्डव का भी उद्धार न कर सकेंगे। अजी इसमें एक ओर से आग लगा दो ! अग्निदेव को वसा और मांस की आहुतियो से अजीर्ण हो गया है। उन्हे प्रकृत आहार की आवश्यकता है। श्वापदसंकुल जंगलों को सुन्दर जनपदो मे परिवर्त्तित कर देना उन्ही का काम है।

अर्जुन—अरे, यह क्या कह रहे हो ! अभी तो विश्व भर की एकता का प्रतिपादन कर रहे थे, और अभी यह अनाचार ! इतने प्राणियों की हिंसा, और इन जंगलियो का निर्वासन सिखाने लगे ! क्या यही विवेक है ?

श्रीकृष्ण—(हँसकर) बलिहारी इस बुद्धि की ! अजी जो उन विपक्षी द्वन्द्वों के पोषक है, जो मिथ्या विश्वास के सहायक है, क्या उनको समझाकर, उनके साथ शिष्टाचार करके अपना प्रयत्न सफल कर सकते हो ? यदि उन्हे समता मे ले आना है, तो जो जिस योग्य हो, उनसे वैसा ही संघर्ष करना पडेगा। जिनमे थोडी कसर है, वे हमसे ईर्ष्या करके ही हमारे बरावर पहुँचेगे। जो वहुत पिछडे हुए है, उन्हें फटकारने से ही काम चलेगा। जो हमारे विकास के विरोधी है और अपने को जड ही मानते है, उन्हे रूप बदलना ही पडेगा। दूसरा परिवर्तन ही उन्हे हमारे पास ले आवेगा। हमारी दृष्टि साम्य की है। भ्रम ने जिन्हे हेय बना रक्खा है, जिन्हे पद-दलित कर रक्खा है, जो अपने को जडता का अवतार मानते हे, जो धार्मिक होने के बदले दस्यु होने मे ही अपना गौरव समझते है, उन्हे तो स्वय हमारा रूप धारण करना होगा। यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। इसमे कोई दोष नही। विश्व मात्र एक अखण्ड व्यापार है। उसमे किसी का व्यक्तिगत स्वार्थ नही है। परमात्मा के इस कार्यमय शरीर मे किस अग का बढा हुआ और निरर्थक अंग लेकर कौन-सी कमी पूरी करनी चाहिये, यह सव लोग नही जानते। इसी से निजत्व और परकीयत्व के दु.ख का अनुभव होता हे। विश्व मात्र को एक रूप मे देखने से यह सब सरल हो जाता है। तुम इसे धर्म और भगवान का कार्य समझ कर करो, तुम 'मुक्त' हो। बस अर्जुन, इस विषम व्यापार को सम करो। दुर्वृत्त प्राणियो का हटाया जाना ही अच्छे विचारो की रक्षा है। आत्मसत्ता के प्रतारक सकुचित भावो को भस्म करो ! लगा दो इसमे आग !

[अर्जुन खाण्डव-दाह करता है। बड़ा हल्ला मचता है। प्राणियों की बड़ी संख्या भस्म होती है। नाग लोग चिल्ला कर भागते है]

श्रीकृष्ण—सखे, सावधान ! इसे बुझाने का प्रयत्न करने वाले भी अपने आप को न बचा सकेंगे।

[दोनों धनुष सँभालते और बाण चलाते हैं। पूर्व-परिवर्तित दृश्य अदृश्य हो जाता है]

मनसा—देखा दायवी ! कैसी विलक्षणता है ! यह बनावटी परोपकार, और ये विश्व के ठेकेदार ! ओह, इन्हींकी तुम प्रशंसा करती हो. जनके अत्याचार से निरीह नागों का निर्वासन हुआ, और दुर्गम हिमावृत चोटियों के मार्ग से कष्ट सहते हुए उन्हें इस गान्धार देश की सीमा में आना पड़ा ! देखो, अपने आर्यों की यह समता ! फिर यदि नागों ने आभीरों से मिल कर यादवियों का अपहरण किया, तो क्या बुरा किया ? यदि नागराज तक्षक ने शृंगी ऋषि से मिलकर परीक्षित का संहार किया, तो क्या अनिष्ट किया ? इस विश्व में बुराई भी अपना अस्तित्व चाहती है[1]। मैंने नागजाति के कल्याण के लिए अपना यौवन एक वृद्ध तपस्वी ऋषि को अर्पित कर दिया है। केवल जातीय प्रेम से प्रेरित होकर मैंने अपने ऊपर यह अत्याचार किया है !

सरमा—और मैंने विश्व-मैत्री तथा साम्य को आदर्श बना कर नाग-परिणय का यह अपमान सहन किया है ! मायाविनी, यह कैसा कुहक दिखाया ! ओह ! अभी तक सिर घूम रहा है !

मनसा—बिलकुल इन्द्रजाल है यादवी ! यह विद्या हम नागों की पैतृक सम्पत्ति है।

सरमा—किन्तु यह जानकर भी तुमने उलटी ही बात सोची ! आश्चर्य है ! मनसा तुम्हारा कलुषित हृदय कैसे शुद्ध होगा ?

मनसा—आर्यों को इसका प्रतिफल देकर। उन्हें इस हृदय की प्रतिहिंसा भोगनी पड़ेगी। अब पाण्डवों की वह गरमा-गरमी नहीं रही। यह नागजाति फिर एक बार चेष्टा करेगी, परिणाम चाहे जो हो।

सरमा—अभागिनी नागिनी ! श्रीकृष्ण के इस महत् उद्देश्य का उलटा अर्थ लगाती है ! जो प्राकृतिक नियमों को सामने रखकर सब की शुभकामना रखता था, उसे अपवाद लगाती है ! भला तेरा और तेरी जाति का उद्धार कैसे होगा ? अपना सुधार न कर तू दूसरों के दोष ही देखेगी। जो वास्तव में तेरी ही परिस्थिति बदल कर तेरी उन्नति करने की चेष्टा करता है, उसे संकीर्णता से अपना शत्रु समझती है ! हाँ, मैं कैसे भ्रम में थी ! विषम को सम करना चाहती थी, जो मेरी सामर्थ्य के बाहर था। स्नेह से मैं सर्प को अपनाना चाहती थी; किन्तु उसने अपनी कुटिलता न छोड़ी। बस, अब यह जातीय अपमान मैं सहन नहीं कर सकती। मनसा, मैं जाती हूँ। वासुकि से कह देना कि यादवी सरमा अपने पुत्र को साथ ले गयी। मैं अपने सजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किन्तु इन हृदय-हीन उद्दण्ड बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी। **(सवेग प्रस्थान)**

---

१. अरे सर्ग अंकुर के पल्लव दोनों हैं ये भले बुरे। एक दूसरे की सीमा हैं क्यों न युगल को प्यार करें।।—कामायनी

मनसा--जा न, मेरा क्या बिगड़ता है !

[वासुकि का प्रवेश]

वासुकि—बहन, यह तुमने क्या किया ! सरमा को इस तरह उत्तेजित करके उसे चले जाने देना अच्छा हुआ ?

मनसा—तो जाओ, उसे मना लाओ !

वासुकि—हमे साहस नही होता। बहन, तुमने, अपने रूखे व्यवहार से जरत्कारु को भी यहाँ न रहने दिया। हम लोग आर्यो से मेल करने की जो चेष्टा कर रहे है, उस पर उसका कैसा प्रभाव पडेगा ?

मनसा—कैसा प्रभाव पडेगा, यह तुम जानो। मुझे क्या ? जरत्कारु गये, तो क्या हुआ, मेरा नाम भी तो तुम लोगो ने जरत्कारु ही रख दिया है। क्या अब कोई दूसरा नाम बदलोगे ?

वासुकि—बहन, व्यंग न बोलो। तुम्हारी इच्छा से ही ब्याह हुआ था, किसी ने कुछ दबाव डालकर नही किया था। नागो के उपकार के लिए तुमने स्वयं ही—

मनसा—बस बस ! कायरो की सख्या न बढाओ। नागो के विश्व-विश्रुत कुल मे तुम्हारे सदृश व्यक्ति भी उत्पन्न होगे, ऐसी सम्भावना न थी ! रमणियो के आँचल मे मुँह छिपा कर आर्यो के समान वीर्यशाली जाति पर बाण बरसाना चाहते हो ! अब मुझसे यह सहन न होगा ! मै यह पाखण्ड नही देख सकती ! खाण्डव की ज्वाला के समान जल उठो ! चाहे उसमे आर्य भस्म हो, और चाहे तुम ! इस नीच अभिनय की आवश्यकता नही। **(सवेग प्रस्थान)**

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

उत्तंक—(स्वगत) गुरुदेव को गये महीनो हो गये, अब इस गुरुकुल मे मन नही लगता। क्या करूँ मेरा अध्ययन तो कभी समाप्त हो गया है किन्तु गुरुदेव की आज्ञा है कि 'जब तक हम न आवे तुम घर न जाना।' इसलिए मुझे ठहरना ही पड़ेगा। अहा, सायंकाल समीप है। अग्नि-शाला की परिचर्या का भार मुझी पर है। अभी दीपक नही जला। और भी कई काम है। अच्छा तो चलूं, नही तो गुरु-पत्नी आने पर बाते सुनावेगी, **(घूमकर)** अच्छा, फूल तो चुनता चलूं। **(फूल चुनता हुआ)** अहा, मुझे भी यह सरल छात्रजीवन छोडकर जटिल संसार के कुटिल कर्मपथ पर अग्रसर होना पड़ेगा। यह गुरुकुल इस जीवन यात्रा का पहला पत्थर है। यही चतुष्पथ है। किस मार्ग पर चलूं।

[दामिनी का प्रवेश]

दामिनी- कहाँ चले उत्तंक ?

उत्तंक—आर्या को प्रणाम करता हूँ। मैं फूल चुनने आया था, कुछ विलम्ब हो गया। अभी अग्नि-शाला का कार्य करना है, और सायकाल भी हो रहा है, इसी से शीघ्रता कर रहा हूँ।

दामिनी—व्यर्थ इतनी त्वरा क्यो ? और भी तो छात्र है। कोई कर लेगा। ठहरो !

उत्तंक—किन्तु गुरुदेव की आज्ञा है, मुझी पर यह सारा भार है। नही तो वे अप्रसन्न होगे।

दामिनी—मैं उन्हे समझा लूँगी तुम्हे इसकी चिन्ता क्या है ! और, फिर, जो दूसरों की परवाह नही करते, उनके लिए दूसरे क्यो अपना सिर मारे।

उत्तंक—यह बात तो मेरी समझ मे नही आयी।

दामिनी—तुम्हे तो वैसी शिक्षा ही नही मिली है। तुम क्यो इसे समझने लगे !

उत्तंक—जैसा आप समझे गुरुजी तो कह रहे थे कि अवकी आने पर पर तुम्हे छुट्टी दे देगे तुम्हारा अध्ययन समाप्त हो चुका। किन्तु—

दामिनी—तुम तो कुछ समझते ही नही !

उत्तंक—किन्तु मै दार्शनिक प्रतिज्ञाएँ अपने सहपाठियों मे भी विशेष शीघ्र समझता था, और गुरुजी की भी यही धारणा है।

दामिनी—अच्छा बताओ, तुम फूल क्यो चुनते हो ?

उत्तंक—मुझे भले लगते है।

दामिनी—तब तो तुम मानते हो कि जिसे जो भला लगे, उसे वह स्वायत्त करे, क्यों ?

उत्तंक— ठहरिये ! इस प्रतिज्ञा मे कोई आपत्ति तो नही है ? **(सोचता है)** नही-नही, यह ठीक नही। इससे तो डाकू भी कह सकता है कि मुझे अमुक वस्तु प्रिय है, इसलिए मैं उसे लेता हूँ। मेरा यह कथन है कि फूल प्रकृति की उदारता का दान है। पवन उससे सौरभ लेता है, उसे कोई रोक नही सकता। स्वय जो उपवन का स्वामी है, वह भी इसमे असमर्थ है। वह सौरभ कहाँ-कहा ले जाकर किसे-किसे देता है, इसका कोई ठिकाना नही। अतएव यह सिद्ध हुआ कि फूल प्रकृति की दी हुई साधारण सम्पत्ति है, इसीलिये मैं लेता हूँ। ये मुझे रुचते भी हे, और मेरे है भी।

दामिनी—गुरुजी ने तुम्हे जितना तर्क पढाया है, उतनी यदि ससार की शिक्षा देते, तो तुम्हारा बहुत उपकार करते। अच्छा बताओ तो सही, यही फूल इन्ही दिनों में क्यो फूलता है ?

उत्तंक—इसके विकसित होने की एक ऋतु होती है।

दामिनी—क्यों उत्तंक, ऋतु में ही सब विकसित होते हैं, क्या यह भी नियम है ?

उत्तंक—और नहीं तो क्या !

दामिनी—और जो फूल ऋतु में विकसित हो, उसे अपनी तृप्ति के लिए तोड़ लेना चाहिये, नहीं तो वह कुम्हला जायगा, व्यर्थ झड़ जायगा। इसलिये उसका उपयोग कर लेना चाहिये। क्यों, यही बात है न ?

उत्तंक—और नहीं तो क्या ! फूल सूंघने से हृदय पवित्र होता है, मेधा-शक्ति बढ़ती है, और मस्तिष्क प्रफुल्लित होता है।

दामिनी—तुम्हारा सिर होता है।

उत्तंक—हैं-है, आप रुष्ट क्यों होती हैं ?

दामिनी—नही उत्तंक, भला मैं तुमसे रुष्ट हो सकती हूँ ? वाह, यह भी अच्छी कही। अच्छा लो, तुम इन्हीं फूलों की एक माला बनाओ, और तब मैं कुछ गाऊँ।

उत्तंक—जो आज्ञा। **(माला गूँथने लगता है)**

दामिनी—**(गाती है)**—

अनिल भी रहा लगाये घात
मैं बैठी द्रुम-दल समेट कर, रही छिपाये गात
खोल कर्णिका के कपाट वह निधड़क आया प्रात
बरजोरी रस छीन ले गया, करके मीठी बात

(उत्तंक को देखती हुई) तुम्हारी माला !

उत्तंक—वाह ! आप गा चुकी ? इधर मेरी माला भी बन गयी, देखिये !

दामिनी—**(माला देखती हुई)** हाँ जी, तुम तो इस विद्या में सिद्धहस्त हो, किन्तु इसे मुझे पहना दो। नही-नहीं, मेरे जूड़े मे लगा दो। मुझसे नही लगेगा।

उत्तंक—यह तो मुझे भी नहीं आता।

[दामिनी उसका हाथ पकड़कर बताती है, उत्तंक जूड़े में माला लगाता है]

उत्तंक—अब ठीक लगी, अब यह नही गिरने को। ऐं ! आपका शरीर न जाने क्यों कांप रहा है।

दामिनी—मूर्ख !

उत्तंक—क्षमा कीजिए, जाता हूं। **(प्रस्थान)**

दामिनी—जिसे आत्म-संयम की इतनी शिक्षा मिलनी थी, उसे हाड़-मांस के मनुष्य का शरीर क्यों मिला ? क्यों न उसे छाया-शरीर मिला ! **(बैठ जाती है)**

[उत्तंक का पुनः प्रवेश]

उत्तंक—गुरुदेव आ गये।

दामिनी—(प्रकृतिस्थ होकर) उत्तंक मेरी इन बातों को भूल जाना ! मुझे क्षमा करना !

उत्तंक—देवि, मैं नहीं समझ सका, आप क्या कहती हैं ? चलिये (देखकर) लीजिये, वे तो इधर ही आ रहे हैं।

[वेद का प्रवेश]

दामिनी—आर्यपुत्र, अपने बड़ा विलम्ब किया। मुझे इस तरह अकेली छोड़ना आपकी बड़ी भूल है।

वेद—किन्तु देवि ! मैं धैर्य को तुम्हारे पास छोड़ गया था। क्या उसने भी साथ नहीं दिया ?

दामिनी—उत्तंक भी घर जाने के लिए उत्सुक है। वह अब यहाँ से शीघ्र जाना चाहता है। इसकी भी मुझे बड़ी चिन्ता रहती थी।

वेद—लो, मैं ठीक समय पर आ पहुँचा। अब न तुम्हें मेरी भूल दिखायी पड़ेगी, और न उत्तंक को घर जाने के लिए घबराहट ही होगी ! वत्स उत्तंक ! तुम पर मैं अन्तःकरण से प्रसन्न हूँ। तुम्हारे शील ने विद्या को भी अलंकृत कर दिया है। अब तुम घर जा सकते हो। यद्यपि अभी मुझे इन्द्रप्रस्थ जाना पड़ेगा, पर मैं उसका कोई-न-कोई प्रबन्ध कर लूंगा। जनमेजय का अभिषेक होने वाला है। वह तक्षशिला विजय करके आया है। किन्तु काश्यप इसके विरुद्ध है। जब बुलावा आवेगा, तब जाने का प्रबन्ध करूँगा।

उत्तंक—क्यों गुरुदेव ! काश्यप तो जनमेजय का पुरोहित है। फिर वह इसके विरुद्ध क्यों है ?

वेद—राजकुल पर विशेष आतंक जमाने के लिए प्रायः वह विरोधी बन जाया करता है, और फिर पूरी दक्षिणा पा जाने पर प्रसन्न होता है। पर राजकुल भी उससे आन्तरिक द्वेष रखता है।

उत्तंक—अच्छा तो देव, गुरुदक्षिणा के सम्बन्ध में क्या आज्ञा होती है ?

वेद—सौम्य, मैं तुमसे इसी तरह प्रसन्न हूँ, दक्षिणा की कोई आवश्यकता नही।

उत्तंक—बिना दक्षिणा दिये विद्या सफल नहीं होती। कुछ तो आज्ञा कीजिये।

वेद—अच्छा, तो तुम अपनी इस सतृष्ण गुरु-पत्नी से पूछ देखो।

उत्तंक—आर्ये, क्या आज्ञा है ?

दामिनी—यदि मुझसे पूछते ही तो रानी के मणि-कुण्डल ले आओ ! उन्हें पहनने की बड़ी अभिलाषा है।

[वेद उसकी ओर सक्रोध देखते हैं]

उत्तंक—गुरुदेव, यही होगा ! कल मैं आऊँगा। (प्रस्थान)

वेद—दामिनी ! मैंने तेरी दुर्बलता और उत्तंक का चरित्र-बल अपनी आँखो से देखा है। तुझे लज्जा नही आती कि मैने उस त्रुटि की पूर्ति के लिये तुझे जो अवसर दिया, वह तूने खो दिया !

[दामिनी सिर झुका लेती है, दोनों का प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

तृतीय दृश्य

[इन्द्रप्रस्थ में जनमेजय की राज्यसभा : जनमेजय, तुरकावषेय और सभासदगण]

जनमेजय—भगवान ! फिर भी कोई सीमा होनी चाहिये। राजपद का इतना अपमान !

तुर कावषेय—राजन् वसुन्धरा के समान चक्रवर्ती का हृदय भी उदार और सहन-शील होना चाहिए। उसे व्यक्तिगत मानापमान पर ध्यान न देना चाहिए। और ब्राह्मणो को तो सदा सन्तुष्ट रखना चाहिये, क्योकि यही सन्तुष्ट रहने पर राष्ट्र का हितचिन्तन करते है। इसीलिये इनका इतना सम्मान है।

जनमेजय—किन्तु आर्य, मैंने कोई ऐसी बात नही की जिससे पुरोधा अप्रसन्न हो। और, उन्हे तो राष्ट्र के उत्कर्ष से प्रसन्न होना चाहिये था, न कि उलटे वे मुझे मना करते कि तुम अभी तक्षशिला पर चढाई न करो।

तुर कावषेय उन्होने इसी मे तुम्हारा कुछ हित विचारा होगा। सम्भव है, उनकी समझ की भूल हो या तुम्ही इसको न समझ सके हो।

जनमेजय -आर्य अभी मै उस प्रदेश को विजय किये चला आ रहा हूँ। आपको नही मालूम, वे वन्य जातियाँ किस तरह सभ्य और सुखी प्रजा को तग किया करती थी। कन्याओ का अपहरण किया जाता था, धनी लूटे जाते थे, व्यवसाय का मार्ग बन्द हो गया था। सीमाप्रान्त की दस्यु जातियो की उच्छृखलता बढती जा रही थी। भला यदि मैं उनको दण्ड न देता, तो और क्या उपाय था ?

तुर कावषेय—यदि ऐसा ही था तो तुम्हारी युद्धयात्रा आवश्यक थी ! यही राजधर्म था। अस्तु, तुम्हारा यह ऐन्द्रमहाभिषेक तो हमने करा दिया, और वह सम्पन्न भी हुआ, किन्तु तुम्हे अपने पुरोहित काश्यप से क्षमा माँगनी चाहिये, और इसकी सारी दक्षिणा उन्ही को दी जानी चाहिये। मैं इसी से प्रसन्न हूँगा।

जनमेजय —भगवान की जैसी आज्ञा। कोई जाकर आचार्य को बुला लावे, और दक्षिणा भी प्रस्तुत हो।

[प्रतिहारी जाता है]

तुर कावषेय राजन् ! मार्मिकता से प्रजा की पुकार सुनना। युद्धयात्राएँ अब तुम्हे विजय देंगी। इस अभिषेक का यही फल है किन्तु राजन विजयों का व्यवसाय न चलाना, नही तो उसमे घाटा भी उठाना पडता है। सृष्टि की उन्नति के लिए ही राष्ट्र है। बल का प्रयोग वही करना चाहिये जहाँ उन्नति में बाधा हो। केवल मद से उस बल का दुरुपयोग न होना चाहिये। तुम्हारी राजपरिषद् ने भारत के साम्राज्य का, तुम्हारी किशोरावस्था मे, बड़े नियमित रूप से सुशासन किया है। यौवन और प्रभुत्व के दर्प मे आकर काम न बिगाड बैठना।

प्रतिहारी—(प्रवेश करके) महाराज की जय हो। आचार्य आ रहे हैं।

[काश्यप पुरोहित का बकते-झकते प्रवेश]

काश्यप—यह क्या ! इसका लकडदादा कवष एक दासी का पुत्र था, इसीलिए ऋषियों ने भोजन के समय उसे अपनी पंक्ति मे निकाल दिया था। उसी का वंशधर तुर-फुर ! भला यह क्या जाने कि अभिषेक किसे कहते है। दासी-पुत्र के वंशधर के किये अभिषेक से तुम सम्राट् हो ! ऐ ! देखोगे इसका परिणाम, भोगोगे इसका फल मैं कौरवो का प्राचीन पुरोहित, वंशपरम्परा से मेरा अधिकार, राजकुल का दैव, उसी का इतना अपमान !

तुर कावषेय—ऋषिवर्य, क्षमा हो। राष्ट्र के कामो को रोक देना भी तो उचित नही था। भला सोचिये कि वहाँ तो ब्राह्मण-कन्याये दस्युओं से अपहृत हो रही हो, और यहाँ आप इन्हे तक्षशिला-विजय से रोके ! क्या वे आपके ही स्वजन नही ? क्या वे इस राज्य मे नही रहते ? क्या उनकी रक्षा का भार इन्द्रप्रस्थ के सम्राट् पर नहीं है ?

काश्यप—मै कौरवो का कर्मकाण्ड कराते-कराते बुड्ढा हो गया, किन्तु तुम्हारे समान लफगा इस राज-सभा मे आज तक न देखा। क्या राजतन्त्र जो चाहे, वही करता जाय, और अध्यात्म के गुरु ब्राह्मण उसी की हाँ-मे-हाँ मिलाते जायँ ! यदि ऐसा ही था, तो ब्राह्मणो को दण्ड देने का अधिकार भी राजा को क्यों न मिला ? नियन्त्रित राष्ट्र के नियमन का अधिकार ब्राह्मणो को है। इन बातो को तुम क्या जानो ! वह तो जिसकी पैतृक सम्पत्ति हो, वही जानेगा। तुम क्या जानो !

तुर कावषेय द्विजवर्य ! जब राजा अपनी प्रजा का, अपने राष्ट्र का वैभव बढ़ा रहा हो, तब उसका आदर करना भी उसकी प्रजा का धर्म है।

काश्यप—और अपने अग्नि-सेवक, पुरोहित, पाप के पञ्चमांश के भोक्ता, गुरुसमान ब्राह्मण की अवज्ञा का प्रायश्चित्त कौन करेगा ? राष्ट्र का भला हुआ, यह एक स्वतन्त्र धर्म है, और ब्राह्मण की अवज्ञा—एक भिन्न पाप है। दोनों का परिणाम भिन्न है। हम लोग कर्मवादी है। फल दोनो का ही मिलेगा ! अरे तुम क्या पढ़कर

आये हो। यहाँ इसी में यह दाढ़ी सफेद हुई है--यह दाढ़ी। **(दाढ़ी पर हाथ फेरता है)**

जनमेजय—भगवन्, यह पौरव जनमेजय प्रणाम करता है। चाहे मुझसे और जो भूल हुई हो, किन्तु दक्षिणा मैंने किसी को नहीं दी। वह आप ही के लिये रखी है।

[अनुचरगण दक्षिणा की थाली लाते हैं]

काश्यप—**(थाली लेकर)** आशीर्वाद ! कल्याण हो ! क्यों न हो ! हैं तो आप पौरवकुल के ! फिर क्यों न ऐसी महत्ता रहे !

तुर कावषेय—**(हँसकर)** तो क्यों महात्मन्, मुझे कुछ भी न मिलेगा। मैंने आपके यजमान के सब कृत्य कराये, और दक्षिणा—

काश्यप—तुम लोगे ? अच्छे आये ! अरे अभी जो अशुद्ध कृत्य तुमने कराया होगा, उसका प्रायश्चित्त कराना पड़ेगा उसमे जो व्यय होगा वह कौन देगा ? बोलो, ऐं।

तुर कावषेय--तो फिर मैं यो ही चला जाऊँ ?

काश्यप- तो क्या यही बैठे रहोगे ? अरे अभी सम्राट् युवक है, तुम लोगों की बातों मे आ जाते है। किन्तु फिर····

तुर कावषेय—तो फिर मै जाता हूँ। आप दोनों, यजमान और पुरोहित, मिल बरतें।

काश्यप—राजाधिराज, तुर कावषेय जाना चाहते है, इन्हें प्रणाम करो।

[सब प्रणाम करते हैं। तुर हँसते हुए जाते हैं। काश्यप बैठता है। वपुष्टमा का प्रवेश]

वपुष्टमा—आर्य काश्यप को मैं प्रणाम करती हूँ। **(सिंहासन पर बैठती है)**

काश्यप—कल्याण हो सौभाग्य बढ़े, वीर प्रसविनी हो।

जनमेजय—देवि, तुम्हारे आ जाने से यह राजसभा द्विगुणित शोभायुक्त हुई। आर्य तुर ने दक्षिणा नही ली, वे यों ही चले गये।

वपुष्टमा—क्यों आर्यपुत्र आपने ऐसा क्यों होने दिया ?

मन्त्री—साम्राज्ञी, वे तपस्वी है, महात्मा है, त्यागी हैं। उन्होंने कहा—हम राष्ट्र की शीतल छाया मे रहते है, इसलिए हमारा कर्त्तव्य था कि प्रजाहितैषी विजयी राजा का ऐन्द्रमहाभिषेक करे और दक्षिणा के अधिकारी तो आपके पुरोहित काश्यप हैं ही।

काश्यप—यह बात तो उसने पद्धति के अनुसार ही की है।

वपुष्टमा—**(हँसकर)** किन्तु आर्य काश्यप, आपको तो उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिये था। आप ही कुछ दे देते।

काश्यप—साम्राज्ञी, अभी आपसे तो कुछ दक्षिणा मिली नहीं। वह मिलने पर फिर तुर कावषेय को देने का विचार करूंगा!

वपुष्टमा—तब भी विचार!

काश्यप—और क्या! हम लोग बिना विचार किये कोई काम करते हैं? यदि पद्धति वैसी आज्ञा न दे, यदि वह विहित न हो तो फिर पाप-भागी कौन होगा? दूना प्रायश्चित कौन करेगा?

मन्त्री—(हँसते हुए) यथार्थ है।

काश्यप—हाँ, सूत्रों की यथावत पद्धति के अनुसार! बस!

वपुष्टमा—आर्य पुत्र, अन्त.पुर की सहेलियाँ बड़ा आग्रह करती हैं। वे कहती हैं, आज तो बड़े आनन्द का दिवस है, हम लोग राजाधिराज को अपना कौशल दिखा कर पुरस्कार लेंगी।

जनमेजय—किन्तु देवि, यह परिषद्गृह है।

काश्यप—नही सम्राट् यह भी उसी का अंग है। अभिषेक के बाद नाच-रंग होना पद्धति के अनुसार है, विधि-विहित है।

जनमेजय—देवि, अब रंग-मन्दिर में चलकर नृत्य देखूँगा। यहाँ बैठे विलम्ब भी हुआ।

दौवारिक—(प्रवेश करके) जय हो देव! एक स्नातक ब्रह्मचारी राज-दर्शन की इच्छा से आये हैं।

जनमेजय—लिवा लाओ।

[दौवारिक जाता है और उत्तंक को लेकर आता है]

उत्तंक—राजाधिराज की जय हो!

जनमेजय—ब्रह्मचारिन्, नमस्कार करता हूं। कहिये आप किस कार्य के लिये पधारे है?

उत्तंक—राजाधिराज, मैं आर्य वेद का अन्तेवासी हूँ। मेरी शिक्षा समाप्त हो गयी है, किन्तु अभी तक गुरुदक्षिणा नही दे सका हूँ। इसलिये आपके पास प्रार्थी होकर आया हूँ।

काश्यप—अरे कुछ कहो भी, किसलिये आये हो? जैसा गुरु है, वैसे ही तुम भी हो। न बोलने की पद्धति, न विधिविहित शिष्टाचार। क्या वेद ने तुम्हें यही पढ़ाया है?

उत्तंक—आप वृद्ध हैं, पूजनीय हैं, क्या मेरे उपाध्याय को कटु वाक्य कहकर मेरी गुरुभक्ति की परीक्षा लेना चाहते है? या मुझे अपना शिष्टाचार सिखाना चाहते हैं?

जनमेजय—ब्रह्मचारीजी, क्षमा कीजिये ! आप आर्य वेद के गुरुकुल से आये हैं ? अहा ! मैंने भी वहीं शिक्षा पायी है। आर्य सकुशल तो हैं ?

उत्तंक—सम्राट्, सब कुशल है।

जनमेजय—गुरुकुल अच्छी तरह चल रहा है ? कोई कमी तो नहीं है ? अब तो गुरुवर बहुत वृद्ध हो गये होंगे ! महा-वटवृक्ष वैसा ही हरा-भरा है ?

काश्यप—अभी तो कुछ ही वर्ष हुये, अग्निहोत्र के लिए उन्होंने फिर पाणिग्रहण किया है।

जनमेजय—(ब्रह्मचारी से) क्या आर्य काश्यप सच कहते हैं ?

उत्तंक—सच है राजाधिराज ! उन्ही अपनी गुरुपत्नी के लिए मुझे महादेवी के कानों के मणिकुण्डल चाहिए। मुझ से यही गुरुदक्षिणा माँगी गयी है।

जनमेजय—(कुछ देर चुप रह कर) मेरा तो कुण्डलों पर कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि मैं यह विजयोपहार महादेवी को अर्पण कर चुका हूँ।

काश्यप—तपोवन के गुरुकुल में ये मणिकुण्डल पहन कर तुम्हारी गुरुपत्नी क्या करेंगी ?

उत्तंक—और यह भी कोई शिष्टाचार है कि पुरोहित राजधर्म में बाधा डालें—दानशील राजा के मन में शंका उत्पन्न करें ? महादेवी, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मणिकुण्डल दान कर मुझे गुरु-ऋण से मुक्त कीजिये।

वपुष्टमा—(कुण्डल उतार कर देती है) लीजिये ब्रह्मचारीजी। किन्तु इन्हें बड़ी सावधानी से ले जाइयेगा।

उत्तंक—अचल सौभाग्य हो ! राज्यश्री अविचल रहे !

जनमेजय—ये तक्षक के अमूल्य मणिकुण्डल है। वह इनकी ताक में है। इन्हे सुरक्षित रखियेगा।

उत्तंक—जो आज्ञा। (जाता है)

काश्यप—अरे ऐसे अमूल्य रत्न भी इस तरह अज्ञात ब्रह्मचारी को दान करने चाहिये ? राजकोष मे फिर क्या रह जायगा !

जनमेजय—किन्तु वह ब्रह्मचारी बड़ा सरल दिखाई देता है।

काश्यप—ऐसे बहुतेरे ठग आते हैं।

वपुष्टमा—आर्य, ऐसा न कहिये।

[सरमा का प्रवेश]

सरमा—दुहाई है ! दुहाई है ! न्याय कीजिए, सम्राट, दुहाई है !

जनमेजय—क्या है ? किस बात का न्याय चाहती हो ?

सरमा—मेरे पुत्र को आपके भाइयों ने अकारण पीटा है। वह कुतूहल से यज्ञशाला में चला गया था। वे लोग कहते थे कि उसने घी का पात्र जूठा कर दिया।

काश्यप—अवश्य ही वह चोरी से घी खाने घुसा होगा।

वपुष्टमा —आर्यपुत्र ! न्याय कीजिये ! नारी का अश्रुजल अपनी एक-एक बूँद में बड़िया लिये रहता है।

जनमेजय—तुम्हारा नाम क्या है। तुम क्यों यहाँ आयी हो ?

सरमा—मैं यादवी हूँ। मैंने अपनी इच्छा से नाग-परिणय किया था, पर उनकी कुटिलता न सह सकी। कारण यह कि वे दिनरात आर्यों से अपना प्रतिशोध लेने की चिन्ता मे रहते थे। यह मुझमे सहन न हो सका, इसलिये मैं उनका राज्य छोड़ कर चली आयी।

वपुष्टमा—छिः ! आर्य-ललना होकर नाग जाति के पुरुष से विवाह किया ! तभी तो यह लाञ्छना भोगनी पड़ती है।

सरमा—साम्राज्ञी ! मैं तो एक मनुष्य-जाति देखती हूँ—न दस्यु और न आर्य ! न्याय की सर्वत्र पूजा चाहती हूँ—चाहे वह राज मन्दिर में हो, या दरिद्र-कुटीर मे। सम्राट्, न्याय कीजिये।

जनमेजय—दस्यु महिला के लिए कोई आर्य न्यायाधिकरण मे नही बुलाया जायगा। तुमने व्यर्थ इतना प्रयास किया।

सरमा—सम्राट्, मनुष्यता की मर्यादा भी क्या सब के लिए भिन्न-भिन्न है ? क्या आर्यो के लिए अपराध भी धर्म हो जायगा ?

जनमेजय—चुप रहो ! पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यो पर अभियोग लगाने का कोई अधिकार नही है।

सरमा—किन्तु पतिता पर अतिचार करने का आर्यो को अधिकार है ? राजाधिराज, अधिकार का मद न पान कीजिये। न्याय कीजिये।

जनमेजय—असभ्यों में मनुष्यता कहाँ ! उनके साथ तो वैसा ही व्यवहार होना चाहिये। जाओ सरमा ! तुमको लज्जित होना चाहिये।

सरमा—इतनी घृणा ! ऐश्वर्य का इतना घमण्ड ! प्रभुत्व और अधिकार का इतना अपव्यय ! मनुष्यता इसे नही सहन करेगी। सम्राट् सावधान !

काश्यप—जा, जा, चली जा। बक-बक करती है।

सरमा—काश्यप, मै जाती हूँ। किन्तु स्मरण रखना, दुखिता, अनाथा रमणी का अपमान, पीड़िता की मर्मव्यथा, कृत्या होकर राजकुल पर अपनी कराल छाया डालेगी। उस समय तुम्हारे-जैसे लोलुप पुरोहित उससे राजकुल की रक्षा न कर सकेंगे। **(वेग से प्रस्थान)**

दृश्यान्तर

चतुर्थ दृश्य

[पथ में सरमा और माणवक]

माणवक—इतना अपमान ! माँ, यह असह्य है।

सरमा—हाँ बेटा ! धिक्कारो, इस अभागिनी को ! मर्मवेधी शब्दों से और भी आहत करो ! तुम्हारे अपमान का कारण मैं ही हूँ।

माणवक—माँ ! इन दम्भियों में कौन-सी विशेष मनुष्यता है जो तुम अपना राज्य छोड़कर इनसे तिरस्कृत होने के लिए चली आयी हो ? अपना अपना ही है। दारिद्रय की विकट ताड़ना से एक टुकड़े के लिये दूसरों की ठोकर सहना ! ओह—

सरमा—बस करो बेटा !

माणवक—नही, माँ बड़ी भूख लग रही है। पेट की ज्वाला ही वह बड़वाग्नि है जो कभी नही बुझती। उसे सब लोग नहीं अनुभव कर सकते। जो उत्तम पदार्थों की थाली पैर मे ठुकरा देते है, जिन्हें अरुचि की डकार सदा आती रहती है, वे इसे क्या जानेगे। मां इसी के लिए ऐसे कर्म हो जाते हैं जिन्हें लोग अपराध कहते हैं।

सरमा—बेटा, तुम इस अभागिनी की और भी भर्त्सना करोगे ? क्षमा करो लाल, मैं इन्हें अपना सम्बन्धी समझ कर इनका आश्रय लेने चली आयी थी। तुम मेरी अग्नि परीक्षा न करो। जिनकी रसना की तृप्ति के लिए अनेक प्रकार के भोजनों की भरमार होती है, वे पेट की ज्वाला नहीं समझते। मैंने न्याय की प्रार्थना की, तो उन्होंने एक अपमान और जोड़ दिया कि मैने नाग-परिणय किया था। यह भी मुझ पर एक अपराध लगा ! हे भगवान मेरे अभिमान का यह फल !

माणवक—फिर तुमने मुझे प्रतिशोध लेने से क्यों रोक दिया ?

सरमा—हत्या ! तू सरमा का पुत्र होकर गुप्त रूप से हत्या करना चाहता था, यह कलंक मैं नहीं सह सकती थी तू उनसे लड़कर वही मर जाता या उन्हें मार डालता, यह मुझे स्वीकार था। परन्तु—उसके लिए तू अभी बिलकुल बच्चा है।

माणवक—दुर्बलों के पास और उपाय ही क्या है ? क्या तब मुझे शान्ति मिलेगी, जब तुम हस्तिनापुर के राजमन्दिर के वातायनों की ओर दीनता से ताकती रहोगी ?

सरमा—नही बेटा। मैं इस अपमान का बदला लूंगी, किन्तु सहायता के लिये लौटकर नागकुल में न जाऊँगी।

माणवक—तब फिर प्रतिशोध कैसे सम्भव है ? माँ, मेरे हृदय में दारुण प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक रही है। घमण्डियों के वे वक्र विलोचन बरछी की तरह लग रहे हैं। माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेन दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मैं मनसा के हाथों का विषाक्त अस्त्र बनूं, उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूं।

क्रूरता का तांडव किये बिना मैं न जी सकूंगा। मैं आत्मघात कर लूंगा। **(रोने लगता है)**

सरमा—मैं जानती हूँ, मैं अनुभव कर रही हूँ। उस अपमान के विष का घूंट मेरे गले में अभी तक तीव्र वेदना उत्पन्न करता हुआ धीरे-धीरे उलट रहा है। पर माणवक, मेरे प्यारे बच्चे ! पहले तो तूने मातृ-स्नेह के वश होकर अपने पिता के वैभव का तिरस्कार किया। पर अब, क्या मनसा से सहायता माँग कर मुझे उसके सामने फिर लज्जित करना चाहता है ? यादवी प्राण के लिये नही डरती। **(छुरी फेंककर)** ले, पहले मेरा अन्त कर ले, फिर तू जहाँ चाहे, चला जा। **(रोकर)** हाय ! वत्स तुझे नहीं मालूम कि तेरे ही अभिमान पर मैंने राज-वैभव ठुकरा दिया था बेटा !

माणवक—माँ, मत रोओ, क्षमा करो, मेरी भूल थी। मै पुत्र हूँ। अपने अपमान के प्रतिशोध के लिए तुम्हारा हृदय दु:खी नही करना चाहता **(पैरों पर गिरते हुए)** माँ, मैं जाता हूँ। भाग्य मे होगा, तो फिर तुम्हारे दर्शन करूँगा। **(उठकर डबडबाई आँखों से सरमा को देखता माणवक जाता है)**

सरमा—ठहर जा, माणवक ठहर जा। मेरी बात सुन ले। रूठ मत, मैं सब करूँगी। जो तू कहेगा, वही करूँगी। सुन ले ! नही आया ! चला गया ! हाय रे जननी का हृदय ! मैं सब ओर से गयी। इस अन्धकारपूर्ण शून्य हृदय में सैकड़ों बिजलियों से भी प्रकाश न होगा। माणवक—माणवक ! **(उसके पीछे जाती है)**

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[कानन में क्षुब्ध तक्षक]

तक्षक—मैं अपने शत्रुओ को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते, देख रहा हूँ। और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरणी पर पैर रखते हुए भी काँप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस छाती मे धधक उठती है ! प्रतिहिंसे ! तू बलि चाहती है, तो, ले, मै दूंगा ! छल, प्रवञ्चना, कपट, अत्याचार, सभी तेरे सहायक होगे, हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेगी। रक्तरञ्जित हाथो से तेरा अभिषेक होगा। शव-गन्ध पूरित धूम से भर शून्य गगन तेरी धूपदानी बनेगा। ठहरो देवि ठहरो **(खड्ग निकालता है)**

[सशंक वासुकि का प्रवेश]

वासुकि—क्यों नागनाथ ! क्या हो रहा है ? किस पर क्रोध ?

तक्षक—प्रिय वासुकि, तुम आ गये ? कहो वह काश्यप ब्राह्मण आवेगा कि नही ?

वासुकि—प्रभो ! वह तो गहरी दक्षिणा पाकर फिर राजकुल से सन्तुष्ट हो गया है। किन्तु उसे एक बात का बडा खेद है। वह रानी के मणिकुण्डल दूसरे ब्राह्मण को मिलना सहन नही कर सकता। इसी से आशा है कि वह फिर आपसे मिलेगा। सरमा भी अपनी करनी का फल पा रही है। वह अत्यन्त अपमानित की गयी है, सभव है वह फिर नाग-कुल मे लौट आवे।

तक्षक—मणिकुण्डल ! कौन, वे ही, जो कभी हम नागो की अमूल्य सम्पत्ति थे। हाय ! वासुकि, वे फिर कहाँ मिलेगे। किन्तु वे मिल जाते तो काश्यप को देकर उसे अपनी ओर मिला लेता। राजकुल का पूरा समाचार काश्यप से ही मिल सकता है।

काश्यप—(प्रवेश करके) नागनाथ की जय हो !

तक्षक—प्रणाम करता हूँ ब्राह्मण देवता। कुशल तो है ?

काश्यप—आर्य, क्षत्रियो को घमण्ड हो गया है। उनके सविनय प्रणाम मे भी एक तीखा तिरस्कार भरा रहता है। ब्राह्मणो का सम्मान वे सहन नही कर सकते। राजमद से वे इतने मत्त है कि अध्यात्म गुरु की अवहेलना क्या, कभी-कभी परिहास तक कर बैठते है—उनके क्रोध को हँसी म उडा देते है। यह बात इस विशुद्ध ऋषि-कुल-सम्भूत शरीर को सहन नही है। (ठहर कर) नागराज, अभी तक क्षत्रिय स्पष्ट रूप से ब्राह्मणो के नेतृत्व का विरोध नही कर सके है। अभी वे प्राचीन संस्कार के वशीभूत है।

तक्षक—तो फिर क्या आज्ञा है ?

काश्यप—घबराओ मत। अभी ब्राह्मणो मे वह बल है, तप का वह तेज है कि वे नाग-जाति को क्षत्रिय बना ले। तुम लोगो को भी चाहिये कि जहाँ तक हो सके, आर्य-जाति की इन्द्रियपरायणता के सहायक बनो। उनमे अपने रक्त का मिश्रण करो। समय आने पर तुम्हारे ही वशधर इस भारत के अधिकारी होगे। पर इसके लिए उद्योग करते रहो।

तक्षक—प्रभो, मणिकुण्डल कौन ब्राह्मण लाया है ?

काश्यप—(नेपथ्य की ओर देखकर) लो, वह आ रहा है। हम लोग छिप जाते हैं। (वासुकि का हाथ पकड़कर जाता है)

[उत्तंक का प्रवेश]

तक्षक—ब्रह्मचारिन, नमस्कार करता हूँ।

उत्तंक—कल्याण हो ! मैं थक गया हूँ। यदि यहाँ विश्राम करूँ तो, आप असन्तुष्ट तो न होगे ? क्या आप इस कानन के स्वामी है ?

तक्षक—अब तो नहीं हूँ, पर हाँ, कभी था । आप बैठिये ।

[उत्तंक बैठता है; फिर थककर सो जाता है, काश्यप का प्रवेश]

तक्षक—क्यो काश्यप, इसने मणिकुण्डल कहाँ रक्खे होगे ?

काश्यप —अपने उष्णीष मे । हट जाता हूँ । तुम्हे देखकर मुझे डर लग रहा है । तुम इतने भयानक क्यो दिखाई देते हो ?

तक्षक—महात्मन्, आप जब अपना धर्म करने लगते है, जब यज्ञ करने लगते है, तब आप भी मुझे इतने ही भयानक दीख पडते है । जब पशुओ की कातर दृष्टि आपको प्रसन्न करती है, तब सच्चे धार्मिक व्यक्ति का जी काँप उठता होगा ।

काश्यप—अजी वह तो धर्म है, कर्त्तव्य है !

तक्षक—किन्तु हम असभ्य जगली लोग धर्म को पवित्र, अपनी मानवी प्रवृत्ति से परे, एक उदार वस्तु मानते है । अपनी आवश्यकता को, अपनी लालसामयी दुर्बलता को उसमे नही मिलाते । उसे बालक की निर्मल हँसी के समान अछूती रहने देते हैं । पाप को पाप ही कहते है, उस पर धर्म का मिथ्या आवरण नही चढाते ।

काश्यप— बस करो । नागराज, अभी तुमको यह भी नही मालूम कि पाप और पुण्य किसे कहते है । इन सूक्ष्म तत्त्वो को समझना तुम्हारी मोटी बुद्धि और सामर्थ्य के बाहर है जो तस्करता करना चाहते हो, वह करो । आर्यो को यह कला नही सिखलायी गयी है ।

[तक्षक छुरी निकालता है । काश्यप चिल्लाता है—'हैं हैं, ब्रह्महत्या न करो ।' तक्षक उसे ढकेल कर उत्तंक का उष्णीष लेना चाहता है उत्तंक जाग उठता है । तक्षक छुरा मारना चाहता है । सरमा दौड़ती हुई आती है और तक्षक का हाथ पकड़ लेती है । तक्षक उत्तंक को छोड़कर उठ खड़ा होता है]

सरमा—नृशंस तक्षक !

तक्षक—तुझे इस विश्वासघात का प्रतिफल मिलेगा । परिणाम भोगने के लिए प्रस्तुत हो जा । आज यह छुरी तेरा ही रक्त-पान करेगी ।

उत्तंक—पामर ! तुझे लज्जा नही आती ? सोये हुये व्यक्ति को मार डालना चाहता था, अब नारी की हत्या करना चाहता है !

तक्षक -अरे, तुझमे भी नागराज तक्षक को ललकारने का साहस है ! देखूँ तो, अपने-आपको या पापिनी सरमा को कैसे बचाता है ! (छुरी उठाता है)

उत्तंक—यदि ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय सत्य होगा, तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा । हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार नही कि वह सत्यशील ब्रह्मतेज पर हाथ चला सके ! पाखण्डी, तेरा पतन समीप है ।

[तक्षक छुरा चलाना चाहता है, वासुकि आकर हाथ पकड़ लेता है]

वासुकि—नागराज, क्षमा करें। यह मेरी स्त्री है।

तक्षक—वासुकि, तुम विद्रोह करनेवाली को दण्ड से बचाते हो!

वासुकि—फिर भी यह मेरी स्त्री है। नागराज! सरमा और उत्तंक मुक्त हैं। वे जहाँ चाहे, जा सकते हैं।

सरमा—यह आर्य-संसर्ग का ही प्रताप है। नागराज, आप मेरे पति हैं, किन्तु आपका मार्ग भिन्न है और मेरा भिन्न। फिर भी मेरा अनुरोध है कि जब अवसर मिले, इसी तरह मनुष्यता को व्यवहार में लाइयेगा। अपने आपको सर्प की सन्तान मानकर कुटिलता और क्रूरता की ही उपासना मत कीजियेगा!

वासुकि—क्या पति होने के कारण तुम पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं? अब मैं तुम्हें न जाने दूंगा।

सरमा—आपको और सब अधिकार है, पर मेरी सहज स्वतन्त्रता का अपहरण करने का नही।

वासुकि—इसका अर्थ?

सरमा—इसका अर्थ यही है कि मैं आपके साथ चलूंगी, पर अपमानित होने के लिये नही! आपको प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी।

वासुकि—मैं प्रतिश्रुत होता हूं।

सरमा—अच्छी बात है।

[सब जाते हैं, दृ श्या न्त र]

षष्ठ दृश्य

[गुरुकुल में त्रिविक्रम और दो विद्यार्थी]

त्रिविक्रम—अरे चुप भी रहो! क्या टाँय-टाँय कर रहे हो!

पहला विद्यार्थी—अरे भाई, अब दूसरी शाखा का अध्ययन प्रारम्भ करूंगा। यह अब समाप्त हो चली है। थोड़ा-सा और परिश्रम है।

त्रिविक्रम—शाखा! किसकी शाखा?

पहला विद्यार्थी—वेद की।

त्रिविक्रम—वेद! चुप मूर्ख! गुरुजी क्या कोई वृक्ष है, जो उनमें शाखायें होंगी?

पहला विद्यार्थी—भाई हँसी मत करो। मैं श्रुति के लिए कह रहा हूं।

त्रिविक्रम पहला—सो तो मैं सुनता हूं। अच्छा बताओ तो पढ़कर करोगे क्या? इस शाखामृग का अनुकरण करने से क्या लाभ होगा?

पहला विद्यार्थी—विद्ययाऽमृतमश्नुते।

त्रिविक्रम—अमृत होकर तुम क्या करोगे ? कब तक इस दुरन्तपूरा उदर-दरी को भरोगे ? अनन्त काल तक यह महान् प्रयास ! बड़ी कठोरता है !

दूसरा विद्यार्थी—और तुम गुरुकुल में क्यों आये हो ? सब से तो पूछ रहे हो, पहले अपनी तो बताओ।

त्रिविक्रम—पहले तुम बताओ।

दूसरा विद्यार्थी—प्रश्न मेरा है।

त्रिविक्रम—मैं तो इनसे पूछता था। तुम क्यों बीच में कूद पड़े ? अब पहले तुम्हीं बताओ।

दूसरा विद्यार्थी—मैं तो पुरोहित बनूंगा।

त्रिविक्रम—उत्तम ! यजमान की थोड़ी-मी सामग्री इतस्ततः करके, कुछ जलाकर, कुछ जल में फेंककर, कुछ वितरण करके और बहुत-सी अपनी कमर में रखकर एक संकल्प का जमाखर्च सुना देना; और उसको विश्वास दिला देना कि अज्ञात प्रदेश में तुम्हारी सब वस्तुयें मिल जायँगी। अरे भाई ! इससे अच्छा तो यह होता कि तुम बन्दर और बकरे को नचाने की विद्या सीख कर डमरू हाथ में लेकर घूमते।

पहला विद्यार्थी—तुम मूर्ख हो ! तुम्हारे मुँह कौन लगे !

दूसरा विद्यार्थी—अच्छा तुम क्या करने आये हो ? और पढ़ कर क्या करोगे ?

त्रिविक्रम—मैं ! अपनी प्रकृति के अनुसार कांम करूँगा, जिसमें आनन्द मिले। और केवल पुरोहिती करने के लिए जो तुम इतनी माथा-पच्ची कर रहे हो, वह व्यर्थ है। भला पुरोहिती में पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? जो मन्त्र हुआ, उच्च स्वर से अण्ट-शण्ट पढ़ते चले गये और दक्षिणा रखाते गये। बस हो चुका।

दूसरा विद्यार्थी—अच्छा, हम अपना देख लेंगे। तुम तो बताओ कि कौन काम करोगे जिसमे बिना परिश्रम के लोग तुम्हारे अनुकूल रहें।

त्रिविक्रम—किसी श्रीमन्त के यहाँ विदूषक बनूंगा। आदर से आऊँगा, जाऊँगा। कोई काम न धन्धा ! मूर्खता से भी लोगों को हँसा, लूंगा, निर्द्वन्द्व विचरण करते हुये जीवन व्यतीत करूँगा।

पहला विद्यार्थी—यह क्यों नहीं कहते कि निर्लज्ज बनूंगा !

त्रिविक्रम—अच्छा जाओ, अपना काम देखो। आज पुण्यक उत्सव है। गुरुजी की ओर से निमन्त्रण है।

[दोनों विद्यार्थियों का प्रस्थान। वेद का प्रवेश। उन्हे देखकर त्रिविक्रम ध्यानस्थ हो जाता है]

वेद---बेटा त्रिविक्रम !

[त्रिविक्रम आँखें किये हुए उच्च स्वर से मन्त्र पढ़ने लगता है]

वेद—अरे त्रिविक्रम !

[वेद को खाँसी आती है। त्रिविक्रम उछल कर खड़ा हो जाता है]

त्रिविक्रम—क्या है गुरुजी ?

वेद—बेटा, अपनी गुरुआनी को समझाओ ! आडम्बर फैलाकर आप भी कष्ट भोगती हैं, मुझे भी दुःख देती है। समझे !

त्रिविक्रम—गुरुदेव ! मेरा समझ मे तो कुछ आना असम्भव है। आपने इतना अध्ययन कराया, पर मेरी समझ मे कुछ न आया ?

वेद—(चौंककर) मूर्ख ! मेरा सब परिश्रम व्यर्थ ही गया ?

त्रिविक्रम--परिश्रम तो व्यर्थ ही किया जाता है। तिसपर समझने के लिये परिश्रम करना तो सब से भारी मूर्खता है। हट चलिये, वह आ रही है।

[वेद और त्रिविक्रम का प्रस्थान। दामिनी का प्रवेश]

दामिनी—उत्तंक नही आया। मेरी कामना के लक्ष्य—उत्तंक ! पुण्यक के बहाने मैंने तुझे बुलाया है। एक बार और परीक्षा करूँगी।

[मणिकुण्डल लिये हुए उत्तंक का प्रवेश]

उत्तंक—आर्य्या, मैं उत्तंक प्रणाम करता हूँ।

दामिनी--कौन उत्तंक ! तुम आ गये ?

उत्तंक—हाँ देवि, मणिकुण्डल भी प्रस्तुत है ! (सम्मुख रखता है)

दामिनी—उत्तंक ! मुझे अपने हाथों से पहना दो।

उत्तंक—देवि, क्षमा हो, मुझे पहनाना नही आता।

दामिनी—उत्तंक ! तुम मुझे छूने से हिचकते क्यों हो ?

उत्तंक--नही देवि, मुझे गुरु-ऋण से मुक्त करें, मैं जाऊँ !

दामिनी—तो चले ही जाओगे ? आज मैं स्पष्ट कहना चाहती हूँ कि—

उत्तंक--चुप रहो देवि ! यदि ईश्वर का डर न हो तो संसार से तो डरो। पृथ्वी के गर्भ में असंख्य ज्वालामुखी हैं, कदाचित् उनका विस्फोट ऐसे ही अवसरों पर हुआ होगा। तुम गुरु-पत्नी हो, मेरी माता के तुल्य हो। (सवेग प्रस्थान)

दामिनी -धिक्कार है मुझे ! (प्रस्थान)

दृ श्या न्त र

सप्तम दृश्य

[कानन में धनुष पर बाण चढ़ाये हुए जनमेजय]

जनमेजय—कहाँ गया ? अभी तो इधर ही आया था ?

[भद्रक का प्रवेश]

भद्रक—जय हो देव ; मृग अभी इधर नही आया, उधर ही गया।

जनमेजय—भद्रक, तुम बता सकते हो कि किस ओर गया ?

भद्रक—प्रभो, तनिक सावधान हो जाइये, अभी पता चल जाता है।

[दोनों चुपचाप देखते और सुनते है]

जनमेजय—**(धीरे से)** अजी देखो, वह उस झाड़ी मे छिपा हुआ-सा जान पड़ता है।

भद्रक—नहीं पृथ्वीनाथ, ऐसी जगह नही छिपते।

जनमेजय—चुप रहो। निकल जायगा। **(बाण चलाता है। झाड़ो में क्रन्दन और धमाका)**

जनमेजय—यह क्या ?

भद्रक—क्षमा हो देव, मनुष्य का-सा स्वर सुनाई देता है।

[दोनों झपटे हुये जाते है और घायल ऋषि को उठा लाते हैं]

जनमेजय—अनर्थ हो गया ! हाय रे भाग्य ! आये थे मृगया खेल कर हृदय को बहलाने, यहाँ हो गया ब्रह्म-हत्या का महापातक ! तपोनिधे ! मेरा अपराध कैसे क्षमा होगा ? आप कौन है ? आपकी अन्तिम आज्ञा क्या है ?

ऋषि—तुम आर्यावर्त के सम्राट हो। **(ठहर कर)** अच्छा शान्त होकर सुनो। अदृष्ट की लिपि ही सब कुछ कराती है। आह ! अब मैं नही बच सकता। मैं यायावर वंश का जरत्कारु हूँ। ओह ! बड़ी वेदना है ! तुम ऐसे कोमल मृगों पर इतने तीखे बाण चलाते हो ! जनमेजय, मैं तुमको क्षमा करता हूँ। किन्तु कर्मफल तो स्वयं समीप आते है, उनसे भाग कर कोई बच नही सकता। मेरा पुत्र आस्तीक तुम्हारी समस्त ज्वालाओं को शान्त करेगा। स्मरण रखना, मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। —आह ! जल—

[भद्रक जाकर जल लाता है, जनमेजय जल पिलाता है]

जनमेजय—तपोधन, मेरा हृदय मुझे धिक्कार की ज्वाला मे भस्म कर रहा है। मैं ब्रह्म-हत्या का अपराधी हुआ हूँ ! भगवन्, क्षमा करें !

जरत्कारु—राजन् ! क्षमा ! **(छटपटा कर मर जाता है)**

[यवनिका]

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

[तपोवन में आस्तीक और मणिमाला का प्रवेश]

मणिमाला—भाई ! आज तो बहुत विलम्ब हुआ।

आस्तीक—हाँ मणि, आज विलम्ब तो हुआ। हम लोगों ने अपना पाठ समाप्त कर लिया है और पूजा के लिये फूल भी रख दिये है। चलो, उस झरने पर बैठ कर थोड़ा विश्राम करे।

[दोनों आगे बढ़कर बैठते हैं]

मणिमाला—पिताजी को देखे बहुत दिन हुए। जी चाहता है, एक बार जाकर उनके दर्शन करूँ, और माँ की गोद मे सिर रखकर रोऊँ।

आस्तीक—पगली ! भला रोने की भी कोई कामना है ?

मणिमाला—हाँ भाई ! तुम लोगों के तो बड़े-बड़े मनोरथ, बड़ी-बड़ी अभिलाषा होती है, किन्तु हम लोगों के कोमल प्राणों मे एक बड़ी करुणामयी मूर्च्छना होती है। संसार को उसी सुन्दर भाव में डुबा दूँ, उसी का रंग चढ़ा दूँ, यही मेरी परम कामना है। कभी-कभी तो मुझे यह चिन्ता होती है कि ऐसे कोमल हृदय पर हाड़-मांस का यह आवरण क्यों है, जो दिन-रात गर्व से फूला रहता है और हृदय को हृदय से मिलने नही देता !

आस्तीक—बहन, तुम न जाने कैसी और कहाँ की बाते करती हो। उन बातों का इस वर्तमान जीवन से भी कोई सम्बन्ध है या नही ?

मणिमाला—वे इसी लोक की बाते है। मुझसे तो मानो कोई कहता है कि महाशून्य मे विश्व इसीलिये बना था। यही उद्देश्य था कि वह एक निर्मल स्रोतस्विनी की तरह नील वनराजि के बीच, यूथिका की छाया मे बह चले, और उनकी मृदु वीचि से सुरभित पवन के परमाणु आकाश की शून्यता को परिपूर्ण करें।

आस्तीक—क्या तुम कोई स्वप्न सुना रही हो ?

मणिमाला—भाई, यह स्वप्न नही है, भविष्य की कल्पना भी नही है। जब सन्ध्या को अपने श्याम अंग पर तपन-रश्मियो का पीला अंगराग लगाये देखती हूँ और फिर उस सुनहले शून्य में वसन्त के किसी कोकिल को गाते हुए उड़ जाते देखती हूँ, तब हृदय में जो भाव उत्पन्न होते है, वे स्वयं मेरी समझ में भी नहीं आते। किन्तु फिर भी जैसे कोई कहता हो कि उस सुदूरवर्त्ती शून्य क्षितिज के प्रत्यक्ष से उस कोकिल का कोई सम्बन्ध है।

आस्तीक—क्यों मणि, यह सब क्या है ? इसका कुछ तात्पर्य भी है, या केवल कुहुक है ? इन मांस-पिण्डों में क्यों इतना आकर्षण, और कही-कही क्यों ठीक इसके विपरीत है ? जिसको स्नेह कहते है, जिसको प्रेम कहते हैं, जिसको वात्सल्य कहते हैं, वह क्या कभी-कभी चुम्बक के समान उसके साथ के लिए दौड़ पड़ता है, जिसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नही ? और जहाँ उसका उद्भव है, वहाँ से क्यों कोई सम्पर्क नही ?

मणिमाला—मैं समझ गयी भाई ! क्या वह बात मुझे नही खटकती ? बुआ को तुमसे कुछ स्नेह नहीं है। किन्तु भाई, हमारी अयोग्यता का, हमारे अपराध का, दण्ड देकर लोग हमें और भी दूर कर देते है। जिसके हम कोई नही है, वह तो अनजान के समान साधारण मनुष्यता का व्यवहार कर सकता है, किन्तु जिससे हमारी घनिष्ठता है, जिससे कुछ सम्पर्क है, वही हमसे घृणा करता है, हमारे प्रति द्वेष को अपने हृदय में गोपनीय रत्न के समान छिपाये रहता है। भाई इसीसे कहती हूँ कि माँ की गोद में सिर रख कर रोने को जी चाहता है। मैं स्त्री हूँ, प्रकट मे रो सकूँगी। किन्तु तुम लोग अभागे हो, तुमको खुलकर रोने का भी अधिकार नही। रोओगे तो तुम्हारे पुरुषत्व पर धक्का लगेगा। तुम रोना चाहते हो, किन्तु रो नही सकते, यह भारी कष्ट है। तुम्हारे पिता नही रहे, उनकी हत्या हो गई ! और माँ ! **(आस्तीक की डबडबाई आँखे देखकर)** नही-नही भाई, क्षमा करो। मैंने तुम्हें रुला दिया, यह मेरा अपराध है। **(आस्तीक के आँसू पोंछती है)**

आस्तीक—नही मणि, मेरी भूल थी। रोना और हँसना ये ही तो मानवी सभ्यता के आधार हे। आज मेरी समझ मे यह बात आ गई कि इन्ही के साधन मनुष्य की उन्नति के लक्षण कहे जाते हे।

[एक ओर से जनमेजय का प्रवेश, दोनों को देखकर जनमेजय आड़ में खड़ा हो जाता है]

जनमेजय—**(स्वगत)**—मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास, या उसकी क्रीड़ा का उपकरण ! फिर क्यो वह अपने आपको कुछ समझता है ? आज इस आश्रम के महर्षि से इसका रहस्य जानना चाहिए ! अहा ! कैसा पवित्र स्थान है ! और यह देवबाला भी कैसी मनोहर है !

[नेपथ्य में संगीत]

जीने का अधिकार तुझे क्या, क्यों इसमे सुख पाता है।
मानव, तूने कुछ सोचा है, क्यो आता, क्यों जाता है॥
आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यों, जीव स्ववश तब कैसे था।
महाशून्य के तट में पहला चित्रकार क्यों आता है॥

शुद्ध नाद था बड़ा सुरीला, कोई विकृति न थी उसमें।
कौन कल्पना करके उसमें मींड़ लगाकर गाता है॥
कल्प-कल्प की भाँति दुःख को क्षण भर का सुख भला लगा।
असि-धारा पर धरा हुआ सुख, उससे कैसा नाता है॥
दुख ने क्या दुख दिया तुझे, कुछ इसका कभी विचार किया।
चौंक उठा तू झूठे दुखपर, कुछ भी तुझे न आता है॥
कारण, कर्म न भिन्न कही है, कर्म! कर्म चेतनता है।
खेल खेलने आया है तू, फिर क्यों रोने जाता है॥
इस जीवन को भिन्न मानकर क्षण-क्षण का विभाग करता।
लीला से तू दुखी बन गया, लीला से सुख पाता है॥
तू स्वामी है, तू केवल है, स्वच्छ सदा तू निर्मल है।
जो कुछ आवे, करता चल तू, कही न आता-जाता हे॥

आस्तीक—बहन, माणवक लौट आया है। यह उसी का-सा स्वर है। मैं जाऊँ, उससे मिल आऊँ। तुम अभी ठहरोगी न?

मणिमाला—हाँ भाई, मैंने इस झरने का बहना अभी जी भर नही देखा। तुम चलो, मैं भी थोड़ा ठहर कर आती हू!

[आस्तीक का प्रस्थान]

जनमेजय—(प्रकट होकर)—अहा! कैसा रमणीक स्थान है! (मानो अभी देख पाया हो) अरे! वन मे देवबाला-सी आप कौन है?

मणिमाला—मैं नागकन्या हूँ! क्या आप आतिथ्य चाहते है?

जनमेजय—शुभे! क्या यहाँ ऐमा स्थान है?

मणिमाला—आर्य! समीप ही में महर्षि च्यवन का आश्रम है। मेरा भाई उन्ही के गुरुकुल मै पढ़ता है। मैं भी थोड़े दिनों के लिए यही आ गई हूँ ऋषि-पत्नी मुझे भी शिक्षा देती है।

जनमेजय—भद्रे, यदि तुम्हारा भी परिचय पा जाऊँ, तो मैं विचार करूँ कि आतिथ्य ग्रहण कर सकता हूँ या नही।

मणिमाला—मैं नागराज तक्षक की कन्या हूँ, और जरत्कारु ऋषि का पुत्र आस्तीक मेरा भाई है।

जनमेजय—यह कैसा रहस्य! क्या कहा जरत्कारु?

मणिमाला—हाँ, यायावर जरत्कारु ने मेरी बुआ नाग कुमारी मनसा से ब्याह किया था।

जनमेजय—नागकुमारी, मैं क्षमा चाहता हूँ। इस समय मैं तुम्हारा आतिथ्य नही ग्रहण कर सकता, क्योंकि मुझे एक पुरोहित ढूंढ़ना है! मैं पौरव जनमेजय हूँ।

मणिमाला—(सम्भ्रम से)—स्वागत ! माननीय अतिथि, आपको इस गुरुकुल का आतिथ्य अवश्य ग्रहण करना चाहिये। नही तो कुलपति सुनकर हम लोगों पर रुष्ट होंगे।

जनमेजय—उदारशीले, धन्यवाद ! इस समय मुझे आवश्यक कार्य है। फिर कभी आकर उनके दर्शन करूँगा।

मणिमाला—मैं समझ गयी। आप मुझे शत्रु-कन्या समझते है, इसीलिये—

जनमेजय—नही भद्रे, तुम्हारे इस सरल मुख पर तो शत्रुता का कोई चिह्न ही नही है। ऐसा पवित्र सौन्दर्यपूर्ण मुख-मण्डल तो मैंने कही नही देखा।

मणिमाला—(लज्जित होकर)—आप आर्य जाति के सम्राट् है न !

जनमेजय—किन्तु मै तो तुम-सी नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ। (जाता है)

मणिमाला—(उधर देखती हुई)—ऐसी उदारता-व्यञ्जक मूर्ति, ऐसा तेजोमय मुख-मण्डल ! यह तो शत्रुता करने की वस्तु नही है. (कुछ सोचकर) मैं ही भ्रम मे हूँ। मैं जिसका सुन्दर व्यवहार देखती हूँ, उसी के साथ मेरा स्नेह हो जाता है। नही, नही, यह मेरी विश्वमैत्री का उस सरमा यादवी की शिक्षा का फल है। किन्तु यहाँ तो अन्त'-करण म एक तरह की गुदगुदी होने लग गयी !

[गुनगुनाते हुए शीला का प्रवेश]

मणिमाला—आओ सखि ! मै तो बडी देर से तुम्हारी राह देख रही हूँ। तुमको तो गाने से छुट्टी नही मिलती। मार्ग पर चलते हुए भी गाती रहती हो।

शीला—सखि ! अपना वर ढूंढती फिरती हूँ।

मणिमाला—अरे, तुम्हारा तो ब्याह हो चुका है न ?

शीला—क्या तुम पागल हो गयी हो ! अभी तो बात पक्की हुई थी।

मणिमाला—हाँ, हाँ, सखि ! मै भूल गई थी।

शीला—और जब किसी से तुम्हारा ब्याह हो जाय, तब भी कभी-कभी इसी तरह पति को भूल जाना, दूसरा वर ढूंढने लगना !

मणिमाला—चलो ! तुम भी ठठोल हो। अरे क्या सोमश्रवा तुझे मनोनीत नही है ?

शीला—अब तो नही है।

मणिमाला—क्यो, क्या इतने ही दिनो मे बदल गये ?

शीला—नही सखि ! एक बड़ी भयानक बात हो गई है। भावी पति सोमश्रवा मुझसे ब्याह कर लेने पर पौरव-सम्राट् जनमेजय के राजपुरोहित बनेंगे।

मणिमाला—तब तो तुम्हे और भी प्रसन्न होना चाहिये।

शीला—जो अपने को मनुष्यों से कुछ अधिक समझते है, उनसे मैं बहुत डरती हूँ। राज-सम्पर्क हो जाने से उन्हें विश्वास हो जाता है कि हम किसी दूसरे जगत के हैं।

मणिमाला—किन्तु मैं तो समझती हूँ कि ऐसे तुच्छ विचार रखने वाले साधारण मनुष्यों से भी नीचे हैं।

शीला—सखि, तुम ऐसा सोच सकती हो; क्योंकि तुम भी नागराज की कन्या हो। किन्तु मैं तो साधारण विप्र-कन्या हूँ।

मणिमाला—अहा ! कैसी भोली है ! क्या कहना !

शीला—(हँसकर) राजकुमारी, सुना है, आज उनके आश्रम में फिर सम्राट् जनमेजय आनेवाले हैं।

मणिमाला—सखि, जब तुम सम्राट् की पुरोहितानी होगी, तब हम लोगों पर क्यों कृपा रक्खोगी !

शीला—और यदि कहीं तुम्हीं सम्राज्ञी हो जाओ, तब ?

मणिमाला—(लज्जित होकर) चल पगली !

आस्तीक—(प्रवेश करके) महर्षि ने तुम लोगों को बुलाया है। [सब जाते हैं]

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

[पथ में एक ओर से दामिनी और दूसरी ओर से माणवक का प्रवेश]

दामिनी—मैं किधर आ निकली ! राह भूल गयी हूँ।

माणवक—आप कहाँ जाना चाहती है ?

दामिनी—मैं—मैं—

माणवक—हाँ हाँ, आप कहाँ जाएँगी ?

दामिनी—मैं बता नहीं सकती—मैं जानती ही नहीं।

माणवक—शुभे ! संसार में बहुत-से लोग ऐसे है जो जाना तो चाहते है, परन्तु कहाँ जाना चाहते हे, इसका उन्हें कुछ भी पता नहीं।

दामिनी—पर क्या आप बतला सकते हो ?

माणवक—(स्वगत) यह अच्छी रही ! बड़ी विचित्र स्त्री मिली। समझ में नहीं आता कि यह कोई बनी हुई मायाविनी है या सचमुच कोई भूली-भटकी है।

दामिनी—आप बोलते क्यों नहीं ?

माणवक—मुझे अधिक बातें करने का अभ्यास नहीं। मैं यही नहीं जानता कि आप कहाँ जाना चाहती हैं, तब कैसे और क्या बताऊँ ! मुझे—

दामिनी—आप कहाँ रहते हैं ?

माणवक—यह न पूछो। मैं संसार की भूली हुई वस्तु हूँ। न मैं किसी को जानना चाहता हूँ और न कोई मुझे पहचानने की चेष्टा करता है। तुमने कभी शरद के विस्तृत व्योम-मण्डल में रुई के पहल के समान•एक छोटा-सा मेघ-खण्ड देखा है ? उसको देखते-देखते विलीन होते या कहीं चले जाते भी तुमने देखा होगा। विशाल कानन की एक वल्लरी की नन्ही-सी पत्ती के छोर पर विदा होने वाली श्यामा रजनी के शोकपूर्ण अश्रु-विन्दु के समान लटकते हुए, हिमकण को कभीं देखा है ? और उसे लुप्त होते हुए भी देखा होगा। उसी मेघ-खण्ड या हिमकण की तरह मेरी भी विलक्षण स्थिति हैं। मै कैसे कह सकता हूँ कि कहाँ और कब तक रह सकूंगा ?

दामिनी—आश्चर्य ! तुम तो एक पहेली हो।

माणवक—मै ही नहीं, यह समस्त विश्व भी एक पहेली है। हर्ष-द्वेष, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध—

दामिनी—क्या कहा ?

माणवक—प्रतिशोध ! क्या ये सब पहेली नही ?

दामिनी—हाँ हाँ, स्मरण आया—प्रतिशोध ! मुझे प्रतिशोध लेना है !

माणवक—किसमे ? क्या उसे लेकर तुम रख सकोगी ? वह जहाँ रहेगा, जलाया करेगा, डंक मारा करेगा और तड़पाया करेगा। उसे तुम संभाल नहीं सकोगी। और जिसे तुम धारण नही कर सकती, उसे तुम लेकर क्या करोगी ? छोड़ो, उसके पीछे न पड़ो। देवि, इसी में तुम्हारा कल्याण होगा। एक मै ही इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ। चारों ओर मारा-मारा फिर रहा हूँ।

दामिनी—क्या तुमको भी किसी से प्रतिशोध लेना है ? वाह ! तब तो हम और तुम एक पथ के पाथिक है।

माणवक—क्षमा करो, मै उस पथ में बहुत ठोंकरें खा चुका हूँ। अब उस पर चलने का साहस नही, बल नहीं। तुम जाओ, तुम्हारा मार्ग और है, मेरा और !

दामिनी—तब मुझको ही वहाँ पहुँचा दो।

माणवक—कहाँ ?

दामिनी—(**कुछ सोचकर**) तक्षक के पास।

माणवक—(**चौंककर**) वहाँ ! मैं नहा जा सकता। और तुम दुर्बल रमणी हो लौट जाओ, दुस्साहस न करो।

दामिनी—नहीं, मुझे वहाँ जाना आवश्यक है। मेरे शत्रु का एक वही शत्रु है। अच्छा, और कहाँ जाऊँ, तुम्ही बता दो।

माणवक—मैं—नही—(देखकर) लो वे स्वयं इधर आ रहे है ! मै जाता हूँ।

[माणवक का प्रस्थान, तक्षक का प्रवेश]

तक्षक—सुन्दरी, इस विजन पथ में, इस बीहड़ स्थान में तुम क्यों आई हो ?

दामिनी—क्या आप ही तक्षक है ?

तक्षक—क्यों, कुछ काम है ?

दामिनी—हाँ, पर पहले अपना नाम बतलाइये।

तक्षक—हाँ, मेरा ही नाम तक्षक है।

दामिनी—मै प्रतिशोध लेना चाहती हूँ।

तक्षक—किससे ?

दामिनी—उत्तंक से, जिससे आप मणिकुण्डल लेना चाहते थे।

तक्षक—तुम कौन हो ?

दामिनी—मै चाहे कोई होऊँ। जो उत्तंक को मेरे अधिकार मे कर देगा, उसे मै मणिकुण्डल दूंगी।

तक्षक—ठहरो, तुम बड़ी शीघ्रता से बोल रही हो।

दामिनी—क्या विश्वास नही होता ?

तक्षक—होता है, पर वह काम इसी क्षण तो नहीं हो जायगा।

दामिनी—चेष्टा करो। नही तो तुम इस योग्य ही न रह जाओगे कि उसे पकड़ सको।

तक्षक—(हँसकर) क्यों ?

दामिनी—वह तुमसे बदला लेने के लिए जनमेजय के यहाँ गया है। बहुत शीघ्र तुम उसके कुचक्र मे पड़ोगे।

तक्षक—इसका प्रमाण ? स्मरण रखना कि तक्षक से खेलना सहज नहीं है।

(गम्भीर हो जाता है)

दामिनी—मै अच्छी तरह जानती हूँ; तभी कहती हूँ।

तक्षक—अच्छा, तो मेरे यहाँ चलो। मै इसका शीघ्र प्रबन्ध करूँगा। तुम डरती तो नही हो।

दामिनी—नहीं। चलो, मै चलती हूँ। **(दोनों जाते हैं)**

दृश्यान्तर

तृतीय दृश्य

[प्रकोष्ठ में जनमेजय और उत्तंक]

जनमेजय—आपकी यह बात मुझे जँच गई है, और मैं ऐसा ही करूँगा भी। किन्तु यह कुचक्र भीषण रूप धारण कर रहा है।

उत्तंक—मैं सब सुन चुका हूँ, और जानता हूँ कि कुछ दुर्बुद्धियों ने यादवी सरमा, तक्षक तथा आपके पुरोहित काश्यप के साथ मिलकर षड्यन्त्र रचा है। किन्तु आपको इससे भयतीत न होना चाहिये।

जनमेजय—भगवन्, यह तो ठीक है, पर मुझसे अनजान मे जो ब्रह्महत्या हो गयी, उससे मैं और भी खिन्न हूँ। काश्यप मुझ पर अभियोग लगाते है कि मैंने जानबूझकर यह ब्रह्महत्या की। ब्राह्मण-वर्ग और आरण्यक-मण्डल भी इससे कुछ असन्तुष्ट हो गया है। पौर, जानपद आदि सब लोगों मे यह आतंक फैलाया जा रहा है कि राजा यौवन-मद से स्वेच्छाचारी हो गया है, वह किसी बात नही सुनता। इधर जब मैं आपसे तक्षक तक्षक द्वारा अपने पिता के निधन का गुप्त रहस्य सुनता हूं, तो क्रोध से मेरी धमनियाँ बिजली की तरह तड़पने लगती है। किन्तु मैं क्या करूँ, परिषद् भी अन्यमनस्क है, और कर्मचारी भी इस आतंक से कुछ डरे हुए है। वेमन का काम रहे है।

उत्तंक—लकड़हारे से तो आप सुन ही चुके कि इसी काश्यप ने तक्षक से मिलकर राज-निधन कराया है। और यही लोलुप काश्यप फिर ऐसी कुमन्त्रणाओं में लिप्त हो, तो क्या आश्चर्य !

जनमेजय—होगा, तो फिर मैं क्या करूँ ?

उत्तंक—सम्राट को किकर्त्तव्य विमूढ होना शोभा नही देता। मनोबल संकलित कीजिये, दृढ़-प्रतिज्ञ हृदय के सामने से सब विघ्न स्वयं दूर हो जाएँगे। सबल हाथों में दण्ड ग्रहण कीजिये। दुराचारी कोई क्यों न हो, दण्ड से मुक्त न रहे। सम्राट् ! अपने पिता का प्रतिशोध लीजिये। जिससे इस ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा भी पूरी हो। इन दुर्वृत्त नागों का दमन कीजिये।

जनमेजय—किन्तु मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। क्या वह कर्म करने मे स्वतन्त्र है ?

उत्तंक—अपने कलंक के लिये रोने से क्या वह छूट जायगा ? उसके बदले में सुकर्म करने होंगे। सम्राट् ! मनुष्य जब तक यह रहस्य नही जानता, तभी तक वह नियति का दास बना रहता है। यदि ब्रह्महत्या पाप है, तो अश्वमेध उसका प्रायश्चित्त भी तो है। अपने तीनों वीर सहोदरो को तीन दिशाओं मे विजयोपहार ले आने के

लिये भेजिये, और आप स्वयं इन नागों का दमन करने के लिये तक्षशिला की ओर प्रस्थान कीजिये। अश्वमेध के व्रती होइये। सम्राट्! जब तक मेरी क्रोधाग्नि में दुर्वृत्त नाग जलकर भस्म न होंगे, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी। बल-मद से मत्त चाहे कोई शक्ति हो, ब्राह्मण की अवज्ञा करके उसका फल अवश्य भोगेगी। बतलाइये, आप नियति द्वारा आरोपित कलंक का प्रतिकार, अपने सुकर्मों से, नियामक बन कर करना चाहते हैं या नहीं? और मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी करना चाहते हैं या नही? अन्यथा मैं दूसरा यजमान ढूंढूं।

जनमेजय - आर्य उत्तंक! पौरव जन्मेजय प्रतिज्ञा करता है कि अश्वमेध पीछे होगा, पहले नाग-यज्ञ होगा।

उत्तंक—सन्तुष्ट हुआ। सम्राट्! मेरा आशीर्वाद है कि जीवन की समस्त बाधाओं को हटा कर आपका शान्तिमय राज्य बढे। अब शीघ्रता कीजिये। मैं जाता हूँ।

जनमेजय —मैं प्रस्तुत हूँ। आर्य!

[उत्तंक का प्रथान, वपुष्टमा का प्रवेश]

वपुष्टमा—जब देखो, तब वही चिन्ता का स्वाँग! आर्यपुत्र क्यों चिन्ता-मग्न हैं? किस समस्या में पड़े हैं?

जनमेजय—देवि! यह साम्राज्य तो एक बोझ हो गया है!

वपुष्टमा—तब फिर क्यों नही किसी दूसरे के सिर मढते?

जनमेजय—यदि ऐसा कर सकता तो फिर बात क्या थी!

वपुष्टमा—तब यही कीजिये। जो सामने आवे, उसे करते चलिये।

जनमेजय—करूँगा। अब एक बार कर्म-समुद्र मे कूद पड़ूँगा, चाहे जो कुछ हो। आलस्य अब मुझे अकर्मण्य नही बना सकता। प्रिये, बहुत प्यास लगी है।

वपुष्टमा—कोई है? प्रमदा!

प्रमदा—(प्रवेश करके) महादेवी की जय हो। क्या आज्ञा है?

वपुष्टमा—रत्नावली से कहो द्राक्षासव ले आवे।

[प्रमदा का प्रस्थान]

वपुष्टमा—आर्यपुत्र! आज रत्नावली का गान सुनिये।

जनमेजय—मेरी भी इच्छा थी कि आज आनन्द-विनोद करूँ। फिर कल से तो नाग-दमन और अश्वमेध होगा ही।

वपुष्टमा—क्या, नाग-दमन और अश्वमेध? जब देखो, तब युद्ध-विग्रह। एक घड़ी विश्राम नहीं। पुरुष भी कैसे कठोर होते हैं!

जनमेजय —यही उनकी भाग्यलिपि है? अदृष्ट है। क्या वे विलास, प्रमोद

और ललित कला के सुकुमार अंक में समय नहीं व्यतीत करना चाहते ? किन्तु क्या करें !

वपुष्टमा—और स्त्रियों के भाग्य में है कि अपनी अकर्मण्यता पर व्यंग सुना करें। (रोष करती है)

जनमेजय—प्रिये ! ऐसा स्वर क्यों ? स्नेह में इतनी रुखाई ! (स्नेहपूर्वक हाथ पकड़ता है)

[रत्नावली और प्रमदा का प्रवेश, नृत्य और गान]

मधुर माधव ऋतु की रजनी, रसीली सुन कोकिल की तान।
सुखी कर साजन को सजनी, छबीली छोड़ हठीला मान ॥
प्रकृति की मदमाती यह चाल, देख ले दृग भर पी के संग।
डाल दे गलबाही का जाल, हृदय में भर ले प्रेम उमंग ॥
कलित है कोमल किसलय कुञ्ज, सुरभि पूरित सरोज मकरन्द।
खोल दे मुख-मण्डल सुख पुञ्ज, बोल दे बजे विपञ्ची वृन्द ॥

[जनमेजय और वपुष्टमा स्नेह दृष्टि से परस्पर देखते हैं]

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[प्रकोष्ठ में दामिनी]

दामिनी—मेरा जी घबराने लगा है। प्रतिशोध लेने के लिए मैं कैसे भयानक स्थान में आ गयी हूँ ! क्या ये सब भी मनुष्य हैं ? भयानक-से-भयानक काम करने में भी इन्हे तनिक रुकावट नहीं। मुझे केवल उत्तंक से ही प्रतिशोध लेना था। यहाँ तो राजा और परिषद सभी के विरुद्ध एक गुप्त षड्यन्त्र चल रहा है। दुर्भाग्य कि मैं भी उसी कुकर्म में सहायक हो रही हूँ ! मनुष्य जब एक बार पाप के नागपाश में फँसता है, तब वह उसी में और भी लिपटता जाता है। उसी के गाढ़े आलिंगन, भयानक परिरम्भ में सुखी होने लगता है। पापों की शृंखला बन जाती है। उसी के नये-नये रूपों पर आसक्त होना पड़ता है। आज मुझे क्यों इन सबसे भय लग रहा है ? क्या मैं यहाँ से चली जाऊँ ?

[मद्यप अश्वसेन का प्रवेश]

अश्वसेन—हहहह ! एक, दो, तीन ! मुझे भी लोगों ने निरा मूर्ख समझ रक्खा है ! किसी प्रकार उस खाण्डव-दाह से निकल भागा, प्राण बचे। अब इस द्वन्द्व में पड़ने की आवश्यकता नहीं। हमारी जाति—ओह ! व्यर्थ की बात। यदि उसका नाश ही हुआ तो क्या ! हमारा राष्ट्र गया, जाय। मुझे तो हे स्वर्णकलशवासिनी

अप्सरे ! तुम्हारी सेवा का अवसर मिले। बस ! अच्छा जब तक मैं पी रहा हूँ, किसी को कोमल कण्ठ से कुछ गाना चाहिये। कौन है ? (देखकर) अरे तुम कौन हो ? यहाँ क्यों छिपी हो ? तुम सुन्दर तो हो ! गाना भी अवश्य जानती होगी, क्योंकि सुन्दर स्त्रियाँ गाना और रोना दोनों अच्छी तरह जानती हैं।

दामिनी—अश्वसेन, आज तुमने अधिक सुरा पी ली है। मैं तुम्हारी आश्रिता हूँ, मेरा अपमान न करो। मुझे इस समय छोड़ दो।

अश्वसेन--अपमान ! यह तो आदर है, शिष्टता है ! मेरे साथ नाचना, इसमें अपमान ! मैं नागराज कन्या —नही, मै कुमार !

दामिनी—मै तुम्हारे पिता को बुलाती हूँ, नही तो मुझे छोड़ दो।

अश्वसेन--तुम भी कैसी अरसिका हो ! इस आनन्द मे बुड्ढे पिता का क्या काम ? (आगे बढ़ता है)

दामिनी—हटो, नही तो अभी—

अश्वसेन--अच्छा तुम एक बार अत्यन्त क्रुद्ध हो जाओ। फिर मैं तुम्हें मनाऊँगा। बडा आनन्द आवेगा—हाँ सुन्दरी ! (और मद्य पीता है)

दामिनी—कैसी विडम्बना है ! हे भगवान, मेरा उद्धार करो !

अश्वसेन—सुन्दरी, कामकन्दले ! तनिक इस सघन घन की ओर देखो। इसके कलेजे मे छिपी हुई बिजली को देखो। इन सबको न देखो, तो इस उद्दण्ड बृक्ष से लिपटी हुई लता को ही देखो। (हाथ पकड़ता है)

दामिनी—हटो अश्वसेन, मेरा मानस कलुषित हो चुका है, पर अभी तक मेरा शरीर पवित्र है। उसे दूषित न होने दूंगी—चाहे प्राण चले जाएँ। दुराचारी छोड़ दे ! ईश्वर से डर !

अश्वसेन--(कुछ सँभलकर) सुन्दरी, मैं मनुष्य हूँ। मेरी समझ में यही मनुष्यता है कि रमणीय प्रलोभन और भयानक सौन्दर्य के सामने घुटने टेक दूं। तुम भय और आश्चर्य से पाप का नाम लेकर मुझे डरा न सकोगी। मैं पाप और पुण्य की सीमा पर खड़ा हूँ अब मान जाओ।

दामिनी—बचाओ ! बचाओ !!

[सवेग मणिमाला का प्रवेश]

अश्वसेन--तुम कौन हो ?

मणिमाला—भइया, तुम एक दुर्बल रमणी पर अत्याचार करोगे ? मुझे स्वप्न में भी इसका अनुमान न था। मेरे पिता जी की सन्तान होकर तुम ऐसी नीचता करोगे ! हाय ! इस नाग-कुल में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए, तभी तो उसकी यह दशा है !

अश्वसेन—मणिमाला !

मणिमाला—भाई, तुम देख रहे हो कि नाग-कुल पर कैसी विपत्ति है ? फिर भी तुम इस प्रकार के अभिनय कर रहे हो !

अश्वसेन—मणि, मैं लज्जित हूँ।

मणिमाला—अच्छा भाई ! पिताजी को अब इस बात की सूचना नहीं होगी। किन्तु ! हाय ! मेरा हृदय काँप उठता है। भाई, पुरुषोचित काम करो। अत्याचार से पीड़ितों की रक्षा करने में पौरुष का उपयोग करो। तुम वीरपुत्र हो।

अश्वसेन—अब और अधिक लज्जित न करो। मैं सबसे क्षमा प्रार्थी हूँ। लो, मैं अभी रण-प्रांगण को चला ! **(सवेग प्रस्थान)**

दामिनी—अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं रहना चाहती। मणि, मैं जाऊँगी।

मणिमाला—अच्छा, **(कुछ ठहर कर)** दो-चार दिन में चली जाना। अभी तो मैं आयी हूँ। **(हाथ पकड़कर ले जाती है)**

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[कानन के एक कुटीर में तक्षक, वेद, काश्यप, सरमा और कुछ नाग तथा ब्राह्मण बैठे हैं]

तक्षक—मैं अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हूँ। कौरवों का नाश होने पर परिषद की सत्ता आप लोगों के हाथ रहेगी, और हम लोग क्षत्रिय होकर आप लोगों के स्वाध्याय तथा शान्ति की रक्षा करेंगे। ब्राह्मणों पर हमारा कुछ भी नियन्त्रण न रहेगा।

काश्यप—हाँ जी, यह तो ठीक ही है।

वेद—किन्तु शक्ति पा जाने पर तुम भी अत्याचारी न हो जाओगे, इसका क्या निश्चय है ?

ब्राह्मण—सुनो जी, हम लोग आरण्यक, वानप्रस्थ, शान्त, तपोधन ब्राह्मण हैं। अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिए एक शुद्ध राजसत्ता चाहते हैं। हमारा किसी से द्वेष नहीं है।

सरमा—अपने को अलग करके बचे हुओं पर यह दया दिखायी जाती है, किन्तु आप अपने को सर्वोच्च समझते हैं !

काश्यप—क्यों सरमा, क्या इसमें भी कोई सन्देह है ?

सरमा—नहीं, आर्य काश्यप ! इसमें क्या सन्देह है ! आप और भी ऐसे-ऐसे उत्तम काम करें, विप्लव करें, किन्तु आपके सर्वोच्च होने में कौन सन्देह कर सकता है !

तक्षक—सरमा ! क्या तुम भी ऐसा कहती हो ? अपनी ही अवस्था पर विचार कर देखो। जो राजतन्त्र न्याय का ऐसा उदाहरण दिखा सकता है, क्या वह बदलने योग्य नहीं है ?

सरमा—फिर भी एक दस्यु-दल को उसका स्थानापन्न बनाना बुद्धिमत्ता नहीं है। धर्म का ढोंग करके, एक निर्दोष आर्य-सम्राट् को अपने चंगुल में फँसा कर, उसके पतित होने की व्यवस्था देना, जिससे वह राज्यच्युत कर दिया जाय, क्या उचित है ? सो भी यही तक नहीं, उसके कुल-भर को आर्य-पद से इस प्रकार वंचित कर देने की कुमंत्रणा कहाँ तक अच्छी होगी।

काश्यप—स्वेच्छाचारिणी ! जो अनार्यों की दासी हो चुकी है, जो अपनी मर्यादा बिलकुल खो चुकी है, क्या वह भी ब्राह्मणों के कर्त्तव्य की आलोचना करेगी ?

सरमा—तुमने राजसभा में मुझे अपमानित किया था। आज फिर वही बात। ब्राह्मण ! सहन की भी सीमा होती है। उस आत्मसम्मान की प्रवृत्ति को तुम्हारे बनाये हुए द्विज-महत्ता के बन्धन नहीं रोक सकेंगे। मैं यादवी हूँ, अपमान का बदला षड्यन्त्र करके नही लूँगी। यदि मेरे पुत्र की बाहुओं में बल होगा, तो वह स्वयं प्रतिशोध ले लेगा। मैं अब जाती हूँ, परन्तु मेरी बात स्मरण रखना। **(वेग से जाती है)**

काश्यप—नागराज, इसे अभी मार डालो ! नहीं तो यह सारा भण्डा फोड़ देगी !

[तक्षक दौड़कर उसे पकड़ लाता है, दूसरी ओर से मनसा का प्रवेश]

मनसा—नागराज; क्या करते हो ! स्त्रियों पर यह अत्याचार ! छोड़ो इसे ! पहले अपनी रक्षा करो !

[तक्षक सरमा को छोड़ देता है]

तक्षक—क्या ! अपनी रक्षा !

मनसा—हाँ, हाँ, अपनी रक्षा ! जनमेजय की सेना फिर तक्षशिला में पहुँच गयी है। भाई वासुकि नाग-सेना एकत्र करके यथाशक्ति उन्हें रोक रहे हैं। आर्यों का यह आक्रमण बड़ा भयानक है। वे तुम लोगों से बढ़कर बर्बरता दिखला रहे हैं। जो लोग बन्दी होते हैं, वे अग्निकुण्ड में जला दिये जाते हैं। गाँव-के-गाँव दग्ध हो रहे हैं। नागजाति बिना रक्षक की भेड़ों के समान भाग रही है। आर्यों की भीषण प्रतिहिंसा जाग उठी है। जनमेजय कहता है कि पिता को जलाकर मारने का प्रतिफल इन नागों को उसी प्रकार जला कर दूंगा। हाहाकार मचा हुआ है।

सरमा—क्यों मनसा, अब मैं जाऊँ या तक्षक के हाथों प्राण दूँ ? यादवी प्राणों की भिक्षा नहीं चाहती।

मनसा—सरमा ! यदि हो सके, तो इस विपत्ति के समय नागों की कुछ सहायता करो।

सरमा—नही मनसा ! यह आग तुम्ही ने भडकायी है। इसे बुझाने का साधन मेरे पास नहीं है।

काश्यप—और मैं, मैं क्या करूँ ! हाय रे ! मैं क्या—मैं क्या—।

मनसा—तुम ! तुम घृणित पशु हो, चुप रहो !

काश्यप—सरमादेवी ! मेरा अपराध—हाय रे क्षमा—।

सरमा—मनसा ! मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि मुझसे नागो का कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा। (जाती है)

तक्षक—इधर हम लोग भी तो आर्य-सीमा के भीतर ही हैं ! क्या किया जाय, कैसे पहुँचकर वासुकि की सहायता करूँ !

मनसा—चलो ! मैं जानती हूँ, एक पथ है, जो तुम्हे सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देगा।

काश्यप—मैं भी चलूँगा ! यहाँ नही—पर हाय रे ! यहाँ मेरा बड़ा धन है !

मनसा—सावधान ! नागराज, ऐसे कृतघ्न का विश्वास न कीजिये।

[तक्षक और मनसा दोनों जाते हैं]

काश्यप—तब तो चलो भाइयो, हम भी चले।

सब ब्राह्मण—तुमने व्यर्थ हम लोगो पर 'ी एक प्रायश्चित्त चढाया।

काश्यप—क्या मैंने तुम्हे बुलाया था ?

पहला ब्राह्मण—काश्यप, यदि हम पहले से जानते कि तुम इतने झूठे हो, तो तुम से बात न करते !

दूसरा ब्राह्मण—तुम इतने नीच हो, यह हम पहले नही जानते थे।

तीसरा ब्राह्मण—तुम इतने घृणित हो—

काश्यप—अच्छा बाबा ! हम सब कुछ है, तुम लोग कुछ नही हो। यदि दक्षिणा मिलती, तब तो चन्दन-चर्चित कलेवर लेकर सब लोग मलय-मन्थर गति से घर जाते और मेरी ही बड़ाई करते ! किन्तु अब तो व्यवस्था ही उलट गयी।

सब ब्राह्मण—तुमने सबको राजनिन्दा सुनने के पाप का भागी बनाया।

काश्यप—और फिर भी कुछ हाथ न आया ! चलो !

[सब जाते हैं]

[सरमा गाती हुई आती है]

बरस पड़े अश्रु-जल, हमारा मान प्रवासी हृदय हुआ।
भरी धमनियाँ सरिताओं-सी रोष-इन्द्रधनु उदय हुआ॥

लौट न आया निर्दय ऐसा, रूठ रहा कुछ बातों पर।
था परिहास एक-दो क्षण का, वह रोने का विषय हुआ ॥
अब पुकारता स्वयं खड़ा उस पार; बीच में खाई है।
आऊँ क्या मैं भला बता दो, क्या आने का समय हुआ ॥
जीवन भर रोऊँ, क्या चिन्ता ! वैसी हँसी न फिर करना।
कहकर आने लगा इधर फिर क्यों अब ऐसा सदय हुआ ॥

नाथ ! अभिमान से मैं अलग हूँ, किन्तु स्नेह से अभिन्न हूँ। रमणी का अनुराग कोमल होने पर भी बड़ा दृढ़ होता है। वह सहज में छिन्न नहीं होता। जब वह एक बार किसी पर मरती है, तब उसी के पीछे मिटती भी है। प्राणेश्वर ! इस निर्जन वन में तुम्हारी अप्रत्यक्ष मूर्ति के चरणों पर अभिमानिनी सरमा लोट रही है। देवता ! तुम संकट मे हो, यह सुनकर भला मैं कैसे रह सकती हूँ ! मेरा अश्रु-जल समुद्र बनकर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन करेगा, मेरी शुभ कामना तुम्हारा वर्म बनकर तुम्हें सुरक्षित रक्खेगी ! तुम्हारे लिये अपमानिता सरमा राजकुल में दासी बनेगी। **(जाती है)**

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[कानन में अग्निशाला में शीला और सोमश्रवा]

शीला—क्या गुरुजनों के सामने ही ऐसा प्रश्न कीजियेगा ?

सोमश्रवा—हाँ, और नही तो क्या ! पाणिगृहीता भार्या पितृकुल में वास करेगी तो मेरा अग्निहोत्र कैसे चलेगा ?

शीला—नागराज की कन्या मणिमाला अब थोड़े ही दिनों तक और यहाँ रहेगी, और भाई आस्तीक का भी समावर्त्तन संस्कार होने वाला है। अभी वह सहमत नही होता है, किन्तु कुछ ही दिनों में स्वीकार कर लेगा। तब तक के लिए मैं क्षमा चाहती हूँ।

सोमश्रवा—तो फिर मैं भी यही रहूँ ?

शीला—क्यों नहीं ! फिर पुरोहित क्यों बने थे ?

सोमश्रवा—प्रमादपूर्ण युद्धविग्रह का सम्पर्क मुझे तो नही अच्छा लगता। राजा ने मुझे भी तक्षशिला में बुलाया है। किंतु देवि, मैं तो नहीं जाता। वह वीभत्स हत्याकाण्ड मुझसे नहीं देखा जायगा।

शीला—तो फिर यहाँ श्वसुर-कुल में रहोगे ?

सोमश्रवा—नहीं, अपने पिता के आश्रम में रहूँगा। यहाँ से तो वह समीप ही है। कभी-कभी आकर तुम्हें भी देख जाया करूँगा।

शीला—किन्तु आर्यपुत्र ! हम आरण्यकों को नगर में रहना कैसे अच्छा लगेगा ?

सोमश्रवा—देवि, मुझे तो राजा की पुरोहिती नहीं रुचती। इन्ही थोड़े दिनों में इन्द्रप्रस्थ से जी घबरा उठा है। मुझे तो राजा के साथ ही तक्षशिला जाना पडता, किन्तु इस प्रस्तुत युद्ध में कल्याण के लिए कई आथर्वण प्रयोग करने है, इमी से मैं यहाँ आरण्यक-मण्डल में चला आया हूँ। राजा का अग्निहोत्र भी मेरे माथ है। अव कुछ दिनों तक यही रहूँगा। तुम भी वही चलो। सब लोग मिलते-जुलते रहेगे।

शीला—जब यहीं समीप में रहना है, तब तो ठीक ही है। किसी से विच्छेद भी न होगा।

[मणिमाला का प्रवेश]

मणिमाला—शीला ! बहन, अरे तू इतना लजाती क्यों है। यह लो, यह तो बोलती भी नहीं ! तेरा वह परिहास-रसिक स्वभाव, वह विनोदपूर्ण व्यवहार, क्या सब कुछ भूल गया ?

[च्यवन का प्रवेश, सब प्रणाम करते हैं]

च्यवन—आयुष्मन् सोमश्रवा ! तुमने राजपुरोहित का पद स्वीकार कर लिया, यह वहुत अच्छा किया।

सोमश्रवा—आर्य ! यह मव आप लोगों की कृपा है।

च्यवन—वत्स, राज-सम्पर्क के अवगुण हम ब्राह्मणो को, आरण्यकों को, न सीखने चाहिये। दया, उदारता, शील आर्जव और सत्य का सदैव अनुसरण करना चाहिये।

सोमश्रवा—आर्य, ऐसा ही होगा।

च्यवन—वत्स ! ऐसा काम करना जिसमे दुरात्मा काश्यप ने ब्राह्मणों की जो विडम्बना की है, वह सब धुल जाय और सब पर ब्राह्मणों की सच्ची महत्ता प्रकट हो जाय !. अध्यात्म-गुरु जब तक अपना सच्चा स्वरूप नही दिखलावेंगे, तब तक दूसरे भला कैसे धर्माचरण करेंगे ! त्याग का महत्त्व, जो हम ब्राह्मणों का गौरव है, सदैव स्मरण रहे। धर्म कभी धन के लिये न आचरित हो, वह श्रेय के लिये हो, प्रकृति के कल्याण के लिये हो, और धर्म के लिये हो। यही धर्म हम तपोधनों का परम धन है। उसकी पवित्रता शरत्कालीन जलस्रोत के सदृश, उसकी उज्ज्वलता शारदीय गगन के नक्षत्र-लोक से भी कुछ बढ़ कर और शीतल हो।

सोमश्रवा—आर्य ! ऐसा ही होगा। मैंने राजा से प्रतिज्ञा की है कि यदि कोई

धर्म-विरुद्ध कार्य होगा, तो मैं पुरोहिती छोड़ दूंगा। अब मेरे लिये क्या आज्ञा है ? मैं पिताजी को क्या उत्तर—।

च्यवन—(हँसकर) शीला तुम्हारे साथ जायगी। उसे कोई कष्ट नही होगा। वह दिन में दो बार वहाँ आ-जा सकती है।

मणिमाला—पिता जी ! तो फिर मैं सबको एकत्र करूँ ? सखियाँ इसकी विदाई करेंगी।

च्यवन—हाँ पुत्रियो, तुम अपने मंगलाचार कर लो ! **(सब का प्रस्थान)**

दृ श्या न्त र

सप्तम दृश्य

[तक्षशिला की एक घाटी में आर्य-सेना अवरोध किये हुये है, चण्ड भार्गव का प्रवेश]

चण्ड भार्गव—वीरो, तुमने आर्यो के प्रचण्ड भुज-दण्ड का प्रताप दिखला दिया। सम्राट् ने स्कन्धावार से तुम लोगो को बधाई भेजी है। इन पतित और दस्यु अनार्य नागों ने जान लिया कि निष्ठुरता और क्रूरता मे भी आर्य-शक्ति पीछे नही है। वह मित्रों के साथ जितना स्नेह दिखलाती है, उतना ही शत्रुओं को कठोर दण्ड देना भी जानती है। आज के बन्दी कहाँ हैं ?

एक सैनिक—अभी लाता हूँ। **(जाकर बन्दी नागों को ले आता है)**

चण्ड भार्गव—क्यों, अब तुम्हारी क्या कामना है ? दौरात्म्य छोडकर, आर्य-साम्राज्य की शान्त प्रजा होकर रहना तुम्हे स्वीकृत है या नही ? तुम दस्युवृत्ति छोड़ कर सभ्य होना चाहते हो या नही ?

एक नाग—आर्य सेनापति ! दस्यु कौन है, हम या तुम ? जो शान्तिप्रिय जनता पर अपना विक्रम दिखाने का अभिमान करता है, जो 'स्वाहा' मन्त्र पढ़कर गाँव-के-गाँव जला देना अपना धर्म समझता है, जो एक की प्रतिहिंसा का प्रतिशोध अनेक से लेना चाहता है, वह दुरात्मा है या हम ?

चण्ड भार्गव—हूँ ! इतनी ऊर्ज्जस्विता !

नाग—क्यों नही ! अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के विचार से मैं मरने के लिए रणभूमि में आया था। यदि यहाँ आकर बन्दी हो गया, तो क्या मैं लज्जित होऊँ ? हाँ, दुःख इस बात का है कि तुम्हे मारकर नही मर सका।

चण्ड भार्गव—तुम जानते हो कि इसका क्या परिणाम होगा ?

नाग—वही जो औरों का हुआ है ! होगा रण-चण्डी का विकट ताण्डव, आर्यो का स्वाहा-गान, और हमारे जीवन की आहुति ! नाग मरना जानते हैं। अभी वे

हीन-पौरुष नही हुए हैं। जिस दिन वे मरने मे डरने लगेंगे, उसी दिन उनका नाश होगा। जो जाति मरना जानती रहेगी, उसी को पृथ्वी पर जीने का अधिकार रहेगा।

चण्ड भार्गव—मैं अपना कर्तव्य कर चुका। इनकी आहुति दो।

[सैनिक लोग नागों को एक ओर ढकेल कर फूस से घेरकर आग लगा देते हैं, आर्य सैनिक 'स्वाहा' चिल्लाते हैं, पहाड़ी में से एक गुफा का मुँह खुल जाता है, मनसा और तक्षक दिखायी देते हैं]

चण्ड भार्गव—अरे यही तक्षक है। पकड़ो, पकड़ो!

[चण्ड भार्गव आगे बढ़ता है, बाल खोले और हाथ में नंगी तलवार लिए हुए मनसा आकर बीच में खड़ी हो जाती है, तक्षक दूसरी ओर निकल जाता है, सब आर्यसैनिक स्तब्ध रह जाते हैं]

दृ श्या न्त र

अष्टम दृश्य

[पथ में माणवक और दामिनी]

माणवक—अब तुम निरापद स्थान मे पहुँच गयी हो, मैं जाता हूँ।

दामिनी—न न न! कही फिर अश्वसेन न आ जाय। मुझे थोड़ी दूर पहुँचा दो। तुम्हारी बात न मानकर मैंने बड़ा दु.ख उठाया। परन्तु मेरा अपराध भूलकर थोड़ा-सा उपकार और कर दो।

माणवक—मैं जनसंसर्ग से दूर रहना चाहता हूँ। मुझे क्षमा करो।

दामिनी—मैं पथभ्रष्ट हो जाऊँगी।

माणवक—सो तो हो चुकी। अब भाग्य में होगा, तो घूम-फिर कर फिर अपने स्थान पर पहुँच ही जाओगी।

[वेद और त्रिविक्रम का प्रवेश]

वेद—वत्स त्रिविक्रम! आज और कितना चलना होगा?

त्रिविक्रम—गुरुदेव, किधर चलना है? जनमेजय के यज्ञ की ओर अथवा गुरु पत्नी को ढूंढ़ने?

वेद—ढूंढ़ तो चुके त्रिविक्रम! वह उल्का-सी रमणी अनन्त पथ मे भ्रमण करती होगी। उसके पीछे किस छाया-पथ से जाऊँगा! दामिनी! अब भी मैं तुझे क्षमा करने के लिए प्रस्तुत हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि बड़े-बड़े विद्वान् भी प्रवृत्तियों के दास होते हैं, फिर तू तो एक साधारण स्त्री ठहरी।

त्रिविक्रम—पर अब वह मिलती कहाँ हैं ?

वेद—जाने उसका भाग्य ! चलो, यज्ञशाला की ओर चलें। परन्तु त्रिविक्रम ! मुझे भय लग रहा है कि कहीं इस यज्ञ में कोई भयानक काण्ड संघटित न हो !

त्रिविक्रम—तब तो कुटीर की ओर लौटना ही ठीक होगा।

[दामिनी आकर पैरों पर गिरती है]

वेद—कौन दामिनी !

दामिनी—हाँ आर्यपुत्र ! अपराधिनी को क्षमा कीजिये।

वेद—**(निश्वास लेकर)** क्षमा ! दामिनी हृदय से पूछो, वह क्षमा कर सकेगा ? परन्तु—

दामिनी—वह मेरा भ्रम था। परन्तु हृदय से नहीं, आप अपनी स्वाभाविक कृपा से पूछ देखिये। वही मुझे क्षमा कर देगी। मेरा और कौन है !

माणवक—आर्य ! क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है। मैं भली-भाँति जानता हूँ, मानसिक दुर्बलताओं के रहते हुए भी यह स्त्री आचारतः पवित्र और शुद्ध है।

वेद—दामिनी, उजड़ा हुआ गुरुकुल देखकर क्या करोगी ! चलो, यज्ञशाला की ओर ही चले। **(माणवक से)** भाई तुम कौन हो ?

माणवक—यादवी सरमा का पुत्र।

त्रिविक्रम—सरमा तो आजकल जनमेजय के राजमन्दिर मे ही है। वह छिपी हुई है तो क्या हुआ, मैं उसे पहचान गया हूँ।

माणवक—तो फिर मै भी आप लोगों के साथ ही चलूंगा, एक बार माँ को देखूंगा।

[सब जाते हैं]

य व नि का

तृतीय अङ्क

प्रथम दृश्य

[वेदव्यास और जनमेजय]

जनमेजय—आर्य ! मुझे बड़ा आश्चर्य है !

व्यास—वत्स, वह किस बात का ?

जनमेजय—यही कि भगवान् बादरायण के रहते हुए ऐसा भीषण काण्ड क्यों कर हुआ ! इस गृहयुद्ध में पूज्यपाद देवव्रत के सदृश महानुभाव क्यों सम्मिलित हुए ?

व्यास—आयुष्मन्, तुम्हारे पितामहों ने मुझसे पूछकर कोई काम नहीं किया था, और न बिना पूछे मैं उनसे कुछ कहने ही गया था, क्योंकि वह नियति थी। दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीड़ा-कन्दुक हैं। अन्ध-नियति कर्तृत्व-मद से मत्त मनुष्यों की कर्म-शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है, और ऐसी ही क्रान्ति के समय विराट् का वर्गीकरण होता है। यह एकदेशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, 'सर्वभूतहित' की कामना पर ही लक्ष्य होता है।

जनमेजय—भगवन्, इसका क्या तात्पर्य ?

व्यास—परमात्मशक्ति सदा उत्थान का पतन और पतन का उत्थान किया करती है। इसी का नाम है दम्भ का दमन। स्वयं प्रकृति की नियामिका शक्ति कृत्रिम स्वार्थसिद्धि में रुकावट उत्पन्न करती है। ऐसे कार्य कोई जान-बूझ कर नहीं करता, और न उनका प्रत्यक्ष में कोई बड़ा कारण दिखाई पड़ता है। उलट-फेर को शान्त और विचारशील महापुरुष ही समझते हैं, पर उसे रोकना उनके वश की भी बात नहीं है, क्योंकि उसमें विश्व-भर के हित का रहस्य है।

जनमेजय—तब तो मनुष्य का कोई दोष नहीं, वह निष्पाप है !

व्यास—(हँसकर) किसी एक तत्त्व का कोई क्षुद्र अंश लेकर विवेचना करने से इसका निपटारा नहीं हो सकता। पौरव, स्मरण रक्खो, पाप का फल दुःख नहीं, किन्तु एक दूसरा पाप है। जिन कारणों से भारत युद्ध हुआ था, वे कारण या पाप बहुत दिनों से सञ्चित हो रहे थे। वह व्यक्तिगत दुष्कर्म नहीं था। जैसे स्वच्छ प्रवाह में कूड़े का थोड़ा-सा अंश रुक कर बहुत-सा कूड़ा एकत्र कर लेता है, वैसे ही कभी-कभी कुत्सित वासना भी इस अनादि प्रवाह में अपना बल संकलित कर लेती है। फिर जब उस समूह का ध्वंस होता है, तब प्रवाह में उसकी एक लड़ी बँध जाती है और फिर आगे चलकर वह कहीं-न-कहीं ऐसा ही प्रपञ्च रचा करती है।

जनमेजय—उनका कहीं अवसान भी है ?

व्यास—प्रशान्त महासागर ब्रह्मनिधि में।

जनमेजय—आर्य, कुछ मेरा भी भविष्य कहिये।

व्यास—वत्स, यह कुतूहल अच्छा नहीं। जो हो रहा है, उसे होने दो। अन्तरात्मा को प्रकृतिस्थ करने का उद्योग करो—मन को शान्त रखो।

जनमेजय—पूज्यपाद, मुझे भविष्य जानने की बड़ी अभिलाषा है।

व्यास—(ध्यानस्थ होकर) जनमेजय, तुम्हारा भविष्य भी बहुत रहस्यपूर्ण है। तुम्हारा जीवन श्रीकृष्ण के किये हुए एक आरम्भ की इति करने के लिये है। (हँसकर ऊपर देखते हुए) गोपाल, इसे तुम इतने दिनों के लिए स्थगित कर गये थे।

जनमेजय—भगवन् पहेली न बनाइये।

व्यास—नियति, केवल नियति! जनमेजय, और कुछ नही। ब्राह्मणों की उत्तेजना से तुमने अश्वमेध करने का जो दृढ़ संकल्प किया है, उसमें कुछ विघ्न होगा, और धर्म के नाम पर आज तक जो बहुत सी हिंसाएं होती आई है, वे बहुत दिनों तक के लिए रुक जाने को है।

जनमेजय—यदि कोई ऐसी बात हो, तो प्रभु, मैं यज्ञ न करूँ!

व्यास --वत्स, तुमको यज्ञ करना ही पड़ेगा। तुम्हारे सिर पर ब्रह्महत्या और इतनी नाग-हत्या का अपराध है। इसी यज्ञ की आशा से ब्राह्मण समाज ने अभी तक तुम्हें पतित नहीं ठहराया है। धर्म का शासन तुम्हें मानना ही पड़ेगा। तुम्हारी आत्मा इतनी स्वच्छन्द नही कि तुम इस प्रचलित परम्परा का उल्लंघन कर सको। अभी तुम्हारे स्वच्छन्द होने में विलम्ब है। तुम्हें तो यह क्रियापूर्ण यज्ञ करना ही पड़ेगा, फल चाहे जो हो। यज्ञेश्वर भगवान् की इच्छा! जाओ जनमेजय तुम्हारा कल्याण हो।

[जनमेजय प्रणाम करके जाता है, वेदव्यास ध्यानस्थ होते हैं, शीला, सोमश्रवा आस्तीक तथा मणिमाला का प्रवेश]

शीला—आर्यपुत्र, अभी तो भगवान् ध्यानस्थ हैं।

सोमश्रवा—तब तक आओ, हम लोग इस मन्त्रमुग्ध वन की शान्त शोभा देखें। क्यों भाई आस्तीक, रंमणीयता के साथ ऐसी शान्ति कही और भी तुम्हारे देखने में आयी है?

आस्तीक—आर्यावर्त्त के समस्त प्रान्तों मे इसमें कुछ विशेषता है। भावना की प्राप्ति और कल्पना के प्रत्यक्ष की यह संगम-स्थली हृदय में कुछ अकथनीय आनन्द, कुछ विलक्षण उल्लास, उत्पन्न कर देती है! द्वेष यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते थक कर मार्ग में ही कही सो गया है। करुणा आतिथ्य के लिए वन-लक्ष्मी की भाँति आगतों का स्वागत कर रही है। इस कानन के पत्तों पर सरलतापूर्ण जीवन का सच्चा चित्र चमत्कृत हो जाता है।

मणिमाला--भाई, मुझे तो इस दृश्य-जगत् में क्षण-भर स्थिर होने के लिए अपनी समस्त वृत्तियों के साथ युद्ध करना पड़ रहा है। वह करुणा की कल्पना, जो मुझे उदासीन बनाये रखती थी, यहाँ आने पर शान्ति मे परिवर्तित हो गयी है। मानव-जीवन को जो कुछ प्राप्त हो सकता है, वह सब जैसे मिल गया हो।

आस्तीक—सुनो ! **(कान लगाता है)**

सोमश्रवा—क्या ?

आस्तीक—यहाँ कोई उपदेश हो रहा है। मन को थोड़ा शान्त करो, सब स्पष्ट सुनाई देने लगेगा।

[सब चुप हो जाते हैं]

आस्तीक—**(आप-ही-आप)** बुला लो, बुला लो, उस वसन्त को, उस जंगली वसन्त को, जो महलों में मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूल में मकरन्द सींचता है ! उसे अपने हृदय में बुला लो ! जो पतझड़ करके नयी कोंपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रान्त जगत में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल के सदृश सकरुण आवाहन करता है, जिसमें विश्व-भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है, एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है, उस वसन्त को, उस गयी हुई निधि को, लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेले ! विश्व मात्र एक कुसुम-स्तवक सदृश किसी निष्काम के करों मे .पित हो। आनन्द का रसीला राग गूँज उठे। विश्व-भर का क्रन्दन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय।

व्यास—**(आँख खोलते हुए)** नमो रुचाय ब्राह्मणे।

सोमश्रवा—आर्य के श्रीचरणों मे उपश्रवा का पुत्र सोमश्रवा प्रणाम करता है।

आस्तीक—यायावर वंशी आस्तीक आर्य को प्रणाम करता है।

व्यास—कल्याण हो ! सद्बुद्धि का उदय हो !

शीला—आर्य ! उपश्रवा की पुत्रवधू भगवान के चरणों में प्रणाम करती है।

मणिमाला—महात्मा के चरणो मे नागराज-बाला मणिमाला प्रणाम करती है।

व्यास—कल्याण हो ! विश्व-भर के कल्याण मे तुम सब दत्तचित्त हो ! वत्स सोमश्रवा, तुम राजपुरोहित हुए, यह अच्छा ही हुआ। पर देखो, धर्म का शासन बिगड़ने न पावे।

सोमश्रवा—आर्य, आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने कर्त्तव्य में दृढ़तापूर्वक लगा रहूँ।

व्यास—वत्स आस्तीक, तुम्हारा प्रादुर्भाव किसी विशेष कार्य के लिए हुआ है। आशा है, तुम वह कार्य सम्पन्न करोगे।

आस्तीक—आर्य, आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने कर्त्तव्य के पालन में सफल होऊँ।

व्यास--पुत्री शीला, तुम आर्य ललनाओं के समान ही अपने पति के सत्कर्मों में सहकारिणी बनो।

शीला—भगवान् की जैसी आज्ञा ! इसी प्रकार आशीर्वाद देते रहिये।

व्यास—नागराज कुमारी, अदृष्ट शक्ति ने तुम्हारे लिये भी एक बड़ा भारी कर्त्तव्य रख छोड़ा है, जो इस आर्य और अनार्य ही नहीं, किन्तु समस्त मानव-जाति के इतिहास में एक नया युग उत्पन्न करेगा। विश्वात्मा तुम्हें उसमें सफलता दे।

मणिमाला—भगवन्, आशीर्वाद दीजिये कि ऐसा ही हो।

व्यास—प्रिय वत्सगण, शुद्ध-बुद्धि की शरण में जाने पर वह तुम्हें आदेश करेगी, और सीधा पथ दिखलावेगी। जाओ, तुम सबका कल्याण हो, और सबका तुम लोगों के द्वारा कल्याण हो।

सब—जो आज्ञा ! (सब प्रणाम करके जाते हैं)

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

[प्रकोष्ठ में वपुष्टमा]

वपुष्टमा—आर्यपुत्र अश्वमेध के व्रती हुए हैं। पृथ्वी का यह मनोहर उद्यान रक्त-रंजित होगा ! भगवन् ! क्या तुम भी बलि से प्रसन्न होते हो ? यह तो बड़ा संकट है। मन हिचकता है, पर विवशता वही करने को कहती है। धर्म की आज्ञा और ब्राह्मणों का निर्णय है। बिना यज्ञ किये छुटकारा नहीं। कैसा आश्चर्य है। एक व्यक्ति की हत्या जो केवल अनजान में हो गयी है, विधिविहित असंख्य हत्याओं से छुड़ायी जायगी ! अखण्डनीय कर्म-लिपि ! तेरा क्या उद्देश्य है, कुछ समझ में नहीं आता।

प्रमदा—(प्रवेश करके) महादेवी की जय हो ! परम भट्टारक ने सन्देश भेजा है कि मैं गान्धार-विजय करके बहुत शीघ्र ही लौटता हूँ। प्रिय अनुजों के साथ महादेवी यज्ञ-सम्भार का आयोजन करे।

वपुष्टमा—प्रमदा, जब से मैंने अश्वमेध का नाम सुना है, तब से मेरा हृदय काँप रहा है। न जाने क्या होने वाला है।

प्रमदा—महादेवी, भगवान् सब कुशल करेंगे। आप अपने हृदय को इतना दुर्बल बनाती है। सहस्रों राजकुमारों और श्रीमानों के मुकुटमणियों की प्रभा से ये पवित्र चरण रंजित होंगे और इन्हें देखकर आर्यावर्त्त की समस्त ललनायें उस माहात्म्य का उस गौरव का, उच्च कण्ठ से गान करेंगी। भला ऐसे सुअवसर पर आपको प्रसन्न होना चाहिये या उद्विग्न ?

वपुष्टमा—उद्विग्न ! प्रमदा, मेरा हृदय बहुत ही उद्विग्न हो रहा है ! मेरा चित्त चञ्चल हो उठा है। भविष्य कुछ टेढ़ी रेखा खींचता हुआ दिखायी दे रहा है।

प्रमदा—महादेवी, आपको ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं। एक नयी परिचारिका आयी है। आज्ञा हो तो उसे बुलाऊँ। वह बहुत अच्छा गाना जानती है। उसी का कोई गीत सुनकर मन बहलाइये।

वपुष्टमा—जैसी तेरी इच्छा।

[प्रमदा जाती है और परिचारिका के वेश में सरमा को लाती है]

प्रमदा—यही नयी परिचारिका है।

सरमा—सम्राज्ञी को मैं प्रणाम करती हूँ।

वपुष्टमा—(चौंककर) कौन ? तुम्हारा क्या नाम है ?

सरमा—मुझे लोग कलिका कहते है।

प्रमदा—नाम तो बड़ा अनोखा है ! अच्छा, महादेवी को कोई सुन्दर गीत सुनाओ।

कलिका—महादेवी ? मुझे तो केवल करुणापूर्ण गीत आते है।

वपुष्टमा—वही गाओ।

[कलिका गाती है]

मन जागो जागो
मोह निशा छोड के, मन जागो।
विकसित हो कमल-वृन्द, मधुप मालिका
गूँजती करती पुकार-जागो जागो।
हेम पान-पात्र प्रकृति, सुधा सिन्धु से
भर कर है लिये खड़ी, जागो जागो।

वपुष्टमा—कलिका, तुम्हारे इस गाने का क्या अर्थ है ?

कलिका—महादेवी, वही जो लगा लिया जाय।

वपुष्टमा—कुछ और सुनाओ।

कलिका—अच्छा। (गाती है)

फूल जब हँसते है अभिराम
मधुर माधव ऋतु मे अनुकूल।
लगी मकरन्द झड़ी अविराम;
कहे जो रोना, उसकी भूल।
लोग जब हँसने लगते है;
तभी हम रोने लगते हैं।

उषा में सीमा पर के खेत
लहलहाते कर मलयज का स्पर्श।
बिखरते हिमकण विकल अचेत,
उसे हम रोना कहें कि हर्ष।
कृषक जब हँसने लगते हैं,
तभी हम रोने लगते हैं।
इसी 'हम' को तुम ले लो नाथ,
न लूटो मेरी कोई वस्तु।
उसे दे दो करुणा के हाथ,
सभी हो गया तुम्हारा, अस्तु।
लोग जब रोने लगते हैं,
तभी हम हँसने लगते हैं।

वपुष्टमा—सचमुच कलिका, जब एक रोता है, तभी तो दूसरे को हँसी आती है। यह संसार ऐसा ही है।

कलिका—स्वामिनी ! केवल दम्भ, और कुछ नहीं ! साधारण मनुष्यता से कुछ ऊँचे उठा लेनेवाला दम्भ, हृदय को बड़े वेग से पटक देता है, जिससे वह चूर हो जाता है ! महादेवी, चूर होकर, मार्ग की धूल में मिलकर, समता का अनुभव करते हुए चरण-चिह्नों की गोद में लोटना भी एक प्रकार का सुख है, जो सबकी समझ में नहीं आता !

वपुष्टमा—हाँ ! इच्छा होने पर भी मैं ऐसा नहीं कर सकती !

[सोमश्रवा और उत्तंक का प्रवेश]

वपुष्टमा—पौरव कुलवधू का आर्य के चरणों में प्रणाम है।

उत्तंक—कल्याण हो, सौभाग्यवती हो, वीरप्रसू हो। श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन, ये तीनों पाण्डव-कुल के महावीर विजयोपहार के साथ लौट आये। अश्व भी गान्धार तथा उत्तर-कुरु विजय करने के लिए प्रेरित किया गया है। स्वयं सम्राट् भी इस बार अश्व की रक्षा के लिए आगे बढ़ेंगे।

वपुष्टमा—आर्य के रहते हुए प्रबन्ध में कोई त्रुटि न होगी। कृती देवरों की सम्वर्धना करने के लिए मैं यज्ञशाला में चलती हूँ। किन्तु प्रभो, यह यज्ञ कैसा होगा ?

उत्तंक—जैसा सदैव से होता आया है। सम्राज्ञी, ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने और अपयश से बचने के लिए ही तो यह समस्त आयोजन है। बहुत अनुनय-विनय पर कुछ ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिये उद्यत हुए हैं, सो भी जब कुलपति शौनक ने आचार्य होना स्वीकृत किया है, तब।

वपुष्टमा—यह सब करने पर भी क्या होगा ?

उत्तंक—राष्ट्र तथा समाज के शासन को दृढ़ करना ही इसका एकमात्र उद्देश्य है।

वपुष्टमा—तब आर्य इसे धर्म क्यों कहते हैं ?

उत्तंक—सम्राज्ञी, क्या धर्म कोई इतर वस्तु है ? वह तो व्यापक है। भला बिना उसके कही राष्ट्रनीति और समाजनीति चल सकती है ?

वपुष्टमा—मैं तो घबरा रही हूँ।

उत्तंक—कल्याणी, सावधान रहें। आप सम्राज्ञी है, फिर ऐसी दुर्बलता क्यों ? नियति का क्रीड़ा-कन्दुक नीचा-ऊँचा होता हुआ अपने स्थान पर पहुँच ही जाएगा। चिन्ता क्या है ? केवल कर्म करते रहना चाहिये।

वपुष्टमा—आर्य, आशीर्वाद दीजिये कि पति देवता के कार्य मे मैं सहकारिणी रहूँ, और मरण मे भी पश्चात्पद न होऊँ।

उत्तंक—पौरव कुलवधू के योग्य साहस हो, कल्याण हो ! **(जाता है)**

दृ श्या न्त र

तृतीय दृश्य

[पहाड़ की तराई में नाग-सैनिक खड़े हैं, मनसा और उसकी दो सखियाँ गाती हैं]

क्या सुना नही कुछ, अभी पड़े सोते हो
क्यो निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो।
प्रतिहिंसा का विष तुम्हे नही चढता क्या
इतने शीतल हो, वेग नहीं बढ़ता क्या
जब दर्प भरा अरि चढ़ा चला आता है
तब भी तुममे आवेश नही आता है
जातीय मान के शव पर क्यो रोते हो
क्यो निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो !
धिक्कार और अवहेला की बलिहारी
सचमुच तुम सब हो पुरुष या कि हो नारी
चल जाय दासता की न कही यह छलना
देखते तुम्हारे लाञ्छित हो कुल-ललना
जातीय क्षेत्र मे अयश बीज बोते हो
क्यो निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो

लज्जा मेरी या अपना सुख रखना है
परिणाम सुखद हैं; कड़वा फल चखना है
अपमान शल्य से छिदी हुई है छाती
निज दीन दशा पर दया नहीं क्या आती

अपने स्वत्वों से स्वयं हाथ धोते हो
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो।

तक्षक—देवि, जातीयता की प्रतिमूर्त्ति, तुम्हारी जो आज्ञा होगी, वही होगा ! जय, नागमाता की जय।

सब—जय, नागमाता की जय !

वासुकि—हम लोग उपहार लेकर जनमेजय की अगवानी करने नही जाएँगे !

नागगण—किन्तु मारेंगे और मर जाएँगे !

मनसा—यही तो वीरों के उपयुक्त आचरण है ! अच्छा तो सावधान ! अश्व सम्भवतः अब यहाँ आना ही चाहता है, उसे पकड़ना चाहिये।

[आस्तीक और मणिमाला का प्रवेश]

आस्तीक—क्यों माँ, क्या तुमको रक्त-रञ्जित धरणी मनोरम जान पड़ती है ? एक प्राणी दूसरे का संहार करे, क्या इसके लिए तुम उत्तेजना देती हो ? मेरी माँ यह क्या है ?

मणिमाला—**(तक्षक से)** पिताजी, जबकि आर्यो ने इधर उपद्रव करना बन्द कर दिया है, और वे एक दूसरे रूप से सन्धि के अभिलाषी है, तब फिर आप युद्ध के लिए क्यों उत्सुक हैं ?

मनसा—बेटी, यदि तू जानती—

मणिमाला—क्या ?

मनसा—यही कि तेरे पिता को आग में जलाने के लिये वे ढूंढ़ते फिरते हैं, और इस नाग-जाति को धूल मे मिला देना चाहते है।

आस्तीक—क्यों आप अपने को मानव-जाति से भिन्न मानती है ? क्या यह आप लोगों के कल्पित गौरव का दम्भ नही है।

मनसा—किन्तु वत्स, क्या यह आर्यो का दम्भ नही है ? क्या वे तुम्हारे इस ऊँचे विचार को नही समझते ?

आस्तीक—माँ, तुम्हारा कथन ठीक है ! किन्तु जब एक दूसरे प्रकार से नाग-जाति के भाग्य का निपटारा होने को है, तब इस युद्ध-विग्रह से क्या लाभ ? आर्यों का अश्व आवेगा, घूमकर चला जायगा। हम लोगों की स्वाधीनता पर उसका कोई प्रभाव नही पड़ेगा। जब हम युद्ध करके उनके सुव्यवस्थित राष्ट्र का नाश नहीं कर

सकते, तब उनसे मित्रता रखने में क्या बुराई है ? यह तो कल्पित मानापमान के रूप में युद्ध-लिप्सा ही दिखाई देती है ।

तक्षक—(स्वगत) क्यों न हो, आर्य-रक्त का कुछ तो प्रभाव होना ही चाहिये ।

मनसा—सुना था, मेरी सन्तान से नाग-जाति का कुछ उपकार होगा । इसीलिए मैंने तुझे उत्पन्न किया था । यदि तू तलवार लेकर इस जातीय युद्ध में नहीं सम्मिलित होता, तो आज से तू मेरा त्याज्य पुत्र है ।

मणिमाला – बुआ, ऐसा न कहो ! भाई आस्तीक !

मनसा—लड़की, चुप रह ! मुझे तू अभी पहचानती नहीं ।

आस्तीक—मैं किस प्रकार इस जाति की सहायता करूँगा, यह मैं जानता हूँ । तो फिर माँ मैं प्रणाम करता हूँ । तलवार लेकर तो नहीं, पर यदि हो सका तो मैं दूसरे प्रकार से यह विवाद मिटाऊँगा । इस क्रोध की बाढ़ मे मै बाँध बनूंगा, चाहे फिर मैं ही क्यों न तोड़कर बहा दिया जाऊँ । **(जाता है)**

मणिमाला—फिर मुझे क्या आज्ञा है ?

तक्षक— जा बेटी, तू घर जा ।

[मणिमाला जाती है]

मनसा—सावधान ! वह अश्व आ रहा है ।

[अश्व के साथ आर्य-सैनिकों का गाते हुए प्रवेश]

पद-दलित किया है जिसने भूमण्डल को ।
निज हेषा से चौंकाता आखण्डल को ।
वह विजयी याज्ञिक अश्व चला है आगे ।
हम सब हैं रक्षक, देख शत्रुगण भागे ।।

यह अरुण पताका नभ तक है फहराती ।
जो विजय-गीत मिल मलय पवन से गाती ।।
जय आर्यभूमि की, आर्य-जाति की जय हो ।
अरिगण को भय हो, विजयी जनमेजय हो ।।

मनसा—छीन लो, इस अश्व को छीन लो !

[सब नाग चिल्लाकर दौड़ते हैं, युद्ध होता है, नाग अश्व पर अधिकार कर लेते हैं, दूसरी ओर से चण्ड भार्गव और जनमेजय सैनिकों के साथ आकर नागों को भगाते और अश्व को छुड़ा ले जाते हैं, मणिमाला का प्रवेश]

मणिमाला—क्या ही वीर-दर्प से पूर्ण मुखश्री है ! प्रणय-वृक्ष, तू कैसे भयानक

पानी से टकरानेवाले कगार पर लगा है ! पिता ! नहीं मानोगे। ओह ! क्षण भर में कितना भीषण रक्तपात हो गया।

[घायलों को देखती है, मनसा का पुनः प्रवेश]

मनसा—कौन ? मणिमाला !

मणिमाला—हाँ बुआ, देखो तुम्हारी उत्तेजना ने क्या परिणाम दिखलाया। आहा ! बेचारे का हाथ ही कट गया है !

मनसा—(गम्भीर होकर) बेटी, सचमुच यह बड़ा भयानक दृश्य है। इसे देखकर तो मेरा भी हृदय काँप उठा है।

मणिमाला—नही बुआ, तुम न काँपो। तुम त्रिशूल लिये हुए बज्र कठोर चरणों से इन शवों पर रण-चण्डी का ताण्डव नृत्य करो। संसार भर की रमणीयता और कोमलता वीभत्स क्रन्दन करे, और तुम्हारे रमणीसुलभ मातृभाव की धज्जियाँ उड़ जायँ ! विश्व भर मे रमणियों के नाम का आतंक छा जाय ! सेवा, वात्सल्य, स्नेह तथा इसी प्रकार की समस्त दुर्बलताओं के कही चिह्न तक न रह जाएँ, क्योंकि सुनती हूँ, इन सब विडम्बनाओं से केवल स्त्रियाँ ही कलंकित है। हूँ बुआ, एक बार विकट हुंकार कर दो !

मनसा—बस बेटी, बस अधिक नहीं। मेरी भूल थी, पर वह आज समझ में आ गयी। यदि स्त्रियाँ अपने इंगित की आहुति न दें तो विश्व मे क्रूरता की अग्नि प्रज्वलित ही नही हो सकती। बर्बर रक्त को खौला देना इन्ही दुर्बल रमणियों की उत्तेजनापूर्ण स्वीकृति का कार्य है। उनकी कातर दृष्टि मे जो बल, जो कर्तृत्व-शक्ति है वह मानव-शक्ति का सञ्चालन करने वाली है। जब अनजान में उसका दुरुपयोग होता है, तब तत्काल इस लोक में दूसरा ही दृश्य उपस्थित हो जाता है। बेटी, क्षमा कर, तू देवी है।

मणिमाला—तो चलो बुआ, इन घायलों की शुश्रूषा करें।

मनसा—अच्छा बेटी ! (दोनों घायलों को उठाती हैं)

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[महल का बाहरी भाग, कलिका-दासी के रूप में सरमा आती है]

सरमा—मैं पति-सुख से वञ्चिता हूँ। पुत्र भी अपमानित होकर रूठ कर चला गया है। जाति के लोगों का निरादर और कुटुम्बियों का तिरस्कार सहकर पेट पालने के लिए अधम दासता कर रही हूँ, तब भी कौन कह रहा है कि 'मैं तुम्हारे साथ हूँ ?' जब किसी की सहानुभूति नही, जब किसी से सहायता की आशा नही,

तब भी विश्वास ! राजकुल में क्या करने के लिए आयी हूँ। होगा, मेरा कोई काम होगा ! मैं उस अदृष्ट शक्ति का यन्त्र हूँ वह जो मेरे साथ है, मुझसे कोई काम कराना चाहता है।

[प्रमदा का प्रवेश]

प्रमदा—कलिका ! तू यहाँ क्या कर रही है। क्या अभी तक शाला में नही गयी ? महारानी तेरी प्रतीक्षा कर रही होंगी।

कलिका—(सरमा)—प्रमदा ! आज इस समय तू ही काम चला दे। मैं रात को रहूँगी। आज अश्व-पूजन होगा। रात भर जागना होगा। नृत्य-गीत देखूँ-सुनूँगी। मेरी प्यारी बहन, आज मेरा जी बेचैन है।

प्रमदा—अरी वाह ! मैं क्यों तेरा काम करने लगी !

कलिका—मैं तेरे पैरो पड़ती हूँ। बहन ! इस समय तो मैं किसी काम की नही हूँ।

प्रमदा—क्या तूने कुछ माध्वी पी ली है ? कल तो अच्छो भली थी।

कलिका—नही बहन, मैं गौड़ी या माध्वी कुछ नही पीती। अच्छा तू न करेगी, तो मैं ही चलती हूँ। (रोनी सूरत बनाती है)

प्रमदा—नही, मैं तो हँसी करती थी। जा, जब तेरा जी चाहे, तब आइयो, मैं जाती हूँ।

[प्रमदा जाती है, सरमा किसी को आते देखकर छिप जाती है, इधर-उधर देखता हुआ काश्यप आता है]

काश्यप—सन्ध्या हो चली है। आकाश ने धूसर अन्धकार का कम्बल तान दिया है। यह गोधूलि आँखों में धूलि झोंककर काम करने का अभय दान दे रही है। आंगिरस काश्यप की प्रतिहिंसा का फल, उसे अपमानित करके, पुरोहिती छीनकर, शौनक को आचार्य बनाने की मूर्खता का दण्ड आज मिलेगा। ब्राह्मण ! आज वह शक्ति दिखला दे कि तुझमें 'शापादपि शरादपि' दोनो प्रकार से दण्ड देने का अधिकार है ! ओह, इतनी पुष्कल दक्षिणा ! ऐसे महत्त्व का पद ! मुझसे सब छीन लिया गया ! रोयेगा, जनमेजय, तू आठ-आठ आँसू रोयेगा। तेरे हृदय को क्षत-विक्षत करके, तेरी आत्मा को ठोकर लगाकर, मैं दिखला दूंगा कि ब्राह्मण को अपमानित करने का क्या फल है !--अभी नही आया ?

[तक्षक का छिपते हुए प्रवेश]

तक्षक—कौन है ?

काश्यप—मैं, आंगिरस। तुम कौन ?

तक्षक—नाग।

काश्यप—प्रस्तुत होकर आये हो ?

तक्षक—तुम अपनी कहो।

काश्यप—मैंने सब ठीक कर दिया है। अश्व-पूजन मे जाने वाले सब ब्राह्मण हमारे है। वहाँ थोडी-सी स्त्रियाँ ही रहेगी। उनसे तो तुम नही डरते न ?

तक्षक—मेरे केवल पचीस ही साथी आ सके है।

काश्यप—इतने से काम हो जायगा। यज्ञ का अश्व तुम ले भागना, और यदि हो सके, तो महिषी को भी।

तक्षक—(चौंककर) क्यो उसका क्या काम है ?

काश्यप—बताऊँगा ! इस समय जाओ, सावधानी से काम करना। थोडे-से रक्षक रहेगे वे भी सोम-पान करके झूमते हुए मिलेगे। तुम्हे कोई डर नही है। जाओ, अब समय हो गया। यदि चूकोगे तो फिर ठिकाना न लगेगा। घात मे लग जाओ। सरमा भी यही है, वह तुम्हारा काम करेगी।

तक्षक—अच्छा, जाता हूँ। किन्तु काश्यप, अबकी अन्तिम दाँव है। यदि अबकी सफलता न हुई तो फिर तुम्हारी कोई बात न मानूँगा। (तक्षक जाता है)

काश्यप—मरो, कटो, मुझे क्या ! घात चल गयी, तो हँसूँगा, नही तो कोई चिन्ता नही।

[कश्यप का प्रस्थान, सरमा का पुनः प्रवेश]

सरमा—इस नीच ने आज फिर मायाजाल रचा है। अच्छा, आज तो सरमा जान पर खेल कर उस आर्य-बाला की मर्यादा की रक्षा करेगी। उस तिरस्कार का जो वपुष्टमा ने सिंहासन पर बैठ कर किया है, प्रतिफल देने का अच्छा अवसर मिला है। देखूँ, क्या होता है।

[आस्तीक का प्रवेश]

आस्तीक—आर्ये, मैं आस्तीक प्रणाम करता हूँ।

सरमा—कल्याण हो वत्स ! तुम यहाँ कैसे आये ?

आस्तीक—माँ ने मुझे त्याज्य पुत्र बनाकर निकाल दिया है।

सरमा—(उसके सिर पर हाथ फेरती हुई) आज से मैं तुम्हारी माँ हूँ। वत्स दुखी न होना। तुम मेरे पास रहो। माणवक और आस्तीक, मेरे दो बेटे थे। एक खो गया, तो दूसरा मिल गया।

आस्तीक—माँ, मुझे आज्ञा दो कि मैं क्या करूँ !

सरमा—आज तुम्हे बहुत बडा काम करना होगा। तुम पत्नीशाला के पीछे की खिडकी के पास चलो। जब तक मेरा कण्ठ-स्वर न सुनना, तब तक वहाँ से कही न जाना।

आस्तीक—जो आज्ञा।

[दोनों जाते हैं, शीला और दामिनी का प्रवेश]

शीला—अहा, बहन दामिनी, अच्छे समय पर आ गयी। क्या यज्ञशाला में चलती हो ?

दामिनी—किन्तु, तुमने तो अभी तक वेष-भूषा भी नहीं की।

शीला—वेश-भूषा ! क्यों ?

दामिनी—क्यों, जब वहाँ बहुत-सी कुल-ललनायें और राजकुल की स्त्रियाँ अच्छे-अच्छे गहने-कपड़ों से सजकर आवेंगी, तब क्या तुम इसी वेश मे उनमें जा बैठोगी ?

शीला—क्यों, क्या इसमें कुछ लज्जा है ?

दामिनी—अवश्य ! जहाँ जैसा समाज हो, वहाँ उसी रूप में जाना चाहिये।

शीला—यह विडम्बना है। पवित्र हृदय को इसकी क्या आवश्यकता है ? बनावटी बातें क्षणिक होती है, किन्तु जो सत्य है, वह स्थायी होता है। बहन दामिनी, मेरी समझ में तो स्त्रियाँ विशेष शृंगार का ढोंग करके अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता भी खो बैठती है। वस्त्रों और आभूषणों की रक्षा करने और उन्हें सँभालने में उनको जो कार्य करने पडते हैं, वे ही पुरुषों के लिए विभ्रम हो जाते है। चलने से उन्हें आभूषणों के कारण सँभालकर पैर रखना, कपड़ों को बचाने के लिये समेट कर उठते, हटाते, खीचते हुये चलना—यह सब पुरुषों की दृष्टि को तो कलुषित करता ही है, हमारे लिए भी बन्धन हो जाता है। खुले हृदय से, स्वच्छन्दता से, उठना-बैठना और बोलना-चालना भी दुष्कर हो जाता है। वेश-भूषा के नियमों में उलझकर अस्त-व्यस्त हो जाना पडता है।

दामिनी—बहन, तुमने तो यह बड़ी भारी वक्तृता दे डाली। तो फिर क्या संसार में इनका प्रयोग व्यर्थ है ?

शीला—मेरी सम्मति तो यह है कि सरलता, हृदय की पवित्रता, स्वच्छता और अपनी प्रसन्नता के लिये उतना ही स्त्री-जन सुलभ सहज शृंगार पर्याप्त है, जो स्वतन्त्रता मे बाधा न डालता हो, जो दूसरे का मनोरञ्जन करने के लिये न हो। कुटिलों का लक्ष्य बनने के लिये कठपुतली की तरह सजना व्यर्थ ही नही, किन्तु पाप भी है।

दामिनी—लो, यह व्यवस्था भी हो गयी, किन्तु मैं तो इसे नही मानने की।

शीला—देखो, इसी कारण मणिकुण्डलों के लिये, अपने पति के सामने तुम्हें कितना लज्जित होना पड़ा था, और कितना बड़ा अनर्थ तुमने उपस्थित कर दिया था !

दामिनी—(सिर नीचा करके) हाँ बहन, यहाँ तो मुझे हार माननी ही पड़ी ! अच्छा, तो चलो। (दोनों जाती हैं)

दृ श्या न्त र

पञ्चम दृश्य

[पत्नीशाला की पिछली खिड़की के निकट आस्तीक टहल रहा है]

(योद्धा के वेश में मणिमाला का प्रवेश)

आस्तीक—तुम कौन हो ?

मणिमाला—भाई आस्तीक ! तुम यहाँ कैसे ?

आस्तीक—अरे ! मणिमाला, तुम इस वेश में क्यों ?

मणिमाला—भाई ! आज विषम काण्ड है। पिताजी ने फिर कुछ आयोजन किया है। मैं भी इसीलिये आई हूँ कि यदि हो सके तो उन्हें बचाऊँ।

आस्तीक—मुझे भी सरमा माता ने भेजा है। किन्तु तुम्हारा यहाँ रहना तो ठीक नहीं। जब कोई उपद्रव संघटित होगा, तब तुम यहाँ रह कर क्या करोगी ?

मणिमाला—नहीं, मैं तो आज उपद्रव में कूद पड़ूँगी। क्यों भाई, क्या तुम्हें रमणियों की दुर्बलता ही विदित है, उनका साहस तुमने नहीं सुना ?

आस्तीक—किन्तु—

मणिमाला—आज किन्तु-परन्तु कुछ नहीं सुनूँगी। आज मुझे विश्वास है कि पिताजी पर कोई भारी आपत्ति आवेगी।

आस्तीक—क्यों ?

मणिमाला—भला कुकर्म का भी कभी अच्छा परिणाम हुआ है ? (कान लगाकर सुनती है) भीतर कुछ कोलाहल-सा सुनाई दे रहा है। मैं जाती हूँ।

[जाना चाहती है, आस्तीक हाथ पकड़ कर रोकता है]

आस्तीक—ठहरो मणि ! तुम न जाओ।

मणिमाला—छोड़ दो भाई। मैं अवश्य जाऊँगी, इसीलिये वेश बदल कर आयी हूँ।

[मणिमाला हाथ छुड़ाकर चली जाती है, माणवक का प्रवेश]

आस्तीक—कौन ? माणवक !

माणवक—भाई आस्तीक !

[खिड़की खुलती है, मूर्च्छिता वपुष्टमा को लिये कई नागों का उसी से बाहर आना, सरमा पीछे से आकर उनको रोकना चाहती हैं, नागों का वपुष्टमा को ले जाने का प्रयत्न]

माणवक—तुम इसे मेरी रक्षा में छोड़ दो। नागराज की सहायता करो।

[घबड़ाये हुए नाग वपुष्टमा को उसी के हाथ सौंप देते हैं]

सरमा—यहाँ बात मत करो। शीघ्र चलो।

आस्तीक—किन्तु मणिमाला भी यहीं है।

सरमा—आर्य लोग स्त्रियों की हत्या नहीं करते, चलो।

[चारों जाते हैं, रक्षकों से युद्ध करते हुए तक्षक का प्रवेश, और भी आर्य सैनिक आ जाते हैं, तक्षक और मणिमाला दोनों बन्दी होते हैं]

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[वेदव्यास अपने आश्रम में बैठे हैं, माणवक, आस्तीक, सरमा और वपुष्टमा भी हैं]

व्यास—ब्रह्मचक्र के प्रवर्त्तन में कैसी कठोर कमनीयता है! वत्स आस्तीक, मैंने तुमसे जो कहा था, उसे मत भूलना।

आस्तीक—भगवन्! मैं मातृद्रोही हो गया हूँ। मैंने माता की आज्ञा नही मानी। मेरे सिर पर यह एक भारी अपराध है।

व्यास—वत्स, सत्य महान् धर्म है। इतर धर्म क्षुद्र हैं, और उसी के अंग हैं। वह तप से भी उच्च है, क्योंकि वह दम्भ-विहीन है। वह शुद्ध-बुद्धि की आकाशवाणी है। वह अन्तरात्मा की सत्ता है। उसको दृढ़ कर लेने पर ही अन्य सब धर्म आचरित होते हैं। यदि उससे तुम्हारा पद-स्खलन नहीं हुआ, तो तुम देखोगे कि तुम्हारी माता स्वयं तुम्हारा अपराध क्षमा और अपना अपराध स्वीकृत करेगी, क्योंकि अन्त में वही विजयी होता है, जो सत्य को परम ध्येय समझता है।

माणवक—भगवन्, यह बात सर्वत्र तो नही घटित होती। क्या इसमें अपवाद नहीं होता? यदि सत्य का फल श्रेय ही होता, यदि पाप करने से लोग प्रत्यक्ष नरक की ज्वाला में जलते, यदि पुण्य करते हुए जीवन को सुखमय बना सकते, तो क्या संसार में कभी इतना अत्याचार हो सकता था?

व्यास—वत्स माणवक, विजय एक ही प्रकार की नहीं है, और उसका एक ही लक्षण नहीं है। परिणाम में देखोगे कि तुम श्रेयस्कर मार्ग पर थे। यदि प्रतिहिंसावश तुमने नागों का साथ दिया था, तो उस अलौकिक प्रभुता ने उसका भी कुछ दूसरा ही तात्पर्य रक्खा था। आज यदि तुम वहाँ न होते, कोई दूसरा नाग होता, तो इस पौरव कुलवधू की क्या अवस्था होती? क्या उस सम्राट् पर यह तुम्हारी विजय नहीं है, जिसके भाइयों ने तुम्हें पीटा था? तुम्हारे सत्य ने ही तुम्हें विजय दिलायी है।

सरमा—आर्य, श्री चरणों की कृपा से मेरी सारी भ्रान्ति दूर हो गयी, किन्तु एक अवशिष्ट है।

व्यास—वह क्या ?

सरमा—महारानी वपुष्टमा का परिणाम चिन्ता का विषय है ।

व्यास—है अवश्य, किन्तु कोई भय नही । विश्वात्मा सबका कल्याण करता है ।

आस्तीक—तब क्या आज्ञा है ?

व्यास—ठहरो, इस आश्रम मे सब प्राकृतिक साधन पर्याप्त है । तुम लोग यहीं रहो । जब तुम लोगो के जाने की आवश्यकता होगी, तब मैं स्वय भेज दूंगा । अभी तुम लोग विश्राम करो । **(वेदव्यास जाते हैं)**

वपुष्टमा—बहन सरमा, मुझे क्षमा करो । मैने तुम्हारा बड़ा अनादर किया था । आज मुझे तुम्हारे सामने आँख उठाते लज्जा आती है । तुमने मुझपर जैसी विजय पायी है, वह अकथनीय है ।

सरमा—नही महारानी, वह आपके सिंहासन का आवेश था । वास्तविक स्थिति कुछ और ही थी, जो सब मनुष्यो के लिए समान है । वहाँ स्त्री-जाति के सम्मान का प्रश्न था, नाग और आर्य-जाति की समस्या नही थी । नाग-परिणय से तो मैं न्याय पाने की भी अधिकारिणी न थी । किन्तु क्या आपको विदित है कि कितने ऐसे शुद्ध आर्यो का भी अधिकारियो के द्वारा प्रतिदिन बहुत अपमान होता है, जो राज-सिंहासन तक नही पहुँच पाते । पर अब उन बातो की चर्चा ही क्या !

वपुष्टमा—किन्तु बहन, मै तो किसी ओर की नही रही । सम्राट् की इच्छा क्या होगी, कौन जाने । आर्यावर्त्त भर मे यह बात फैल गयी होगी कि सम्राज्ञी—

सरमा—भगवान् की दया से सब अच्छा ही होगा, आप चिन्तित न हों । चलिये, स्नान कर आवें । **(दोनों जाती हैं)**

आस्तीक—क्यो माणवक, आज तो तुम्हारे समस्त अपमान का बदला चुक गया ! क्या अब भी तुम इस दुखिया रानी को शुद्ध हृदय से क्षमा न करोगे ।

माणवक—भाई ! मै तो वपुष्टमा को कभी का क्षमा कर चुका । नही तो अब तक पकड़कर नागो के हाथ सौप देता । माँ की आज्ञा मैं टाल नही सका । आस्तीक, यदि सच पूछो तो मैंने इस प्रतिहिंसा का आज से परित्याग कर दिया । देखो, इस तपोवन मे शस्य श्यामला धरा और सुनील नभ का, जो एक-दूसरे से इतने दूर है, कैसा सम्मिलन है ।

आस्तीक—भाई, यह भगवान् बादरायण का आश्रम है । देखो, यहाँ की लता-वल्लरियों मे, पशु-पक्षियो में, तापस-बालको मे परस्पर कितना स्नेह है ! ये सब हिलते-डुलते और चलते-फिरते हुए भी मानो गले से लगे हुए है । यहाँ के तृण को भी एक शान्ति का आश्वासन पुचकार रहा है । स्नेह का दुलार, स्वार्थ-त्याग का प्यार, सर्वत्र बिखर रहा है ।

माणवक – भाई आस्तीक, बहुत दिन हुए, हमने और तुमने एक-दूसरे को गले नही लगाया। आओ आज—

आस्तीक—(गले लगाकर) मेरे शैशव-सहचर ! वह विशुद्ध क्रीडा, वह बाल्यकाल का सुख, जीवन भर का पाथेय है। क्या वह कभी भूलने योग्य है ? आज से हम-तुम फिर वही पुराने मित्र और भाई है। जी चाहता है, एक बार फिर हाथ मिलाकर उसी तरह खेले-कूदे।

माणवक – भाई, क्या वह समय फिर आने को है ? यदि मिल सके, तो मै कह सकता हूँ कि उन दस वर्षो के लिए शेष नब्बे वर्षो का जीवन दे देना भी उपयुक्त है। क्या ही रमणीक स्मृति है।

आस्तीक— किन्तु भाई, हम लोगो का कुछ कर्त्तव्य भी है। दो भयंकर जातियाँ क्रोध से फुफकार रही है। उनमे शान्ति स्थापित करने का हमने बीडा उठाया है।

माणवक—भाई, चिन्ता न करो। भगवान् की कृपा से तुम सफल होगे। प्रभु की बड़ी प्रभुता है।

[दोनों प्रार्थना करते है]

नाथ, स्नेह की लता सींच दो, शान्ति जलद वर्षा कर दो।
हिंसा धूल उड रही मोहन, सूखी क्यारी को भर दो॥
समता की घोषणा विश्व मे, मन्द्र मेघ गर्जन कर दो।
हरी भरी ही सृष्टि तुम्हारी, करुणा का कटाक्ष कर दो॥ **(प्रस्थान)**

दृ श्या न्त र

सप्तम दृश्य

[कानन में मनसा और वासुकि]

वासुकि—बहन, अब क्या करना होगा ? तक्षक बन्दी है। उनके साथ मणिमाला भी है। पहले के भयकर यज्ञ मे जो बात नही होने पाई थी, वही इस बार अनायास हो गयी। अपनी मूर्खता से आज नागराज स्वय पूर्णाहुति बनने गये।

मनसा—भाई, मुझसे क्या कहते हो ! क्या मै उस उत्तेजना की एक सामग्री नही हूँ ? हाय-हाय ! मैंने ही तो इस नाग-जाति को भडकाया था। आज देख रहे हो, यहाँ कितने घायल पडे है। जाति के अवशिष्ट थोडे-से लोगो मे भी कितने ही बेकाम हो गये, और कितने जलाये गये। जान पडता है कि इस जाति के लिए प्रलय समीप है। इस परिणाम का उत्तरदायित्व मुझ पर है। हा, मैंने यह क्या किया !

[कुछ नागों का प्रवेश]

नाग—नागमाता ! आपकी कृपा और सेवा-शुश्रूषा से अब हम लोग इस योग्य हो गये हैं कि फिर युद्ध कर सकें। आज्ञा दीजिये, अब हम लोग क्या करें ? सुना है, नागराज बन्दी हो गये है। पहले उनका उद्धार करना चाहिये।

मनसा—वत्सगण, अब और जन-क्षय कराने की आवश्यकता नही है। बन्दी तक्षक को जनमेजय कभी का जला देता, किन्तु सुना है, उसकी रानी का पता नहीं है, इसलिए अभी कुछ नहीं हुआ।

नाग—तो क्या नागराज जलाये जायँ, और हम लोग यहाँ पड़े-पड़े आनन्द करें ! धिक्कार है !

मनसा—वत्स, उत्तेजित न हो।

वासुकि—नही मनसा, अब मत रोको, अब इस भग्न गृह को बचा रखने से क्या लाभ ! इसे गिर जाने दो। दो-चार ठूँठ वृक्षों पर इतनी ममता क्यों ? इन्हें सूख जाने दो। जब हरा-भरा कानन जल गया, तब इन्हे भी जल जाने दो। चलो वीरो, जो लोग युद्ध के योग्य है, वे सब एक बार निर्वाणोन्मुख दीप की भाँति जल उठे। यदि औरों को न जला सके, तो स्वयं ही जल जायँ। सारी कथा ही समाप्त हो जाय।

नाग—हम प्रस्तुत है।

वासुकि—तो फिर चलो।

मनसा—क्यों भाई, क्या तुम मेरी बात न सुनोगे ?

वासुकि—बहन, तुम्हारी बात सुनने के कारण ही आज तक यह सब हुआ। अब तुम्हारे हृदय मे स्त्री-सुलभ करुणा का उद्रेक हुआ है, इसीलिये तुम मुझे दूसरी ओर फेरना चाहती हो। यही तो स्त्रियो की बात है। एक भयानक क्रूरता को ठोकर मारकर जगा चुकी हो, और अब फिर उसे थपकी देकर सुला देना चाहती हो ! पर अब यह बात नही होने की ! मरण के डर से मैं कलंकित जीवन बचाने का दुस्साहस न करूँगा।

मनसा—भाई, तुम्हारी मनसा तुमसे क्षमा चाहती है। जातिनाश कराने का कलंक उसके सिर पर न लगने दो।

वासुकि—अब कोई उपाय नही है।

मनसा—**(कुछ सोचकर)** अच्छा, तुम अवशिष्ट सैनिकों को साथ लेकर चलो। मैं भी चलती हूँ। यदि सन्धि करा सकी, तब तो ठीक ही है, नही तो हम सब लोग जल मरेंगे।

वासुकि—**(हँसकर)** अभी इतनी आशा है ?

मनसा—एक बार आर्यों के महर्षि बादरायण के पास जाऊँगी। सुना है, उनकी महिमा अपूर्व है। सम्भव है, उनसे मिलकर कुछ काम कर सकूँ।

नाग—अच्छी बात है। एक बार और चेष्टा कर देखिये। हम लोग पूर्णाहुति के लिए प्रस्तुत होकर चलते हैं। किंतु स्मरण रहे, जिस स्वतन्त्रता के लिए इतना रक्त बहाया गया है, वह स्वतन्त्रता हाथ से जाने न पावे।

मनसा—विश्वास रखो, मनसा कभी अपमान-जनक सन्धि का प्रस्ताव न करेगी। नाग-बाला को भी मरना आता है।

सब नाग—जय, नागमाता की जय।

दृ श्या न्त र

अष्टम दृश्य

[यज्ञ-शाला में बन्दी तक्षक, मणिमाला, जनमेजय, शौनक, उत्तंक, सोमश्रवा, चण्डभार्गव आदि]

जनमेजय—इतनी नम्रता और आज्ञापालन का यह परिणाम! इतनी प्रतिहिंसा! प्रभुत्व का इतना लोभ! धन्य हो भूसुरो! तुमने अच्छा प्रतिशोध लिया।

ब्राह्मण—राजन्, लोभ और हठ से जो धर्म आचरित होता है, उसका ऐसा ही परिणाम हुआ करता है। इसमें इन्द्र ने बाधा डाली है।

जनमेजय—चुप रहो। तुम्हें लज्जा नहीं आती! ब्राह्मण होकर ऐसा गर्हित कार्य! शत्रु से मिलकर महिषी को छिपा देना! ये सब मुझे लज्जित करने के उपाय हैं। मैं अवश्य इसका प्रतिशोध लूँगा। क्रोध से मेरा हृदय जल रहा है। इसी अनलकुण्ड में तुम सबकी आहुति होगी!

सोमश्रवा—राजन्, सुबुद्धि से सहायता लो। प्रमत्त न बनो। हो सकता है कि पदच्युत काश्यप का इसमें कुछ हाथ हो, किन्तु समस्त ब्राह्मणों को क्यों इसमें मिलाते हो?

जनमेजय—तुम लोगों को इसका प्रतिफल भोगना होगा। यह क्षात्र रक्त उबल रहा है। उपयुक्त दण्ड तो यही है कि तुम सबको इसी यज्ञकुण्ड में जला दूँ। किन्तु नहीं, मैं तुम लोगों को दूसरा दण्ड देता हूँ। जाओ, तुम लोग मेरा देश छोड़कर चले जाओ। आज से कोई क्षत्रिय अश्वमेध आदि यज्ञ नहीं करेगा। तुम सरीखे पुरोहितों की अब इस देश में आवश्यकता नहीं। जाओ, तुम सब निर्वासित हो।

सोमश्रवा—अच्छी बात है, तो जाता हूँ राजन्!

जनमेजय—हाँ हाँ। जाना ही पड़ेगा। सबको निकल जाना पड़ेगा। परन्तु उत्तंक तुम्हारा एक काम अवशिष्ट है।

उत्तंक —वह क्या ?

जनमेजय—स्मरण है, किसने मुझे इस कार्य के लिए उत्तेजित किया था ?

उत्तंक—मैंने।

जनमेजय—उस दिन हमने कहा था कि, 'अश्वमेध पीछे होगा, पहले नाग-यज्ञ होगा।' सम्भव है कि उस समय वह केवल एक साधारण-सी बात रही हो। परन्तु आज वही काम होगा।

उत्तंक—राजन्, वह तो हो चुका है। तक्षशिला-विजय में कितने ही नाग जलाये जा चुके हैं।

जनमेजय - परन्तु हवनकुण्ड में नही ! अश्वमेध की विधि चाहे जिसकी कही हो, नागयज्ञ आज सचमुच होगा, और वह भी मेरी बनायी हुई विधि से। सोमश्रवा से पूछो कि वे इसके आचार्य होंगे या नही।

सोमश्रवा - जब सब ब्राह्मण निर्वासित हैं, तब मैं ही क्यों यहाँ रहूँगा ! और शास्त्र के विरुद्ध कोई नया नियम बनाने की मुझमें सामर्थ्य नही है। नर-बलि का यह घा क कार्य मुझसे न हो सकेगा।

उत्तंक—सोमश्रवा, बलि से आज हिचकते हो ?

जनमेजय—तक्षक ने आज तक इस राजकुल के साथ जितने दुर्व्यवहार किये हैं, उनका स्मरण होगा, मन्त्री और उसके सामने उसके कुटुम्ब की आहुतियाँ होंगी।

उत्तंक —और पूर्णाहुति में तक्षक।

जनमेजय —ठीक है ब्रह्मचारी।

शीला—बहन मणिमाला, मैं तुम्हारे साथ हूँ। यदि तुम्हे जलावेंगे, तो मैं भी तुम्हारे साथ जलूँगी।

सोमश्रवा—अच्छा होगा। ब्राह्मण निर्वासित और ब्राह्मणी की आहुति ! सम्राट् ! विचार से काम कीजिये। ऐसा नही कि दण्डनीय के साथ निरपराध भी पिस जाएँ।

जनमेजय—उत्तंक कुछ मत सुनो ! घृत डालकर वह्नि प्रज्वलित करो। **(अनुचरों से)** एक-एक करके नागों को इसी मे डालो। आज मैं क्षत्रियों के उपयुक्त ऐसा यज्ञ करूँगा, जैसा आज तक किसी ने न किया होगा और न कोई कर सकेगा। इस नाग-यज्ञ से अश्वमेधों का अन्त होगा। विलम्ब न करो। जिसको जाना हो, चला जाय।

[उत्तंक अग्नि में घी डालता है, अनुचर नागों को लेकर उसमें डालते हैं, क्रन्दन और हाहाकार होता है]

तक्षक—क्षत्रिय-सम्राट् ! क्रूरता में तुम किसी से कम नही हो।

जनमेजय—यही तो मैं तुमसे कहलाना चाहता था। अब तुम्हारी बारी है।

[वेद और दामिनी का प्रवेश]

वेद—आयुष्मन् उत्तंक !

उत्तंक—गुरुदेव, प्रणाम।

वेद—उत्तंक उत्तेजित होकर प्रतिक्रिया करने की भी कोई सीमा होती है।

उत्तंक—भगवन्, यह तो मेरा कर्त्तव्य है। कृपया इसमें बाधा न दीजिये।

दामिनी—उत्तंक ! हृदय के अतिवाद मे वशीभूत होने का मुझ से बढ़कर और कोई उदाहरण न मिलेगा। तुम कुछ मस्तिष्क से काम लो।

उत्तंक—तुम मेरी गुरुपत्नी ! आश्चर्य !

दामिनी—उत्तंक, मैं क्षमा चाहती हूँ। आर्यपुत्र ने मुझे क्षमा कर दिया है। तुम भी अब पिछली बाते भूल जाओ और क्षमा कर दो।

उत्तंक—गुरुदेव समर्थ है, पर मुझमें हृदय है।

दामिनी—हृदय है ! तब तो तुम उसकी दुर्बलता से और भी भलीभाँति परिचित होगे !

उत्तंक—समझ गया ! यह मेरा दम्भ था। मैं भी क्या स्वप्न देख रहा था। **(बैठ जाता है)**

जनमेजय—**(अनुचरों से)** इन अभिनयों से काम न चलेगा। जलाओ दुष्ट तक्षक को।

[अनुचर तक्षक, वासुकि आदि को जलाना चाहते हैं, इतने में व्यास के साथ सरमा, मनसा, माणवक और आस्तीक का प्रवेश]

व्यास—ठहरो ! ठहरो !

जनमेजय—भगवन्, यह पारीक्षित जनमेजय आपके चरणो में प्रणाम करता है।

आस्तीक—मेरा प्रतिफल ! मेरा न्याय !

जनमेजय—तुम कौन हो ?

आस्तीक—जिस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए तुमने अश्वमेध किया है, मैं उसी ब्रह्महत्या की क्षतिपूर्ति चाहता हूं। मैं उन्ही जरत्कारु ऋषि का पुत्र हूँ, जिनकी तुमने बाण चलाकर हत्या की थी।

जनमेजय—आश्चर्य ! कुमार ! तुम्हारा मुख-मण्डल तो बड़ा सरल है, फिर भी वह क्या कह रहा है ! मैं किस लोक मे हूं !

व्यास—सम्राट्, तुम्हें न्याय करना होगा। यह बालक अपने पिता की हत्या की क्षतिपूर्ति चाहता है। आर्य न्यायाधिकरण के समक्ष यह बालक तुम पर अभियोग न लगाकर केवल क्षतिपूर्ति चाहता है। क्या तुम इसे भी अस्वीकृत करोगे ?

जनमेजय—मुझे स्वीकार है भगवन् ! आस्तीक, तुम क्या चाहते हो ? क्या मैं अपना रक्त तुम्हें दूँ ?

आस्तीक—नहीं, मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिये। सम्राट्, शान्ति की घोषणा करके बन्दी नागराज को छोड़ दीजिये। यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल होगा।

जनमेजय—(सिर घुमाकर) अच्छी बात है, वही हो। छोड़ दो तक्षक को।

व्यास—धन्य है क्षमाशील ब्रह्मवीर्य ! ऋषिकुमार, तुम्हारे पिता धन्य हैं।

[लोग तक्षक को छोड़ देते हैं, वासुकि से सरमा का मिलन]

सरमा—महाराज, मेरा भी एक विचार है। आप उसका न्याय कीजिये।

जनमेजय—कौन ? यादवी सरमा !

सरमा—हाँ, मैं ही हूँ सम्राट् !

जनमेजय—तुम्हारे लड़के को मेरे भाइयों ने पीटा था ? तुम क्या चाहती हो ?

सरमा—जब आप स्वीकार करते हैं, तब मुझे कुछ न चाहिये। आर्य सम्राट् मुझे केवल एक वस्तु दीजिये, और परिवर्तन मे मुझसे कुछ लीजिये भी।

जनमेजय—क्या प्रतिदान ?

सरमा—हाँ, सम्राट् !

जनमेजय—वह क्या ?

सरमा—इस नागबाला मणिमाला को आप अपनी वधू बनाइये।

[जनमेजय सिर नीचा कर लेता है]

व्यास—किन्तु सरमा, यह तुम अनधिकार चर्चा करती हो। पहले वपुष्टमा को बुलाओ, वे स्वीकृति दें।

सरमा—यही हो। (जाकर वपुष्टमा को ले आती है)

वपुष्टमा—आर्यपुत्र की जय हो ?

जनमेजय—षड्यन्त्र ! यह कभी न होगा ! धर्षिता स्त्री कौन ग्रहण करेगा !

व्यास—सम्राट्, तुम्हीं करोगे ! जब पुरुषों ने स्त्रियों की रक्षा का भार लिया है, और उनको केवल अपनी सीमा में स्वतन्त्रता मिली है, तब यदि उनकी अरक्षित अवस्था में उन पर अत्याचार होगा, तो उसका अपराध उनके रक्षकों के सिर पर होगा। क्या अबला होने के कारण यही सब ओर से अपराधिनी है ? नहीं, मैं कह सकता हूँ कि यह पवित्र है, कमल-वन से निकले हुए प्रभात के मलय-पवन के समान शुद्ध है। इसे स्वीकार करना होगा। वपुष्टमा, आगे बढ़ो।

वपुष्टमा—नाथ ! दासी श्रीचरणों की शपथ करके कहती है कि यह पवित्र है। (पैर पकड़ती है)

जनमेजय—**(व्यास की ओर देखकर)** उठो महिषी, उठो। **(उठाता है)**

वपुष्टमा—आर्यपुत्र ! सरमा देवी की बात माननी ही पड़ेगी। आओ बहन मणिमाला !

सरमा—मणिमाला, तुम सौभाग्यवती हो। इस अवसर पर तुम्हीं प्रेम-शृंखला बनकर इन दोनों क्रुद्ध जातियों को प्रेम-सूत्र मे बाँध दो।

शीला—बहन मणि ! आज मेरी वह भविष्यवाणी सफल हुई। भला कौन जानता था कि तपोवन मे अंकुरित, केवल एक दृष्टि मे वर्द्धित तथा पल्लवित क्षुद्र प्रेमांकुर एक दिन इतना महान् फल देगा !

[रानी मणिमाला के हाथ बन्धन-मुक्त करके जनमेजय को पकड़ा देती है]

वपुष्टमा—यह निर्मल कुसुम तुम्हारे समस्त सन्ताप का हरण करके मस्तक को शीतल करे। **(मणिमाला लज्जित होती है)**

मनसा—आर्य सम्राट् ! मेरा समस्त विद्वेष तिरोहित हो गया। मै चाहती हूँ आज से नाग-जाति विद्वेष भूल कर आर्यो से मित्र-भाव का व्यवहार करे, और आर्यगण भी उन्हे अनार्य और अपने से बहुत दूर न माने। मैं आस्तीक के नाम पर प्रतिज्ञा करती हूँ कि आज से कोई नाग कभी आर्यो के प्रति विद्रोह का आचरण न करेगा।

व्यास—जब राजकुल ही सम्बन्ध-सूत्र मे बँध गया, तब भिन्नता कैसी ! इस प्रचण्ड वीर जाति के क्षत्रिय होने मे क्या सन्देह है !

जनमेजय—ऐसा ही होगा।

सब—जय, नागमाता की जय !

व्यास—ब्रह्ममण्डली, तुम भी पुरानी बातो को विस्मृत करके अपने सम्राट् को क्षमा करो !

जनमेजय—भगवन् ! मेरा अपराध क्या है, यह तो मुझे विदित हो जाय।

व्यास—इस षड्यन्त्र का मूल काश्यप उपयुक्त दण्ड पा चुका। यज्ञशाला के विप्लव में से भागते समय किसी नाग ने उसकी हत्या कर डाली। सम्राट्, इन ब्राह्मणों ने तुम्हारा कोई अपराध नही किया है। इनकी क्षमाशीलता तो देखो ! तुमने अकारण इन्हे निर्वासन की आज्ञा दी, पर फिर भी इन्होने शाप तक न दिया। तपस्वी ब्राह्मणों, तुम लोग धन्य हो ! तुमने ब्राह्मणत्व का बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिखलाया है।

जनमेजय—भगवान् की जैसी आज्ञा **(सब ब्राह्मणों से)** आप लोग मुझे क्षमा कीजिये।

शौनक—सम्राट्, तुम सदैव क्षम्य हो, क्योंकि तुम्हारे सुशासन से हम आरण्यक लोग शान्तिपूर्वक अपना स्वाध्याय करते है। क्या तुम्हारा एक भी अपराध हम सहन

नहीं कर सकते ? सहनशील होना ही तो, तपोधन और उत्तम ब्राह्मण का लक्षण है। किन्तु मानूंगा, व्यासदेव, तुम्हारी ज्ञान-गरिमा को, तुम्हारी वृत्ति को, तुम्हारी शान्ति को मानूंगा। आज तक अवश्य कुछ ब्राह्मण तुम्हे दूसरी दृष्टि से देखते थे, किन्तु नही, तुम सर्वथा स्तुत्य और वन्दनीय हो। तुम्हारा अगाध पाण्डित्य ब्राह्मणत्व के ही योग्य है।

व्यास—सम्राट्, तुमने मुझसे एक दिन पूछा था कि क्या भविष्य है। देखा नियति का चक्र ! यह ब्रह्मचक्र आप ही अपना कार्य करता रहता है। मैंने कहा था कि यज्ञ मे विघ्न होगा। फिर भी तुमने यज्ञ किया ही। किन्तु जानते हो, यह मानवता के साथ ही साथ धर्म का भी क्रम-विकास है। यज्ञो का कार्य हो चुका। बालक सृष्टि खेल कर चुकी। अब परिवर्तन के लिए यह काण्ड उपस्थित हुआ है। अब सृष्टि को धर्म-कार्यों मे विडम्बना की आवश्यकता नही। सरस्वती और यमुना के तट पर शुद्ध और सत्य के समीप ले जानेवाले उपनिषद् और आरण्यक संवाद हो रहे है। इन्ही महात्मा ब्राह्मणो की विशुद्ध ज्ञान-धारा से यह पृथ्वी अनन्त काल तक सिञ्चित होगी, लोगो को परमात्मा की उपलब्धि होगी, लोक मे कल्याण और शान्ति का प्रचार होगा। सब लोग सुखपूर्वक रहेगे।

सब—भगवन् की वाणी सत्य हो।

व्यास—विश्वात्मा का उत्थान हो। प्रत्येक हृत्तन्त्री मे पवित्र पुण्य के सामगान की मीडे लहरा उठे।

[नेपथ्य में गान]

जय हो उसकी, जिसने अपना विश्व-रूप विस्तार किया।
आकर्षण का प्रेम नाम से सब में सरल प्रचार किया॥
जल, थल, नभ का कुहक बन गया जो अपनी ही लीला से।
प्रेमानन्द पूर्ण गोलक को निराधार आधार दिया॥
हम सब मे जो खेल कर रहा अति सुन्दर परछाईं-सा।
आप छिप गया आकर हममे, फिर हमको आकार दिया॥
पूर्णानुभव कराता है जो 'अहमिति' से निज सत्ता का।
'तू मैं ही हूँ' इस चेतन का प्रणव मध्य गुजार किया॥

[यवनिका]

कामना

•

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखम् ।

—ईशोपनिषत्

नैव राज्यं न राजासीन्नच दंडो न दांडिक: ।
धर्म्मेणैव प्रजा: सर्वा: रक्षन्तिस्मपरस्परम ।।
पाल्यमानास्तथाऽन्योन्यं नरा धर्मेण भारत ।
दैन्यं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ।।

—महाभारत

कामना में फूलों के उस द्वीप की कथा है जहाँ के निवासी—'यथा लाभ सन्तुष्ट'—'तारा की सन्तान' हैं। सौमनस्य और सहकारिता उनके जीवन दर्शन के मन-प्राण हैं : और, आवश्यकताओं मे कृत्रिम-वृद्धि से 'तारा सन्तान' अभावों का सृजन नहीं करते। अर्थमूल संस्कृति के संक्रमण से वहाँ वे क्लेश प्रस्तुत होने लगे जिनका हेतु 'उस चमकीली वस्तु' में निहित रहता है जिसे स्वर्ण कहते हैं। पूज्य पिताश्री ने ईशोपनिषद् और महाभारत से जो उद्धरण ऊपर दिए है वे इस प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। कामना लिखने के बाद उन्होंने वह अँगूठी भी उतार दी जिस पर पितामह का मानिक रहने से कुछ ममत्व था : और, ताई जी से कहा 'भाभी यह पृथ्वी का सुन्दर पाप नहीं रखूँगा'। आज के विकृत सामाजिक आचरणों का वह चित्र भी कामना में है—जो स्पष्ट होता जा रहा है।

पृथ्वी पर मनुष्य के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में वैज्ञानिक अन्वेषणों के प्रयास जारी है। ऐसी अनुसन्धान प्रक्रिया की एक उपलब्धि यह भी सम्मुख आई है कि आकाश के किसी ज्योतिष्क और संभवतया शुक्र से जीव-नीहार की हुई वृष्टि से पृथ्वी पर प्राणि-समुदाय उद्भूत हुआ है। सुतरां कामना की 'तारा सन्तान'-कल्पना कुछ वायवीय नही।

भावों के प्रतीकांकन और मानवीकरण का आदिस्रोत श्रुतियों में निहित है। इस सन्दर्भ मे कामना एक ऐसा सेतुपथ है जिसके दूसरी छोर पर कामायनी है। कामना मे भावों ने कार्य शरीर पाया और कामायनी मे कारण शरीर।

परवर्त्ती संस्कृत साहित्य में भी इस विधा की दो महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं—बारहवी शती का कृष्णमिश्र कृत प्रबोधचन्द्रोदय और सोलहवी शती का वेदान्तदेशिकाचार्य द्वारा रचित संकल्पसूर्योदय: किन्तु, प्रबोधचन्द्रोदय पर शाकर अद्वैत की छाप है और संकल्पसूर्योदय रामानुजीय परम्परा की वस्तु है। अत:, उनमे निरपेक्ष साहित्यिक-न्याय अन्वेष्य है। द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर कृत उन्नीसवी शती का स्वप्नप्रयाण भी उल्लेख्य है।

यह विधा मानवी चेतना के विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसलिए केवल भारत की ही नही प्रत्युत पश्चिम की कृतिया भी उल्लेख्य है। बारहवी शती मे ही शेख फरीदुद्दीन अत्तार ने मंतिकुत्तयीर लिखा और सोलहवी शती का बनियन कृत पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस है। पृथ्वी पर मानवोत्पत्ति और विकास के लिए अवलोक्य है—

—Secret Doctrine, Book of Dzyan, History of Creation, Story of Lemnria and Lost Atlantis, Native Races, Man's Place in Universe इत्यादि।

—सम्पादक

पात्र

कामना

लीला

लालसा

करुणा

प्रमदा

वनलक्ष्मी

महत्त्वाकांक्षा

●

सन्तोष

विनोद

विलास

विवेक

शांतिदेव

दम्भ

दुर्वृत्त

क्रूर

वृद्ध, युवा, बालक, नागरिक, सैनिक, आगन्तुक, द्वीपवासी, शिकारी, बन्दी माता, बालिका, स्त्रियाँ आदि ।

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

[फूलों का द्वीप, समुद्र का किनारा,
वृक्ष की छाया में लेटी हुई कामना]

कामना—उषा के अपांग मे जागरण की लाली है। दक्षिण-पवन शुभ्र मेघमाला का अञ्चल हटाने लगा। पृथ्वी के प्रांगण में प्रभात टहल रहा है। विशाल जल-राशि के शीतल अंक से लिपटकर आया हुआ पवन इस द्वीप के निवासियों को कोई दूसरा सन्देश नही, केवल शान्ति का निरन्तर संगीत सुनाया करता है। सन्तोष ' हृदय के समीप होने पर भी दूर है, सुन्दर है, केवल आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है। परन्तु अकर्मण्य सन्तोष से मेरी पटेगी ? नही ! इस समुद्र में इतना हाहाकार क्यों है ? उँह, ये कोमल पत्ते तो बहुत शीघ्र तितर-बितर हो जाते है। (बिछे हुये पत्तों को बैठकर ठीक करती है) यह लो, इन डालों से छनकर आयी हुई किरणें इस समय ठीक मेरी आँखो पर पडेगी। अब दूसरा स्थान ठीक करूँ, बिछावन छाया मे करूँ। (पत्तों को दूसरी ओर बटोरती है) घड़ी-भर चैन से बैठने मे भी झझट है।

[दो-चार फूल वृक्ष से चू पड़ते हैं—व्यग्र होकर वृक्ष की ओर सरोष देखने लगती है तीन स्त्रियों का कलसी लिये हुए प्रवेश]

पहली—क्यो बिगड रही हो कामना ?

दूसरी—किस पर क्रोध है कामना ?

तीसरी—कितनी देर से यहाँ हो कामना ?

कामना—(स्वगत) क्यो उत्तर दूँ ? सिर खाने के लिए यहाँ भी सब पहुँची !

[मुँह फिरा लेती है और बोलती नहीं]

पहली—क्यो कामना, क्या स्वस्थ नही हो ?

दूसरी—आह ! वेचारी कुम्हला गयी है !

तीसरी—धूप मे क्यो देर से बैठी है। च।—

कामना—मै नही चाहती कि तुम लोग मुझे तंग करो। मैं अभी यही ठहरूँगी।

दूसरी—प्यारी कामना, तू क्यो नही घर चलती ?

तीसरी—प्यारी कामना, तू क्यों नहीं घर चलती ?

पहली—काम जो करना होगा ! **(सँभल कर)** अच्छा कामना, जब तक तेरा मन ठीक नहीं है, तेरा काम मैं कर दिया करूँगी।

दूसरी—तेरी कपास मैं ओट दिया करूँगी।

तीसरी—सूत मैं कात दिया करूँगी।

पहली—बुनना और पीने का जल भरना इत्यादि मैं कर दूंगी। तू अपना मन स्वस्थ कर चित्त को चैन दे। कामना तेरी-सी लड़की तो इस द्वीप-भर में कोई नहीं है।

कामना—क्या मैं रोगी हूँ जो तुम लोग ऐसा कह रही हो ? मैं किसी का उपकार नहीं चाहती। तुम सब जाओ, मैं थोड़ी देर में आती हूँ।

[तीनों जाती हैं, कामना उठकर टहलती है]

कामना—ये मुरझाये हुए फूल, उँह—कलियाँ चुनो उन्हें गूँथो और सजाओ, तब कहीं पहनो। लो, इन्हें रूठने में भी देर नहीं लगती जब देखो, सिर झुका लेते हैं, सुगन्ध और रुचि के बदले इनमें से एक दबी हुई गर्म साँस निकलने लगती है। **(हार तोड़ कर फेंकती हुई और कुछ कहना चाहती है, दो पुरुषों को आते देख चुप हो जाती है, वृक्ष की ओट में चली जाती है, एक हल और दूसरा फावड़ा लिए आता है)**

सन्तोष—भाई, आज धूप मालूम भी नहीं हुई।

विनोद—हमें तो प्यास लग रही है। अभी तो दिन भी नहीं चढ़ा।

सन्तोष—थोड़ी देर छाँह में बैठ जाय—बातें करें।

विनोद—काम तो हम लोगों का हो चुका, अब करना ही क्या है ?

सन्तोष—अभी देव परिवार के लिए जो नयी भूमि तोड़ी जा रही है, उसमें सहायता के लिए चलना होगा।

विनोद—अपने खेतों में बहुत अच्छी उन्नति है। अन्न बहुत बच रहेगा ! उन लोगों को आवश्यकता होगी; तो दूँगा।

सन्तोष—अरे, साल में बहुत सार्वजनिक काम आ पड़ते हैं, तो उनके लिये संग्रहालय में भी तो रखना चाहिये।

विनोद—हाँ जी, ठीक कहा। **(समुद्र की ओर देखता है)**

सन्तोष—क्यों जी, इसके उस पार क्या है ?

विनोद—यही नहीं समझ में आता कि वह पार है या नहीं।

सन्तोष—ओह ! जहाँ तक देखता हूँ, अखण्ड जलराशि।

विनोद—क्यों कभी इसमें चलकर देखने की इच्छा होती है ?

सन्तोष—इच्छा तो होती है, पर लौटकर न आने के संदेह से साहस नहीं होता। ये हरे-भरे खेत, छोटी पहाड़ियों से ढुलकाते—मचलते हुए झरने, फूलों से लदे वृक्षों की पंक्ति, भोली गउओं और उनके प्यारे बच्चों के झुण्ड; इस बीहड़, पागल और कुछ न समझने वाले उन्मत्त समुद्र में कहाँ मिलेंगे। ऐसी धवल धूप, ऐसी तारों से जगमगाती रात वहाँ होगी ?

विनोद—मुझे तो विश्वास है कि कदापि न होगी।

सन्तोष—तब जाने दो, उसकी चर्चा व्यर्थ है। क्यों जी, आज उपासना में वह कामना दिखाई पड़ी।

विनोद—क्या तुम उससे ब्याह किया चाहते हो ?

सन्तोष—उसकी बातें, उसकी भाव-भंगिमा कुछ समझ मे नही आती। मै तो उससे अलग रहना चाहता हूँ।

विनोद—मेरी गृहस्थी तो ब्याह के बिना अधूरी जान पड़ती है। मैं तो लीला की सरलता पर प्रसन्न हूँ।

सन्तोष—तुम जानो। अच्छा होता यदि तुम उसी से ब्याह कर लेते ?

विनोद—तुम—तुम !

सन्तोष—मैं सन्तुष्ट हूँ—मुझे ब्याह की आवश्यकता नही।

विनोद—अच्छी बात है। चलो, अब घर चलें।

[दोनों जाते हैं, कामना आती है]

कामना—हाँ, तुम हिचकते हो, और मै तुमसे घृणा **(जीभ दबाती है)**—है यह क्या ? इसके क्या अर्थ ? मै क्या इस देश की नही हूँ। क्या मुझमे कोई दूसरी शक्ति है, जो मुझे इनसे भिन्न रखना चाहती है। कुछ मै ही नही, ये लोग भी तो मुझको इसी दृष्टि से देखते है।

[लीला का प्रवेश]

लीला—बहन, क्या अभी घर न चलोगी ?

कामना—तू भी आ गयी ?

लीला—क्यों न आती ?

कामना—आती, पर मुझ से यह प्रश्न क्यो करती है ?

लीला—बहन, तू कैसी होती जा रही है। तेरा चरखा चुपचाप मन मारे बैठा है। तेरी कलसी खाली पड़ी है। तेरा बुना हुआ कपड़ा अधूरा पडा है। तेरी—

कामना—मेरा कुछ नही है, तू जा। मै चुप रहना चाहती हूँ, मेरा हृदय रिक्त है। मै अपूर्ण हूँ।

लीला—बहन, मैंने कुछ नहीं समझा।

कामना—तू कुछ न समझ, बस, केवल चली जा।

[लीला सिर झुकाकर चली जाती है]

—मैं क्या चाहती हूँ ? जो कुछ प्राप्त है, इससे भी महान। वह चाहे कोई वस्तु हो। हृदय को कोई करो रहा है। कुछ आकांक्षा है; पर क्या है ? इसका किसी को विवरण नही देना चाहती। केवल वह पूर्ण हो, और वहाँ तक, जहाँ तक कि उसकी सीमा हो। बस—

[दूर पर वंशी की ध्वनि, कामना इधर-उधर चौंककर देखने लगती है, समुद्र में एक छोटी-सी नाव आती दिखायी पड़ती है, एक युवक बैठा डांड़ चला रहा है, कामना आश्चर्य से देखती है, नाव तीर पर आकर लगती है]

—है, यह कौन ! मैं क्यों झुकी जा रही हूँ ? और, सिर पर इसके क्या चमक रहा है, जो इसे बड़ा प्रभावशाली बनाये है। इसका व्यक्तित्व ऐसा है कि मैं इसके सामने अपने को तुच्छ बना दूँ, और अपने को समर्पित कर दूँ।

[कुछ सोचती है, युवक स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ बाँसुरी बजाता है, कामना उठती है और फूल इकट्ठे करती हैं, अकस्मात् उसके ऊपर बिखेर देती है, युवक पैर उठाता है कि नीचे उतरे, कामना उसका हाथ पकड़ कर नीचे ले आती है, युवक अपना स्वर्ण-पट्ट खोलकर युवती कामना के सिर पर बाँधता है, और दोनों एक दूसरे को देखते हैं]

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

[वृक्ष-कुंज में एक परिवार बैठा बातचीत कर रहा है]

बालिका—माँ, कोई कहानी सुना।

बालक—नहीं माँ, तू बहन से कह दे, वह मेरे साथ दौड़े।

माता—थोड़ा-सा बुनना और है। कहानी भी सुनाऊँगी, और आज तुझे दौड़ाऊँगी भी। आज तूने कम खाया; क्या भूख नहीं थी !

बालिका—माँ, आज यह दौड़ न सका, इसी से—

माता—तो तूने इसे क्यों नही खेल खिलाया ?

बालक—माँ, आज वहाँ लड़कों में कामना नहीं आयी। इससे बहुत कम खेल-कूद हुआ।

[एक स्त्री का प्रवेश]

स्त्री—अजी कहाँ हो बहन ! कुछ सुना !

माता—क्यों बहन, क्या है ? आओ, बैठो। •

स्त्री—अरे आज तो एक नयी बात हुई है।

माता—क्या ?

स्त्री—समुद्र के उस पार से एक युवक आया है।

माता—सपना तो नहीं देख रही है।

स्त्री—क्या ! मैं अभी देखती आ रही हूँ।

माता—कहाँ है। वह कहाँ बैठा है ?

स्त्री—कामना के घर में। उसी के साथ तो वह द्वीप में आया है।

माता—वह उसे क्यों ले आयी ? क्या किसी ने रोका नहीं ? उपासना-मन्दिर से क्या आदेश मिला कि वह नवीन मनुष्य इस देश मे पैर रखने का अधिकारी हुआ, क्योंकि यह एक नयी घटना है।

स्त्री—आज-कल तो उपासना का नेतृत्व उसी कामना के हाथ में है, तब दूसरा कौन आदेश देगा ?

बालक - वह कैसा है माँ ?

बालिका—क्या हमी लोगों के जैसा है ?

स्त्री—और तो सब कुछ हमी लोगों का-सा है। केवल एक चमकीली वस्तु उसके सिर पर थी। कामना कहती है, अब उसने वह मुझे दे दी है। उसे सिर में बाँधकर कामना बड़ी इठलाती हुई सबसे बातें कर रही है।

[एक किशोरी बालिका का प्रवेश]

किशोरी—सब लोग चलो, आगन्तुक के लिए एक घर की आवश्यकता है। कामना ने सहायता के लिये बुलाया है।

[सब जाते हैं, लीला और सन्तोष का प्रवेश]

लीला—हाँ प्रियतम ! इस पूर्णिमा को हम लोग एक हो जायँगे।

सन्तोष—परन्तु तुम्हारी सखी तो—

लीला—अरे सुना है, उसने भी वरण किया है।

सन्तोष—किसे ? वह तो इससे अलग रहना चाहती है !

लीला—कोई समुद्र-पार से आया है।

सन्तोष—हाँ, आने का समाचार तो मैंने भी सुना है; पर उस नवागंतुक से क्या इस देश की कुमारी ब्याह करेगी ?

लीला—क्यों, क्या ऐसा नहीं हो सकता ?

सन्तोष—अभी तक तो नहीं सुना; क्या किसी पुरानी कहानी में तुमने ऐसा सुना है ?

लीला—परन्तु कोई आया भी तो नही था।

सन्तोष—यह तो ठीक नही है। सुना है, उसका नाम विलास है।

लीला—ठीक तो नहीं है; पर होगा यही।

सन्तोष—यदि विरोध हुआ, तो तुम क्या करोगी ?

लीला—मेरी सखी है। आज तक तो इस द्वीप में विरोध कभी नही हुआ !

सन्तोष—तो मैं विचार करूँगा। तुम्हारे पथ पर मैं चल सकूँगा ?

लीला—(आश्चर्य से) क्या इसमें भी सन्देह है ?

सन्तोष—हाँ लीला।

लीला—नही-नही, ऐसा न कहो—

[दोनों जाते हैं]

दृ श्या न्त र

तृतीय दृश्य

[कुञ्जवन में कामना के साथ बैठा हुआ विलास]

कामना—प्रिय, अब तो तुम हम लोगों की बातें अच्छी तरह समझने लगे। जो लोग मिलने आते है, उनसे बातें भी कर लेते हो।

विलास—हाँ, अब तो कोई बाधा नही होती प्रिये ! तुम लोग कुछ गाती नही हो क्या ?

कामना—गाती क्यों नही है, पर तुम्हें हमारे गाने अच्छे लगेगे ?

विलास—क्यों नही, सुनूँ तो।

[कामना गाती है और विलास बाँसुरी बजाता है]

सघन वन-वल्लरियों के नीचे
उषा और सन्ध्या-किरनों ने तार बीन के खींचे
हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे
स्फुट हो उठी मूक कविता फिर कितनों ने दृग मीचे
स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नही उलीचे
मानस-तरी भरी करुना-जल होती ऊपर-नीचे

विलास—कामना ! कामना ! तुम लोगों का ऐसा मधुर गान है ! मैंने तो ऐसा गान कभी नहीं सुना !

कामना—(आश्चर्य से) क्या ऐसा गान कही नही होता ?

विलास—इस लोक मे तो नही।

कामना—तब तो बडी अच्छी बात हुई।

विलास—क्या ?

कामना—मैं नित्य सुनाया करूँगी।

विलास—क्यो प्रिये, तुम्हारे देश के लोग मुझसे अप्रसन्न तो नही है ? क्या—

कामना—इसमे अप्रसन्न होने की तो कोई बात नही है। यह तो इस द्वीप का नियम है कि प्रत्येक स्त्री पुरुष स्वतत्रता से जीवन-भर के लिए अपना साथी चुन ले।

विलास—क्या तुम्हे किसी का डर नही है ?

कामना—(अल्हड़पन से) डर ! डर क्या है ?

विलास—क्या तुम्हारे ऊपर किसी की आज्ञा नही है ?

कामना—हाँ है, नियमो की। वह तुम्हारे लिए टूट नही रहा है। और, इस इस समय तो मैं ही इस द्वीप-भर की उपासना का नेतृत्व कर रही हूँ। मेरे लिए कुछ विशेष स्वतन्त्रता है।

विलास—क्या ऐसा सदैव रहेगा ?

कामना—(चौककर) क्या मेरे जीवन-भर ? नही ऐसा तो नही है, और न हो सकता है।

विलास—(गम्भीरता से) क्यो नही हो सकता ? मेरे देश मे तो बराबर होता है।

कामना—(प्रसन्न घबराहट से) तो क्या मेरे लिये यहाँ भी वह सम्भव है ?

विलास—उद्योग करने से होगा।

कामना—चलो, उस शिलाखण्ड पर अच्छी छाया है, वही बैठे।

[हाथ पकड़ कर उठाती है, दोनों वहीं जाकर बैठते है]

विलास—कामना, तुम लोगो की कोई कहानी है ?

कामना—है क्यो नही !

विलास—कुछ सुनाओ। इस द्वीप की कथा मैं सुनना चाहता हूँ।

कामना—(आकाश की ओर दिखाकर) हम लोग बडी दूर से आये है। जब विलोडित जलराशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी समय हम लोग शीतल तारिकाओ की किरणो की डोरी के सहारे नीचे उतारे गये[1]। इस द्वीप में अब तक तारा की ही सन्ताने बसती है।

---

१. अवलोक्य. दीघनिकाय अग्गञ्ञसुत, इत्यादि।

विलास—क्यों यह जाति उतारी गयी ?

कामना—वहाँ चुपचाप बैठने से यह सन्तुष्ट नहीं थी। पिता ने खेल के लिये यहाँ भेज दिया। इन तारा की सन्तानों का खेल एक बड़े छिद्र से पिता देखा करते हैं।

विलास—कौन सा छिद्र ?

कामना—वही, जिससे दिन हो जाता है। पिता का असीम प्रकाश उससे दिखायी पड़ता है, क्योंकि वह केवल आलोक हैं ! वही रात को झंझरीदार परदा खीच लेता हैं, तब कहीं-कहीं से तारे चमकते हैं। यह सब उसी लोक का प्रकाश हैं।

विलास—अच्छा, तो वहाँ जाते कैसे हैं ?

कामना--पिता की आज्ञा से कभी छोटी, कभी बड़ी एक राह खुलती है, और किसी दिन विलकुल नही, उसे चन्द्रमा कहते हैं। अपने शीतल पथ से थकी हुई तारा की संतान अपने खेल समाप्त कर उसी से चली जाती है।

विलास--**(आश्चर्य से)** भला तारों की राह से क्यों भेजे जाते है ?

कामना—यह खिलवाड़ी और मचलने वाली सन्तान थका देने के लिये भेजी जाती है। हमारे अत्यन्त प्राचीन आदेशों मे तो यही मिलता है, ऐसा ही हम लोग जानते है।

[दूर एक बड़ा सुरीला पक्षी बोलता है, कामना घुटने टेक कर सिर झुका लेती और चुपचाप उसका शब्द सुनती है]

विलास—कामना ! यह क्या कर रही हो ?

कामना—**(उठकर)** पिता का संदेश सुन रही थी। मैं उपासना-गृह में जाती हूँ। क्योंकि कोई नवीन घटना होने वाली है। तुम चाहे ठहरकर आना।

(चली जाती है)

विलास—आश्चर्य ! कैसी प्रकृति से मिली हुई यह जाति है ! महत्त्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं है। जैसे शैल-निवासिनी सरिता पथ के विषम ढोकों को, विघ्न-बाधाओं को भी अपने सम और सरल प्रवाह तथा तरल गति मे ढँकती हुई वहती रहती है, उसी प्रकार यह जाति, जीवन की वक्र रेखाओं को सीधी करती हुई, अस्तित्व का उपभोग हँसती हुई कर लेती हैं। परन्तु ऐसे—**(चुप होकर सोचने लगता है)** उहूँ, करना होगा। ऐसी सीधी जाति पर भी यदि शासन न किया, तो पुरुषार्थ ही क्या ? इनमें प्रभाव फैलाकर अपने व्यक्तिगत महत्ता के प्रलोभन वाले विचारों का प्रचार करना होगा। जान पड़ता है कि किसी गुप्त संकेत पर ये लोग प्राचीन प्रथा के अनुसार, केवल उपासना के लिए किसी के नेतृत्व का अनुसरण करते हैं। सम्भवत: जब तक लोग उसकी कोई अयोग्यता न देख लेंगे, तब तक उसी को नेता मानते रहेंगे। भाग्य से आज-कल कामना ही है;

परन्तु मेरे कारण शीघ्र इसको अपने पद से हटना होगा। तो, जब तक कामना इस पद पर है, उसी बीच में अपना काम कर लेना होगा।

[दूर पर एक स्त्री की छाया दीख पड़ती है]

छाया—मूर्ख ! अपने देश की दरिद्रता से, विताड़ित और अपने कुकर्मों से निर्वासित साहसी ! तू राजा बनना चाहता है ? तो स्मरण रख, तुझे इस जाति को अपराधी बनाना होगी। जो जाति अपराध और पापों से पतित नहीं होती, वह विदेशी तो क्या, किसी अपने सजातीय शासक की भी आज्ञाओं का बोझ वहन नहीं करती। और, समझ ले कि विना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोलीभाली जाति को पतित नहीं बना सकता।

विलास—कौन, मेरी महात्वाकांक्षा ! तुझे धन्यवाद। ठीक समय पर पहुँची।

(विलास जाता है, छाया अदृश्य हो जाती हैं)

[एक ओर से कामना, दूसरी ओर से विनोद का प्रवेश]

कामना—विनोद ! तुम इधर लीला से मिले थे ? वह तुम्हें एक दिन खोज रही थी।

विनोद—सन्तोष के कारण मैं उससे नहीं मिलता। आज उसका ब्याह होने वाला था न !

कामना—वह सन्तोष से ब्याह न करेगी ! चलो, फूलों का मुकुट पहनाकर तुम्हें ले चलूँ।

विनोद—मैं ?

कामना—हाँ !

दृश्यान्तर

चतुर्थ दृश्य

[लीला अपने कुटीर के पुष्पमण्डप में]

लीला—आज मिलन-रात्रि है। आज दो अधूरे मिलेंगे, एक पूरा होगा। मधुर जीवन स्रोत को सन्तोष की शीतल छाया में बहा ले जाना आज से हमारा कर्तव्य होना चाहिये। परन्तु मुझे वैसी आशा नही। मेरा हृदय व्याकुल है, चंचल है, लालायित है, मेरा सब कुछ अपूर्ण है केवल उसी चमकीली वस्तु के लिये। मेरी सखी कामना ! आह मुझे भी एक वैसी ही मिलनी चाहिये।

[वन-लक्ष्मी का प्रवेश]

लीला—तुम कौन हो ?

वन-लक्ष्मी—मैं वन-लक्ष्मी हूँ।

लीला—क्यों आयी हो?

वन-लक्ष्मी—इस द्वीप के निवासियों में जब ब्याह होता है, तब मैं आशीर्वाद देने आती हूँ। परन्तु किसी के सामने नही।

लीला—फिर मेरे लिए ऐसी विशेषता क्यों?

वन-लक्ष्मी—अभिशाप देने के लिए।

लीला—हम 'तारा की संतान' है। हमें किसी के अभिशाप से क्या सम्बन्ध! और मैंने किया ही क्या है जो तुम अभिशाप कह कर चिल्लाती हो। इस द्वीप में आज तक किसी को अभिशाप नही मिला, तो मुझे ही क्यो मिले?

वन-लक्ष्मी— मैंने भूल की। अभिशाप तो तुम स्वयं इस द्वीप को दे रही हो।

लीला—जो बात मैं समझती नही, उसी के लिये क्यों मुझे....।

वन-लक्ष्मी—जो वस्तु कामना को अकस्मात मिली है, उसी के लिए तुम ईर्ष्या कर रही हो, वैसी ही तुम भी चाहती हो।

लीला—तो ऐसा चाहना क्या कोई अभिशाप, ईर्ष्या या और क्या-क्या तुम कह रही हो, वही है?

वन-लक्ष्मी—आज तक इस द्वीप के लोग 'यथा-लाभ-सन्तुष्ट' रहते थे, कोई किसी का मत्सर नही करता था। परन्तु इस विष का—....

लीला—बस करो, मैं तुम्हारे अभिशाप, ईर्ष्या और विष को नही समझ सकी! यदि मैं किसी अच्छी वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करूँ, तो उसकी गिनती तुम अपने इन्ही शब्दो मे करोगी, जिन्हे किसी ने सुना नही था। अभिशाप, मत्सर, ईर्ष्या और विष!

वन-लक्ष्मी—अच्छी वस्तु तो उतनी ही है, जितने की स्वाभाविक आवश्यकता है। तुम क्यों व्यर्थ अभावो की सृष्टि करके जीवन जटिल बना रही हो? जिस प्रकार ज्वालामुखियाँ पृथ्वी के नीचे दबा रक्खी गयी है, और शीतल स्रोत पृथ्वी के वक्षस्थल पर बहा दिये गये है, उसी प्रकार ये सब अभाव 'तारा की सन्तानो' के कल्याण के लिए गाड दिये गये हे। यह ज्वाला सोने के रूप मे सब के हाथो मे खेलती और मदिरा के शीतल आवरण से कलेजे मे उतर जाती है।

लीला—मदिरा! क्या कहा?

वन-लक्ष्मी—हाँ-हाँ, मदिरा, जो तुम्हारे उस पात्र मे रक्खी है। **(पात्र की ओर संकेत करती है)**

लीला—क्या इसे कहती हो? **(पात्र उठा लेती है)** इसे तो सखी कामना ने ब्याह के उपलक्ष मे भेजा है। और सोना क्या?

वन-लक्ष्मी—वही, जिसके लिए लालायित हो।

लीला—तुम वन-लक्ष्मी हो, तभी………

वन-लक्ष्मी—क्या मैं भी उस चमकीली वस्तु के लिये शीतल हृदय में जलन उत्पन्न करूँ ?

लीला—जलन तो है ही। तुम्हारे पास नहीं है, इसलिये मुझे भी उससे वञ्चित करना चाहती हो। कामना के पास है, और मैं उसे पाने का प्रयास कर रही हूँ। इसे ही तो तुमने कहा था मत्सर ! और मैं पा जाऊँगी उद्योग करके, इसलिये तुम निषेध करती हो। क्या यह मत्सर तुम्हारे शीतल हृदय की जलन नही है ?

वन-लक्ष्मी—लीला ! लीला ! सावधान हो, हमारे द्वीप में लोहे का उपयोग सृष्टि की रक्षा के लिए है। उसे संहार के लिए मत बना। जो वस्तु खेती और हिंस्र पशुओ से सरल जीवो की रक्षा का साधन है, उसे नरक के हाथ, हिंसा की उँगलियाँ न बना दे। कामना को उस विदेशी युवक के साथ महार्णव मे विसर्जन कर दे। उसे दूसरे देश मे चले जाने के लिये भी कह दे, परन्तु………

लीला—वन-लक्ष्मी हो ? क्या तुम ऐसा निष्ठुर निर्देश करती हो कि मैं अपनी सखी को……।

वन-लक्ष्मी—हाँ ! हाँ ! उस अपनी सखी से दूर रह ! केवल तू ही उस अग्नि का ईंधन बनकर विनाश न फैला। महार्णब से मिलती हुई तरंगिणी के जल में चुटकी लेता हुआ, शीतल और सुगन्धित पवन इस देश में बहने दे। इस देश के थके कृषकों को विनोद-पूर्ण बनाने के लिए, प्रत्येक पथिक पर—कल्याण के सदृश—यहाँ के वृक्षो को फूल बरसाने दे। आग, लोहे और रक्त की वर्षा की प्रस्तावना न कर। इस विश्वम्भरा को, इस जननी को, धातु निकाल कर, खोखली और निर्बल बनाने का समारम्भ होने से रोक। मेरी प्यारी लीला मान जा ! कहे जाती हूँ, जिस दिन तूने उस चमकीली वस्तु के लिए हाथ पसारा, उसी दिन इस देश की दुर्दशा का प्रारम्भ होगा। **(चली जाती है)**

लीला—**(कुछ देर बाद)** आश्चर्य ! आज तक तो वन-लक्ष्मी किसी से नहीं मिली थी। अब मै क्या करूँ ? चलकर कामना से कहूँ; या उपासनागृह में ही सबके सामने कहूँ (सोचती है) नही, अलग ही कहना ठीक होगा। तो चलूँ, (रुककर) यह लो कामना तो स्वयं आ रही है।

[कामना का प्रवेश]

कामना—लीला, सखी, तू कैसी हो रही है ?

लीला—मैं तो तेरे ही पास आ रही थी। बड़े आश्चर्य की बात है।

कामना—आश्चर्य की कई बातें आज कल इसे द्वीप में हो रही है। पर उनसे क्या ? पहले मेरी ही बात सुन ले। मैं विलास के साथ बातें कर रही थी कि पक्षियों का संकेत हुआ। मैं उपासनागृह में गयी। मुझे नियमानुसार यह विदित

हुआ कि इस देश पर कोई आपत्ति शीघ्र आया चाहती है। परन्तु मैं तनिक भी विचलित न हुई। मैं तो तेरे ब्याह का शृंगार करने आयी हूँ। तू कह……।

लीला—आज वन-लक्ष्मी मुझसे न जाने कहाँ-कहाँ की कैसी-कैसी बातें कह गयी।

कामना—वन-लक्ष्मी! भला, वह तेरे सामने आयी! आश्चर्य! क्या कहा?

लीला—कहाकि कामना के हाथों से देश का विनाश होगा। तू उसका साथ न दे, और उस चमकीली वस्तु की चाह कभी न करना जैसी कामना के पास है, क्योंकि वह ज्वाला है। और भी न-जाने क्या-क्या कह गयी।

कामना—हूँ। तूने क्या कहा?

लीला—मैंने कहा कि वह मेरी सखी है, मैं उसे न छोड़ूँगी। **(आलिंगन करती है)**

कामना—प्यारी लीला, वह मैं तुझे अवश्य दिलाऊँगी, अधीर न हो। तू जैसे भ्रान्त हो गयी है। वह पेया, जो मैंने भेजी है, कहाँ है? थोड़ी उसमें से पी ले।

लीला—ओह! उसे तो और भी मना किया है।

कामना—**(हंसती हुई पात्र उठाकर)** अरे ले भी, अभी थकावट दूर होती है। **(लीला और कामना पीती हैं)**

लीला—बहन, इसके पीते ही तो मन दूसरा हुआ जाता है।

कामना—बड़ी अच्छी वस्तु है।

लीला—ऐसी पेया तो नहीं पी थी। यह कहाँ से ले आयी?

कामना—एक दिन मैं और विलास, दोनों, नदी के किनारे से बहुत दूर निकल गये। फिर वहाँ प्यास लगी; परन्तु नदी तक लौटने में विलम्ब होता। एक तरबूज आधा पड़ा था, उसमें सूर्य की गरमी से तपा हुआ उसी का रस था हम दोनों ने आधा-आधा पी लिया। बड़ा आनन्द आया। अब उसी रीति से बनाया करती हूँ।

कामना—**(मद विह्वल होती है)** कामना, तू वन-लक्ष्मी है। वह जो आयी थी, मुझे भुलाने आयी थी। तू क्या है, सुगन्ध की लहर है। चाँदनी की शीतल चादर है। अः **(उठना चाहती है)**

कामना—**(लीला को बिठाकर)** तू बैठ, आज मिलन-रात्रि है। विनोद के आने का समय हो गया।

लीला—विनोद! कौन! नहीं कामना! सन्तोष! मेरा प्यारा सन्तोष! तुमने तो ब्याह न करने का निश्चय किया है?

कामना—कैसी है तू! वह मेरा निर्वाचित है! मैं चाहे ब्याह करूँ या नहीं परन्तु वह तो सुरक्षित रहेगा—समझी लीला! तेरे लिए तो विनोद ही उपयुक्त है।

सन्तोष मुझसे डरता है तो मैं भी उससे सब को डराऊँगी—विनोद को मैं बुला आयी हूँ। वह तेरा परम अनुरक्त है।

[लीला अवाक होकर देखती है, फूलों के मुकुट से सजा हुआ विनोद आता है]

कामना—स्वागत !

लीला—विराजिये।

[सब बैठते हैं कामना फूलों के हार दोनों को पहनाती और पात्र लेकर दोनों को एक में पिलाती है, पीछे खड़ी होकर दोनों के सिर पर हाथ रखती है, तीनों के मुख पर तीव्र आलोक]

कामना—अखण्ड मिलन हो !

विनोद—उपासना गृह में भी तो चलना होगा।

लीला—यह तो नियम है।

कामना—थोड़ी और पी लो, तो चलें। वहाँ सब लोग एकत्र रहेंगे। परन्तु देखो, जो मैं कहूँ, वहाँ वही करना।

लीला }
विनोद }—वही होगा।

[दोनों पात्र खाली करके जाते हैं]

कामना—मेरे भीतर का बाँकपन सीधा हो गया है। मेरा गर्व उसके पैरों में लोटने लगा। वह अतिथि होकर आया, आज स्वामी है। व्योम-शैल से गिरती हुई चन्द्रिका की धारा आकाश और पाताल एक कर रही है। आनन्द का स्रोत बहने लगा है। इस प्रपात के स्वच्छ कणों से कुहासे के समान सृष्टि में अन्धकार-मिश्रित आलोक फैल गया है। अन्तःकरण के प्रत्येक कोने से असन्तोष-पूर्ण तृप्ति की स्वीकार-सूचनायें मिल रही हैं। विलास ! तुम्हारे दर्शन ने सुख भोगने के नये-नये आविष्कारों से मस्तिष्क भर दिया है। क्लान्ति और श्रान्ति मिलने के लिए जैसे सकल इन्द्रियाँ परिश्रम करने लगी हैं—विलास !

(गाती है)

घिरे सघन घन नींद न आयी, निर्दय भी न अभी आया !
चपला ने इस अन्धकार में, क्यों आलोक न दिखलाया ?
बरस चुकीं रस-बूंद सरस हो फिर भी यह मन कुम्हलाया ?
उमड़ चले आँखों के झरने, हृदय न शीतल हो पाया !

—चलूं उपासना-गृह में—**(जाती है)**

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[उपासना-गृह में—सामने धूनी में जलती हुई अग्नि, बीच में कामना स्वर्णपट्ट बाँधे, दोनों ओर द्वीप के नागरिक, सबसे पीछे विलास]

कामना—पिता ! हम सब तेरी सन्तान हैं (**सब वही कहते हैं**)

कामना—हमारी परस्पर की भिन्नता के अवकाश को तू पूर्ण बनाये रख, जिसमें हम सब एक हो रहें।

सब—हम सब एक हो रहें।

कामना—हमारे ज्ञान को इतना विस्तार न दे कि हम सब दूर-दूर हो जायँ। हम सब समीप रहें।

सब—हम सब समीप रहें।

कामना—हमारे विचारों को इतना संकुचित न कर दे कि हम अपने ही मे सब कुछ समझ ले। सब में तेरी सत्ता का अनुभव हो।

सब—सब में तेरी सत्ता का अनुभव हो (**घुटने टेकते हैं**)

कामना—(**उठकर**) हम लोगों मे आज एक नवीन मनुष्य है। वह आप लोगों को पिता का एक सन्देश सुनायेगा !

एक वृद्ध—पवित्र पक्षियों के सन्देश क्या अब बन्द होगे !

दूसरा—क्या मनुष्य से हम लोग सन्देश सुनेंगे !

तीसरा—कभी ऐसा नही हुआ।

विलास—शान्त होकर सुनिये। पवित्र उपासना-गृह मे मन को एकाग्र करके, विनम्र होकर, सन्देश सुनिये। विरोध न कीजिये।

पहला वृद्ध—इस उपद्रव का अर्थ ? विदेशी युवक, तुम यहाँ क्या किया चाहते हो ? विरोध क्या ?

विनोद—सुनने मे बुराई क्या है ?

लीला—हमारे ब्याह की उपासना यों उपद्रव में न समाप्त होनी चाहिये। आप लोग सुनते क्यों नही ?

कामना—मैं आज्ञा देती हूँ कि अभी उपासना पूर्ण नही, इसलिये सब लोग सन्देश को सावधान होकर सुनें।

दो-चार वृद्ध—इस उन्मत्त कथा का कही अन्त होगा ? कामना ! आज तुम्हें क्या हुआ है ? तुम केवल उपासना का नेतृत्व कर रही हो, आज्ञा कैसी ? वह क्यों मानी जाय ?

कई स्त्री पुरुष—हम लोगों को यहाँ से चलना चाहिये और कोई दूसरा व्यक्ति कल से उपासना का नेता होगा।

विलास—अनर्थ न करो, ईश्वर का कोप होगा।

[विलास के संकेत करने पर कामना अग्नि में राल डालती है]

विलास—ईश्वर है, और वह सब के कर्म देखता है। अच्छे कार्यों का पारितोषिक और अपराधों का दण्ड देता है। वह न्याय करता है; अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा !

विवेक—परन्तु युवक, हम लोग आज तक उसे पिता समझते थे और हम लोग कोई अपराध नहीं करते। करते हैं केवल खेल। खेल का कोई दण्ड नही। यह न्याय और अन्याय क्या ? अपराध और अच्छे कर्म क्या है, हम लोग नही जानते। हम खेलते हैं, और खेल में एक दूसरे के सहायक है, इसमे न्याय का कोई कार्य नहीं नहीं। पिता अपने बच्चों का खेल देखता है, फिर कोप क्यों ?

विलास—तुम्हारी ज्ञान-सीमा संकुचित होने के कारण यह भ्रम है। तुम लोग पुण्य भी करते हो, और पाप भी।

विवेक—पुण्य क्या ?

विलास—दूसरों की सहायता करना इत्यादि। पाप है दूसरों को कष्ट देना, जो निषिद्ध है।

विवेक—परन्तु निषेध तो हमारे यहाँ कोई वस्तु नही है। हम वही करते हैं, जो जानते हैं, और जो जानते हैं वह सब हमारे लिये अच्छी बात है केवल निषेध का घोर नाद करके तुम पाप क्यों प्रचारित कर रहे हो ? वह हमारे लिए अज्ञात है। तुम इस ज्ञान को अपने लिए सुरक्षित रक्खो। यहाँ ***।

कामना—दिव्य पुरुष से केवल शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

विनोद—हम आपके आज्ञाकारी है। आपके नेतृत्व-काल में अपूर्व वस्तु देखने में आयी, और कभी न सुनी हुई बातें जानी गयीं। आप धन्य हैं !

एक—हम लोग भी स्वीकार ही करेंगे। तो अब सब लोग जायँ ?

विनोद—ब्याह का उपहार ग्रहण कर लीजिये।

कामना—वह ईश्वर की प्रसन्नता है। आप लोगों को उसे लेकर जाना चाहिए।

[विनोद और लीला सब को मदिरा पिलाते हैं]

कामना—है न यह उसकी प्रसन्नता ?

दो-चार—अवश्य, यह तो बड़ी अच्छी पेया है।

[सब मोह में शिथिल होते हैं]

—ईश्वर से डरना चाहिये, सदैव सत्कर्म****।

एक—नही तो वह इसी ज्वाला के समान अपने क्रोध को धधका देगा।

दूसरा--और हम लोगों को दण्ड देगा।

विवेक--परन्तु प्यारे बच्चो, वह पिता स्नेह करता है, यह हम लोग कैसे भूल जायें, और उससे डरने लगें?

कामना--तुम्हे प्रमाण मिलेगा कि हम लोगों में अपराध है; उन्हीं अपराधों से हम लोग रोगी होते और उसके बाद इस द्वीप से निकाल दिये जाते है। उन अपराधों को हमे धीरे-धीरे छोडना होगा।

विवेक--तो फिर सब कर्म केवल अपराध ही हो जायँगे--

और सब--हम लोग अपराधो को जानेंगे और उनका त्याग करेंगे। रोग और निकाले जाने से बचेंगे।

विलास--सब का कल्याण होगा।

[एक दूसरे आलिंगन करते हैं। मद्यपों की-सी प्रसन्नता प्रकट करते हुए जाते है]

विवेक--परिवर्तन! वर्षा से धुले हुए आकाश की स्वच्छ चन्द्रिका, तमिस्रा से कुहू मे बदल जायगी। बालको के से शुभ्र हृदय छल की मेघमाला से ढँक जायंगे।

(सोचता है)

पिता! पिता! हम डरेंगे, तुमसे काँपेंगे? क्यो? हम अपराधी है। नही-नही, यह क्या अच्छी बात हे। यह क्या हे? अब खेल समाप्त होने पर तुम्हारी गोद में शीतल पथ मे हम न जाने पावेंगे। तुम दण्ड दोगे। नही-नही--ओह! न्याय करोगे? भयानक न्याय--क्योकि हम अपराध करेंगे, और तुम दण्ड दोगे--ओह! उसने कहा कि तुम निर्जीव बनकर इस द्वीप से निकाल दिये जाते हो, यही प्रमाण है कि तुम अपराधी हो। क्या हम अपराधी हे? अपराध क्या पदार्थ है? क्षुद्र स्वार्थों से बने हुए कुछ नियमो का भग करना अपराध होगा। यही न? परन्तु हमारे पास तो कोई नियम ऐसे नही थे, जो कभी तोड़े जाते रहे हों। फिर क्यों यह अपराध हम पर लादा जा रहा है? पिता! प्रेममय पिता! हमारे इस खेल मे भी यह कठोरता, यह दण्ड का अभिशाप लगा दिया गया! हमारे फूलों के द्वीप में किस निर्दय ने काँटे बिखेर दिये? किसने हमारा प्रभात का स्वप्न भंग किया? स्वप्न--आ! कुदृश्यों से थकी हुई आँखो मे चला आ--विश्राम! आ! मुझे शीतल अंक में ले!--उँह! सो जाऊँ! **(सोने को चेष्टा करता है। स्वप्न में--स्वर्ग और नरक का दृश्य देखता हुआ अर्ध-निद्रित अवस्था में उठ खड़ा होता है)**--मै क्या-क्या कह गया। ये सब अभूतपूर्व बातें कहाँ से हमारे हृदय में उठ रही है। परन्तु, नहीं--यह तो प्रत्यक्ष है, दिखलायी पड़ रहा है कि ज्वाला और उसके पहले विष मे मिला हुआ धुआँ फैलने लगा है! जलाने वाली, अमृत होकर सुख भोग करने की इच्छा इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की कल्पना, इसे अवश्य नरक

बनाकर छोड़ेगी। हैं! नरक और स्वर्ग! कहाँ है? ये क्यों मेरे हृदय में घुसे पड़े हैं? काल्पनिक अत्यन्त उत्तमता, सुख-भोग की अनन्त कामना, स्वर्गीय इन्द्र-धनुष बनकर सामने आ गयी है, जिसने वास्तविक जीवन के लिये इस पृथ्वी की दबी हुई ज्वालामुखियों का मुख खोल दिया है। हमारे फूलों के द्वीप के बच्चो! रोओगे इन कोमल फूलों के लिये, इन शीतल झरनो के लिये। पिता के दुलारे पुत्रो! तुम अपराधी के समान बेत से कांपोगे। तुम गोद मे नही जाने पाओगे। हा! मैं क्या करूँ—कहाँ जाऊँ? **(बड़बड़ाता हुआ जाता है)**

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[कामना का नवीन मन्दिर, कामना और विलास]

विलास—बहुत-से लोग पेया माँगते है कामना!

कामना—तो कैसे बनेगी?

वि[illegible] [illegible]लीला स्वर्ण-पट्ट के लिये अत्यन्त उत्सुक है।

कामना—उसे तो देना ही होगा।

विलास—स्वर्ण तो मैंने एकत्र कर लिया है, अब उसे बनाना है।

कामना—फिर शीघ्रता करो।

विलास—जब तक तुम रानी नही हो जाती, तब तक मैं दूसरे को स्वर्ण-पट्ट नही पहनाऊँगा। केवल उपासना मे प्रधान बनने मे काम न चलेगा परन्तु रानी बनने मे अभी देर है, क्योकि अपराध अभी प्रकट नही है। उसका बीज सब के हृदयों में है।

कामना—फिर क्या होना चाहिये?

विलास—आज सब को पिलाऊँगा। कुछ स्त्रियाँ भी रहेगी न?

कामना—क्यों नही।

विलास—कितनी देर मे सब एकत्र होगे?

कामना—आते ही होगे। मुझे तो दिखलाओ, तुमने क्या बनाया है, और कैसे बनाया?

विलास—देखो, परन्तु किसी से कहना मत।

[कामना आश्चर्य से देखती है, पर्दा हटाकर शराब की भट्ठी और सुनार की धौंकनी दिखलाता है, गलाया हुआ बहुत-सा सोना रक्खा है, मञ्जूषा में से एक कंकण निकाल कर कामना को दिखाता है]

लीला—(सहसा प्रवेश करके) सब लोग आ रहे हैं।

[विलास सब बन्द कर लेता है, लीला की ओर क्रोध से देखता है, लीला संकुचित हो जाती है]

विलास—जब कह दिया गया कि तुम्हें भी मिलेगा, तब इतनी उतावली क्यों है ?

[विनोद भी आ जाता है]

कामना—विनोद और लीला हमारे अभिन्न हैं प्रिय विलास !

विलास—ईश्वर का यह ऐश्वर्य है, उसका अंग है। जब उसकी इच्छा होगी, तभी मिलेगा। जल्दी का काम नही। विनोद ! तुम्हे भी इसकी····

विनोद—मैंने भी बहुत-सी रेत इकट्ठी की है, परन्तु बना न सका—मुझे नही, लीला को चाहिये।

विलास—(आश्चर्य और क्रोध प्रकट करते हुये) अच्छा, प्रतिज्ञा करो कि कामना जो कहेगी, यही तुम लोग करोगे, आज का रहस्य किसी से न कहोगे।

विनोद—
लीला— } हम दोनों दास है। किसी से न कहेगे।

कामना—क्या कहा !

दोनों—दास है। आप के दास है।

कामना—नही, नही, तुम इतने दीन होकर इस ज्वाला की भीख मत लो। इस द्वीप के निवासी···।

विलास—ठहरो कामना, (विनोद से) तो तुम अपनी बात पर दृढ़ हो ? झूठ नही बोलते ?

लीला—झूठ क्या ?

विलास—यही कि जो कहते हो, उसे फिर न कर सको।

कामना—ऐसा तो हम लोग कभी नही करते। क्यों विनोद !

विलास—मैं तुमसे नही पूछ रहा हूँ कामना।

विनोद—हाँ-हाँ, वही होगा।

[विलास एक छोटा-सा हार निकालकर लीला को पहनाता है। कामना क्षोभ से देखती है, विलास पर्दा खींचकर खड़ा हुआ मुसकराता है। सब लोग आ जाते हैं, कामना सब का स्वागत करती है, युवक और युवतियों का झुण्ड बैठता हैं]

विलास—आज आप लोग मेरे अतिथि हैं, यदि कोई अपराध हो तो क्षमा कीजियेगा।

एक युवक—अतिथि क्या ?

विलास—यही कि मेरे घर पधारे हैं।

एक युवती—हम लोग तो इसे अपना ही घर समझते हैं।

विनोद—वास्तव मे तो घर विलास जी का है।

विलास—ऐसा कहना तो शिष्टाचार-मात्र हैं। अच्छे लोग तो ऐसा कहते ही है।

युवक—क्या इस घर के आप ही सब कुछ है ? हम लोग कुछ नही ?

कामना—आप लोग जब आ गये है, तब तक आप लोग भी है, परन्तु विलास जी की आज्ञानुसार।

विलास—(हँसकर) हमारे देश मे इसको शिष्टाचार कहते हैं। यद्यपि आप लोगो का इस समय हमारे घर पर पूर्ण अधिकार है, परन्तु स्वत्व हमारा ही है; क्योकि जब आप लोग यहाँ से चले जायँगे, तब तो मै ही इसका उपभोग करूँगा।

लीला—कैसी सुन्दर बात है, कैसा ऊँचा विचार है !

[सब आश्चर्य से एक-दूसरे का मुँह देखते हैं]

विलास—आप लोग कुछ थके होगे, इसलिये थोड़ी-थोड़ी पेया पी लीजिये तब खेल होगा। देखिये, आप लोगों को आज एक नया खेल खेलाया जायगा। जो मैं कहूँ, वही करते चलिये।

युवक—ऐसा ?

विलास—हाँ, आप लोग गाते हुए घूमते और नाचते भी तो है ?

युवक }
युवती }—क्यो नही, परन्तु उसका समय दूसरा होता है।

विलास—आज हम जैसा कहे, वैसा करना होगा।

कामना—अच्छी बात है। नया खेल देखा जायगा।

[कामना और लीला मदिरा ले आती है, विलास सबको पंक्ति से बैठाता और कामना को संकेत करता है, दोनों सबको मद्य पिलाती हैं, सब प्रसन्न होते हैं]

एक—(नशे में) अब खेल होना चाहिये।

सब—(मद-विह्वल होकर) हाँ, हाँ, होना चाहिये।

विलास—(एक से पूछता है) क्यों, तुमको कौन स्त्री अच्छी लगती है ? देखो उसके मुख पर कैसा प्रकाश है। (एक दूसरे की स्त्री को दिखाता है)

वह युवक—हाँ इसमे तो कुछ विचित्र विशेषता है।

विलास—अच्छा तो इनमे से सब लोग इसी प्रकार एक-एक स्त्री को चुन लो।

[नशे में एक दूसरे की स्त्री को अच्छा समझते हुए उनका हाथ पकड़ते हैं, विलास सबको मण्डलाकार खड़ा करता है]

कामना—अब क्या होगा ?

विलास—इस खेल में एक व्यक्ति बीच में रहेगा, जो सब की देख-रेख करेगा।

कामना—तुम्हीं रहो।

विलास—नहीं, मुझको तो आज अभी बताना पड़ेगा। आज तुम्हीं देखो। और तुम तो इन लोगों में मुख्य हो भी।

सब—ठीक कहा।

विलास—अच्छा, तो कामना ! इस खेल की तुम रानी बनोगी। जब तुम कहोगी तभी यह खेल बन्द होगा—समझीं !

सब—अच्छी बात है।

[विलास चन्द्रहार और कंकण कामना को पहनाता है, सब आश्चर्य से देखते हैं]

विनोद—कामना रानी है।

विलास—सचमुच रानी है।

[कामना के संकेत करने पर नृत्य आरम्भ होता है, और विलास गाता है, सब उसका अनुकरण करते हैं]

पी ले प्रेम का प्याला
भर ले जीवन-पात्र में यह अमृतमयी हाला
सृष्टि विकासित हो आँखों में, मन हो मतवाला
मधुप पी रहे मधुर मधु, फूलों का सानन्द,
तारा-मद्यप-मंडली चषक भरा यह चन्द
सजा अपानक निराला। पीले....।

[सब उन्मत्त होकर नाचते-नाचते मद्यप की चेष्टा करते हैं, विवेक का प्रवेश, आश्चर्यचकित होकर देखता है]

विलास—कौन ?

विवेक—यह नरक है या स्वर्ग ?

विलास—बुड्ढे ! इसे स्वर्ग कहते हैं। तुम कैसे जान गये ?

विवेक—तो इसी स्वर्ग में नरक की सृष्टि होगी। भागो-भागो।

विलास—पागल है।

सब—पागल है ! पागल है !

[विवेक क्षोभ से भागता है]

य व नि का

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

[जंगल में विलास, कामना, विनोद और लीला]

लीला—बहुत दूर चले आये। अब हम लोगों को लौटना चाहिये।

विलास—हाँ, इधर तो द्वीप के निवासी बहुत ही कम आते हैं।

विनोद—हम समझते है, अब इस द्वीप के मनुष्यो को और भूमि की आवश्यकता न होगी।

कामना—आवश्यकता तो होगी ही।

विलास – फिर इतना दुर्गम कान्तार अनाक्रान्त क्यों छोड दिया जाय ? सम्भव है, कालान्तर मे इधर ही बसना पडे।

बिनोद—तब इधर—

विलास—तुम्हारे पास तीर और धनुष क्यो है ?

विनोद आने वाले भय से रक्षा के लिये।

विलास—परन्तु, यदि तुम्ही उनके लिए भय के कारण बन जाओ, तब ?

विनोद—कैसे ?

विलास—मूर्ख, दुर्दान्त पशु जब तुम्हारे ऊपर आक्रमण करते है, तब तुम अपने को बचाते हो। यदि तुम उन पर आक्रमण करने लगो, तो वे स्वयं भागेंगे।

[चार युवक तीर और धनुष लिये आते हैं]

विलास—ये लोग भी आ गये।

कामना हाँ, अब तो हम लोगो का एक अच्छा दल हुआ।

आगंतुक —कहिये, आज यहाँ कौन-सा नया खेल है ?

विलास—जो तुमको हानि पहुँचाने के लिये सदैव तत्पर है, उन्हे यदि तुम भयभीत कर सको, तो वे स्वयं कभी साहस न करेंगे, और साथ ही एक खेल भी होगा।

आगंतुक—बात तो अच्छी है।

विलास—अच्छा, सब लोग भयानक चीत्कार करो, जिससे पशु निकलेंगे, और तब तुम लोग उन पर तीर चलाना।

सब—(आश्चर्य से) ऐसा !

विलास—हाँ।

[सब चिल्लाते हैं और ताली पीटते है, पशुओं का झाड़ियों के भीतर दौड़ना, तीर लगना और छटपटाना]

सब—बड़ा विचित्र खेल है।

विलास—खेल ही नहीं, यह व्यायाम भी है।

कामना—परन्तु विलास, देखो यह हरी-हरी घास रक्त से लाल रँगी जाकर भयानक हो उठी है, यहाँ का पवन भाराक्रान्त होकर दबे-पाँव चलने लगा है।

विलास—अभी तुमको अभ्यास नहीं है रानी! चलो विनोद, सबको लिवाकर तुम चलो।

[विलास और कामना को छोड़कर सब जाते हैं]

कामना—विलास!

विलास—रानी!

कामना—तुमने ब्याह नहीं किया।

विलास—किससे?

कामना—मुझी से, उपासना-गृह की प्रथा पूरी नही हुई।

विलास—परन्तु और तो कुछ अन्तर नही है। मेरा हृदय तो तुमसे अभिन्न ही है। मैं तुम्हारा हो चुका हूँ।

कामना—परन्तु—**(सिर झुका लेती है)**

विलास—कहो कामना! **(ठुड्डी पकड़ कर उठाता है)**

कामना—मैं अपनी नही रह गयी हूँ प्रिय विलास! क्या कहूँ।

विलास—तुम मेरी हो। परन्तु सुनो, यदि इस विदेशी युवक से ब्याह करके कहीं तुम सुखी न होओ, या कभी मुझी को यहाँ से चला जाना पड़े?

कामना—**(आश्चर्य और क्षोभ से)** नहीं विलास, ऐसा न कहो।

विलास—परन्तु अब तो तुम इस द्वीप की रानी हो। रानी को क्या ब्याह करके किसी बन्धन में पड़ना चाहिये।

कामना—तब तुमने मुझे रानी क्यों बनाया?

विलास—रानी, तुमको इसलिए रानी बनाया कि तुम नियमों का प्रवर्त्तन करो। इस नियम-पूर्ण संसार में अनियन्त्रित्त जीवन व्यतीत करना क्या मूर्खता नहीं है? नियम अवश्य है—ऐसे नीले नभ में अनन्त उल्का-पिण्ड, उनका क्रम से उदय और अस्त होना, दिन के बाद नीरव निशीथ, पक्ष-पक्ष पर ज्योतिष्मती राका और कुहू, ऋतुओं का चक्र, और निस्सन्देह शैशव के बाद उद्दाम यौवन, तब क्षोभ से भरी हुई जरा—ये सब क्या नियम नही हैं?

कामना—यदि ये नियम हैं, तो मैं कह सकती हूँ कि अच्छे नियम नहीं हैं। ये नियम न होकर नियति हो जाते हैं, असफलता की ग्लानि उत्पन्न करते हैं।

विलास—कामना! उदार प्रकृति बल, सौंदर्य और स्फूर्ति के फुहारे छोड़ रही है। मनुष्यता यही है कि सहज-लब्ध विलासों का, अपने सुखों का सञ्चय और उनका

भोग करे। नियमों के भले बुरे, दोनों ही कर्तव्य होते हैं, प्रतिफल भी उन्हीं नियमों मे से एक है। कभी-कभी उसका रूप अत्यन्त भयानक होता है, उससे जी घबराता है। परन्तु मनुष्यों के कल्याण के लिए उसका उपयोग करना ही पड़ेगा, क्योंकि स्वयं प्रकृति वैसा करती है। देखो, यह सुन्दर फूल झड़कर गिर पड़ा। जिस मिट्टी से रस खीचकर फूला था, उसी मे अपना रंग-रूप मिला रहा है। परन्तु विश्वम्भरा इस फूल के प्रत्येक केसर बीज को अलग-अलग वृक्ष बना देगी, और उन्हें सैकड़ों फूल देगी।

कामना—इसमें तो बड़ी आशा है।

विलास—इसी का अनुकरण, निग्रह-अनुग्रह की क्षमता का केन्द्र प्रतिफल की अमोघ शक्ति से यथाभाग सन्तुष्ट रखने का साधन, राजशक्ति है। इस देश के कल्याण के लिये उसी तन्त्र का तुम्हारे द्वारा प्रचार किया गया है, और तुम बनायी गयी हो रानी, और रानी का पुरुष कौन होता है, जानती हो ?

कामना—नही, बताओ।

विलास—राजा। परन्तु मै तुम्हे ही इस द्वीप की एकच्छत्र अधिकारिणी देखना चाहता हूँ। उसमें हिस्सा नही बँटाना चाहता !

कामना—तब मेरा रानी होना व्यर्थ था।

विलास—परन्तु तुम्हारी सब सेवा के लिए मैं प्रस्तुत हूँ। कामना, तुम द्वीप-भर मे कुमारी ही बनी रह कर अपना प्रभाव विस्तृत करो। यही तुम्हारे रानी बनने के लिए पर्याप्त कारण हो जायगा।

कामना—यह क्या ? झूठ !

विलास—मै जो कहता हूँ। चलो, वे लोग दूर निकल गये होगे। **(दोनों जाते हैं)**

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

[पथ में विवेक]

विवेक—डर लगता है। घृणा होती है। मुँह छिपा लेता हूँ। उनकी लाल आँखो मे क्रूरता, निर्दयता और हिंसा दौडने लगी है। लोभ ने उन्हे भेडियों से भी भयानक बना रखा है। वे जलते-बलती आग मे दौडने के लिये उत्सुक है। उनको चाहिये कठोर सोना और तरल मदिरा—देखो-देखो, वे आ रहे है।

(अलग छिप जाता)

[मद्यप की-सी अवस्था में दो द्वीपवासियों का प्रवेश]

पहला—अहा ! लीला की कैसी सुन्दर गढ़न है।

दूसरा—और जब वह हार पहन लेती हैं, तो जैसे सन्ध्या के गुलाबी आकाश में सुनहरा चाँद खिल जाता है।

पहला—देखो, तुम उसकी ओर न देखना।

दूसरा—क्यों, विनोद को छोड़कर तुम्हें भी जब यह अधिकार है, तब मैं ही क्यों वंचित रहूँ?

पहला—परन्तु फिर तुम्हारी प्रेयसी को…।

दूसरा—बस, बस, चुप रहो।

पहला—तब क्या किया जाय? वह मुझसे कंकणों के लिये कहती थी, इतना सोना मैं कहाँ से इकट्ठा करूँ?

दूसरा—नदी की रेत से।

पहला—बड़ा परिश्रम है।

दूसरा—तब तक उपाय है…।

पहला—क्या?

दूसरा—शान्तिदेव इधर आनेवाला है। उसके पास बहुत-सा सोना है, वह ले लिया जाय। तीर और धनुष तो है न?

पहला—यही करना होगा।

[विवेक का प्रवेश]

विवेक—क्यों, क्या सोचते हो युवक?

पहला—तुमसे क्यों कहूँ?

दूसरा—तुम पागल हो।

विवेक—उन्मत्त! व्यभिचारी!! पशु!!!

पहला—चुप बूढ़े।

विवेक—व्यभिचार ने तुम्हें स्त्री-सौन्दर्य का कलुषित चित्र दिखलाया है, और मदिरा उस पर रंग चढ़ाती है। क्यों, क्या यह सौन्दर्य पहले कहीं छिपा था जो अब तुम लोग इतने लोलुप हो गये!

पहला—जा, जा, पागल बूढ़े, तू इस आनन्द को क्या समझे?

विवेक—सौन्दर्य, इस शोभन प्रकृति का सौन्दर्य विस्मृत हो चला। हृदय का पवित्र सौन्दर्य नष्ट हो गया। यह कुत्सित, यह अपदार्थ…।

दूसरा—मूर्ख है, अन्धा है। अरे मेरी आँखों से देख, तेरी आँखें खुल जायेंगी, कुत्सित हृदय सौन्दर्य-पूर्ण हो जायगा—बूढ़े, परन्तु तुझे अब इन बातों से क्या काम? जा।

पहला—तुझे क्या, यदि उसकी भौंह में एक बल है, आँखों के डोरे में खिंचाव

है, वक्षस्थल पर तनाव है, और अलकों में निराली उलझन है, चाल में लचीली लचक है ? तू आँखें बन्द रख।

दूसरा—उस पर चमकते हुए सोने के कंकण-हारों से सुशोभित अम्लान आभूषण-परिपाटी मूर्ख....।

पहला—पागल है।

विवेक—मैं पागल हूँ ! अच्छा है जो सज्ञान नही हूँ, इस वीभत्स कल्पना का आधार नही हूँ। हाय ! हमारे फूलो के द्वीप के फूल अब मुरझाकर अपनी डाल से गिर पड़ते है। उन्हे कोई छूता नही। उनके सौरभ से द्वीप-वासियों के घर अब नही भर जाते। हाय मेरे प्यारे फूलो ! (जाता है)

दोनों—जा, जा ! (छिप जाते हैं)

[शान्तिदेव का प्रवेश]

शान्तिदेव—मैं इसे कहाँ रक्खूँ, किधर से चलूँ ? है मुझे क्या हो गया ! क्यों भयभीत हो रहा हूँ ? इस द्वीप मे तो यह बात नही थी परन्तु तब सोना भी तो नही था ! अच्छा, इस पगडण्डी से निकल चलूँ।

[बगल से निकलना चाहता है कि दोनों छिपे हुये तीर चलाते हैं, शान्तिदेव गिर पड़ता है, दोनों आकर उसे दबा लेते हैं, सोना खोजते हैं]

[अकस्मात् शिकारियों के साथ कामना का प्रवेश]

कामना यह क्या, तुम लोग क्या कर रहे हो ?

लीला—हत्या—

विलास—घोर अपराध !

कामना—(शिकारियों से) बाँध लो इनको, ये हत्यारे है।

[सब दोनों को पकड़ लेते हैं। शान्तिदेव को उठाकर ले जाते है]

दृश्यान्तर

तृतीय दृश्य

[कुटीर में विनोद और लीला]

लीला मेरा स्वर्ण पट्ट ?

विनोद—अभी तक तो आशा-ही आशा है।

लीला—आज तक तो आशा-ही आशा है

विनोद—परन्तु अब सफलता भी होगी।

लीला—कैसे ?

विनोद—अपराध होना आरम्भ हो गया है। अब तो एक दिन विचार भी होगा। देखो, कौन-कौन खेल होते है !

लीला—तुम उन दोनों को कहाँ रख आये ?

विनोद—पहले विचार हुआ कि उपासना-गृह या संग्रहालय में रक्खे जायँ। फिर यह निश्चित हुआ कि नही, मित्र-कुटुम्ब के लिये जो नया घर बन रहा है, उसी में रखना चाहिए और उन शिकारियो को वहाँ रक्षक नियत किया गया है ।

लीला—इस योजना से कुछ-न-कुछ तुम्हे मिलेगा।

विनोद—परन्तु लीला, हम लोग कहाँ चले जा रहे है, कुछ समझ रही हो ? समझ में आने की ये बाते है ?

लीला—अच्छी तरह। **(मदिरा का पात्र भरती हुई)** कही नीचे, कही बड़े अन्धकार मे।

विनोद– फिर मुझे क्यो प्रोत्साहित कर रही हो ?

[लीला पात्र मुँह से लगा देती हैं, विनोद पीता है]

लीला—आज तुम्हे गाना सुनाऊँगी।

विनोद—**(मद-विह्वल होकर)** सुनाओ प्रिये !

[लीला गाती है]

छटा कैसी सलोनी निराली है,
देखो आयी घटा मतवाली है।
आओ साजन मधु पिये, पहन फूल के हार
फूल-सदृश यौवन खिला, है फूल की बहार
भरी फूलों से वेले की डाली है ॥ छटा० ॥
शीतल धरती हो गयी, शीतल पडी फुहार
शीतल छाती से लगो, शीतल चली बयार
सभी ओर नयी हरियाली है ॥ छटा० ॥

[सहसा कामना का कई युवकों के साथ प्रवेश]

कामना—फूल के हार कहाँ लीला ! तपा हुआ सोने का हार है। शीतलता कहाँ, ज्वाला धधक उठी है। यह आनन्द करने का समय नही है।

विनोद—क्या है रानी ?

कामना—विनोद, ये शिकारी उन अपराधियों के रक्षक है, इन्हे दिन-रात वहाँ रहना चाहिये। तब इनके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध....।

विनोद—जैसी आज्ञा हो।

[विलास का प्रवेश]

विलास—ये शिकारी नहीं, सैनिक हैं, शान्ति-रक्षक हैं ! सार्वजनिक संग्रहालय पर अधिकार करो। इनमें से कुछ उसकी रक्षा करेंगे, और बचे हुये कारागार की।

विनोद—कारागार क्या ?

विलास—वही, जहाँ अपराधी रक्खे जाते हैं, जो शासन का मूल है, जो राज्य का अमोघ शस्त्र है।

लीला - (**विनोद से**) यह तो बड़ी अच्छी बात है।

कामना—विनोद, मैं तुमको सेनानी बनाती हूँ। देखो, प्रबन्ध करो। आतंक न फैलने पावे।

विलास —यह लो सेनापति का चिह्न।

[एक छोटा-सा स्वर्ण पट्ट पहनाता है, कामना तलवार हाथ में देती है, सब भय और आश्चर्य से देखते हैं]

कामना—(**शिकारियों से**) देखो, आज से जो लोग इनकी आज्ञा नहीं मानेंगे, उन्हें दण्ड मिलेगा।

[सब घुटने टेकते हैं]

विलास --परन्तु सेनापति, स्मरण रखना, तुम इस राजमुकुट के अन्यतम सेवक हो। राजसेवा में प्राण तक दे देना तुम्हारा धर्म होगा।

विनोद—(**घुटने टेककर**) मैं अनुगृहीत हुआ।

लीला—(**धीरे से**) परन्तु यह तो बड़ा भयानक धर्म है।

कामना—हाँ विलास जी।

विलास—आज राजसभा होगी। उसी में कई पद प्रतिष्ठित किये जायँगे। वहीं सम्मान किया जाय।

कामना—अच्छी बात है।

[विनोद अपने सैनिकों के साथ परिक्रमण करता है]

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[पथ में सन्तोष और विवेक]

सन्तोष—यह क्या हो रहा है ?

विवेक—इस देश के बच्चे दुर्बल, चिन्ताग्रस्त और झुके हुए दिखाई देते हैं ! स्त्रियों के नेत्रों में विह्वलता-सहित और भी कैसे-कैसे कृत्रिम भावों का समावेश हो गया है ! व्यभिचार ने लज्जा का प्रचार कर दिया है !

सन्तोष—छिप कर बातें करना, कानों में मन्त्रणा करना, छूरों की चमक से आँखों मे त्रास उत्पन्न करना, वीरता नाम के किसी अद्‌भुत पदार्थ की ओर अन्धे होकर दौड़ना युवको का कर्त्तव्य हो रहा है। वे शिकार और जुआ, मदिरा और विलासिता के दास होकर गर्व से छाती फुलाये घूमते है। हम धीरे-धीरे सभ्य हो रहे है।

विवेक—सब बूढे मूर्ख और पुरानी लकीर पीटने वाले कहे जाते है।

सन्तोष—एक-एक पात्र मदिरा के लिये लालायित होकर ये दासता का बोझ वहन करते है—हृदय मे व्याकुलता, मस्तिष्क मे पाप-कल्पना भरी है।

विवेक—सोने का ढेर—छल और प्रवञ्चना से एकत्र करके—थोड़े-से ऐश्वर्यशाली मनुष्य द्वीप-भर को दास बनाये हुये है। और, आशा मे, कल स्वयं भी ऐश्वर्यवान होने की अभिलाषा मे बचे हुए हुए सीधे सरल व्यक्ति भी पतित होते जा रहे है।

सन्तोष—हत्या और पाप की दौड हो रही है, और धर्म की धूम है।

विवेक—चलो भाई, चले, अब उपासना-गृह मे शासन-सभा होगी वही उन हत्यारो का विचार भी होने वाला है। (देखता हुआ) उधर देखो, रानी उपासना-गृह मे जा रही है!

सन्तोष—भला यह रानी क्या वस्तु है?

विवेक—मदिरा से ढुलकती हुई, वैभव के बोझ से दबी हुई महत्वाकाक्षा की तृष्णा से प्यासी, अभिमान की मिट्टी की मूर्त्ति।

सन्तोष—परन्तु है प्रभावशालिनी। भला हम लोग तो यह सब नही जानते थे। यह कहाँ से.....।

विवेक—वही विदेशी, इन्द्रजाली युवक विलास। उसकी तीक्ष्ण आँखो में कौशल की लहर उठती है। मुसकराहट मे शीतल ज्वाला और बातो मे भ्रम की बढ़िया है।

सन्तोष—परन्तु हम सब जानते हुए भी अजान हो रहे है।

विवेक—कोई उपाय नही। (जाता है)

[विलास का प्रवेश]

विलास—(स्वगत) यह बडा रमणीय देश है! भोले-भाले प्राणी थे, इनमें जिन भावों का प्रचार हुआ, वह उपयुक्त ही था। परन्तु सब करके क्या किया? अपने शाप-ग्रस्त और संघर्षपूर्ण देश की अत्याचार-ज्वाला से दग्ध होकर निकला। यहाँ शीतल छाया मिली, मैने क्या किया?

सन्तोष—वही ज्वाला यहाँ भी फैला दी, यहाँ भी नवीन पापों की सृष्टि हुई। अब सब द्वीपवासी और उनके साथ तुम भी उसी मानसिक नीचता, पराधीनता,

दासता, द्वन्द्व और दु:खों के अलातचक्र में दग्ध हो रहे हो ! आनन्द के लिए सब किया; वह कहाँ ! जब मन मे आनन्द नही, तब कही नही ।

विलास--(**देखकर**) कौन ? सन्तोष ! तुम क्या जानोगे ? भावुकता और कल्पना ही मनुष्य को कला की ओर प्रेरित करती है इसी में उसके कल्याण का रहस्य है, पूर्णता है ।

सन्तोष--विलास ! तुम्हारे असंख्य साधन है। तब भी कहाँ तक ? संसार की अनादि काल से की गयी कल्पनाओं ने जगत को जटिल बना दिया, भावुकता गले का हार हो गयी, कितनी कविताओ के पुराने पत्र पतझड के पवन में कहाँ-के-कहाँ उड गये ! तिसपर भी संसार मे असंख्य मूक कवितायें हुई। चन्द्र-सूर्य की किरणों की तूलिका से अनन्त के आकाश के उज्ज्वल पट पर बहुत-से नेत्रों ने दीप्तिमान रेखाचित्र बनाये; परन्तु उनका चिह्न भी नही है। जिनके कोमल कण्ठ पर गला दे देना साधारण बात थी, उन्होने तीसरे सप्तक की कितनी मर्मभेदी तानें लगायीं, किन्तु वे सर्वग्रासी आकाश के खोखले मे विलीन हो गयी ।

[सन्तोष जाता है, कामना का प्रवेश]

विलास--(**विलास को देखकर, स्वगत**) जैसे खुले हुए ऊँचे कदम्ब पर वर्षा के यौवन का एक सुनील मेघखण्ड छाया किये हो। कैसा मोहन रूप है (**प्रकट**) क्यो विलास ! यहाँ क्या कर रहे हो ?

विलास--विचार कर रहा हूँ।

कामना--क्या ?

विलास--जिस इच्छा के बीज का रोपण करता हूँ, हमारी महत्वाकांक्षा उसी के अंकुरो को सुरक्षित रखने के लिये--सूर्य के ताप से बचाने के लिये--अनन्त आकाश को मेघो से ढँक लेती है ।

कामना--तब तो बड़ी अच्छी बात है !

विलास--परन्तु सन्देह है कि कही मधु-वर्षा के बदले करकापात न हो।

कामना--मीठी भावनायें करो। प्रिय विलास, मधुर कल्पनाये करो। सन्देह क्यों ?

विलास--सामने देखो--वह समुद्र का यौवन, जलराशि का वैभव, परन्तु उसमे नीची-ऊँची लहरें है ।

कामना--नही देखते हो, सीपी अपने चमकीले दाँतो से हँस रही है। चलो, उपासना-गृह चलें ।

विलास--तुम चलो, अभी आता हूँ।

[कामना जाती है]

विलास--(**स्वगत**)--कामना एक सुन्दर रानी होने के योग्य प्रभावशालिनी

स्त्री है। उसने ब्याह का प्रस्ताव किया था। मैं भी ब्याह के पवित्र बन्धन में बँधकर राजा होकर सुखी होता, परन्तु मेरी मानसिक अव्यवस्था कैसे छाया-चित्र दिखलाती है! कोई अदृष्ट शक्ति संकेत कर रही है—नहीं, कामना एक गर्वपूर्ण सरल हृदय की स्त्री है। रंगीन तो हैं, पर निरीह इन्द्रधनुष के समान उदय होकर विलीन होने वाली है। तेज तो है, पर वेदी के धधकाने से जलने वाली ज्वाला है। मैं उसको अपना हृदय-समर्पण नहीं कर सकता। मुझको चाहिये बिजली के समान वक्र रेखाओं का सृजन करने वाली—आँखों को चौंधिया देने वाली तीव्र और विचित्र ज्वाला, जिसके हृदय में ज्वालामुखी धधकती हो, जिसे ईंधन का काम न हो, वही दुर्दमनीय तेज ज्वाला। मैं उसी का अनुगत हूँगा। यह हृदय उसी का लोहा मानेगा। इस फूलों के द्वीप में मधुप के समान विहार करूँगा। मैं इस देश के अनिर्दिष्ट आकाश-पथ का धूमकेतु हूँ। चलूं, मेरी महत्त्वाकांक्षा ने अवकाश और समय दोनों की सृष्टि कर दी है। उसमें पदार्थों के द्वारा नयी सृष्टि के साथ मैं भी कुहेलिका सागर में विलीन हो जाऊँ **(जाता है)**

दृ श्या न्त र

पञ्चम दृश्य

[उपासना-गृह नवीन रूप में, विलास सब लोगों का समझा रहा है, सब लोगों को खड़े होकर अभिवादन करना सिखला रहा है, बीच में वेदी, सामने सिंहासन और दोनों ओर चौकियाँ हैं, राजदण्ड हाथ में लिए हुए कामना रानी का प्रवेश, पीछे सेनापति विनोद और सैनिक]

कामना—**(सिंहासन के नीचे वेदी के सामने खड़ी होकर)** हे परमेश्वर! तुम सब से उत्तम हो, सब से महान् हो, तुम्हारी जय हो।

सब—तुम्हारी जय हो।

विलास—आप आसन ग्रहण करें।

[कामना मञ्च पर बैठती है]

कामना—आप लोगों को सुशासन की आवश्यकता हो गयी है; क्योंकि इस देश में अपराधों की संख्या बहुत बढ़ती चली जा रही है। यह मेरे लिए गौरव की बात है कि मुझे आप लोगों ने इसके उपयुक्त समझा है। परन्तु आप लोगों ने मेरे और अपने बीच का सम्बन्ध तो अच्छी तरह समझ लिया होगा?

एक—नहीं!

विलास—**(आश्चर्य से)** नहीं समझा! अरे, तुमको इतना भी नहीं ज्ञान हुआ कि ये तुम्हारी रानी हैं, और तुम इनकी प्रजा?

सब—हम प्रजा हैं।

विलास—देखो, ईश्वर असंख्य प्राणियों का, सारी सृष्टि का जिस प्रकार अधिपति है, उसी प्रकार तुम अपने कल्याण के लिये, अपनी सुव्यवस्था के लिये, न्याय और दण्ड के लिये इनको अपना अधिपति मानते हो। जिस प्रकार एक वन्य पशु दूसरे को सताकर उसे खा जाता है; और उसे दण्ड देने के लिए मृगया के रूप मे ईश्वर हम लोगो को आज्ञा देता है, उसी प्रकार हमारी इस जाति को एक-दूसरे के अपराधियों को दण्ड देने के लिये रानी की आवश्यकता हुई। और वह हुई —ईश्वर की प्रतिनिधि। अब सब लोग उसकी आज्ञा और नियमो का पालन करे; क्योंकि उसने तुम्हारे कष्टो को मिटाने के लिये पवित्र कुमारी होने का कष्ट उठाया है। उसके संकल्प हमारे कल्याण के लिये होगे।

विनोद—यथार्थ है। (तलवार सिर से लगाता है)

सब—हम अनुगत है। हमारी रक्षा करो।

कामना—तुम सब सुखी होगे। मेरे दो हाथ है, एक न्याय करेगा, दूसरा दण्ड देगा। दण्ड के लिए सेनापति नियुक्त है, परन्तु न्याय मे सहायता के लिए एक मन्त्री की—परामर्शदाता की—आवश्यकता है, जिससे मैं सत्य और न्याय के बल से शासन कर सकूँ। तुम लोगो मे से कौन इस पद को ग्रहण करना चाहता है ?

[सब परस्पर मुँह देखते है]

कामना—मै तो विलास को इस पद के उपयुक्त समझती हूँ, क्योंकि इन्ही की कृपा और परामर्शो से हम लोगो ने बहुत उन्नति कर ली है।

लीला—मेरी भी यही सम्मति है।

सब लोग—अवश्य।

[कामना एक स्वर्णपट्ट विलास को पहनाती है, एक ओर विलास दूसरी ओर विनोद चौकियों पर बैठते हैं, धूनी जलती है]

विलास—अपराधियो को बुलाया जाय।

विनोद—(सैनिकों से)—जाओ, उन्हे ले आओ !

[दो सैनिक एक-एक को बाँधे हुए ले आते है]

कामना—क्यो तुम लोगो ने शान्तिदेव की हत्या की है ?

विलास—और तुम अपना अपराध स्वीकर करते हो कि नही ?

अपराधी-१—हत्या किसे कहते है, यह मै नही जानता। परन्तु जो वस्तु मेरे पास नही थी, उसी को लेने के लिए हम लोगो मे शान्तिदेव पर तीरो से वार किया।

अपराधी-२—और इसीलिये कि उसके पास का सोना हम लोगों को मिल जाय।

कामना—देखो, तुम लोगों ने थोड़े-से सोने के लिये एक मनुष्य की हत्या कर डाली। यह घोर दुष्कर्म है।

विलास—और इसका दण्ड भी ऐसा होना चाहिये कि देखकर लोग काँप उठें, फिर कोई ऐसा दुस्साहस न करे।

विवेक—जिससे डरकर लोग तुम्हारा सोना न छुएँ!

कामना—कौन है यह?

विनोद—वही पागल!

विवेक—इसने उसी वस्तु के लेने का प्रयत्न किया है, जिसकी आवश्यकता इस समय समग्र द्वीपवासियों को है। फिर—

विलास—परन्तु इसका उद्योग अनुचित था।

विवेक—मैं पागल हूँ, क्या समझूँगा कि उचित उपाय क्या है। उपाय वही उचित होगा, जिसे आप नियम का रूप देंगे। परन्तु मैं पूछता हूँ, यहाँ इतने लोग खड़े है, इनमें कौन ऐसा है, जिसे सोना न चाहिये?

[कामना विलास का मुँह देखती है]

विवेक—वाह कैसा सुन्दर खेल है, खेलने के लिए बुलाते हो, और उसमें फँसा कर नचाते हो। स्वयं ज्वाला फैला दी है; अब पतंग गिरने लगे हैं, तो उनको भगाना चाहते हो?

विलास—न्याय में हस्तक्षेप करने वाले इस वृद्ध को निकाल दो। पागलपन की भी एक सीमा होनी है।

[विवेक निकाला जाता है]

कामना—अच्छा, इन्हें बन्दीगृह में ले जाओ। अन्तिम दण्ड इनको फिर दिया जायगा।

[बन्दियों को सैनिक ले जाते हैं, विलास, और कामना बातें करते हैं]

कामना—सेनापति, सभी उपस्थित पुरुषों को आज स्मरण-चिह्न लाकर दो।

[विनोद सबको स्वर्णमुद्रा देता]

कामना—प्यारे द्वीपवासियो, मेरी एकान्त इच्छा है कि हमारे-द्वीप-भर के लोग स्वर्ण के आभूषणों से लद जायँ। उनकी प्रसन्नता के लिये मैं प्रचुर साधन एकत्र करूँगी। परन्तु उस काम में क्या आप लोग मेरा साथ देंगे?

सब—यदि सोना मिले, तो हम लोग सब कुछ करने के लिए प्रस्तुत हैं।

विलास—सब मिलेगा, आप लोग रानी की आज्ञा मानते रहिये।

एक—अवश्य मानेंगे परन्तु न्याय क्या ऐसा ही होगा?

विलास—यह प्रश्न न करो।

विनोद—राजकीय आज्ञा की समालोचना करना पाप है।

विलास—दण्ड तो फिर दण्ड ही है। वह मीठी मदिरा नही है, जो गले में धीरे से उतार ली जाय।

सब—ठीक है। यथार्थ है।

विलास—देखो, अब से तुम लोग एक राष्ट्र में परिणत हो रहे। राष्ट्र के शरीर की आत्मा राजसत्ता है। उसका सदैव आज्ञा-पालन करना, सम्मान करना।

सब—हम लोग ऐसा ही करेगे!

[विनोद घुटने टेकता है, सब वैसा ही करके जाते हैं]

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[शान्तिदेव का घर]

लालसा—मेरा कोई नही है, साथी, जीवन का संगी और दुःख में सहायक कोई नहा है। अब यह जीवन बोझ हो रहा है। क्या करूँ अकेली बैठी हूँ, इतना सोना है, परन्तु इसका भोग नही, इसका सुख नही। ओह! **(उठती है और मदिरा का पात्र भरकर पीती है)**। परन्तु यह जीवन, जिसके लिए अनन्त सुख-साधन है, रोकर बिता देने के लिए नही है। सब सुखी है, सब सुख की चेष्टा मे है, फिर मै ही क्यो कोने मे बैठकर रुदन करूँ? देखो, कामना रानी है! वह भी तो इसी द्वीप की एक लड़की है। फिर कौन सी बात ऐसी है, जो मेरे रानी होने मे बाधक है? मै भी रानी हो सकती हूँ, यदि विलास हो क्यो नही। **(अपने आभूषणों को देखती है, वेश-भूषा सँवारती है, और गाती है)**

> किसे नही चुभ जाय, नैनों के तीर नुकीले!
> पलको के प्याले रसीले, अलकों के फन्दे गँसीले
> कौन देखूं बच जाय, नैनो के तीर नुकीले

[विलास का प्रवेश]

विलास—लालसा! लालसा! यह कैसा संगीत है? यह अमृत-वर्षा! मुझे नही विदित था कि इस मरुभूमि मे मीठे पानी का सोता छिपा हुआ बह रहा है। इधर से चला जा रहा था, अकस्मात् यह मनोहर ध्वनि सुनाई पड़ी। मै आगे न जा सका, लौट आया।

लालसा—**(बड़ी रुखाई से देखती हुई)** आप कौन है? हाँ, आप है! अच्छा, आ ही गये तो बैठ जाइये।

विलास—सुन्दरी ! इतना निष्ठुर विभ्रम ! इतनी अन्तरात्मा को मसलकर निचोड़ लेने वाली रुखाई ! तभी तुम्हारे सामने हार मानने की इच्छा होती है।

लालसा—इच्छा होती है, हुआ करे, मैं किसी की इच्छा को रोक सकती हूँ ?

विलास—परन्तु पूरी कर सकती हो।

लालसा—स्वय रानी पर जिसका अधिकार है, उसकी कौन-सी इच्छा अपूर्ण होगी ?

विलास—अब मुझी पर मेरा अधिकार नही रहा।

लालसा—देखती हूँ, बहुत-सी बाते भी आप से सीखी जा सकती है।

विलास—इसका मुझे गर्व था, परन्तु आज जाता रहा। मेरी जीवन-यात्रा मे इसी बात का सुख था कि मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नही पायी, परन्तु वह झूठा गर्व था। आज—

लालसा—तो क्या मैं सचमुच सुन्दरी हूँ !

विलास—इसमे प्रमाण की आवश्यकता नही।

लालसा—परन्तु मै इसको जाच लूंगी, तब मानूंगी। दो-एक लोगो से पूछ लूं। कही मुझे झूठा प्रलोभन तो नही दिया जा रहा है।

विलास—लालसा, मैं मानता हूँ **(स्वगत)** अब तो भाव और भाषा मे कृत्रिमता आ चली।

लालसा—फिर किसी दिन मुझे अपना मूल्य लगा लेने दीजिये।

विलास—अच्छा, एक वार वही गान तो सुना दो।

लालसा—जब मत्री महाशय की आज्ञा है, तब तो पूरी करनी ही पड़ेगी। अच्छा एक पात्र तो ले लीजिये।

[पिलाती है, गाती है—किसे नहीं चुभ जायँ·· इत्यादि]

विलास—कोई नही, कोई नही, इस अस्त्र से कौन बच सकता है ? अच्छा तो फिर किसी दिन।

[लालसा विचित्र भाव से सिर हिला देती है, विलास जाता है]

[लीला का प्रवेश]

लालसा—आओ सखी, बहुत दिनो पर दिखाई पडी।

लीला—नित्य आने-आने करती हूँ, परन्तु—

लालसा—परन्तु विनोद से छुट्टी नही मिलती।

लीला—विनोद, वह तो एक निष्ठुर हत्यारा हो उठा है। उसको मृगया से अवकाश नही।

लालसा—तब भी तुम्हारी तो चैन से कटती है।

[संकेत करती है]

लीला—चुप, तू भी वही—

लालसा—आह, यह लो !

लीला—मन नहीं लगा, तो तेरे पास चली आयी।

लालसा—तो मेरे पास मन लगाने की कौन-सी वस्तु है ? अकेली बैठी हुई दिन बिताती हूँ गाती हूँ, और सोती हूँ !

लीला—तेरे आभूषणों की तो द्वीप-भर में धूम है।

लालसा—परन्तु दुर्भाग्य की तो न कहोगी।

लीला—तू तो बात भी लम्बी-चौड़ी करने लगी। अभी-अभी तो देखा, विलास चले जा रहे है।

लालसा—और तू कहाँ से आ रही है, वह भी बताना पड़ेगा।

लीला—चुप, देख रानी आ रही है।

[रक्षकों के साथ रानी का प्रवेश, लालसा और लीला स्वागत करती हैं, संकेत करने पर सैनिक बाहर चले जाते हैं]

कामना—लालसा, तू लोगों से अब कम मिलती है, यह क्यो ?

लालसा—रानी, जी नही चाहता।

कामना—इसी से तो मैं स्वयं चली आयी।

लालसा—यह आपकी कृपा है कि प्रजा पर इतना अनुग्रह है।

लीला—रानी, इसे बड़ा दुःख है !

कामना—मेरे राज्य में दुःख !

लालसा—हाँ रानी ! मै अकेली हूँ। अपने स्वर्ण के लिए दिन-रात भयभीत रहती हूँ।

कामना—लालसा, सब के पास जब आवश्यकतानुसार स्वर्ण हो जायगा, तभी यह अशान्ति दबेगी।

लालसा—रानी, यदि क्षमा मिले, तो एक उपाय वतलाऊँ।

रानी—हाँ-हाँ, कहो।

लालसा—यह तो सब को विदित है कि शान्तिदेव के पास बहुत सोना है। परन्तु यह कोई नही जानता कि वह कहाँ से आया ?

लालसा—नदी-पार के देश से। आज तक इधर के लोग न जाने कब से यही जानते थे कि 'उस पार न जाना—उधर अज्ञात प्रदेश है'। परन्तु शान्तिदेव ने साहस करके उधर की यात्रा की थी, वह बहुत-से पशुओ और असभ्य मनुष्यों से वचते हुए वहाँ से यह सोना ले आये। जब नदी के इस पार आये, तो लोगों ने देख लिया, और इसी मे उनकी हत्या भी हुई।

कामना—हाँ ! (आश्चर्य प्रकट करती है)

लालसा—हाँ रानी, और उन हत्यारों को आज तक दण्ड भी नहीं मिला।

लीला—रानी, उसमें तो व्यर्थ विलम्ब हो रहा है। अवश्य कोई कठोर दण्ड उन्हें मिलना चाहिये। बेचारा शान्तिदेव !

कामना—अच्छा, चलो आज मृगया का महोत्सव है, वहीं सब प्रबन्ध हो जायगा।

[सब जाते हैं]

दृ श्या न्त र

सप्तम दृश्य

[जंगल में एक कुटी, वृक्ष के नीचे करुणा बैठी है]

संतोष—(प्रवेश करके) पतझड़ हो रहा है, पवन ने चौंका देने वाली गति पकड़ ली है—इसे वसन्त का पवन कहते हैं—मालूम होता है कि कर्कश और शीर्ण पत्रों के बीच चलने मे उसकी असुविधा का ध्यान करके प्रकृति ने कोमल पल्लवों का सृजन करने का समारम्भ कर दिया है। विरल डालों मे कहीं-कहीं दो फूल और कहीं हरे अंकुर झूलने लगे है—गोधूली मे खेतों के बीच की पगडण्डियाँ निर्जन होने पर भी मनोहर हैं—दूर-दूर रहट चलने का शब्द कम और कृषकों का गान विशेष हो चला है। इसी वातावरण मे हमारा देश बड़ा रमणीय था, परन्तु अब क्या हो रहा है, कौन कह सकता है। सब सुख स्वर्ण के अधीन हो गये, हृदय का सुख खो गया। पतझड़ हो रहा है।

करुणा—मानव-जीवन में कभी पतझड़ है, कभी वसन्त। वह स्वयं कभी पत्तियाँ झाड़कर एकान्त का सुख लेता है, कोलाहल से भागता है, और कभी-कभी फल-फूलों से लदकर नोचा-खसोटा जाता है।

संतोष—तुम कौन हो ?

करुणा—इसी अभागे देश की एक बालिका, जहाँ जीवन के साधारण सुख धन के आश्रय मे पलते है, जिसका अभाव दरिद्रता है।

संतोष—दरिद्रता ! कैसी विकट समस्या ! देवि, दरिद्रता सब पापों की जननी है, और लोभ उसकी सबसे बड़ी सन्तान हैं। उसका नाम न लो। देखो, अन्न के पके हुए खेतों में पवन के सर्राटे से लहर उठ रही है ! दरिद्रता कैसी ? कपड़े के लिये कपास बिखरे हैं। अभाव किसका ? सुख तो मान लेने की वस्तु है। कोमल गद्दों पर चाहे न मिले, परन्तु निर्जन मूक शिलाखण्ड से उसकी शत्रुता नहीं।

करुणा—हाँ, वसन्त की भी शोभा है और पतझड़ मे भी एक श्री है। परन्तु

वह सुख के संगीत अब इस देश में कहाँ सुनायी पड़ते है जिनसे वृक्षों मे—कुञ्जों में हलचल हो जाती थी और पत्थरों मे भी झनकार उठती थी। अब केवल एक क्षीण क्रन्दन उसके अट्टहास मे बोलता है।

संतोष—देवि, तुम्हारे और कौन है ?

करुणा—यह प्रश्न इस द्वीप मे नही था। सब एक कुटुम्ब थे, परन्तु अब तो यही कहना पड़ेगा कि मै शान्तिदेव की बहन हूँ। जब से उसकी हत्या हुई, मैं निस्सहाय हो गयी। लालसा ने सब धन अपना लिया और घर मे भी मुझे न रहने दिया। वह कहती है कि इस घर और सम्पत्ति पर केवल मेरा अधिकार है और रहेगा। मै इस स्थान पर कुटीर बनाकर रहती हूँ। अकेली मे अन्न नही उत्पन्न कर सकती, जंगली फलो पर निर्वाह करती हूँ। और कोई भी ससार के पदार्थ मै नही पा सकती, क्योकि सबके विनिमय के लिये अब सोना चाहिये। प्राकृतिक अमूल्य पदार्थो का मूल्य हो गया— वस्तु के बदले आवश्यक वस्तु न मिलने मे प्राकृतिक साधन भी दुर्लभ है। सोने के लिए सब पागल है। अकारण कोई बैठने नही देता। जीवन के समस्त प्रश्नो के मूल मे अर्थ का प्राधान्य है। मै दूर से उन धनियो के परिवार का दृश्य देखती हूँ। वे धन की आवश्यकता से इतने दरिद्र हो गये है कि उसके बिना उनके बच्चे उन्हे प्यारे नही लगते। धन का—अर्थ का -उपभोग करने के लिए बच्चो की—सन्तानो की—आवश्यकता होती है। मै अपनी निर्धनता के आँसू पीकर सन्तोष करती हूँ और लौटकर इसी कुटीर मे पडी रहती हूँ।

संतोष—धन्य तू बहन ! आज से मै तेरा भाई हूँ, मै तेरे लिये हल चलाऊँगा, तू दुःख न कर, मै तेरा सब काम करूँगा। जिसका कोई नही है, मै उसी का होकर देखूंगा कि इसमे क्या सुख है। हाँ, नाम तो बताया ही नही !

करुणा -करुणा !

संतोष—और मेरा नाम संतोष है बहन !

करुणा—अच्छा भाई, चलो कुछ फल है खा लो।

[दोनों कुटीर में जाते हैं]

दृ श्या न्त र

अष्टम दृश्य

[जंगल में शिकारी लोग मांस भून रहे है, मद्य चल रहा है, नये शिकार के लिए खोज हो रही है, एक ओर से विलास और विनोद का प्रवेश, दूसरी ओर से कामना, लालसा और लाला का आना, विनोद तलवार निकालकर सिर से लगाता है, वैसा ही सब करते हैं]

सब—रानी की जय हो।

कामना – तुम लोगों का कल्याण हो।

विलास—रानी, तुम्हारी प्रजा तुम्हें आशीर्वाद देती है।

विनोद—उसके लिए वैभव और सुख का आयोजन होना चाहिये ।

कामना—लालसा सोने की भूमि जानती है। वह तुम लोगों को बतायेगी। क्या उसे पाने के लिए तुम लोग प्रस्तुत हो ?

सब—हम सब प्रस्तुत है।

लालसा—उसके लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ेगा।

सब—हम सब उठायेंगे।

लालसा—अच्छा तो मैं बताती हूँ।

विनोद—और, इस प्रसन्नता मे मैं पहले से आप लोगों को एक वनभोज के लिए आमन्त्रित करता हूँ।

लीला – परन्तु लालसा की एक प्रार्थना है।

सब—अवश्य सुननी चाहिये।

लालसा—शांतिदेव की हत्या का प्रतिशोध।

[सब एक दूसरे का मुँह देखते हैं, लालसा विलास की ओर आशा से देखती है]

विलास—अवश्य, उन हत्यारे बन्दियों को बुलाओ।

[चार सैनिक जाते हैं]

कामना—हाँ, तो तुम लोगों को उस भूमि पर अधिकार करना होगा। डरोगे तो नही ? वह भूमि नदी के उस पार है।

एक—जिधर हम लोग आज तक नही गये ?

विनोद—इसी कायरता के बल पर स्वर्ण का स्वप्न देखते हो ?

सब—नही, नही सेनापति, अपने यह अनुचित कहा। हम सब वीर हैं।

विनोद—यदि वीर हो, तो चलो—वीरभोग्या तो वसुन्धरा होती ही है। उस पर जो सबल पदाघात करता है, उसे वह हृदय खोल कर सोना देती है।

कामना—लालसा को धन्यवाद देना चाहिये।

[बन्दी हत्यारों के साथ सैनिकों का प्रवेश]

लालसा—यही है, मेरे शान्तिदेव का हत्यारा !

कामना—तुम लोगों ने अपराध स्वीकार किया है ?

विवेक—**(प्रवेश करके)** मैंने तो आज बहुत दिनों पर यह नयी सृष्टि देखी है। परन्तु जो देखता हूँ, वह अद्भुत है। इन्होंने एक हत्या की थी सोने के लिये परन्तु तुम लोग उदर-पोषण के लिए सामूहिक रूप से आज निरीह प्राणियों की

हत्या का महोत्सव मना रहे हो। कल इसी प्रकार मनुष्यों की हत्या का आयोजन होगा।

हत्यारे—हमने कोई अपराध नहीं किया।

लीला—हत्यारों को इतना बोलने का अधिकार नहीं।

लालसा—इन्हें इन्हीं शिकारियों से मरवाना चाहिये।

विलास—जिसमें सब भयभीत हों, वैसा ही दण्ड उपयुक्त होगा।

कामना—ठीक है। इसी वृक्ष से इन्हें बाँध दिया जाय। और सब लोग तीर मारें।

[मदिरोन्मत्त सैनिक वैसा ही करते है, कामना मुँह फेर लेती है]

विवेक—रानी, देखो अपना कठोर दण्ड देखो—और अपराध से अपराध-परम्परा की सृष्टि को—

विलास—इस पागल को तुम लोग यहाँ क्यों आने देते हो।

विवेक—मेरी भी इस खुली हुई छाती पर दो-तीन तीर! रक्त की धारा वक्षस्थल पर बहेगी, तो मैं भी समझूँगा कि तपा हुआ लाल सोने का हार मुझे उपहार मे मिला है। रानी के सभ्य राज्य का जय-घोष करूँगा। लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम जब बर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे? तुम पहले इससे भी क्या विशेष असभ्य थे? आज शासनसभा का आयोजन करके सभ्य कहलाने वाले पशुओ, कल का तुम्हारा धुँधला अतीत इससे उज्ज्वल था!

कामना—यह बूढ़ा तो मुझे भी पागल कर देगा।

विनोद—हटाओ इसको।

[दो सैनिक उसे निकालते हैं]

विलास—तो लालसा कब बतायेगी उस भूमि को।

लालसा—मैं साथ चलूँगी।

विलास—फिर उस देश पर आक्रमण की आयोजना होनी चाहिये।

कामना—सब सैनिक प्रस्तुत हो जायँ।

सब—जब आज्ञा हो।

विनोद—वन-भोज समाप्त करके।

[सैनिक घूमते हैं]

कामना—अच्छी बात है।

[सब स्त्री-पुरुष एकत्र बैठते हैं। मद्य-मांस का भोज।
उन्मत्त होकर सब का एक विकट नृत्य]

विनोद—मेरा एक प्रस्ताव है।

सब—कहिये।

विनोद—यदि रानी की आज्ञा हो।

कामना—हाँ, हाँ, कहो।

विनोद—ऐसी उपकारिणी लालसा के कष्टो का ध्यान कर सब लोगो को चाहिए कि उनसे ब्याह कर लेने की प्रार्थना की जाय। कृतज्ञता प्रकाश करने का यह अच्छा अवसर है।

कामना—परन्तु—

विलास—नही रानी, उसका जीवन अकेला है, और अकेली पवित्रता केवल आपके लिये—

कामना—हाँ, अच्छी बात है, परन्तु किसके साथ?

एक स्त्री—नाम तो लालसा को ही बताना पडेगा।

लालसा—मै तो नही जानती। (लज्जित होती है)

लीला—तो मै चाहती हूँ कि हम लोगो के परम उपकारी विलास जी ही इस प्रार्थना को स्वीकार करे! यह जोडी बडी अच्छी होगी।

सब—(एक स्वर से) बहुत ठीक है।

[विनोद लालसा का और लीला विलास का हाथ पकड़कर मिला देते है, कामना त्रस्त हो उस यूथ से अलग होकर खड़ी हो जाती है और आश्चर्य तथा करुणा से देखती है, स्त्रियाँ घेर कर नाचती हुई गाती है]

छिपाओगी कैसे—आँखे कहेगी।
बिथुरी अलक पकड लेती है,
प्रेम की आँख चुराओगी कैसे—
आँखे कहेगी

राग-रक्त होते कपोल है
लेते ही नाम बताओगी कैसे—
आँखे कहेगी

य व नि का

तृतीय अङ्क

प्रथम दृश्य

[नवीन नगर के एक भाग में आचार्य दम्भ का घर, क्रूर, दुर्वृत्त, प्रमदा और दम्भ]

दम्भ—निर्जन प्रान्तों मे गन्दे झोपडे ! बिना प्रमोद की राते। दिन भर कडी धूप मे परिश्रम करके मृतको की सी अवस्था मे पड रहना। संस्कृति-विहीन, धर्म-विहीन जीवन ! तुम लोगो का मन तो अवश्य ऊब गया होगा।

प्रमदा—आचार्य—कही मदिरा की गोष्ठी के उपयुक्त स्थान नही ! संकेत-गृहों का भी अभाव ! उजडे कुञ्ज, खुले मैदान और जंगल, शीत, वर्षा तथा ग्रीष्म की सुविधा का कोई साधन नही। कोई भी विलास-शील प्राणी कैसे सुख पावे।

दम्भ—इसीलिये तो नवीन नगर-निर्माण की मेरी योजना सफल हो चली है। झुण्ड-के-झुण्ड लोग इसमे आकर बसने लगे है। जैसे मधुमक्खियाँ अपने मधु की रक्षा के लिए मधुचक्र का सृजन करती है, वैसे ही इस नगर मे धर्म और संस्कृति की रक्षा होगी। नवीन विचारो का यह केन्द्र होगा। धर्म-प्रचार मे यहा से बडी सहायता मिलेगी।

दुर्वृत्त—बडा सुन्दर भाविष्य है। सुन्दर महल, सार्वजनिक भोजनालय, संगीत-गृह और मदिरा-मन्दिर तो है ही, उनमे धर्म-भावनाओं की भव्यता बडा प्रभाव उत्पन्न कर रही है। देहाती अशिक्षित मनुष्यो को ये विशेष रूप से आकर्षित करते है। इससे उनके मानसिक विकास मे बडी सहायता मिलेगी।

क्रूर—यह तो ठीक है। यहाँ पर अधिक-से-अधिक सोने की आवश्यकता होगी। यहाँ व्यय की प्रचुरता नित्य अभाव का सृजन करेगी। और अन्य स्थानो की अच्छी वस्तु यहाँ एकत्र करने के लिये नये उद्योग-धन्धे निकालने होगे।

दम्भ—स्वर्ण के आश्रय से ही संस्कृति और धर्म बढ सकते है। उपाय जैसे भी हो, उससे सोना इकट्ठा करो, फिर उसका सदुपयोग करो। हम प्रायश्चित्त कर लेगे।

प्रमदा—स्त्रियाँ पुरुषो की दासता मे जकड गयी है, क्योंकि उन्हे ही स्वर्ण की अधिक आवश्यकता है। आभूषण उन्ही के लिये है। मैने स्त्रियो की स्वतन्त्रता का मन्दिर खोल दिया है। यहाँ वे नवीन वेश-भूषा से अद्भुत लावण्य का सृजन करेंगी। पुरुष स्वयं अब उनके अनुगत होगे। मै वैवाहिक जीवन को घृणा की दृष्टि से देखती हूँ। उन्हे धर्म-भवनो की देवदासी बनाऊँगी।

दुर्वृत्त—और यहाँ कौन उसे अच्छा समझता है। पर मैंने कुछ दूसरा ही उपाय सोच लिया है।

क्रूर—वह क्या ?

दुर्वृत्त—इतने मनुष्यों के एकत्र रहने में सुव्यवस्था की आवश्यकता है। नियमों का प्रचार होना चाहिये। इसलिए इस धर्म-भवन से समय-समय पर व्यवस्थाएँ निकलेंगी। वे अधिकार उत्पन्न करेंगी और जब उनमे विवाद उत्पन्न होगा, तो हम लोगों का लाभ ही होगा—नियम न रहने से विशृंखला जो उत्पन्न होगी !

क्रूर—प्रमदा के प्रचार से विलास के परिणाम-स्वरूप रोग भी उत्पन्न होंगे। इधर अधिकारो को लेकर झगड़े भी होगे, मार-पीट होगी। तो फिर मैं औषधि और शस्त्र-चिकित्सा के द्वारा अधिक-से अधिक सोना ले सकूँगा।

प्रमदा—परन्तु आचार्य की अनुमति क्या है ?

दुर्वृत्त—आचार्य होगे व्यवस्थापक। फिर तो अवस्था देखकर ही व्यवस्था बनानी पड़ेगी।

दम्भ—संस्कृति का आन्दोलन हो रहा। उसकी कुछ लहरें ऊँची है और कुछ नीची। यह भेद अब फूलों के द्वीप मे छिपा नही रहा। मनुष्य-मात्र के बराबर होने के कोरे असत्य पर अब विश्वास उठ चला है। उसी भेद-भाव को लेकर समाज अपना नवीन सृजन कर रहा है। मैं उसका संचालन करूँगा।

दुर्वृत्त—परोपकार और सहानुभूति के लिए समाज की अत्यन्त आवश्यकता है।

दम्भ—योग्यता और संस्कृति के अनुसार श्रेणी-भेद हो रहा है। जो समुन्नत विचार के लोग है, उन्हे विशिष्ट स्थान देना होगा। धर्म, सस्कृति और समाज की क्रमोन्नति के लिये अधिकारी चुने जायेंगे। इससे ममाज की उन्नति मे बहुत-से केन्द्र बन जायँगे जो स्वतन्त्र रूप से इसकी सहायता करेंगे। उस समय हमारी जाति समृद्धि और आनन्द-पूर्ण होगी। इस नगर मे रहकर हम लोग युद्ध और आक्रमणों से भी बचेंगे।

[विवेक प्रवेश करके]

विवेक—बाबा ! ये बड़े-बड़े महल तुम लोगों ने क्यो बना डाले ? क्या अनन्त काल तक जीवित रहकर दु ख भोगने की तुम लोगों की बलवती इच्छा है ?

दम्भ—गन्दा वस्त्र, असभ्य व्यवहार, यह कैसा पशु के समान मनुष्य है ! इसको लज्जा नही आती ?

विवेक—जो अपराध करता है, उसे लज्जा होती है। मैं क्यों लज्जित होऊँ। मुझे किसी स्त्री की ओर प्यासी आँखो से नही देखना है, और न तो कपड़ों के आडम्बर मे अपनी नीचता छिपानी है।

दुर्वृत्त—बर्बर ! तुझे बोलने का भी ढंग नही मालूम ! जा, चला जा, नही तो मै बता दूंगा कि नागरिकों से कैसे व्यवहार किया जाता है।

विवेक—काँटे तो बिछ चुके थे, उनसे पैर बचाकर चलने में त्राण हो जाता, परन्तु तुम लोगों ने नगर बनाकर धोखे की टट्टियों और चालों का भी प्रस्तार किया है। तुम्ही मुँह के बल गिरोगे। सम्हलो! लौट चलो उस नैसर्गिक जीवन की ओर, क्यों कृत्रिमता के पीछे दौड़ लगा रहे हो।

प्रमदा—जा बूढ़े, जा; कही से एक पात्र मदिरा माँग कर पी ले, और उसके आनन्द में कही पड़ा रह। क्यो अपना सिर खपाता है!

विवेक--ओह! शान्ति और सेवा की मूर्ति, स्त्री के मुख से यह क्या सुन रहा हूँ—फूलों के मुँह से वीभत्सता की ज्वाला निकलने लगी है। शिशिर-प्रभात के हिम-कण चिनगारियाँ बरसाने लगे है। पिता! इन्हे अपनी गोद मे ले लो!

दम्भ—चुप! धर्म-शिक्षा देने का तुझे अधिकार नही—जा, अपनी माँद मे घुस। अस्पृश्य, नीच।

विवेक—मै भागूंगा, इस नगर-रूपी अपराधो के घोसले से अवश्य भागूंगा—परन्तु तुम पर दया आती है। (जाता है)

दम्भ---गया— सिर दुखने लगा। इस बकवादी को किसी ने रोका भी नही।

दुर्वृत्त— इन्ही सब बातो के लिए नियम की, व्यवस्था की आवश्यकता है।

प्रमदा---जाने दो। कुछ मदिरा का प्रसग चले। देखो, वे नागरिक आ रहे है।

[मद्यपात्र लिये हुये नागरिक और स्त्रियाँ आती हैं, सबका पान और नृत्य]

दृश्यान्त

द्वितीय दृश्य

[स्कन्धावार के पटमण्डप में कामना रानी]

कामना—प्रकृति शान्त है, हृदय चचल है। आज चाँदनी का समुद्र बिछा हुआ है। मन मछली के समान तैर रहा है, उसकी प्यास नही बुझती। अनन्त नक्षत्र-लोक से मधुर वंशी की झनकार निकल रही है; परन्तु कोई गाने वाला नही है। किसी का स्वर नही मिलता। दासी! प्याम—

[सन्तोष का प्रवेश]

कामना—कौन? सन्तोष!

सन्तोष—हाँ रानी!

कामना—बहुत दिनों पर दिखायी पड़े।

सन्तोष—हाँ रानी!

कामना—किधर भूल पड़े? अब क्या डर नही लगता?

सन्तोष—लगता है रानी !

कामना—(कुछ संकोच से) फिर भी किस साहस से यहाँ आये।

सन्तोष—(मुस्कराकर)—देखने के लिये कि मेरी आवश्यकता अब भी है कि नहीं।

कामना—परिहास न करो सन्तोष !

सन्तोष—परिहास ! कभी नही। जब हृदय ने पराभव स्वीकार करके विजय-माला तुम्हे पहना दी और तुम्हारे कपोलों पर उत्साह की लहर खेल रही थी, उसी समय तुमने ठोकर लगाकर मेरी सुन्दर कल्पना को स्वप्न कर दिया। रमणी का रूप—कल्पना का प्रत्यक्ष—सम्भावना की साकारता और दूसरे अतीन्द्रिय रूप-लोक, जिसके सामने मानवीय महत् अहम्भाव लोटने लगता है, जिस पिच्छिल भूमि पर स्वतन्त्र विवेक बनकर खड़ा होता है, जहाँ प्राण अपनी अतृप्त अभिलाषा का आनन्द-निकेतन देखकर पूर्ण वेग से धमनियों मे दौड़ने लगता है, जहाँ चिन्ता विस्मृत होकर विश्राम करने लगती है, नयी रमणी का—तुम्हारा—रूप देखा था—और यह नही कह सकता कि मैं झुक नहीं गया। परन्तु, मैंने देखा कि उस रूप मे पूर्ण-चन्द्र के वैभव की चन्द्रिका-सी सबको नहला देने वाली उच्छृंखल वासना, वह अपार यौवन-राशि समुद्र के जल-स्तूप के समान समुन्नत—उसम गर्व से ऊँची रहस्य-पूर्ण कुतूहल की प्रेरणा थी। मैने विचारा कि यह प्यास बुझाने का मधुर-स्रोत नही है, जो मलिनता की मीठी छाँह मे बहता है।

कामना—क्या यह सम्भव नही कि तुमने भूल की हो, उसे उजेले मे न देखा हो ! अँधेरे मे अपनी वस्तु न पहचान सके हो !

सन्तोष—वह तमिस्रा न थी, और न तो अन्धकार था, प्रेम की गोधूली थी, सन्ध्या थी। जब वृक्षों की पत्तियाँ सोने लगती हे, जब प्रकृति विश्राम करने का संकेत करती है, पवन रुक कर सन्ध्या-सुन्दरी के सीमन्त मे सूर्य का सिन्दूर रेखा लगाना देखने लगता हे, पक्षियों का घर लौटने का मगल गान होने लगता है, सृष्टि के उस रहस्यपूर्ण समय मे जब न तो तीव्र, चौका देने वाला आलोक था—न तो नेत्रों को ढँक लेने वाला तम था, तुम्हे देखने की—पहचानाने की—चेष्टा की, और तुम्हे कुहक के रूप मे देखा।

कामना—और देखते हुए भी आँखे बन्द थी।

सन्तोष—मेरे पास कौन सम्बल था कामना-रानी !

कामना—ओह ! मेरा भ्रम था !

सन्तोष—क्या तुम्हें दुःख है कामना !

कामना—मेरे दुःखों को पूछकर और दुःखी न बनाओ।

सन्तोष—नही कामना, क्षमा करो। तुम्हारे कपोलों के ऊपर और भौंहों के

नीचे एक श्याम मण्डल है, नीरव रोदन हृदय मे और गम्भीरता ललाट में खेल रही है। और भी एक लज्जा नाम की नयी वस्तु पलको के परदे मे छिपी है, जो कुछ ऐसी मर्म की बातें जानती हैं, जिन्हे हम लोग पहले नही जानते थे।

कामना— जाने दो सन्तोष ! तुम्हे अब इससे क्या ! तुम तो सुखी हो।

सन्तोष—सुखी। हाँ मैं सुखी हूँ—मेरी एक ही अवस्था है। दुखों की बात उनसे पूछो, तुम्हारी राज्य-कल्पना से जिनकी मानसिक शुभेच्छा एक बार ही नष्ट हो गयी है। जिन पर कल्याण की मधु-वर्षा नही होती, उन अपनी प्रजाओं से पूछो, और पूछो अपने मन से।

कामना—जाओ सन्तोष, मुझे और दुखी न बनाओ।

[सिर झुका लेती हैं]

सन्तोष—अच्छा रानी, मैं जाता हूँ (जाता है)

कामना—(कुछ देर बाद सिर उठाकर) क्या चला गया—

[दासी पात्र लिये आती है, और सखियाँ आती हैं]

पहली। रानी, मन कैसा है ?

दूसरी—मैं बलिहारी यह उदासी क्यो है ?

कामना—यह पूछकर तुम क्या करोगी ?

पहली -फिर किससे कहोगी ?

दूसरी—पगली ! देखती नही ! स्त्री होकर भी नही जानती, नही समझती।

पहली—रानी, देश मे अन्य बहुत-से युवक हे।

कामना—तो फिर ?

दूसरी—ब्याह कर लो रानी !

कामना—चुप मूर्ख ! मै पवित्र कुमारी हूँ। मैं सोने से लदी हुई, परिचारिकाओ से घिरी हुई, अपने अभिमान-साधना की कठिन तपस्या करूँगी। अपने हाथो से जो विडम्बना मोल ली है उसका प्रतिफल कौन भोगेगा ? उसका आनन्द, उसका ऐश्वर्य और उसकी प्रशसा, क्या इतना जीवन के लिए पर्याप्त नही है ?

पहली—परन्तु —

दूसरी —जीवन का सुख, स्त्री होने का उच्चतम अधिकार कहाँ मिला ? रानी, तुम किसी पुरुष को अपना नही बना सकी।

कामना—देखती हूँ, तू बहुत बढी चली जा रही है। क्या तुझे —

पहलो—क्षमा हो, अपराध क्षमा हो।

दूसरी—रानी, मुझे चाहे तीरों से छिदवा दो; परन्तु मैं एक बात बिना कहे न

मानूँगी। जब इस विदेशी विलास को तुम्हारे साथ देखती हूँ, तब मैं क्रोध से काँप उठती हूँ। कुछ वश नहीं चलता, इससे रोने लगती हूँ। बस, और क्या कहूँ !

कामना—प्यारी, तू उस बात को न सुना, उसे बधिरता के घने परदे में छिपा रहने दे। मेरे जीवन के निकटतम रहस्य को अमावस्या से भी काली चादर में छिपा रख। मैं रोना चाहती हूँ; पर रो नहीं सकती। हाँ—

दूसरी—अच्छा, मैं कुछ गाऊँ, जिससे मन बहले।

कामना—सखी—

[गान]

जाओ, सखी, तुम जी न जलाओ,
हमें न सताओ जी।

पहली—तुम व्यर्थ रही बकती,
कामना—तुम जान नहीं सकती,
मन की कथा है कहने की नहीं,
दूसरी—मत बात बनाओ जी।
पहली—समझोगी नहीं सजनी,
दूसरी—अब प्रेममयी रजनी,
भर-नैन सुध छवि चाख गयी
अब क्या समझाओ जी।

[विलास का प्रवेश]

विलास—रानी !

कामना—(सम्हल कर) क्यों विलास ! यह नगर कैसा बसाया जा रहा है ?

विलास—आज भयानक युद्ध होगा। कल बताऊँगा।

कामना—अच्छा खेल होगा, सभ्यता का तांडव नृत्य होगा। वीरता की तृष्णा बुझेगी, और हाथ लगेगा सोना !

विलास—व्यंग न करो रानी ! विनोद आज मदिरा में उन्मत्त है; कोई सेनापति नहीं है।

कामना—तो मैं चलूँ ?

विलास—मैं तो पूछ रहा हूँ।

कामना—अच्छी बात है, आज तुम्हीं सेनापति का काम करो। लीला और लालसा भी रणक्षेत्र में साथ जायँगी कि नहीं ?

[नेपथ्य में कोलाहल]

विलास—(बिगड़कर) स्त्रियों के पास और होता क्या है।

कामना—कुछ नहीं, अपना सब कुछ देकर ठोकरें खाना ! उपहास का लक्ष्य बन जाना !

विलास—इस समय युद्ध के सिवा और कुछ नहीं ! फिर किसी दिन उपालम्भ सुन लूंगा। (वेग से जाता है)

[लीला और लालसा के साथ मद्यप विनोद का प्रवेश]

विनोद—रानी, सब पागल है।

कामना—एक तुमको छोडकर विनोद !

विनोद—मैं तो कहता हूँ, दस घड़े रक्त के न बहाकर यदि एक पात्र मदिरा पी लो, सब-कुछ हो गया।

लीला—रानी, देखो, यह सोने का जाल नया बनकर आया है।

कामना—बहुत अच्छा है।

लालसा—और यह सोने के तारों से बिनी हुई नयी साडी तो देखी ही नहीं। (दिखाती है)

कामना—वाह ! कितनी सुन्दर शिल्पकला है !

विनोद—इस देश से खूब सोना घर भेजा गया है। वहाँ नये-नये सौन्दर्य-साधन बनाये जा रहे है। रानी, लाल रक्त गिराने से पीला सोना मिलने लगा। कैसा अच्छा खेल है।

कामना —बहुत अच्छा।

लालसा -आज विलास सेनापति होकर आक्रमण करने गये हैं, तो विनोद, तुम्ही मेरे पटमण्डप मे चलो। मैं अकेली कैसे रहूँगी ?

विनोद —हाँ, यह तो अत्यन्त खेद की बात है। परन्तु कोई चिन्ता नही। चलो। (दोनों जाते हैं)

लीला—रानी !

कामना—लीला !

लीला—यह सब क्या हो रहा है ?

कामना—ऐश्वर्य और सभ्यता के परिणाम।

लीला--तुम रानी हो, रोको इसे।

कामना—मेरा स्वर्ण-पट्ट देखकर प्रथम तुम्ही को इसकी चाह हुई, आकांक्षा हुई। अब क्या, देश मे धनवान और निर्धन, शासकों का तीव्र तेज, दीनों की विनम्र-दयनीय दासता, सैनिक-बल का प्रचण्ड ताप, किसानों की भारवाही पशु की सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और बर्बर, सैनिक और किसान, शिल्पी और व्यापारी और इन सभी के ऊपर सभ्य व्यवस्थापक—सब कुछ तो है। नये-नये

सन्देश, नये-नये उद्देश्य, नयी-नयी संस्थाओं का प्रचार, सब कुछ सोना और मदिरा के बल से हो रहा है। हम जागते में स्वप्न देख रहे हैं।

लीला—ओह! (जाती है)

[दो सैनिक एक स्त्री को बाँधकर लाते हैं]

कामना—यह कौन है?

सैनिक—युद्ध में यह बन्दिनी बनायी गयी है।

कामना—इसका अपराध?

सैनिक—सेनापति के आने पर वह स्वयं निवेदन करेंगे। हम लोगों को आज्ञा हो तो जायँ, युद्ध समाप्त होने के समीप है।

कामना—जाओ।

[दोनों जाते हैं]

स्त्री—तुम रानी हो?

कामना—हाँ।

स्त्री—रानी बनने की साध क्यों हुई? क्या आँखें इतनी रक्तधारा देखने को प्यासी थी? क्या इतनी भीषणता के साथ तुम्हारा ही जयघोष किया जाता है?

कामना—मेरे दुर्भाग्य से।

स्त्री—और तुम चुपचाप देखती हो?

कामना—तुम बन्दी हो, चुप रहो।

[रक्ताक्त-कलेवर विजयी विलास का प्रवेश]

विलास—जय! रानी की जय!

कामना—क्या शत्रु भाग गये?

विलास—हाँ रानी!

कामना—अच्छा विलास, बैठो, विश्राम करो।

विलास—(देखकर) आहा। यह अभी यहीं है। इसको मेरे पटमण्डप में न ले जाकर यहाँ किसने छोड़ दिया है?

कामना—वह सैनिक इसे यहीं पकड़ लाया। परन्तु कहो विलास, इसे क्यों पकड़ा?

विलास—तुमको रानी, राज्य करने से काम, इन पचड़ों में क्यों पड़ती हो? युद्ध में स्त्री और स्वर्ण, यही तो लूट के उपहार मिलते हैं। विजयी के लिए यही प्रसन्नता है। इसे मेरे यहाँ भेज दो।

कामना—विलास, तुमको क्या हो गया है? मैं रानी हूँ, तुम्हारी शैय्या सजाने की दासी नही।

स्त्री—दोहाई रानी की ! तुम्हारे राज्य के बदले मुझे ऐसा पुरुष नहीं चाहिए। मुझे बचाओ, यह नरपिशाच ! ओह—**(मुँह ढाँकती है)**

विलास—अच्छा जाता हूँ। **(सरोष प्रस्थान)**

दृ श्या न्त र •

तृतीय दृश्य

[पथ में लालसा]

लालसा—दारुण ज्वाला, अतृप्ति का भयानक अभिशाप ! मेरे जीवन का संगी कौन है ? मै लालसा हूँ, जन्म भर जिसे सन्तोष नही हुआ ! नगर से आ रही हूँ। प्रमदा के स्वतन्त्रता-भवन के आनन्द-विहार से भी जी नही भरा, कोई किसी को रोक नही सकता और न तो विहार की धारा मे लौटने की बाधा है। उच्छृंखल उन्मत्त विलास—मदिरा की विस्मृति। विहार की श्रान्ति फिर भी लालसा ! **(देखकर)** अरे मै घूमती-घूमती किधर निकल आयी ? कही बहुत दूर। यदि कोई शत्रु आ गया तो **(ठहर कर सोचती है)** क्या चिन्ता ?

[एक शत्रु सैनिक का प्रवेश]

सैनिक—तुम कौन हो ?

लालसा—मैं, मै ?

सैनिक—हाँ, तुम।

लालसा—सेनापति विलास की स्त्री।

सैनिक—जानती हो, कल तुम्हारे सेनापति ने मेरी स्त्री को पकड लिया है ? आज तुमको यदि मैं पकड ले जाऊँ ?

लालसा—**(मुसकरा कर)** कहाँ ले जाओगे ?

सैनिक—यह क्या ?

लालसा—कहाँ चलूँ, पूछती तो हूँ। तुम्हारे सदृश पुरुष के साथ चलने मे किस सुन्दरी को शंका होगी ?

सैनिक—इतना अधःपतन ! हम लोगो ने तो समझा था कि तुम्हारे देश के लोग केवल स्वर्ण-लोलुप शृगाल ही है, परन्तु नही, तुम लोग तो पशुओ से भी गए-बीते हो जाओ।

लालसा—तो क्या तुम चले जाओगे ? मेरी ओर देखो।

सैनिक—छिः ! देखने के लिये बहुत-सी उत्तम वस्तुएँ है। सरल शिशुओं की निर्मल हँसी, शरद का प्रसन्न आकाश-मण्डल, वसन्त का विकसित कानन, वर्षा की

तरंगिणी-धारो, माता और सन्तानो का विनोद देखने से जिसे छुट्टी हो, वह तुम्हारी ओर देखे ।

लालसा—तुम्हारे वाक्य मेरी कर्मेन्द्रियो को माँग रहे है । मैं कैसे छोड दूं, कैसे न दूं । ठहरो, मुझे इस सम्पूर्ण मनुष्यत्व को आँखो से देख लेने दो ।

सैनिक—जाओ रमणी, लौट जाओ ! तुम्हारा सेना-निवेश दूर है ।

लालसा—फिर तुम्हे इतने रूप की क्या आवश्यकता थी, जब हृदय ही न था ?

[तिरस्कार से देखता हुआ सैनिक जाता है]

लालसा—**(स्वगत)** चला जायगा । यो नही **(प्रकट)** अच्छा तो सुनो । क्या तुम अपनी स्त्री को भी नही छुडाना चाहते ?

सैनिक—**(लौटकर)** अवश्य छुडाना चाहता हूँ—प्राण भी देकर ।

लालसा—तुम्हारे शिष्ट आचरण का प्रतिदान करूँगी । चलोगे, डरने तो नही ?

[दोनों जाते है, विलास का प्रवेश]

विलास—यह उन्मत्त विलास—लालसा ! वक्ष स्थल मे प्रबल पीडा । ओह ! अविश्वासिनी स्त्री, तूने मेरे पद की मर्यादा, वीरता का गोरव और ज्ञान की गरिमा सब डुबा दी ! जी चाहता है, इस अतृप्त हृदय मे छुरा डालकर नचा दूं । **(ठहरकर)** परन्तु विलास ! विलास ! तुझे क्या हो गया है ? तुझे इमसे क्या ? राज्य यदि करना है, तो इन छोटी-छोटी बातो पर क्यो ध्यान देता है ? अपनी प्रतिभा से शासन कर !

[विवेक आता है]

विवेक—आहा ! मंत्री और सेनापति महाशय, नमस्कार परन्तु नही, जब मंत्री और सेनापति दोनो पद-पदार्थ एक आधार मे है तब राजा क्या कोई भिन्न वस्तु है । दोनो की सम्मिलित शक्ति ही तो राजशक्ति है । अतएव हे राज-मंत्री सेनापति ! हे दिक्काल पदार्थ ! हे जन्म जीवन और मृत्यु ! आपको नमस्कार !

विलास—**(विवेक का हाथ पकड़ कर)** बूढे, सच बता, तू पागल है या कोई बना हुआ चतुर व्यक्ति ? यदि तुझे मार डालूं ।

विवेक—**(हँसकर)** अरे जिसे इतनी पहचान नही कि मैं पागल हूँ या स्वस्थ, वह राज-कार्य क्या करेगा ?

विलास—अच्छा, तुम यहाँ क्या करने आये हो ?

विवेक—लड़ाई कभी नही देखी थी, बड़ी लालसा थी, उसी से—

विलास—तो तू ही वह व्यक्ति है, जिसने बहुत-से घायलों को पास की अमराई में इकट्ठा कर रखा है और उनकी सेवा करता है ?

विवेक—यह भी यदि अपराध हो, तो दण्ड दीजिये; नहीं तो समझ लीजिये कि पागलपन है।

विलास—फिर विचार करूँगा, इस समय जाता हूँ।

विवेक—विचार करते जाइये, कलेजा फाड़ते जाइये, छुरे चलाते रहिये और विचार करते रहिये। विचार से न चूकिये, नहीं तो—

विलास—चुप—

विवेक—आहा, विचार और विवेक को कभी न छोड़िये, चाहे किसी के प्राण ले लीजिये, परन्तु विचार करके।

[विलास सरोष चला जाता है, विवेक दूसरी ओर जाता है]

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[खेत में करुणा की कुटी, संतोष अन्न की बालें एकत्र कर रहा है, दुर्वृत्त आता है]

दुर्वृत्त—क्यों जी, इस खेत का तुम कितना कर देते हो ?

संतोष—कर !

दुर्वृत्त—हाँ। रक्षा का कर।

सन्तोष—क्या इस मुक्त प्राकृतिक दान में भी किसी आपत्ति का डर है ? और क्या उन आपत्तियों से तुम किसी प्रकार इनकी रक्षा भी कर सकते हो ?

दुर्वृत्त—मुझे विवाद करने का समय नहीं है।

सन्तोष—तब तो मुझे भी छुट्टी दीजिये, बहुत काम करना है।

दुर्वृत्त—**(क्रोध से देखता हुआ)** अच्छा जाता हूँ।

[करुणा आती है]

करुणा—भाई, तुम्हें काम करते बहुत विलम्ब हुआ। थक गये होंगे—चलो, कुछ खालो।

सन्तोष—बहन ! इस गाँठ को भीतर धर दूँ, तो चलूँ।

[परिश्रम से थका हुआ सन्तोष बोझ उठाता है, गिर पड़ता है, उसके पैर में चोट आती है, करुणा उसे उठाकर भीतर ले जाती है]

[एक ओर से वन-लक्ष्मी, दूसरी ओर से महत्त्वाकांक्षा का प्रवेश]

वन-लक्ष्मी—देखो, तुम्हारी कर लेने की प्रवृत्ति ने अन्नों के सत्व को हल्का कर

दिया, कृषक थकने लगे हैं, खेतो को सींचने की आवश्यकता हो गयी। उर्वरा पृथ्वी को भी कृत्रिम बनाया जाने लगा है।

महत्त्वाकांक्षा—विलास के लिए साधन कहाँ से आयेंगे? यह जंगलीपन है। अकर्मण्य होकर प्रकृति की पराधीनता क्यों भोग करें। जब शक्ति है, फिर अभाव क्यों रह जाय?

वन-लक्ष्मी—विलास की महत्त्वाकांक्षा! तुम्हारा कही अन्त भी है। कब तक और कहाँ तक तुम मानव-जाति को झगड़ते देखना चाहती हो?

महत्त्वाकांक्षा—प्रकृति अपनी सीमा क्यों नही बनाती। फूलों की कोमलता और उनका सौरभ एक ही प्रकार का रहने से भी तो काम चल जाता। फिर इतनी शिल्पकला, पंखड़ियों की विभिन्नता, रंग की सजावट क्यों? तब हम अनन्त साधनों से अपने सुख को अधिकाधिक सम्पूर्ण क्यों न बनायें।

वन-लक्ष्मी—दौड़ाओ काल्पनिक महत्त्व के लिए। अतृप्ति के कशाघात से उत्तेजित करो। परन्तु प्रकृति के कोष से अनावश्यक व्यय करने का किसको अधिकार है? यह ऋण है। इसे कभी भी कोई चुका सकेगा? प्राकृतिक पदार्थो का अपव्यय करके भावी जनता को दरिद्र ही नही बनाया जा रहा है, प्रत्युत उनकी वृत्ति का उद्गम ही बन्द कर देने का उपक्रम है। वे अपने पूर्वजों के इस ऋण को चुकाने के लिए भूखों मरेंगे।

महत्त्वाकांक्षा—मरे; कौन निर्बलों का जीवन अच्छा समझता है! देखो यही न, सन्तोष और करुणा। इनकी क्या अवस्था है।

वन-लक्ष्मी—इन पर तुम्हे दया नही; ये सच्चे है, सृष्टि की अमूल्य सम्पत्ति हैं। इनकी रक्षा करो।

महत्त्वाकांक्षा--**(हँसती है)** तुम सरल हो।

वन-लक्ष्मी—तुम कुटिलता मे ही सौन्दर्य देखती हो।

महत्त्वाकांक्षा—तरल जल की लहरें भी सरल नही। बाँकपना ही तो सौन्दर्य है। मैं उसी को मानती हूँ। करुणा और सन्तोष सृष्टि की दुर्बलताएँ हैं। मेरे पास उनके लिये सहानुभूति नहीं। **(जाती है)**

वन-लक्ष्मी—मेरा मृदुल कुटुम्ब! मेरा कोमल शृंगार! इस क्रूर महत्त्वाकांक्षा से झुलस रहा है। मैं उन्हें आलिंगित करूँगी। **(खेत में बैठकर एक तृणकुसुम को देखती हुई)** तू कुछ कह रहा है। तेरा कुछ सन्देश है। तेरी लघुता एक महान् रहस्य है। मैं तेरे साथ स्वर मिलाकर गाऊँगी।

[गाती है]

पृथ्वी की श्यामल पुलकों में सात्विक स्वेद-बिन्दु रंगीन।
नृत्य कर रहा हिलता हूँ मैं मलयानिल से हो स्वाधीन॥

आँधी की बहिया वह जाती चिढ़ कर चल जाती चपला।
मैं यों ही हूँ, ये कोई भी मेरी हँसी न सकते छीन।।
तितली अपना गिरा और भूला-सा पंख समझती है।
मुझे छोड़ देती, मेरा मकरन्द मुझी में रहता लीन।।
मधु सौरभ वाले फल-फूलों को लुट जाने का डर हो।
मैं झूला झूलती रही हूँ—बनी हुई अम्लान नवीन।।
व्यथित विश्व का राग-रक्त क्षत हूँ मुझको पहचानो तो।
सुधा-भरी चाँदनी सुनाती मुझको अपनी जीवन-बीन।।

दृ श्या न्त र

पञ्चम दृश्य

[फूलों के द्वीप में एक नागरिक का घर]

पिता—बेटा, इतनी देर हुई, अभी तक सोते रहोगे, क्या आज खेतों मे नही जायगा ?

लड़का—**(आँख मलता हुआ)** पहले एक प्याली मदिरा, फिर दूसरी बात, **(अँगड़ाई लेकर)** ओह बड़ी पीडा है।

पिता—लडके ! तुझे लज्जा नही आती ! मुझसे मदिरा माँगता है ?

लड़का—तो माँ से कह दो, दे जाय।

[माता का प्रवेश]

माता—क्यों, आज भी सबेरा हो गया, अभी सुनार के यहाँ नही गये, हल पकड़े खड़े हो ? इससे तो अच्छा होता कि बैलो के बदले तुम्ही इसमे जुतते। आज के उत्सव मे चार स्त्रियों के सामने क्या पहनकर जाऊँगी।

पिता—तो अच्छी बात है, सोने का गहना बैठकर खाना और चबाना मेरी सूखी हड्डियाँ ! लड़के को चोपट कर डाला। वह मुझसे मदिरा माँगता है, और तुम माँगती हो आभूषण।

लड़का—**(लेटा हुआ)** तुम दोनो कैसे मूर्ख बकवादी हो। एक प्याली देने में इतनी देर ! इतना झंझट !

माता—तुझ-सा निखट्टू पति मेरे ही भाग्य में बदा था ! मैं यदि—

पिता—हाँ, हाँ कहो 'यदि' क्या ? यही न कि दूसरे की स्त्री होती, तो गहनों से लद जाती; परन्तु उसके साथ पापों से भी -

लड़का—देखो, मुझे एक प्याला दे दो, और एक-एक तुम लोग —बस झगड़ा मिट जायगा। जो बैल होंगे, आप ही कुछ देर में खेत पर पहुँच जायँगे।

पिता —*कुलांगार ! यह धृष्टता मुझसे सही न जायगी।*

लड़का—तो लो, मै जाता हूँ। युद्ध मे सैनिक बनकर आनन्द करूँगा। तुम दोनो के नित्य के झगडे से तो छुट्टी मिल जायगी। **(उठता है)**

माता—यह बाप है कि हत्यारा ? एक प्याला मदिरा नही दे देता। लडके को मरने के लिये युद्ध मे भेजना चाहता है। जान पडता है, इसने दूसरे बाल-बच्चे स्त्री आदि बना लिये है, अब हम लोगो की आवश्यकता नही रही। एक को तो युद्ध मे भेज दिया, दूसरे को भी—

पिता—वह तेरे लिए स्वर्ण लाने गया है। पिशाचिनी ! तू माँ है ? तुझे आभूषणो की इतनी आवश्यकता ?

लडका —अच्छा, तो फिर जाता हूँ **(उठता और गिर पड़ता है, फिर माँ से कहता है)** तू ही दे दे, इस खेतिहर गँवार को जाने दे।

[पिता क्रोध से चला जाता है]

माता —अच्छा लो, पर फिर न माँगना। **(देती है)**

लड़का—**(लेटा हुआ)** नही, आँख खुलने तक नही। अभी एक नीद सो लेने दो। **(लेटता है)**

माता —कैसा सीधा लडका है। **(हँसती है)**

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[नवीन नगर की एक गली मे नागरिको का प्रवेश]

पहला नागरिक —सब ठीक है ! कामना ने यदि उन विचार-प्रार्थियो के कहने से कुछ भी इस नगर पर अत्याचार किया तो हम लोग उसका प्रतिकार करेगे।

दूसरा नागरिक—वह क्या ?

पहला नागरिक—विलास को यहाँ का राजा बनावेगे और कामना को बन्दी।

दूसरा नागरिक —यहाँ तक ?

पहला नागरिक—बिना राजा के हम लोगो का काम नही चलेगा। यह तुच्छ स्त्री, कोमल हृदय की पुतली शासन का भेद क्या जानेगी।

दूसरा नागरिक —क्या और लोग भी इसके लिए प्रस्तुत है ?

पहला—सब ठीक है, अवसर की प्रतीक्षा है। चलो, आज दम्भदेव के यहाँ उत्सव है। तुम चलोगे कि नही ?

दूसरा —हाँ, हाँ चलूँगा। **(दोनों जाते है)**

[करुणा का सन्तोष को लिये हुये प्रवेश]

करुणा—किससे पूछूं—भाई सन्तोष, थोड़ी देर यहीं बैठो, मैं क्रूर का घर पूछ आती हूँ। बड़ी पीड़ा होगी। आह! **(सहलाती है)**

सन्तोष—करुणे! मैं तुम्हारे अनुरोध से यहाँ चला आया हूँ। मुझे तो इस वैद्य के नाम से भी निर्वेद होता है।

करुणा—मेरे लिये भाई—मेरे लिये! बैठो मैं आती हूँ—**(जाती है)**

[एक नागरिक का प्रवेश]

नागरिक—**(सन्तोष को देखकर)** तुम कौन हो जी?

सन्तोष—मनुष्य—और दुखी मनुष्य।

नागरिक—तब यहाँ क्या है जो किसी के घर पर बिना पूछे बैठ गये?

सन्तोष—यह भी अपराध है? मैं पीड़ित हूँ, इसी से थोड़ा विश्राम करने के लिए बैठ गया हूँ।

नागरिक—अभी नगर-रक्षक तुम्हें पकड़कर ले जायगा। क्योंकि तुमने मेरे अधिकार में हस्तक्षेप किया है। बिना मेरी आज्ञा लिये यहाँ बैठ गये। क्या यह कोई धर्मशाला है?

सन्तोष—मैं तो प्रत्येक गृहस्थ के घर को धर्मशाला के रूप में देखना चाहता हूँ, क्योंकि इसे पापशाला कहने में संकोच होता है।

नागरिक—देखो इस दुष्ट को। अपराध भी करता है और गालियाँ भी देता है। उठ जा यहाँ से, नहीं तो धक्के खायगा!

सन्तोष—हे पिता! तुम्हारी सन्तान इतनी बँट गयी है।

नागरिक—क्या हिस्सा भी लेगा? उठ-उठ—चल—

सन्तोष—भाई, मैं बिना किसी के अवलम्ब के चल नहीं सकता। मेरी बहन आती है मैं चला जाऊँगा।

नागरिक—क्या तेरी बहन!

सन्तोष—हाँ—

नागरिक—**(स्वगत)** आने दो, देखा जायगा।

[दौड़ती हुई करुणा का प्रवेश, पीछे मद्यप दुर्वृत्त]

दुर्वृत्त—ठहरो सुन्दरी! मुझे विश्वास है कि तुमको न्यायालय की शरण लेनी पड़ेगी—मैं व्यवस्था बतलाऊँगा, तुम्हारी सहायता करूँगा, तुम सुनो तो! हाँ—क्या अभियोग है? किसी ने तुम्हें—एँ!

करुणा—**(भयभीत)** भाई सन्तोष! लो यह मद्यप!

दुर्वृत्त—चलो, तुम्हें भी पिलाऊँगा। बिना इसके न्याय की बारीकियाँ नहीं सूझतीं—हाँ, तो फिर एक चुम्बन भी लिया—यही न!

करुणा—नीच, दुराचारी !

सन्तोष—क्यों नागरिक ! यही तुम्हारा सभ्य व्यवहार है ?

दुर्वृत्त—अनधिकार चेष्टा—मूर्ख ! तू भी न्यायालय से दण्ड पावेगा—तुम साक्षी रहना नागरिक !

नागरिक—(करुणा की ओर देखता हुआ) सुन्दर है ! हाँ-हाँ, यह तो अनधिकार चेष्टा प्रारम्भ से ही कर रहा है; बिना मुझसे पूछे यहाँ बैठ गया और बात भी छीनता है।

सन्तोष—मैं चिकित्सा के लिए यहाँ आया हूँ। क्यों मुझे तुम लोग तंग कर रहे हो—चलो करुणा, हम लोग चलें।

दुर्वृत्त—वाह ! चलो चलें ! ए—तुम्हें परिचय देना होगा, तुम असभ्य बर्बर यहाँ किसी बुरी इच्छा से आये होंगे। नागरिक ! बुलाओ शान्तिरक्षक को।

सन्तोष—(हँसकर) शान्ति तुम्हारे घर कहीं है भी जो तुम उसकी रक्षा करोगे ? बाबा, हम लोग जाते है जाने दो।

दुर्वृत्त—परिचय देना होगा तब—

करुणा—परिचय देने में कोई आपत्ति नहीं है। मैं मृत शान्तिदेव की बहन हूँ।

[दुर्वृत्त आँख फाड़ कर देखता है]

नागरिक—तब यह तुम्हारा भाई कैसे ? इसमें कुछ रहस्य है।

दुर्वृत्त—तुम क्या जानो, चुप रहो (करुणा से) हाँ, तुम्हारा तो बड़ा भारी अभियोग है, न्यायालय अवश्य तुम्हें सहायता देगा। क्यों, तुमने शान्तिदेव का धन कुछ पाया ? अकेली लालसा उसे नहीं भोग सकती। तुम्हारा भी उसमें कुछ अंश है।

नागरिक—हाँ यह तो ठीक कहा—

करुणा—मुझे कुछ न चाहिये। मुझे जाने की आज्ञा दीजिये।

दुर्वृत्त—नहीं, मैं अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं हो सकता; तुम्हारा उचित प्राप्य, न्यायालय की सहायता से दिलाना मेरा कर्त्तव्य है। तुम व्यवहार लिखाओ।

सन्तोष—हम लोगों को कुछ न चाहिये।

[क्रूर का प्रवेश]

दुर्वृत्त—आओ नागरिक क्रूर ! यह तुमसे चिकित्सा कराने बड़ी दूर से आया है।

क्रूर—(सन्तोष को देखता हुआ) यह ! अरे इसकी तो टाँग सड़ गयी है, भयानक रोग है, इसको काटकर अलग कर देना होगा।

सन्तोष—हे देव ! यह क्या लीला है ! यह सब पिशाच हैं कि मनुष्य ! मुझे चिकित्सा न चाहिये, मुझे जाने दो।

नागरिक—नगर का दुर्नाम होगा, ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हें चिकित्सा करानी होगी। मैं शस्त्र ले आता हूँ। (जाता है)

[प्रमदा का सहेलियों के साथ नाचती हुई आना, दूसरी ओर से दम्भ का अपने दल के साथ प्रवेश]

दम्भ—क्यों दुर्वृत्त! क्रूर! तुम लोग अभी उत्सव में नहीं मिले।

क्रूर—कुछ कर्त्तव्य है आचार्य! यह पीडित है, इसकी चिकित्सा—

दम्भ—(सन्तोष को देखकर) छि छिः। पवित्र देवकार्य के समय तुम अस्पृश्य को छुओगे? (सन्तोष से) जा रे, भाग!

दुर्वृत्त—(धीरे से) यह शान्तिदेव की बहन है। उसके पास अपार धन था। इसे न्यायालय में ले चलूँगा और क्रूर को भी इसकी चिकित्सा से कुछ मिलेगा। हम दोनों का लाभ है।

दम्भ— यह सब कल होगा। (नागरिक से) यह तुम्हारा घर है न?

नागरिक—हाँ।

दम्भ—आज इसे तुम अपने यहाँ रक्खो। कल इसकी चिकित्सा होगी। और प्रमदा! इस सुन्दरी को देवदासियों के दल में सम्मिलित कर लो। इसके लिए न्यायालय का प्रबन्ध कल किया जायगा। आज पवित्र दिन है, केवल उत्सव होना चाहिये।

[नागरिक सन्तोष को पकड़ता है, और प्रमदा एक मद्यप के साथ करुणा को खींचती है, विवेक दौड़कर आता है]

विवेक—कौन इस पिशाच-लीला का नायक है?

[सब सहम जाते हैं, विवेक सबसे छुड़ाकर दोनों को लेकर हटता है]

दम्भ—तू कौन इस उत्सव में धूमकेतु-सा आ गया? छोड़कर चला जा, नहीं तो तुझे पृथ्वी के नीचे गड़वा दूँगा।

विवेक—मैं चला जाऊँगा। फूल के समान आया हूँ, सुगन्ध के सदृश जाऊँगा। तू बच, देख उधर। (सब उसे पकड़ने को चञ्चल होते हैं, विवेक दोनों को लिये हटता है। भूकम्प से नगर का वह भाग उलट-पलट हो जाता है)

दृश्यान्तर

सप्तम दृश्य

[आक्रांत देश का एक गाँव, एक बालिका और विवेक]

बालिका—आज तक तो हमारे ऊपर अत्याचार होता रहा है; परन्तु कोई इतनी मित्रता नहीं दिखलाने आया। तू आज छल करने आया है।

विवेक—नहीं माँ, जा बड़े-बूढ़ों को बुला ला।

बालिका—परन्तु—

विवेक—हाय रे पाप ! इन निरीह बालकों में भी विश्वास का अभाव हो गया है। विश्वास करो माँ, बुला लो।

[बालिका जाती है, चार वृद्ध और युवक आते हैं]

विवेक - मैं उसी शापित देश का हूँ, जिसमें सोने की ज्वाला धधक उठी है, मदिरा की वन्या बाढ पर है। क्या मुझ पर विश्वास करोगे ?

युवक कहो, तुम्हारा प्रयोजन सुन लें।

विवेक हमारे और तुम्हारे देश की सीमा में एक नया राज्य स्थापित हो गया है। यह हमारे देश के विद्रोहियों का एक घृणित संगठन है। उसने अत्याचार का ठेका ले लिया है। उससे क्या हम तुम दोनों बचना चाहते है ?

युवक —परन्तु उपाय क्या है ?

विवेक—हम लोगों को भाई समझकर मित्र-भाव की स्थापना करो, और इनके अत्याचारों से रक्षा करो। हम परस्पर दूसरे के सहायक हों।

युवक – किस प्रकार ?

विवेक आज न्यायालय में विचार होने वाला है, और तुम्हारे देश के जो दो बन्दी हुए है, उन्हें दण्ड मिलेगा। हम लोगों में से बहुतेरे उसके विरुद्ध है, यदि तुम लोग भी हमारी सहायता करो, तो इस भीषण आतंक से सबकी रक्षा हो।

युवक हम लोग ठीक समय पर पहुँचेंगे। परन्तु वहाँ तक जाने कैसे पावेंगे ?

विवेक—हमारी सेवा से जितने आहत अच्छे हो चुके है उन्हीं लोगों के दल के साथ। और, इस अच्छे कर्म के लिए बहुत सहायक मिलेंगे।

युवक—अच्छा, तो हम जाते है।

विवेक—तुम्हारा कल्याण हो।

[युवक और उसके साथी जाते हैं, दूसरी ओर से वही बालिका दौड़ती हुई आती है, पीछे दो उन्मत्त मद्यप है]

बालिका—दोहाई है, बचाओ ! बचाओ !

मद्यप सैनिक -सुन्दरी, दौड़-धूप करने पर तो प्रेम का आनन्द नही रहता। माना कि यह भी एक भाव है; पर वह मुझे रुचिकर नही। सुन तो लो— **(पकड़ता है)**

बालिका अरे, तुम क्या मनुष्यता को भी मदिरा के साथ घोलकर पी गये हो !

सैनिक—मदिरा के नाम से वही तो पीता हूँ।

विवेक—**(आगे बढ़कर)** क्यो, तुम वीर सैनिक हो न ?

सैनिक— क्या इसमें भी सन्देह है ?

विवेक—कायर ! छोड़ दे नहीं तो दिखा दूँगा कि इन सूखी हड्डियों में कितना बल है !

सैनिक—जा पागल ! तू क्यों मरना चाहता है ?

विवेक – दूसरे की रक्षा मे, पाप का विरोध और परोपकार करने में, प्राण तक दे देने का साहस किस भाग्यवान् को होता है ? नीच. ! आ, देखू तो !

[सैनिक तलवार से प्रहार करने को उद्यत होता है, विवेक सामने तन कर खड़ा होता और उसकी कलाई पकड़ लेता है]

सैनिक—अब छोड दो, हाथ टूटता है।

विवेक - (छोड़कर) इसी बल पर इतना अभिमान ! जा अब सीधा हो जा। देश का कलंक धोने में हाथ बँटा, कल परीक्षा होगी।

सैनिक - पिता ! क्षमा करो; जो आज्ञा होगी, मैं और मेरे साथी, सब वही करेंगे।

विवेक—स्मरण रखना। (दोनों सिर झुकाकर जाते हैं)

दृ श्या न्त र

अष्टम दृश्य

[सैनिक न्यायालय में रानी और सैनिक लोग बैठे हैं, एक ओर से विलास, दूसरी ओर से लालसा का प्रवेश]

विलास रानी, यह बन्दिनी स्त्री बड़ी भयानक है। हमारी सेना के समाचार लेने आयी थी ! इसको दण्ड देना चाहिए।

लालसा—और एक व्यक्ति मेरे मण्डप में भी है। वह भी कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। दोनों का साथ ही विचार हो।

[रानी के संकेत करने पर चार सैनिक जाते हैं और दोनों को ले आते हैं, शत्रु-सैनिक और स्त्री दोनों एक दूसरे को देख चीत्कार करते हैं]

विलास यह स्त्री प्राण-दण्ड के योग्य है। इसने सेना का सब भेद जान लिया था। यदि यह पकड़ न ली जाती, तो उस दिन के युद्ध मे हम लोगों को पराजित होना पड़ता।

लालसा—और सीमा पर मैं इस पुरुष से मिली। यदि मैं इसे भुलावा देकर न ले आती, तो यह मेरा बड़ा अपमान करता, जो इस जाति के लिये कलंक की बात होती।

रानी—विलास !

विलास—कुछ नहीं रानी, इन्हें प्राणदण्ड !

लालसा—इनसे पूछने की क्या आवश्यकता है ? हम लोगों का कहना ही क्या इसके लिए यथेष्ट प्रमाण नहीं है ?

सब सैनिक—हाँ, हाँ सेनापति का अनुरोध अवश्य माना जाय।

कामना—तब मुझे कुछ कहना नहीं है।

विलास—(सैनिकों से) दोनों को इसी वृक्ष से बाँध दो, और तीर मारो।

स्त्री—क्यों शत्रु-सेनापति ! स्त्री पर अत्याचार न कर पाने पर उसका प्राण लेना ही न्याय है ? परन्तु प्राण तुम ले सकते हो, मेरा अमूल्य धन नहीं।

शत्रु-सैनिक सुन्दरी लालसा, तुम स्त्री हो या पिशाचिनी ?

लालसा—जा, जा, मर।

[दोनों को बाँधकर तीर मारे जाते हैं, कई प्रार्थियों का प्रवेश]

सैनिक—रानी, द्वेष ने मुझे सोते में छुरा मारकर घायल किया है, न्याय कीजिये।

दूसरा—प्रमदा मेरे आभूषणों की पेटी लेकर दुर्वृत्त के साथ भाग गयी। उससे मेरे आभूषण दिला दिये जायँ।

तीसरा—रानी, मैं बड़ा दुखी हूँ। मेरा मदिरा का पात्र किसी ने चुरा लिया। मैं बड़े कष्ट से रात बिताता हूँ।

चौथा—नवीना मेरी विश्वासपात्र प्रेमिका बनकर गहने के लोभ से स्वर्णभूति के साथ जाने के लिए तैयार है उसे समझा दिया जाय, अन्यथा मै आत्महत्या करूँगा।

पाँचवाँ—रानी, मेरा लड़का सब धन बेच कर मदिरा पी जाता है, उससे मेरा सम्बन्ध छुड़ा दिया जाय।

एक स्त्री—मुझे विश्वास देकर, कौमार-भंग करके अब यह मद्यप मुझसे ब्याह नही करता।

एक दूत--(प्रवेश करके) जिस नवीन नगर की प्रतिष्ठा कुछ लोगों ने की थी, उसमें बहुत से अपराधी जाकर छिपे थे, वह नगर भूकम्प में चला गया।

रानी—ठहरो। मुझे पागल न बनाओ। अपराधों की आँधी ! चारों ओर कुकर्म ! ओह !

[आठ वर्ष का एक बालक दौड़ा आता और दण्डितों के शवों पर गिर पड़ता है, कामना उठकर खड़ी हो जाती है]

कामना—बालक, तुम कौन हो ?

बालक—(रोता हुआ) मेरी माँ मेरे पिता—

कामना—क्यों विलास, यह क्या हुआ।

लालसा—ठीक हुआ।

कामना—लालसा, चुप रहो। तुम न मंत्री हो, और न सेनापति।

लालसा—हाँ, मैं कुछ नही हूँ—तो फिर—

विलास—उन्हें उपयुक्त दण्ड दिया गया।

कामना—यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है, तो मैं व्यर्थ रानी बनना नही चाहती। मेरी प्रजा इस बर्बरता से जितना शीघ्र छुट्टी पावे, उतना ही अच्छा। **(मुकुट उतारती हुई)** यह लो, इस पाप-चिह्न का बोझ अब मैं नही वहन कर सकती। यथेष्ट हुआ। प्यारे देशवासियो, लौट चलो, इस इन्द्रजाल की भयानकता से भागो। मदिरा से सिंचे हुये चमकीले स्वर्ण-वृक्ष की छाया से भागो।

[सिंहासन से हटती है]

[विवेक का उन्मत्त भाव से प्रवेश, कामना बालक को गोद में लेती है]

विवेक—बहुत दिन हुए, जब मैंने कहा था कि 'भागो-भागो'। तब तुम्हीं सब लोगों ने कहा था कि 'पागल है'; और मैं पागल बन गया। **(देखकर)** कामना, आहा मेरी पगली लड़की! आ मेरी गोद में आ—चल, हम लोग वृक्षों की शीतल छाया मे लौट चलें।

[कामना दौड़कर विवेक से लिपट जाती है]

विनोद—मदिरा और स्वर्ण के द्वारा हम लोगों में नवीन अपराधों की सृष्टि हुई, और हुई एक महान माया-स्तूप की रचना। हमारे अपराधों ने राजतन्त्र की अवतारणा की। पिता की सदिच्छा, माता का स्नेह, शील का अनुरोध हम लोगों ने नही माना। तब अवश्य दण्ड के सामने सिर झुकाना पड़ेगा। कामना, हम सब तुम्हारे साथ है।

विलास—सज्जनो! सैनिको! देश दरिद्र है, भूखा है। क्या तुम लोग इन देशद्रोहियों के पीछे चलोगे? यह भी क्या खेल है?

विवेक—खेल था, और खेल ही रहेगा। रोकर खेलो चाहे हँसकर। इस विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि, सब को एक मे मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा भूल जाती है; होने लगता है विषमता का विषमय द्वन्द्व। तब सिवा हाहाकार और रुदन के क्या फैलेगा? हँसने का काम भूल गये। पशुता का आतंक हो गया। मनुष्यता की रक्षा के लिये, पाशवी वृत्तियों का दमन करने के लिए राज्य की अवतारणा हो गयी; परन्तु उसकी आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि हुई। इसका उद्देश्य तब सफल होगा, जब वह अपना दायित्व कम करेगी—जनता को, व्यक्ति को, आत्मसंयम और आत्मशासन सिखाकर विश्राम लेगी। जब अपराधों की मात्रा घटेगी और क्रमश: समूल नष्ट होगी, तब संघर्षमय शासन स्वयं तिरोहित होगा। आत्मप्रतारको! उस दिन की

प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासितों और शासकों का भेद विलीन होकर विराट्-विश्व जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा।

विनोद—आओ, हम सब उस मधुर-मिलन के योग्य हों। उस अभिनय का मंगल पाठ पढ़े।

[अपना स्वर्णपट्ट और आभूषण उतार कर फेंकता है, लीला भी उसका अनुकरण करती है]

लीला—जितने भूले-भटके होंगे, वे इन्हीं पागलों के पीछे चलेंगे। हम अपने फूलों के द्वीप से काँटों को चुनकर निकाल बाहर करेंगे।

[बहुत-से लोग अपने स्वर्ण-आभूषण और मदिरा के पात्र तोड़ते हैं, विलास और लालसा आश्चर्य के भाव से देखते हैं]

विलास—सैनिको, तुम्हारी क्या इच्छा है ? तुम वीर हो। क्या तुम इन्हीं का-सा दीन और निरीह जीवन बिताओगे ? क्या फिर उसी दुःखपूर्ण देश में जाओगे जहाँ न तो सोने के पानपात्र हैं, और न माणिक के रंग की मदिरा ?

कुछ लोग—हम लोग यहीं नगर बसाकर रहेंगे।

एक—और तुम हमारे राजा बनो।

[वह गिरा हुआ मुकुट उसे पहनाता है, लालसा भी रानी का स्थान ग्रहण करने के लिए आगे बढ़ती है, 'ठहरो-ठहरो' कहते हुए दोनों ओर से सैनिकों के साथ सन्तोष का प्रवेश]

विवेक—सन्तोष ! तुमने बहुत विलम्ब किया।

आगन्तुक सै०—क्या ! यह हत्या ? तुम हत्या करके भी यह साहस करते हो कि हम लोग तुम्हें अपना सर्वस्व मानें। यह ठीक है कि हम लोगों को विधि-निषेधात्मक एक सर्वमान्य सत्ता की अब आवश्यकता हो गयी है; परन्तु तुम कदापि इसके योग्य नही हो। सोने से लदी हुई लालसा रानी ! और मदिरा से उन्मत्त विलास राजा !! आश्चर्य ! ! !

[विलास के साथी सैनिक भी स्वर्ण और अस्त्र रख देते हैं]

विलास—तब लालसा !

लालसा—अनन्त समुद्र में, काल के काले परदे में, कही तो स्थान मिलेगा—चलो विलास !

[दोनों जाते हैं]

कामना—मेरे सन्तोष ! प्रिय सन्तोष ! !

सन्तोष—मेरी मधुर कामना—(कामना का हाथ पकड़ लेता है)

[परिवर्तित दृश्य, समुद्र में नौका पर विलास और लालसा, सब नागरिक उस पर स्वर्ण फेंकते हैं, नाव डगमगाती है, लालसा का क्रन्दन—'सोने से नाव डूबी, अब नहीं बस', तुमुल तरंग, परिवर्त्तित दृश्य में अन्धकार, दूसरी ओर आलोक, फूलों की वर्षा]

[समवेत स्वर से गान]

खेल लो नाथ, विश्व का खेल !
राजा बन कर अलग न बैठो, बनो नहीं अनमेल !
वही भाव फिर लेगी जनता, भूल जायगी सारी समता।
कहाँ रही प्यारी मानवता, बढी फूट की बेल ॥
रुदन, दु:ख, तम-निशा, निराशा इन द्वंद्वों का मिटे तमाशा।
स्मित आनन्द उषा औ' आशा, एक रहें कर मेल ॥
हम सब हैं हो चुके तुम्हारे, तुम भी अपने होकर प्यारे।
आओ, बैठो साथ हमारे, मिलकर खेलें खेल ॥
खेल लो नाथ, विश्व का खेल !

[यवनिका]

•

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

पूज्य पिताश्री ने 'राज्यश्री' को अपना पहला ऐतिहासिक रूपक बताया है। तदनन्तर -'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नाग यज्ञ' के पश्चात यह 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' उनका पाँचवां ऐतिहासिक रूपक है।

वे इससे सहमत नहीं थे कि इतिहास केवल अकल्पित–आकस्मिक घटनाओं की एक संहति है : अजातशत्रु की भूमिका (कथावस्तु) मे इस प्रसंग को स्पष्ट करते— अपने रूपकों की तत्त्व-दिशा उन्होंने दिखाई है—

"मानव समाज की कल्पना का भण्डार अक्षय है क्योकि वह इच्छा शक्ति का विकास है। इन कल्पनाओं का, इच्छाओ का मूल-सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्फुट होता है। जब वह इच्छा-शक्ति किसी व्यक्ति या जाति मे केन्द्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है तभी इतिहास की सृष्टि होती है। **विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नहीं प्राप्त होती तब तक वह रूप परिवर्त्तित करती पुनरावृत्ति करती ही जाती है।** समाज की अभिलाषा अनन्त स्रोत वाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते-होते एक नई कल्पना उसका विरोध करने लगती है। और, पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहर कर फिर होने के लिए अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव समाज के इतिहास का इसी प्रकार संकलन होता है। इतिहास मे घटनाओ की प्रायः पुनरावृत्ति होती देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नही कि उसमे कोई नई घटना होती ही नही, किन्तु असाधारण नई घटना भी भविष्य में फिर होने की आशा रखती है।"

कामायनी के संघर्ष सर्ग में मनुष्य की तात्त्विक परिभाषा इस प्रकार की गई है—'यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित'। तब, इस जड़ जगत और उसके

अभिमानी मनुष्य के इतिहास की स्रोत-भूमि—चेतना का इतिवृत्त उपेक्षणीय नहीं होगा। वह चेतना अनादिकाल से स्वाप और जागरण के अंकों में विलसित रह समस्त मानव-भाव सत्य की अधिष्ठान भूमि बनी है। स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की समकालीन रचना कामायनी कहती है—

चेतना का सुन्दर इतिहास निखिल मानव भावों का सत्य
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य

उसी हृदयपटल की भूमि के उत्खनन में जो प्रत्नोपलब्धियाँ कवि को हुईं—उनके भावांकनों से प्रसादवाङ्मय समृद्ध है।

कामायनी के आमुख में भी इतिहास के इस अनदेखे पक्ष के प्रति इस प्रकार का संकेत मिलता है—

"प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कह कर अलग कर दिया जाता है क्योंकि उन चरित्रों के साथ भावनाओं का भी बीच-बीच मे संबंध लगा हुआ-सा दीखता है। घटनाएं कहीं-कहीं अतिरंजित-सी भी जान पड़ती है। तथ्य संग्रहकारणी तर्क-बुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है। किन्तु उनमे भी कुछ सत्यांश घटना से संबद्ध है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्त्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहां से प्रारम्भ होती है ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं से बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति-पट पर अमिट रहता है, परन्तु कुछ अतिरंजित-सा। वे घटनाएं आज विचित्रता से पूर्ण जान पड़ती है। सम्भवतः इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियों का निरुक्त के द्वारा अर्थ करना पड़ा जिससे कि उन अर्थों का अपनी वर्त्तमान रुचि से सामञ्जस्य किया जाय।"

क्या है वह स्मृति और उस स्मृति का हेतु—जिसके पट पर और भी पहले की बीती हुई बातों का उल्लेख अमिट रहता है? अतीत से चले आ रहे वे संस्कार ही स्मृति-हेतु हैं जिनकी आपुजित मूर्त्ति वासना है, और जहाँ से कल्पनाएं उदित हुआ करती हैं। पातंजल योग में साधन पाद के तेरहवें सूत्र पर व्यास भाष्य है—'ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्तावासनास्ताश्च अनादिकालीना'। उसमें मूर्च्छा या अवसान और प्रबोध तो है, रूपान्तरण भी है, किन्तु उसका सर्वथा विलोप, कथमपि नही। पुनः पुनः आलोकित होने के लिए सौदामिमी-सी वह वासना घनान्तरित हुआ करती है : कर्म और संस्कार की सन्धि में उसका जागरण होता है। मन्वन्तर के आरम्भ में

'अग्निहोत्र' रूप कर्म (यज्ञो वै कर्म—शतपथ) और अतीत संस्कार से आतत स्मृति की सन्धि से मनु की चिन्ता में—'नव हो जगी अनादि वासना'।

वासना, संस्कार, स्मृति और कल्पना के सन्दर्भ में ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की यह कारिका—'कादाचित्कावभासे या पूर्वाभासाति योजना, संस्कारात्कल्पना प्रोक्ता सापिभिन्नावभासिनी (१-६-६)—प्रसंग को और स्पष्ट करती है। इसी कारिका की विमर्शिनी टीका में महामाहेश्वर अभिनवगुप्त का प्रश्न है—'भिन्ने हि कथमनुसन्धानम् ?' फिर समाधान में कहते है—'संस्कारात्—प्राक्तनानुभवकृत वासना प्रबोधज स्मृतिवशात्'।

इस वासना और वासना प्रबोधज स्मृति[1] पर प्रसाद-वाङ्मय के कृती का ध्यान कहीं भी छूटता नही चाहे काव्य हो नाटक हो किवा गद्य क्योंकि अतीत से वर्त्तमान में अनेकधा रूपान्तरित यह ऐसी मणि मेखला है जिसमे मनन की वह असाधारण अवस्था भी आती है जहां चेतना के मूल विन्दु आत्मा की स्थिति अभेदतः अनायास ही प्रत्यक्ष हो जाती है। कालिदास और शेक्सपीयर के चरित्रो की तुलना करते इस वासना को ही कसौटी मान कर वे कहते है—'शेक्सपीयर के पात्र बलवती वासनाओं के मानव रूप है, सो भी अति चित्रण हे। कालिदास के पात्र मनुष्य है, उनकी वासनाओं का उन्ही मे अवसान है।'[2]

यदि उन चरित्रों की वासना का उसी देहायतन मे अवसान न हो पाया तो उसके अवसान के लिए अन्य देहधारी चरित्रो की सृष्टि प्रसाद-वाङ्मय के रूपकों की अपनी विशेषता है। उदाहरणार्थ—साम्राज्यवासना का आदि और अन्त अवलोक्य होगा। इसका इन्द्र से व्युत्थान और स्कन्दगुप्त मे अवसान प्रत्यक्ष है। एतदर्थ मध्यवर्ती चन्द्रगुप्त के चरित्र मे भी साम्राज्यवासना को अवसान भूमि नही मिली। जैसे यात्रा मे अश्व-परिवर्त्तन करते यात्री गन्तव्य की ओर बढता है वैसे ही प्रसाद-वाङ्मय के रूपकों मे चरित्रगत वासनाओ की अवसानोन्मुखी-यात्रा देखी जा सकती है। **(सम्पादक)**

1. The memory of nature is infallibly accurate and inexhaustably minute A time will come as certainly as the precession of the equinoxes, when the literary method of historical research will be laid aside as out of date, in the case of all original work.

A P. Sinnett

(The story of Atlantis, Page, viii)

२. द्विजेन्द्रलाल राय कृत 'कालिदास और भवभूति' के अनुवाद मे पृष्ठ संख्या २२ पर हाशिये की टिप्पणी।

पात्र

स्कन्दगुप्त	: युवराज (विक्रमादित्य)
कुमारगुप्त	: मगध का सम्राट् एवं स्कन्दगुप्त का पिता
गोविन्दगुप्त	: कुमारगुप्त का भाई
पुरगुप्त	: कुमारगुप्त का छोटा पुत्र
पर्णदत्त	: मगध का महानायक
चक्रपालित	: पर्णदत्त का पुत्र
बन्धुवर्मा	: मालव का राजा
भीमवर्मा	: बन्धुवर्मा का भाई
मातृगुप्त	: काव्यकर्त्ता कालिदास
प्रपंचबुद्धि	: बौद्ध कापालिक
शर्वनाग	: अन्तर्वेद का विषयपति
धातुसेन (कुमारदास)	: कुमारदास के प्रच्छन्न रूप मे सिंहल का राजकुमार
भटार्क	: नवीन महाबलाधिकृत
पृथ्वीसेन	: मन्त्री कुमारामात्य
खिंगिल	: हूण आक्रमणकारी
मुद्गल	: विदूषक
प्रख्यातकीर्त्ति	: लंकाराज-कुल का श्रमण, महाबोधि-विहार-स्थविर

महाप्रतिहार, महादण्डनायक, नन्दीग्राम का दण्डनायक, प्रहरी, सैनिक इत्यादि

देवकी	: कुमारगुप्त की बडी रानी स्कन्दगुप्त की माता
अनन्तदेवी	: कुमारगुप्त की छोटी रानी – पुरगुप्त की माता
जयमाला	: वन्धुवर्मा की स्त्री –मालव की रानी
देवसेना	: वन्धुवर्मा की बहन
विजया	: मालव के धनकुबेर की कन्या
कमला	: भटार्क की जननी
रामा	: शर्वनाग की स्त्री
मालिनी	: मातृगुप्त की प्रणयिनी

• सखी, दासी, इत्यादि

●

प्रथम अङ्क

प्रथम दृश्य

[उज्जयिनी में गुप्त-साम्राज्य का स्कन्धावार]

स्कन्दगुप्त—(टहलते हुए) अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है! अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है! उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? (ठहरकर) उँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।

पर्णदत्त—(प्रवेश करके) युवराज की जय हो।

स्कन्दगुप्त—आर्य पर्णदत्त का अभिवादन करता हूँ। सेनापति की क्या आज्ञा है?

पर्णदत्त—मेरी आज्ञा! युवराज! आप सम्राट् के प्रतिनिधि हैं, मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूँ। इस वृद्ध ने गरुडध्वज लेकर आर्य चन्द्रगुप्त की सेना का सञ्चालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर-सेना में—उसी गरुडध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर-मिटूँ, यही कामना है। गुप्तकुलभूषण! आशीर्वाद दीजिये, वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो।

स्कन्दगुप्त—आर्य! आपकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते है। तब भी सन्देह!

पर्णदत्त—सन्देह दो बातों से है युवराज!

स्कन्दगुप्त—वे कौन-सी हैं?

पर्णदत्त—अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्त्तन।

स्कन्दगुप्त—क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है?

पर्णदत्त—सम्भवतः सम्राट् तो कुसुमपुर चले गये हैं, और कुमारामात्य महाबलाधिकृत वीरसेन ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

स्कन्दगुप्त—क्या! महाबलाधिकृत अब नहीं हैं? शोक!

पर्णदत्त—अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं! इधर प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गई है।

स्कन्दगुप्त—चिन्ता क्या आर्य ! अभी तो आप हैं, तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूँ, अधिकार का उपयोग करूं ! वह भी किसलिए ?

पर्णदत्त—किसलिये ? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा। युवराज ! इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है, जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नही !

स्कन्दगुप्त—सेनापते ! प्रकृतिस्थ होइये ? परम भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध-पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नही है। गुप्त-सेना की मर्यादा की रक्षा के लिए पर्णदत्त सदृश महावीर अभी प्रस्तुत हैं।

पर्णदत्त—राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नही है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ गया है, पर उस बोझ को उठाने के लिये गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत नही, क्योकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आनेवाली वस्तु समझने लगे है।

स्कन्दगुप्त—आर्य ! इतना व्यंग न कीजिये, इसके कुछ प्रमाण भी है ?

पर्णदत्त—प्रमाण अभी खोजना है ? आँधी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तम्भित होता रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादम्बिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नही है ?

स्कन्दगुप्त—क्या पुष्यमित्रों के युद्ध को देखकर वृद्ध सेनापति चकित हो रहे हैं ? (हंसता है)

पर्णदत्त—युवराज ! व्यंग न कीजिये। केवल पुष्यमित्रो के युद्ध से ही इतिश्री न समझिये, म्लेच्छो के भयानक आक्रमण के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिये। चरों ने आज ही कहा है कि कपिशा को श्वेत हूणो ने पदाक्रान्त कर लिया ! तिस पर भी युवराज पूछते है कि अधिकारो का उपयोग किस लिए। यही किस लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले-पड़ी' वस्तु समझने लगे है।

[चक्रपालित का प्रवेश]

चक्रपालित—(देखकर) अरे, युवराज भी यहीं है ! युवराज की जय हो।

स्कन्दगुप्त—आओ चक्र ! आर्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया है।

चक्रपालित—पिताजी ! प्रणाम। कैसी बात है ?

पर्णदत्त—कल्याण हो, आयुष्मान् ! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं। वे पूछते हैं 'अधिकार किसलिये ?'

चक्रपालित—तात ! 'किसलिये' का अर्थ मैं समझता हूँ।

पर्णदत्त—क्या ?

चक्रपालित—गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम !

स्कन्दगुप्त—चक्र, सावधान ! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ?

चक्रपालित—युवराज ! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

पर्णदत्त—**(गम्भीरता से)** चक्र ! यदि यह बात हो भी, तब भी तुमको ध्यान रखना चाहिये कि हम लोग साम्राज्य के सेवक है। असावधान बालक ! अपनी चञ्चलता को विषवृक्ष न बना देना।

स्कन्दगुप्त—आर्य पर्णदत्त, क्षमा कीजिये। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता।

पर्णदत्त—ठीक है, किन्तु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। **(देखकर)** चर आ रहा है, युद्ध का कोई नया समाचार है क्या ?

[चर का प्रवेश]

चर—युवराज की जय हो !

पर्णदत्त—क्या समाचार है ?

चर—अबकी बार पुष्यमित्रों का अन्तिम प्रयत्न है। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं ! नासीर-सेना के नायक ने सहायता माँगी है। दशपुर से भी दूत आया है।

स्कन्दगुप्त—अच्छा, जाओ. उसे भेज दो।

[चर जाता है, दशपुर के दूत का प्रवेश]

दूत—युवराज भट्टारक की जय हो !

स्कन्दगुप्त—मालवपति सकुशल है ?

दूत—कुशल आपके हाथ है। महाराज विश्ववर्मा का शरीरान्त हो गया है ! नवीन नरेश महाराज बन्धुवर्मा ने साभिवादन श्रीचरणों मे सन्देश भेजा है।

स्कन्दगुप्त—खेद ! ऐसे समय मे, जबकि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वे स्वयं कौटुम्बिक आपत्तियो मे फँस गये है !

दूत—इतना ही नही, शक-राष्ट्रमण्डल चञ्चल हो रहा है, नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रान्त हो चला है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा।

[स्कन्दगुप्त पर्णदत्त की ओर देखते हैं]

पर्णदत्त—वलभी का क्या समाचार है ?

दूत—वलभी का पतन अभी रुका है। किन्तु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है। मालव की रक्षा के लिए महाराज बन्धुवर्मा ने सहायता माँगी है। दशपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है।

स्कन्दगुप्त—मालव और शक-युद्ध में जो सन्धि गुप्त-साम्राज्य और मालवराष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा गुप्त-सेना का कर्तव्य है। महाराज विश्ववर्म्मा के समय से ही समाट् कुमारगुप्त उनके संरक्षक है। परन्तु दूत ! बड़ी कठिन समस्या है।

दूत—विषम व्यवस्था होने पर भी युवराज—साम्राज्य ने संरक्षकता का भार लिया है।

पर्णदत्त—दूत ! क्या तुम्हें विदित नहीं है कि पुष्यमित्रों से हमारा युद्ध चल रहा है !

दूत—तब भी मालव ने कुछ समझकर, किसी आशा पर ही, अपनी स्वतन्त्रता को सीमित कर लिया था।

स्कन्दगुप्त—दूत ! केवल सन्धि-नियम ही से हम लोग बाध्य नही हैं, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे। अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते-जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।

दूत—धन्य युवराज ! आर्य-सम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात हैं। **(प्रणाम करके जाता है)**

पर्णदत्त—युवराज ! आज यह वृद्ध, हृदय से प्रसन्न हुआ और गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होंगी।

चक्रपालित—तात ! पुष्यमित्र-युद्ध का अन्त तो समीप है। विजय निश्चित है। किसी दूसरे सैनिक को भेजिये। मुझे युवराज के साथ जाने की अनुमति हो।

स्कन्दगुप्त—नही चक्र, तुम विजयी होकर मुझसे मालव में मिलो। ध्यान रखना होगा कि राजधानी से अभी कोई सहायता नही मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है।

पर्णदत्त—कुछ चिन्ता नही युवराज ! भगवान् सब मंगल करेंगे। चलिये, विश्राम करें।

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

[कुसुमपुर के राज-मन्दिर में सम्राट् कुमारगुप्त और पार्षद्]

धातुसेन—परम भट्टारक ! आपने भी स्वयं इतने विकट युद्ध किये हैं। मैंने तो समझा था, राजसिंहासन पर बैठे-बैठे राजदण्ड हिला देने से ही इतना बड़ा गुप्त-साम्राज्य स्थापित हो गया था, परन्तु—

कुमारगुप्त—(हँसते हुए) तुम्हारी लंका में अब राक्षस नहीं रहते ? क्यों धातुसेन !

धातुसेन—राक्षस यदि कोई था तो विभीषण, और बन्दरों में भी एक सुग्रीव हो गया। दक्षिणापथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है। परन्तु हाँ, एक आश्चर्य की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक को भी युद्ध करना पड़ा। सुना था रामचन्द्र ने तो जब युवराज भी न थे तभी युद्ध किया था। सम्राट् होने पर भी तुद्ध !

कुमारगुप्त—युद्ध तो करना ही पड़ता है। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है।

धातुसेन—अच्छा तो स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त ने देवपुत्रों तक का राज्य विजय किया था, सो उनके लिये परम आवश्यक था ? क्या पाटलिपुत्र के समीप ही वह राष्ट्र था ?

कुमारगुप्त—तुम भी बालि की सेना मे मे बचे हुये हो !

धातुसेन—परम भट्टारक की जय हो ! बालि की सेना न थी, और वह युद्ध न था। जब उसमें लड्डू खाने वाले सुग्रीव निकल पड़े, तब फिर—

कुमारगुप्त—क्यों ?

धातुसेन—उनकी बड़ी सुन्दर ग्रीवा मे लड्डू अत्यन्त सुशोभित होता था, और सबसे बड़ी बात तो थी बालि के लिये—उनकी तारा का मन्त्रित्व। सुना है सम्राट् ! स्त्री की मन्त्रणा तड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है, इसीलिये उन्हें राज्य की झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिली गई। परम भट्टारक की दुहाई ! एक स्त्री को मन्त्री आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी मूँछवाले मन्त्रियों के बदले उसकी एकान्त मन्त्रणा कल्याण-कारिणी होगी।

कुमारगुप्त—(हँसते हुए) लेकिन पृथ्वीसेन तो मानते ही नही।

धातुसेन—तब मेरी सम्मति से वे ही कुछ दिनों के लिये स्त्री हो जायँ; क्यों कुमारामात्यजी ?

पृथ्वीसेन—पर तुम तो स्त्री नहीं हो जो मैं तुम्हारी सम्मति मान लूँ ?

कुमारगुप्त—(हँसते हुए) हाँ, तो आर्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा; क्योंजि मौर्य-साम्राज्य के समय से ही सिन्धु के उस पार का देश भी भारत-साम्राज्य के अन्तर्गत था। जगद्विजेता सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रान्त को मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने लिया था।

धातुसेन—फिर तो लडकर लेने की एक परम्परा-सी लग जाती है। उनमे उन्होंने, उन्होंने उनसे, ऐसे ही लेते चले आये है। उसी प्रकार आर्य ...

कुमारगुप्त—उँह! तुम समझने नही। मनु ने इसकी व्यवस्था दी है।

धातुसेन—नही धर्मावतार! समझ मे तो इतनी बात आ गयी कि लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्व है। संसार मे इसी का बोलबाला है।

भटार्क—नही तो क्या रोने से, भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है? जिसके हाथों मे बल नही, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि माँगकर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा?

मुद्गल—(प्रवेश करके) रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय कवच सब लोगो ने सुना होगा; परन्तु इस अक्षय मञ्जूषा का हाल मेरे सिवा कोई नही जानता! इसके भीतर कुछ रखकर देखो, मै कैसी शान्ति से बैठा रहता हूँ! **(पद्मासन से बैठ जाता है)**

पृथ्वीसेन—परम भट्टारक की जय हो! मुझे कुछ निवेदन करना है—यदि आज्ञा हो तो।

कुमारगुप्त—हाँ, हाँ कहिये।

पृथ्वीसेन—शिप्रा के इस पार साम्राज्य का स्कन्धावार स्थापित है। मालवेश का दूत भी बता गया है कि 'हम ससैन्य युवराज के सहायतार्थ प्रस्तुत है।' महानायक पर्णदत्त ने भी अनुकूल समाचार भेजा है।

कुमारगुप्त—मालव का इस अभियान मे कैसा भाव है, कुछ पता चला? क्योंकि यह युद्ध तो जान-बूझकर छेड़ा गया है।

पृथ्वीसेन—अपने मुख से मालवेश ने दूत से यहाँ तक कहा था कि युवराज को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी, आज्ञा पाने ही से मै स्वयं इसे ठीक कर लेता।

कुमारगुप्त—महा-सन्धिविग्रहिक- साधु! यह वंश-परम्परागत तुम्हारी ही विद्या है।

पृथ्वीसेन—सम्राट् के श्रीचरणों का प्रताप है। सौराष्ट्र से भी नवीन समाचार मिलने वाला है। इसलिए युवराज को वहाँ भेजने का मेरा अनुरोध था।

भटार्क—सौराष्ट्र की गति-विधि देखने के लिए एक रणदक्ष सेनापति की आवश्यकता है। वहाँ शक राष्ट्र बड़ा चञ्चल अथच भयानक है।

पृथ्वीसेन—(गूढ़ दृष्टि से देखते हुए) महाबलाधिकृत ! आवश्यकता होने पर आपको वहाँ जाना ही होगा, उत्कण्ठा की आवश्यकता नहीं।

भटार्क—नहीं, मैं तो····

कुमारगुप्त—महाबलाधिकृत ! तुम्हारी स्मरणीय सेवा स्वीकृत होगी। अभी आवश्यकता नहीं।

धातुसेन—(हाथ जोड़कर) यदि दक्षिणापथ पर आक्रमण का आयोजन हो तो मुझे आज्ञा मिले। मेरा घर पास है, मैं जाकर स्वच्छन्दतापूर्वक लेट रहूँगा, सेना को भी कष्ट न होने पायेगा।

[सब हँसते हैं]

मुद्गल- जय हो देव ! पाकशाला पर चढ़ाई करनी तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वस्वान्त कर डालूं।

[फिर सब हंसते हैं, गम्भीर भाव से अभिवादन करते हुए—
एक ओर पृथ्वीसेन और दूसरी ओर भटार्क का प्रस्थान]

कुमारगुप्त—मुद्गल ! तुम्हारा कुछ ··

मुद्गल —महादेवी ने प्रार्थना की है कि युवक भट्टारक की कल्याण-कामना के लिए चक्रपाणि भगवान की पूजा की सामग्री प्रस्तुत है। आर्यपुत्र कब चलेंगे ?

कुमारगुप्त—(मुंह बनाकर) आज तो कुछ पारसीक नर्त्तकियाँ आने वाली हैं, अपानक भी है ! महादेवी से कह देना, असन्तुष्ट न हों, कल चलूंगा। समझा न मुद्गल ?

मुद्गल —(खड़ा होकर) परमेश्वर परम भट्टारक की जय हो। (जाता है)

धातुसेन —वह चाणक्य कुछ भाँग पीता था। उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए।

कुमारगुप्त—यह राष्ट्रनीति है।

[अनन्तदेवी का चुपचाप प्रवेश]

धातुसेन—भूल गया। उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों भेड़ियों-सी सन्तान उत्पन्न हों ?

अनन्तदेवी (सामने आकर) आर्यपुत्र की जय हो !

[धातुसेन भयभीत होने का-सा मुंह बनाकर चुप हो जाता है]

कुमारगुप्त—'आओ प्रिये ! तुम्हें खोज ही रहा था।

अनन्तदेवी —नर्त्तकियों को बुलवाती आ रही हूँ। कुमारामात्य आदि थे, मंत्रणा में बाधा समझकर, जान-बूझकर ८९ लगाई। आपको तो देखती हूँ कि अवकाश ही नहीं। (धातुसेन की ओर क्रुद्ध होकर देखती है)

कुमारगुप्त—यह अबोध विदेशी हँसोड़ है।

अनन्तदेवी—तब भी सीमा होनी चाहिए।

धातुसेन—चाणक्य का नाम ही कौटिल्य है। उनके सूत्रों की व्याख्या करने जाकर ही यह फल मिला। क्षमा मिले तो एक बात और पूछ लूं, क्योंकि फिर इस विषय का प्रश्न न करूँगा।

अनन्तदेवी—पूछ लो।

धातुसेन—उसके अनर्थशास्त्र मे विषकन्या का····

कुमारगुप्त—(डाँटकर) चुप रहो।

[नर्त्तकियों का गाते हुए प्रवेश]

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से खिंचे हुए बीन-तार कोकिल।
करुण रागिनी तड़प उठेगी सुना न ऐसी पुकार कोकिल।
हृदय धूल मे मिला दिया है उसे चरण-चिह्न-सा किया है।
खिले फूल सब गिरा दिया है न अब बसन्ती बहार कोकिल।
सुनी बहुत आनन्द-भैरवी विगत हो चुकी निशा-माधवी।
रही न अब शारदी कैरवी न तो मघा की फुहार कोकिल।
न खोज पागल मधुर प्रेम को न तोड़ना और के नेम को।
बचा विरह मौन के क्षेम को कुचाल अपनी सुधार कोकिल।

[मन्द होते प्रकाश के साथ दृश्यान्तर]

तृतीय दृश्य

[पथमें मातृगुप्त]

मातृगुप्त—कविता करना अनन्त पुण्य का फल है। इस दुराशा और अनन्त उत्कण्ठा मे कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसार के समस्त अभावों को असन्तोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परन्तु कैसी विडम्बना! लक्ष्मी के लालों का भ्रू-भङ्ग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या!—एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो कि दूसरों की दया मे अपना अस्तित्व रखता है! सञ्चित हृदय-कोश के अमूल्य रत्नों की उदारता, और दारिद्र्य का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी। मनोरथ को—भारत के प्रकाण्ड बौद्ध पण्डित को—परास्त करने मे मैं भी सबकी प्रशंसा का भाजन बना। परन्तु हुआ क्या?

मुद्गल—(प्रवेश करके) कहिये कविजी! आप तो बहुत दिनों पर दिखाई पड़े! कुलपति की कृपा से कहीं अध्यापन-कार्य मिल गया क्या?

मातृगुप्त—मैं तो अभी यों ही बैठा हूँ।

मुदगल—क्या बैठे-बैठे काम चल जाता है? तब तो भाई, तुम बड़े भाग्यवान हो। कविता करते हो न? भाई! उसे छोड़ दो।

मातृगुप्त—क्यों? वही तो मेरे भूखे हृदय का आहार है! कवित्व—वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है! अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न!

मुद्गल—परन्तु हाथ का मुख से, पेट का अन्न से और आँखों का निद्रा से भी सम्बन्ध होता है कि नहीं? कभी इसको भी सोचा-विचारा है?

मातृगुप्त संसार में क्या इतनी ही वस्तुएँ विचारने की हैं? पशु भी इनकी चिन्ता कर लेते होंगे।

मुद्गल—और मनुष्य पशु नहीं है, क्योंकि उसे बातें बनाना आता है—अपनी मूर्खताओं को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण चढ़ाना आता है। और वाग्जाल की फाँस उसके पास है। अपनी घोर आवश्यकताओं मे कृत्रिमता बढ़ाकर, सभ्य और पशु से कुछ ऊँचा द्विपद मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है।

मातृगुप्त—होगा, तुम्हारा तात्पर्य क्या है?

मुद्गल—स्वप्नमय जीवन छोड़कर विचारपूर्ण वास्तविक स्थिति में आओ। ब्राह्मण-कुमार हो, इसीलिये दया आती है।

मातृगुप्त क्या करूँ?

मुद्गल -मै दो-चार दिन मे अवन्ती जाने वाला हूँ; युवराज भट्टारक के पास तुम्हें रखवा दूँगा। अच्छी वृत्ति मिलने लग जायगा। है स्वीकार?

मातृगुप्त पर तुम्हें मेरे ऊपर इतनी दया क्यों?

मुद्गल—तुम्हारी बुद्धिमता देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ। उस दिन से मैं खोजता था। तुम जानते हो कि राजकृपा का अधिकारी होने के लिए समय की आवश्यकता है। बड़े लोगों की एक दृढ़ धारणा होती है कि, 'अभी टकराने दो, ऐसे बहुत आया-जाया करते हैं।'

मातृगुप्त—तब तो बड़ी कृपा है। मैं अवश्य चलूँगा। काश्मीरमण्डल में हूणों का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत-विद्या को कोई पूछने वाला नहीं। म्लेच्छाक्रान्त देश छोड़कर राजधानी मे चला आया था। अब आप ही मेरे पथ-प्रदर्शक हैं।

मुद्गल—अच्छा तो मैं जाता हूँ, शीघ्र ही मिलूँगा, तुम चलने के लिये प्रस्तुत रहना। **(जाता है)**

मातृगुप्त—काश्मीर! जन्मभूमि! जिसकी धूलि में लोटकर खड़े होना सीखा,

जिसमें खेल-खेलकर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु संगठित हुए थे वही छूट गया ! और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न, आह ! वही जो मेरे इस जीवन-पथ का पाथेय रहा ! प्रिय !

संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।
वह उच्छृङ्खलता थी अपनी —कहकर मन मत बहलाना।
मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी।
मैं व्याकुल परिरम्भ-मुकुल में बन्दी अलि-सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा।
सजग सुप्त सौन्दर्य हुआ, हो चपल चलीं भौंहें मिलने।
लीन हो गयी लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने।
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा।
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से।
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने-से।
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना।
मिलन-क्षितिज-तट मधु-जलनिधिमें मृदु हिलकर उठा जाना।

कुमारदास—(**प्रवेश करके**) साधु !

मातृगुप्त—(**अपनी भावनाओं में तल्लीन, जैसे किसी को न देख रहा हो**) अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थी, सन्ध्या मे शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया ही था कि वही स्वप्न टूट गया !

कुमारदास—समझ में न आया, सिंहल और काश्मीर में क्या भेद है। तुम गौरवपूर्ण हो, लम्बे हो, खिची हुई भौहे हैं, सब होने पर भी सिंहलियों की घुँघराली लटें, उज्ज्वल श्याम शरीर, क्या स्वप्न मे भी देखने की वस्तु नही ?

मातृगुप्त—(**कुमारदास को जैसे सहसा देखकर**) पृथ्वी की समस्त ज्वाला को जहाँ प्रकृति ने अपने बर्फ के अञ्चल से ढँक दिया है, उस हिमालय के—

कुमारदास—और बड़वानल को अनन्त जलराशि से सन्तुष्ट कर रहा है, उस रत्नाकर को—अच्छा जाने दो रत्नाकर नीचा है, गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्व से सिर उठाये है, तब जय हो काश्मीर की। हाँ, उस हिमालय के····

मातृगुप्त -उस हिमालय के ऊपर प्रभात–सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित

हिम का, पीले पोखराज का-सा एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली! उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पंख गिर जाते हैं, मौन-नीड़ में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र!

कुमारदास—तुम विद्वान् हो, सुकवि हो, तुमको इतना मोह?

मातृगुप्त—यदि यह विश्व इन्द्रजाल ही है, तो उस इन्द्रजाली की अनन्त इच्छा को पूर्ण करने का साधन—यह मधुर मोह चिरजीवी हो और अभिलाषा से मचलने वाले भूखे हृदय को आहार मिले।

कुमारदास—मित्र! तुम्हारी कोमल कल्पना, वाणी में झनकार उत्पन्न करेगी। तुम संचेष्ट बनो, प्रतिभाशील हो तुम्हारा भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

मातृगुप्त—उसकी चिन्ता नहीं। दैन्य, जीवन के प्रचण्ड आतप में सुन्दर स्नेह मेरी छाया बने! झुलसा हुआ जीवन धन्य हो जायगा।

कुमारदास—मित्र! इन थोड़े दिनों का परिचय मुझे आजीवन स्मरण रहेगा। अब तो मैं सिंहल जाता हूँ—देश की पुकार है। इसलिये मैं स्वप्नों का देश 'भव्य-भारत' छोड़ता हूँ। कविवर! इस क्षीण परिचय कुमार धातुसेन को भूलना मत—कभी आना।

मातृगुप्त—सम्राट् कुमारगुप्त के सहचर, विनोदशील कुमारदास! तुम क्या कुमार धातुसेन हो?

कुमारदास—हाँ मित्र, लंका का युवराज! हमारा एक मित्र, एक बाल सहचर प्रख्यात कीर्त्ति, महाबोधि-बिहार का श्रमण है। उसे और गुप्त साम्राज्य का वैभव देखने पर्यटक के रूप में भारत चला आया था। गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा, और देखा दर्प से उद्धत गुप्त-साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य। आर्य-अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है। मित्र, परिवर्त्तन उपस्थित है।

मातृगुप्त—सम्राट् कुमारगुप्त के साम्राज्य में परिवर्त्तन!

धातुसेन—सरल युवक! इस गतिशील जगत् में परिवर्त्तन पर आश्चर्य! परिवर्त्तन रुका कि महापरिवर्त्तन—प्रलय—हुआ! परिवर्त्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट-शान्ति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ मे खेलता है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।

मातृगुप्त—निस्सन्देह। अनन्तदेवी के इशारे पर कुमारगुप्त नाच रहे हैं। अद्भुत पहेली है !

धातुसेन—पहेली ! यह भी रहस्य ही है। पुरुष है कुतूहल और प्रश्न; और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातो का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल—उसके अभावो को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार ! अभागा मनुष्य सन्तुष्ट है—बच्चो के समान। पुरुष ने कहा—'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया—'कौवा', बस, वह रटने लगा। विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट् तरुणी की आकाक्षाओ के साधन बन रहे वे। काले मेघ क्षितिज मे एकत्र है, शीघ्र ही अन्धकार होगा। परन्तु आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कन्द' है। निर्मल शून्य आकाश मे शीघ्रही अनेक वर्ण के मेघ रग भरेगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होने वाला है। तुम भी सम्भवत उसके अभिनेताओ मे से एक होगे। सावधान ! सिंहल तुम्हारे लिये प्रस्तुत है। **(प्रस्थान)**

मातृगुप्त—विचक्षण उदार कुमार ! **(प्रस्थान)**

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[कुसुमपुर में अनन्तदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ]

अनन्तदेवी—जया ! रात्रि का द्वितीय पहर तो व्यतीत हो रहा है, अभी भटार्क के आने का समय नही हुआ ?

जया—स्वामिनी ! आप बडा भयानक खेल रही है।

अनन्तदेवी—क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से भी शकित होते है, जो अपनी सांस से ही चौक उठते है, उनके लिये उन्नति का कण्टकित मार्ग नही है। महत्त्वाकाक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिये स्वप्न है।

जया—परन्तु राजकीय अन्त पुर की मर्यादा बडी कठोर अथच फूल से कोमल कोमल है।

अनन्तदेवी—अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरो चलूंगी, अपनी शिक्षा रहने दे।

[जया कपाट के समीप कान लगाती है, संकेत होता है, गुप्तद्वार खुलते ही भटार्क सामने उपस्थित होता है]

भटार्क—महादेवी की जय हो !

अनन्तदेवी—परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत ! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो ?

भटार्क—हमारा हृदय कह रहा है, और आये दिन साम्राज्य की जनता, प्रजा सभी कहेगी।

अनन्तदेवी—मुझे विश्वास नही होता।

भटार्क—महादेवी! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंगबाण मुझ पर बरसाए गये है, वे अन्तस्तल मे गडे हुए हैं। उन्हे निकालने का प्रयत्न नही करूँगा, वे ही भावी विप्लव मे सहायक होगे। चुभ-चुभकर वे मुझे सचेत करेगे। मैं उन पथ-प्रदर्शको का अनुसरण करूँगा। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचण्ड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है, मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा। महादेवी! आज मैंने अपने हृदय के मार्मिक रहस्य का अकस्मात् उद्घाटन कर दिया है। परन्तु वह भी जान बूझकर, कुछ समझकर। मेरा हृदय शूलो के लोहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र विष-वाक्यबाण के लिए नहीं।

अनन्तदेवी—तुम वीर हो भटार्क! यह तुम्हारे उपयुक्त ही है। देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ रहा है उसे देखकर मुझे पु॰गुप्त के जीवन मे शंका हो रही है। महाबलाधिकृत, दुर्बल माता का हृदय उसके लिये आज ही से चिन्तित है, विशेषतः सम्राट् की मति एक-सी नही रहती वे अव्यवस्थित और चचल है। इस अवस्था मे वे विलास की अधिक मात्रा से केवल जीवन के जटिल सुखो की गुत्थियाँ सुलझाने मे व्यस्त है।

भटार्क—मैं सब समझ रहा हूं। पुष्यमित्रो के युद्ध मे मुझे सेनापति की पदवी नही मिली, इसका कारण भी मै जानता हूँ। मैं दूध पीनेवाला शिशु नही हूं और यह मुझे स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है। मै कृतघ्न नही हूँ, महादेवी! आप निश्चित रहे।

अनन्तदेवी—पुष्यमित्रो के युद्ध मे भेजने के लिये मैंने भी कुछ समझकर उद्योग नही किया। भटार्क! क्रान्ति उपस्थित है, तुम्हारा यहाँ रहना आवश्यक है।

भटार्क—क्रान्ति के सहसा इतने समीप उपस्थित होने के तो कोई लक्षण मुझे नही दिखाई पड़ते।

अनन्तदेवी—राजधानी में आनन्द-विलास हो रहा है, और पारसीक मदिरा की धारा बह रही है; इनके स्थान पर रक्त की धारा बहेगी! आज तुम कालागुरु के गन्धधूम से सन्तुष्ट हो रहे हो, कल इन उच्च सौध-मन्दिरो मे महापिचाशी की विप्लव ज्वाला धधकेगी! उस चिरायँध की उत्कट गन्ध असह्य होगी। तब तुम भटार्क! उस आगामी खण्ड-प्रलय के लिए प्रस्तुत हो कि नही? (ऊपर देखती हुई) उहूँ प्रपञ्चबुद्धि की कोई बात आज तक मि ा नही हुई।

भटार्क—कौन प्रपञ्च बुद्धि?

अनन्तदेवी—सूची-भेद्य अन्धकार मे छिपनेवाली रहस्यमयी नियति का—

प्रज्वलित कठोर नियति का—नील आवरण उठाकर झाँकने वाला। उसकी आँखों में अभिचार का संकेत है; मुस्कुराहट मे विनाश की सूचना है, आँधियों से खेलता है, बातें करता हैं– बिजलियों से आलिंगन !

प्रपंचबुद्धि—(**सहसा प्रवेश करते हुए**) स्मरण है भाद्र की अमावास्या ?

[भटार्क और अनन्तदेवी सहमकर हाथ जोड़ते हैं]

अनन्तदेवी—स्मरण है, भिक्षु शिरोमणे ! उसे मैं भूल सकती हूँ ?

प्रपंचबुद्धि–कौन, महाबलाधिकृत ! हँ-हँ-हँ-हँ, तुम लोग सद्धर्म के अभिशाप की लीला देखोगे, है आँखों में इतना बल ? क्यों समझ लिया था कि इन मुण्डित-मस्तक जीर्ण कलेवर भिक्षु कंकालों मे क्या धरा है ? देखो, शव-चिता में नृत्य करती हुई तारा का ताण्डव नृत्य, शून्य ! सर्वनाशकारिणी प्रकृति की मुण्डमालाओं की कन्दुक-क्रीड़ा ! अश्वमेध हो चुके, उनके फलस्वरूप महानरमेध का उपसंहार भी देखो। (**तीक्ष्ण दृष्टि से भटार्क को देखते हुए**) है तुझमे—तू करेगा ? अच्छा महादेवी ! अमावास्या के पहले पहर मे, जब नील गगन से भयानक और उज्ज्वल उल्कापात होगा, महाशून्य की ओर देखना। जाता हूँ। सावधान !

(प्रस्थान)

भटार्क—महादेवी ! यह भूकम्प के समान हृदय को हिला देने वाला कौन व्यक्ति है ? ओह, मेरा तो सिर घूम रहा है !

अनन्तदेवी—यही तो भिक्षु प्रपञ्चबुद्धि है !

भटार्क—तब मुझे विश्वास हुआ। यह क्रूर-कठोर नर-पिशाच मेरी सहायता करेगा। मैं उस दिन के लिये प्रस्तुत हूँ।

अनन्तदेवी—तब प्रतिश्रुत होते हो ?

भटार्क—दास सदैव अनुचर रहेगा।

अनन्तदेवी—अच्छा, तुम इसी गुप्तद्वार से जाओ। देखूँ, अभी कादम्ब की मोहनिद्रा से सम्राट् जगे कि नही !

जया—(**प्रवेश करके**) परम भट्टारक अँगड़ाइयाँ ले रहे है। स्वामिनी शीघ्र चलिये। (**प्रस्थान**)

भटार्क—तो महादेवी, आज्ञा हो।

अनन्तदेवी—(**देखती हुई**) भटार्क ! जाने को कहूँ ? इस शत्रुपुरी में मैं असहाय अबला इतना—आह ! (**आँसू पोंछती है**)

भटार्क—धैर्य रखिये। इस सेवक के बाहुबल पर विश्वास कीजिये !

अनन्तदेवी—तो भटार्क, जाओ।

जया—(**सहसा प्रवेश करके**) चलिये शीघ्र।

[दोनों जाती हैं]

भटार्क—एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है। ओह कितनी साहसशीला स्त्री है ? देखूं, गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है। परन्तु इसकी आँखों में कामपिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रहीं है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का सन्देश वहन कर रही है। परन्तु····अच्छा चलूं, यह विचार करने का स्थान नहीं है। **[गुप्त द्वार से जाता है]**

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[अन्तःपुर का द्वार]

शर्वनाग—**(टहलता हुआ)** कौन-सी वस्तु देखी ? किस सौन्दर्य पर मन रीझा ? कुछ नही, सदैव इसी सुन्दरी खड्ग-लता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा। मैं नहीं जानता कि और भी कुछ सुन्दर है। वह मेरी स्त्री—जिसके अभावों का कोश खाली नहीं जिसकी भर्त्सनाओं का भण्डार अक्षय है, उससे मेरी अन्तरात्मा काँप उठती है। आज मेरा पहरा है। घर से जान छूटी, परन्तु रात बड़ी भयानक है। चलूं अपने स्थान पर बैठूं। सुनता हूँ कि परम भट्टारक की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है—जाने भगवान्····

भटार्क—**(प्रवेश करते हुए)** कौन ?

शर्वनाग—नायक शर्वनाग।

भटार्क—कितने सैनिक हैं ?

सर्वनाग—पूरा एक गुल्म।

भटार्क—अन्तःपुर से कोई आज्ञा मिली है ?

शर्वनाग—नही।

भटार्क—तुमको मेरे साथ चलना होगा।

शर्वनाग—मैं प्रस्तुत हुं, कहाँ चलूं ?

भटार्क—महादेवी के द्वार पर।

शर्वनाग—वहाँ मेरा क्या कर्तव्य होगा ?

भटार्क—कोई न तो भीतर जाने पाये और न भीतर से बाहर आने पाये।

शर्वनाग—(चौंककर) इसका तात्पर्य ?

भटार्क—**(गम्भीरता से)** तुमको महाबलाधिकृत की आज्ञा पालन करनी चाहिये।

शर्वनाग—तब भी, क्या स्वयं महादेवी पर नियन्त्रण रखना होगा ?

भटार्क—हाँ।

शर्वनाग—ऐसा !

[कोलाहल, भीषण उल्कापात]

भटार्क—ओह, ठीक समय हो गया ! अच्छा मैं अभी आता हूँ।

[द्वार खोलकर भटार्क भीतर जाता है। रामा का प्रवेश]

रामा—क्यो, तुम आज यही हो ?

सर्वनाग—मैं, मैं यही हूँ, तुम कैसे ?

रामा—मूर्ख ! महादेवी सम्राट् को देखना चाहती है, परन्तु उनके आने मे बाधा है। गोबर-गणेश ! तू कुछ कर सकता है ?

शर्वनाग—मैं क्रोध से गरजते हुए सिह की पूँछ उखाड सकता हूँ; परन्तु सिहवाहिनी ! तुम्हे देखकर मेरे देवता कूच कर जाते है।

रामा—(पैर पटक कर) तुम कीडे से भी अपदर्थ।

शर्वनाग—न-न-न-न, ऐसा न कहो, मै सब कुछ हूँ। परन्तु मुझे घबराओ मत, समझाकर कहो ! मुझे क्या करना होगा ?

रामा—महादेवी देवकी की रक्षा करनी होगी, समझा ? क्या आज इस सम्पूर्ण गुप्त-साम्राज्य मे कोई ऐसा प्राणी नही, जो उनकी रक्षा करे ! शत्रु अपने विषैले डंक और तीखे दाढ़ सँवार रहे है। पृथ्वी के नीचे कुमन्त्रणाओ का क्षीण भूकम्प चल रहा है।

शर्वनाग—यही तो मै भी कभी-कभी सोचता था। परन्तु····

रामा—तुम, जिस प्रकार हो सके, महादेवी के द्वार पर जाओ। मैं जाती हूँ। (जाती है)

[एक सैनिक का प्रवेश]

सैनिक—नायक ! न जाने क्यो हृदय दहल उठा है, जैसे सनसन करती हुई, डर से, यह आधी रात खिसकती जा रही है ! पवन मे गति है, परन्तु शब्द नही। 'सावधान' रहने का शब्द मैं चिल्लाकर कहता हूँ, परन्तु मुझे ही सुनाई नही पड़ता है। यह सब क्या है। नायक ?

शर्वनाग—तुम्हारी तलवार कही भूल तो नही गयी है ?

सैनिक—म्यान हल्की-सी लगती है, टटोलता हूँ पर····

शर्वनाग—तुम घबराओ मत, तीन साथियो को साथ लेकर घूमो, सबको सचेत रखो। हम इसी शिला पर है, कोई डरने की बात नही।

[सैनिक जाता है, फाटक खोलकर पुरगुप्त निकलता है, पीछे-पीछे भटार्क और सैनिक]

पुरगुप्त—नायक शर्वनाग !

शर्वनाग—जय हो कुमार की ! क्या आज्ञा है ?

पुरगुप्त—तुम साम्राज्य की शिष्टता सीखो।

शर्वनाग—दास चिर-अपराधी है कुमार ! **(सिर झुका लेता है)**

भटार्क—इन्हें महादेवी के द्वार पर जाने की आज्ञा दीजिये, ये विश्वस्त सैनिक वीर हैं।

पुरगुप्त—जाओ, तुम महादेवी के द्वार पर। जैसा महाबलाधिकृत ने कहा है, वैसा करना।

शर्वनाग—जैसी आज्ञा। **(अपने सैनिकों को साथ लेकर जाता है / दूसरे नायक और सैनिक परिक्रमण करते हैं)**

भटार्क—कोई भी पूछे तो यह मत कहना कि सम्राट् का निधन हो गया है। हाँ, बढ़ी हुई अस्वस्थता का समाचार बतलाना और सावधान, कोई भी—चाहे वह कुमारामात्य ही क्यों न हों—भीतर न आने पावें। तुम यही कहना कि परम भट्टारक अत्यन्त विकल है, किसी से मिलना नहीं चाहते। समझा ?

नायक—अच्छा····

[दोनों जाते हैं, फाटक बन्द होता है]

नायक—**(सैनिकों से)** आज बड़ी विकट अवस्था है, भाइयो सावधान !

[कुमारामात्य पृथ्वीसेन, महादण्डनायक और महाप्रतिहार का प्रवेश]

महाप्रतिहार—नायक, द्वार खोलो, हम लोग परम भट्टारक का दर्शन करेंगे।

नायक—प्रभु ! किसी को भीतर जाने की आज्ञा नही है।

महाप्रतिहार—**(चौंककर)** आज्ञा ! किसकी आज्ञा ? अबोध तू नही जानता—सम्राट् के अन्त:पुर पर स्वयं सम्राट् का भी उतना अधिकार नही जितना महाप्रतिहार का ? शीघ्र द्वार उन्मुक्त कर।

नायक—दण्ड दीजिये प्रभु, परन्तु द्वार न खुल सकेगा।

महाप्रतिहार तू क्या कह रहा है ?

नायक—जैसी भीतर मे आज्ञा मिली है।

कुमारामात्य—**(पैर पटककर)** ओह !

महादण्डनायक विलम्ब असह्य है, नायक ! द्वार से हट जाओ।

महाप्रतिहार—मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम अन्त:पुर से हट जाओ युवक ! नही तो तुम्हें पदच्युत करूँगा।

नायक—यथार्थ है। परन्तु मैं महाबलाधिकृत की आज्ञा से यहाँ हूँ, और मैं उन्हीं के अधीनस्थ सैनिक हूँ। महाप्रतिहार के अन्त:पुर-रक्षकों में मैं नहीं हूँ।

महाप्रतिहार—क्या अन्तःपुर पर भी सैनिक नियंत्रण है ? पृथ्वीसेन !

पृथ्वीसेन—इसका परिमाण भयानक है। अन्तिम शैय्या पर लेटे हुए सम्राट् की आत्मा को कष्ट पहुँचाना होगा।

महाप्रतिहार—अच्छा (कुछ देखकर) हाँ, शर्वनाग कहाँ गया ?

नायक—उसे महाबलाधिकृत ने दूसरे स्थान पर भेजा है।

महाप्रतिहार—(क्रोध से) मूर्ख शर्वनाग !

महादण्डनायक—(कान लगाकर अन्तःपुर का क्षीण क्रन्दन सुनते हुए) क्या सब शेष हो गया ? हम अवश्य भीतर जायँगे।

[तीनों तलवार खींच लेते हैं, नायक भी सामने आ जाता है, द्वार खोलकर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश]

पृथ्वीसेन—भटार्क ! यह सब क्या है ?

भटार्क—(तलवार खींचकर सिर से लगाता हुआ) परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो ! माननीय कुमारामात्य, महादण्डनायक और महाप्रतिहार साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र-अर्पण करके, परम भट्टारक का अभिवादन कीजिए।

[तीनों एक-दूसरे का मुँह देखते हैं]

महाप्रतिहार—तब क्या सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य अब संसार मे नही है ?

भटार्क—नही।

पृथ्वीसेन—परन्तु उत्तराधिकारी युवराज स्कन्दगुप्त ?

पुरगुप्त—चुप रहो। तुम लोगो को बैठकर व्यवस्था नही देनी होगी। उत्तराधिकारी का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गये हैं।

पृथ्वीसेन—परन्तु प्रमाण ?

पुरगुप्त—क्या तुम्हे प्रमाण देना होगा ?

पृथ्वीसेन—अवश्य।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बन्दी करो।

[भटार्क आगे बढ़ता है]

पृथ्वीसेन—ठहरो भटार्क ! तुम्हारी विजय हुई, परन्तु एक बात····

पुरगुप्त—आधी बात भी नही, बन्दी करो।

पृथ्वीसेन—कुमार ! तुम्हारे दुर्बल और अत्याचारी हाथों मे गुप्त-साम्राज्य का राजदण्ड टिकेगा नही। सम्भवतः तुम साम्राज्य पर विपत्ति का आवाहन करोगे। इसलिये कुमार ! इससे विरत हो जाओ।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! क्यों विलम्ब करते हो ?

भटार्क—आप लोग शस्त्र रखकर आज्ञा मानिये।

महाप्रतिहार—आततायी ! यह स्वर्गीय आर्य चन्द्रगुप्त का दिया हुआ खड्ग तेरी आज्ञा से नही रखा जा सकता। उठा अपना शस्त्र और अपनी रक्षा कर।

पृथ्वीसेन—महाप्रतिहार ! सावधान ! क्या करते हो ? यह अन्तर्विद्रोह का समय नहीं है। पश्चिम और उत्तर से काली घटाएँ उमड़ रही हैं, यह समय बल-नाश करने का नहीं है। आओ, हम लोग गुप्त-साम्राज्य के विधानानुसार चरम प्रतिकार करें। बलिदान देना होगा। परन्तु भटार्क ! जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो, उस काल-भुजङ्गी राष्ट्रनीति की—प्राण देकर भी—रक्षा करना। एक नहीं, सौ स्कन्दगुप्त उस पर न्योछावर हों। आर्य साम्राज्य की जय हो ! **(छुरा मारकर गिरता है, महाप्रतिहार और महादण्डनायक भी वैसा ही करते हैं)**

पुरगुप्त—पाखंड स्वयं विदा हो गये—अच्छा ही हुआ।

भटार्क—परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक !

पुरगुप्त—कुछ नहीं। **(भीतर जाता है)**

भटार्क—तो जायँ, सब जायँ, गुप्त-साम्राज्य के हीरों के-से उज्ज्वल-हृदय, वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिये बलि हों !

[मंद होते प्रकाश में दृश्यान्तर]

षष्ठ दृश्य

[नगर-प्रान्त के पथ में]

मुद्गल - **(प्रवेश करके)** किसी के सम्मान-सहित निमन्त्रण देने पर पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना—एक दूसरी बात है; और भटकते, थकते, उछलते-कूदते, ठोकर खाते और लुढ़कते—हाथ-पैर की पूजा कराते हुए मार्ग चलना—एक भिन्न वस्तु है। कहाँ हम और कहाँ यह दौड़, कुसुमपुरी से अवन्ति और अवन्ति से मूलस्थान ! इस बार की आज्ञा का तो पालन करता हूँ; परन्तु यदि, तथापि, पुनश्च, फिर भी, कभी ऐसी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया। अच्छा, इस वृक्ष की छाया में बैठकर विचार कर लूं कि सैकड़ों योजन लौट चलना अच्छा है कि थोड़ा और चलकर काम कर लेना। **(गठरी रख बैठकर ऊँघने लगता है)**

[मातृगुप्त का प्रवेश]

मातृगुप्त—मुझे तो युवराज ने मूलस्थान की परिस्थिति सँभालने के लिए भेजा, देखता हूँ कि वह मुद्गल भी यहाँ आ पहुँचा ! चलें, इसे कुछ तंग करें, थोड़ा मनोविनोद ही सही।

[कपड़े से मुँह छिपाये, गठरी खींचकर चलता है]

मुद्गल -**(उठकर)** ठहरो भाई, हमारे जैसे साधारण लोग अपनी गठरी आप ही ढोते हैं, तुम कष्ट न करो।

[मातृगुप्त चक्कर काटता है, मुद्गल पीछे-पीछे दौड़ता है]

मातृगुप्त—(दूर खड़ा होकर) *अब आगे बढ़े कि तुम्हारी टाँग टूटी !*

मुद्गल—अपनी गठरी बचाने मे टाँग का टूटना बुरा नही, अपशकुन नही। तुम यह न समझना कि हम दूर चलते-चलते थक गये है। तुम्हारा पीछा न छूटेगा। हम ब्राह्मण है, हमसे शास्त्रार्थ कर लो। डण्डा न दिखाओ। हाँ, मेरी गठरी जो तुम लेते हो, इसमें कौन-सा न्याय है ? बोलो—

मातृगुप्त न्याय ? तब तो तुम आप्तवाक्य अवश्य मानते होगे ?

मुद्गल—अच्छा तो तर्कशास्त्र लगाना पड़ेगा ?

मातृगुप्त—हाँ, तुमने गीता पढी होगी ?

मुद्गल—हाँ अवश्य, ब्राह्मण और गीता न पढ़े !

मातृगुप्त—उसमे लिखा है कि "न त्वेवाहं जातु नाऽसौ न त्वं नेमे"—न हम है, न तुम हो, न यह वस्तु है, न तुम्हारी है, न हमारी—फिर इस छोटी-सी गठरी के लिए इतना झगडा !

मुद्गल—ओहो ! तुम नही समझे !

मातृगुप्त—क्या ?

मुद्गल—गीता सुनने के बाद क्या हुआ ?

मातृगुप्त—महाभारत !

मुद्गल—तब भइया, इस गठरी के लिए महाभारत का एक लघु संस्करण हो जाना आवश्यक है। गठरी मे हाथ लगाया कि डण्डा (तानते हुए) लगा।

मातृगुप्त—मुद्गल, डण्डा मत तानो, मै वैसा मूर्ख नही कि सूच्यग्र-भाग के लिए दूध और मधु से बना हुआ रक्त एक बूँद भी गिराऊँ ! (गठरी देता है)

मुद्गल—अरे कौन ! मातृगुप्त !

मातृगुप्त—(नेपथ्य का कोलाहल सुनते) हाँ मुद्गल। इधर तो शकों और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैला रही है, चारो ओर विप्लव का साम्राज्य है। निरीह भारतीयों की घोर दुर्दशा है।

मुद्गल—और मैं महादेवी का सन्देश लेकर अवन्ति गया, वहाँ युवराज नही थे। बलाधिकृत पर्णदत्त की आज्ञा हुई कि महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त को जिस तरह हो, खोज निकालो। यहाँ तो विकट समस्या है। हम लोग क्या कर सकते है ?

मातृगुप्त—कुछ नही, केवल भगवान् से प्रार्थना। साम्राज्य मे कोई सुननेवाला नहीं, अकेले युवराज स्कन्दगुप्त क्या करेगे ?

मुद्गल—परन्तु भाई, हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यों की कोई प्रार्थना सुनते ही नही। इनको हर काम मे हमारी आवश्यकता पड़ती है। मैं तो घबरा जाता, भला वह तो कुछ सुनते भी है।

मातृगुप्त—नही मुद्गल, निरीह प्रजा का नाश देखा नहीं जाता। क्या इनकी उत्पत्ति का यही उद्देश्य था ? क्या इनका जीवन केवल चीटियों के समान किसी की प्रतिहिंसा पूर्ण करने के लिये है ? देखो—वह दूर पर बँधे हुए नागरिक और उन पर हूणों की नृशंसना ! ओह ! !

मुद्गल—अरे ! हाय रे बाप ! !

मातृगुप्त—सावधान ! असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नही, आओ, हम लोग भगवान् से विनती करे—

[सम्मिलित स्वर से]

उतारोगे अब कब भू-भार
बार-बार क्यो कह रक्खा था लूंगा मै अवतार
उमड रहा है इस भूतल पर दुख का पारावार
बाडव लेलिहान जिह्वा का करता है विस्तार
प्रलय-पयोधर बरस रहे हे रक्त-अश्रु की धार
मानवता मे राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार
पडा नही कानों मे अब तक क्या यह हाहाकार
सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार

[बन्दियों के साथ हूण सैनिकों का प्रवेश]

हूण—चुप रह, क्या गाता है ?

मुद्गल—हे हे, भीख माँगता हूँ, गीत गाता हूँ। आप भी कुछ दीजियेगा ? **(दीन मुद्रा बनाता है)**

हूण—**(धक्का देते हुए)** चल, एक ओर खडा हो। हाँ जी, इन दुष्टों ने कुछ देना अभी स्वीकार नही किया, बडे कुत्ते है !

नागरिक—हम निरीह प्रजा है। हम लोगो के पास रहा रह गया जो आप लोगों को दे। सैनिको ने तो पहले ही लूट लिया है।

हूण-सेनापति—तुम लोग बाते बनाना खूब जानते हो। अपना छिपा हुआ धन देकर प्राण बचाना चाहते हो तो शीघ्रता करो, नही तो गरम किये हुए लोहे प्रस्तुत है—कोड़े और तेल मे तर कपड़े भी। उस कष्ट का स्मरण करो !

नागरिक—प्राण तो तुम्हारे हाथो मे है, जब चाहो ले लो।

हूण-सेनापति—**(कोड़े से मारता हुआ)** उसे तो ले लेगे ही; पर, धन कहाँ है ?

नागरिक—नही है निर्दय ! हत्यारे ! कह दिया कि नही है।

हूण-सेनापति—**(सैनिकों से)** इन बालकों को तेल से भीगा हुआ कपड़ा डाल कर जलाओ और स्त्रियों को गरम लोहे से दागो।

स्त्रियाँ—हे नाथ !

हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो,
हमारे दीन के सम्बल कहाँ हो ?
नही हो नाम ही बस नाम है क्या,
सुना केवल यहाँ हो या वहाँ हो ?
पुकारा जब किसी ने तब सुना था,
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो ?

[स्त्रियों को पकड़ कर हूण खींचते हैं]

मातृगुप्त—हे प्रभु !

हमे विश्वास दो अपना बना लो
सदा स्वच्छन्द हों—चाहे जहाँ हों

इन निरीहो के लिये प्राण उत्सर्ग करना धर्म है। कायरो ! स्त्रियों पर यह अत्याचार !

[तलवार से बंधन काटता है, लपकते हुए एक संन्यासी का प्रवेश]

संन्यासी—साधु ! वीर ! सम्हलकर खड़े हो जाओ—भगवान् पर विश्वास करके खड़े हो।

मुद्गल—(पहचानता हुआ) जय हो, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो !

[सब उत्साहित होकर भिड़ जाते हैं, हूण सैनिक भागते है]

गोविन्दगुप्त—अच्छा मुद्गल ! तुम यहाँ कैसे ? और युवक ! तुम कौन हो ?

मातृगुप्त—युवराज स्कन्दगुप्त का अनुचर।

मुद्गल—वीर पुङ्गव ! इतने दिनो पर दर्शन भी हुआ तो इस वेश में !

गोविन्दगुप्त—क्या कहूँ मुद्गल ! स्कन्द कहाँ है ?

मातृगुप्त—उज्जयिनी मे !

गोविन्दगुप्त—अच्छा है, सुरक्षित है। चलो, दुर्ग मे हमारी सेना पहुँच चुकी है। वहाँ विश्राम करो। यहाँ का प्रबन्ध करके हमको शीघ्र आवश्यक कार्य से मालव जाना है। अब हूणों के आतंक का डर नही।

सब—जय हो महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की !

गोविन्दगुप्त—पुष्यमित्रों के युद्ध का क्या परिणाम हुआ ?

मातृगुप्त—विजय हुई।

गोविन्दगुप्त—और मालव का ?

मुद्गल—युवराज थोड़ी सेना लेकर बन्धुवर्मा की सहायता के लिये गये है।

गोविन्दगुप्त—(ऊपर देखकर) वीरपुत्र है। स्कन्द ! आकाश के देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करे। आर्य-साम्राज्य के तुम्ही एकमात्र भरोसा हो।

मुद्गल—तब, महाराजपुत्र ! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख का धावा हो गया, शीघ्र रक्षा कीजिये।

गोविंदगुप्त—हाँ-हाँ, सब लोग चलो।

[सब जाते हैं/दृश्यांतर]

सप्तम दृश्य

[अवंती के दुर्ग में देवसेना, विजया, जयमाला]

विजया—विजय किसकी होगी—कौन जानता है।

जयमाला—तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है !

देवसेना—और देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का कुछ नही।

विजया—(संकुचित होकर) नही, मेरा अभिप्राय यह नहीं था।

जयमाला—परंतु एक उपाय है।

विजया—वह क्या ?

जयमाला - रक्षा का निश्चित उपाय।

देवसेना—तुम्हारे पिता ने तो उस समय नही माना, न सुना, नहीं तो आज इस भय का अवसर ही न आता।

जयमाला—तुम्हारी अपार धन-राशि में से एक क्षुद्र अंश—वही यदि इन धन-लोलुप शृगालों को दे दिया जाता, तो····

विजया—किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है !

जयमाला—ठहरो, कोई आ रहा है।

बंधुवर्मा—(प्रवेश करके) प्रिये ! अभी तक युवराज का कोई संदेश नहीं मिला। संभवतः शकों और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूंगा।

जयमाला—नाथ ! तब क्या मुझे स्कंदगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था ? जाओ प्रभु ! सेना लेकर सिंह-विक्रम से शत्रु पर टूट पड़ो ! दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ।

विजया—महाराज ! यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिये।

बंधुवर्मा—घबराओ मत श्रेष्ठि-कन्ये !

जयमाला—स्वर्ण-रत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली-सी तलवारों के

तेज को कब सह सकती हैं। श्रेष्ठि-कन्ये ! हम क्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर-स्नेह है।

बंधुवर्मा—प्रिये ! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिये। अच्छा दुर्ग का तो नही, अंत.पुर का भार तुम्हारे ऊपर है।

देवसेना—भैया, आप निश्चिंत रहिये।

बंधुवर्मा—भीम दुर्ग का निरीक्षण करेगा। मैं जाता हूँ ! (जाता है)

विजया—भयानक युद्ध ममीप जान पडता है—क्यों राजकुमारी !

देवसेना—तुम वीणा ले लो तो मै गाऊँ।

विजया—हँसी न करो राजकुमारी।

जयमाला—बुरा क्या है ?

विजया—युद्ध और गान !

जयमाला—युद्ध क्या गान नही है ? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का ताडव-नृत्य, और शस्त्रो का वाद्य मिलकर एक भैरव-मंगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखो से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौंदर्य्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव—केवल सच्चे वीर-हृदय होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरतर-सगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय मे साहस और बल एकत्र करो। **अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य-सुंदर संगीत का समारंभ होता है।**

देवसेना—तो भाभी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूं, हमारा प्रिय गान फिर गाने को मिले या नही !

जयमाला—तो गाओ न !

विजया—रानी ! तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो—या स्त्री हो ? देवी ज्वालामुखी की सुदर लट के समान तुम लोग····

जयमाला—सुनो, देवसेना गा रही है—

[देवसेना गाती है]

भरा नैनो मे मन मे रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप।
जल-थल-मारुत, व्योम मे, जो—छाया है सब ओर।
खोज-खोजकर खो गयी मैं, पागल-प्रेम विभोर।
भाग से भरा हुआ यह कूप।
भरा नैनो मे मन में रूप।
धमनी की तंत्री बजी, तू रहा लगाये कान।
बलिहारी मैं कौन तू है मेरा जीवन-प्रान।

खेलता जैसे छाया-धूप।
भरा नैनों में मन में रूप।

भीमवर्मा—**(सहसा प्रवेश करके)** भाभी, दुर्ग का द्वार टूट चुका है। हम अंतःपुर के बाहरी द्वार पर हैं। अब तुम लोग प्रस्तुत रहना।

जयमाला—उनका क्या समाचार है?

भीमवर्मा—अभी कुछ नही मिला। गिरिसंकट में उन्होंने शत्रुओं को रोका था, परंतु दूसरी शत्रु-सेना गुप्त मार्ग से आ गई। मैं जात हूँ, सावधान!

[जाता है / नेपथ्य में कोलाहाल / भयानक शब्द]

विजया—महारानी! किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिये।

जयमाला—**(छुरी निकालकर)** रक्षा करने वाली तो पास है, डर क्या, क्यों देवसेना?

देवसेना—भाभी। श्रेष्ठि-कन्या के पास नहीं है, उन्हें भी दे दो।

विजया न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक!

देवसेना—इतनी सुंदर वस्तु क्या कलेजे में रख लेने योग्य नही है?

विजया **(धड़ाके का शब्द सुनकर)** ओह! तुम लोग बड़ी निर्दय हो!

जयमाला—जाओ, एक ओर छिपकर खड़ी हो जाओ!

[रक्त से लथपथ भीमवर्मा का प्रवेश]

भीमवर्मा—भाभी! रक्षा न हो सकी, अब तो मैं जाता हूँ। वीरों के वरणीय सम्मान को अवश्य प्राप्त करूँगा। परंतु···

जयमाला—हम लोगों की चिंता न करो--वीर! स्त्रियों की, ब्राह्मणों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण-विसर्जन करना क्षत्रियों का धर्म है। एक प्रकार की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु का हृदय कँपा दो--वीर! **बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान—आगे पीछे, सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलना रहे!**

[भीमवर्मा का प्रस्थान / द्वार का टूटना / विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश / पुनः भीमवर्मा का आकर रोकना / गिरते-गिरते भीमवर्मा का जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध / सहसा स्कन्दगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश / 'युवराज स्कन्दगुप्त की जय' का घोष / शक और हूण स्तंभित होते हैं]

स्कंदगुप्त—ठहरो देवियो! स्कन्द के जीवित रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा।

[युद्ध शत्रु पराजित और बंदी होते हैं]

विजया—(झाँककर) अहा ! कैसी भयानक और सुन्दर मूर्त्ति है !

स्कन्दगुप्त—(विजया को देखकर देवसेना से) यह—यह कौन ?

[पटाक्षेप]

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

[मालव में शिप्रा-तट पर कुंज में]

देवसेना—इसी पृथ्वी पर है—और अवश्य है।

विजया—कहाँ राजकुमारी ? संसार मे छल, प्रवंचना और हत्याओं को देखकर कभी-कभी मान ही लेना पड़ता है कि यह जगत ही नरक है, कृतघ्नता और पाखंड का साम्राज्य यही है। छीना-झपटी, नोचखसोट, मुंह मे से आधी रोटी छीन कर भागने वाले विकट जीव यही तो है ! श्मशान के कुत्तो से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है।

देवसेना—पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप। विजया ! आकाश के सुन्दर नक्षत्र आँखो से केवल देखे ही जाते है, वे कुसुम-कोमल है कि वज्र-कठोर कौन कह सकता है। आकाश मे खेलती हुई कोकिल की करुणामयी तान का कोई रूप है या नही, उसे देख नही पाते। शतदल और पारिजात का सौरभ बिठा रखने की वस्तु नही। परंतु इसी संसार मे नक्षत्र से उज्ज्वल - किंतु कोमल— स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्त्ति-सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्ही से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।

विजया—होंगे, परंतु मैंने नही देखा।

देवसेना—तुमने सचमुच कोई ऐसा व्यक्ति नही देखा ?

विजया—नही तो—

देवसेना—समझ कर कहो।

विजया—हाँ समझ लिया।

देवसेना—क्या तुम्हारा हृदय कभी पराजित नहीं हुआ ? विजया ! विचार कर कहो, किसी भी असाधारण महत्त्व से तुम्हारा उद्दंड हृदय अभिभूत नही हुआ ? यदि हुआ है तो वही स्वर्ग है। जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है—वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक मे मिलता है। जिसे नही मिला, वह इस संसार में अभागा है।

विजया—तो राजकुमारी—मैं कह दूं ?

देवसेना—हां—हां, तुम्हें कहना ही होगा।

विजया—मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना नही पड़ा। हां, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परंतु मैं—उसे कुछ राजकीय प्रभाव कह कर टाल भी सकती हूं।

देवसेना—विजया ! वह टालने मे, बहला देने मे, नही हो सकता ! तुम भाग्यवती हो, देखा यदि यह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे। **(सामने देखकर)** अरे लो !

(दोनों जाती हैं / स्कन्दगुप्त का प्रवेश, पीछे चक्रपालित)

स्कंदगुप्त—विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा ? कभी नही। वीरों का भी क्या ही व्यवसाय है, क्या ही उन्मत्त भावना है। चक्रपालित ! संसार मे जो सबसे महान् है, वह क्या है ? त्याग त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणो का मोह त्याग करना—वीरता का रहस्य है।

चक्रपालित—युवराज ! सम्पूर्ण संसार कर्मण्य वीरो की चित्रशाला है। वीरत्व एक स्वावलंबी गुण है। प्राणियो का विकास संभवत इसी विचार के ऊर्जित होने से हुआ है। जीवन मे वही तो विजयी होता है जो रात-दिन 'युद्धस्व विगतज्वरः' का शखनाद सुना करता है।

स्कंदगुप्त—चक्र ! ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए रात-दिन लड़ना पड़े ! आकाश मे जब शीतल शुभ्र शरद-शशि का विलास हो, तब दाँत-पर दाँत रखे, मुट्ठियाँ बाँधे—लाल आँखो से एक दूसरे को घूरा करे ! वसंत के मनोहर प्रभात मे, निभृत कगारो मे चुपचाप बहनेवाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय ! नही-नही चक्र ! मेरी समझ मे मानव जीवन का यही उद्देश्य नही है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे मै स्वयं उसे न जान सका हूँ।

चक्रपालित—सावधान युवराज ! प्रत्येक जीवन मे कोई बड़ा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते है। वह तुच्छ प्राणो का मोह है। अपने को झगड़ो से अलग रखने के लिए, अपनी रक्षा के लिए यह उसका क्षुद्र प्रयत्न होता है अयोध्या चलने के लिए आपने कब का समय निश्चित किया है ? राजसिंहासन कबतक सूना रहेगा ? पुष्यमित्रों और शको के युद्ध समाप्त हो चुके हैं।

स्कंदगुप्त—तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो।

चक्रपालित—हां युवराज ! मुझे यह अधिकार है।

स्कंदगुप्त—नही चक्र ! अश्वमेध-पराक्रम स्वर्गीय सम्राट् कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नही है। मैं झगड़ा नही करना चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिये। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे····

चक्रपालित—यह नही होगा। यदि राज्यशक्ति के केन्द्र मे ही अन्याय होगा, तब तो समग्र राष्ट्र अन्यायो का क्रीड़ा-स्थल हो जायेगा। आपको सबके अधिकारों की रक्षा के लिए अपना अधिकार सुरक्षित करना ही पड़ेगा।

[चर का आकर कुछ संकेत करना / दोनों का प्रस्थान / देवसेना और विजया का प्रवेश]

विजया—यह क्या राजकुमारी ! युवराज तो उदासीन है।

देवसेना--हाँ विजया ! युवराज की मानसिक अवस्था कुछ बदली हुई है।

विजया—दुर्बलता इन्हे राज्य से हटा रही है।

देवसेना—कही तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्त्व का परदा तो नही हट रहा है ? क्यो विजया ! वैभव का अभाव तुम्हे खटकने तो नही लगा ?

विजया—राजकुमारी ! तुम तो निर्दय वाक्य-बाणो का प्रयोग कर रही हो।

देवसेना—नही विजया, बात ऐसी नही है ! धनवानो के हाथ मे एक ही माप है; वे—विद्या, सौंदर्य्य, वल, पवित्रता —और तो क्या—हृदय को भी उसी से मापते है। वह माप है उनका —ऐश्वर्य्य !

विजया —परतु राजकुमारी ! इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नही है ? अवश्य है। वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुख-मंडल है।

देवसेना—और सबसे अच्छी एक बात है—तुम समझती हो कि यह महत्त्वाकाक्षी है। उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो—क्यो ? भाई, तुमको लेना है, तुम स्वयं समझ लो. मेरी दलाली नही चलेगी।

विजया—जाओ राजकुमारी—

देवसेना—एक गाना सुनोगी ?

विजया —महारानी खोजती होगी, अब चलना चाहिये।

देवसेना—तब तुम अभी प्रेम करने का, मनुष्य फँसाने का, ठीक सिद्धात नही जानती हो।

विजया—क्या ?

देवसेना—नये ढग के आभूषण, सुन्दर वसन, भरा हुआ यौवन—यह सब तो चाहिये ही, परतु एक वस्तु और चाहिये। पुरुष को वशीभूत करने के पहले, चाहिये—धोखे की टट्टी। मेरा तात्पर्य है—एक वेदना अनुभव करने का, एक बिह्वलता का अभिनय उसके मुख पर रहे—जिससे कुछ आडी-तिरछी रेखाये मुख पर पड़ें और मूर्ख मनुष्य उन्हीं को लेने के लिए व्याकुल हो जाय। और फिर, दो बूँद गरम-गरम आँसू और इसके बाद एक तान —वागीश्वरी की करुण-कोमल तान। बिना इसके सब रंग फीका —

विजया—उस समय भी गान ?

देवसेना—बिना गान के कोई कार्य नही। विश्व के प्रत्येक कंप में एक ताल है। आह! तुमने सुना नही? दुर्भाग्य तुम्हारा! सुनोगी?

विजया—राजकुमारी! गाने का भी रोग होता है क्या? हाथ को ऊँचे-नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर शिर की इस जोर से हिला देना, जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गई!

देवसेना—विजया! प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रक्खा है। इसी से तो उसका स्वर विश्व-बीणा में शीघ्र नही मिलता। पांडित्य के मारे जब देखो, वेताल-बेसुर बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह', 'कलकल', 'छलछल' में, काकली मे—रागिनी है।

विजया—राजकुमारी, क्या कह रही हो?

देवसेना—तुमने एकांत टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुन्दर प्रभात मे फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ—पारिजात बृक्ष देखा है?

विजया—नही तो।

देवसेना—उसका स्वर अन्य वृक्षो से नही मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कंप उत्पन्न करता है, कलियो को चटका कर, ताली बजाकर, झूम-झूम कर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है—सुनता है। उसके अंतर में जीवनशक्ति वीणा बजाती है। वह बड़े कोमल स्वर में गाता है—

घने-प्रेम-तरु-तले

बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले,
छाया है विश्वास की श्रद्धा-सरिता-कूल,
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहाँ कौन जो छले।
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,
मन की कथा व्यथा-भरी बैठो सुनते जाव,
कहाँ जा रहे चले।
पी लो छवि-रस-माधुरी सींचो जीवन-बेल,
जी लो सुख से आयु-भर यह माया का खेल,

[बंधुवर्मा का प्रवेश]

देवसेना—(संकुचित होती-सी) अरे भइया—

बंधुवर्मा—देवसेना, तुझे गाने का भी विचित्र रोग है।

देवसेना—रोग तो एक-न-एक सभी को लगता है। परंतु यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते है।

बंधुवर्मा—पगली ! जा देख, युवराज जा रहे है, कुसुमपुर से कोई समाचार आया है।

देवसेना—तब उन्हे जाना आवश्यक होगा। भाभी बुलाती है क्या ?

बंधुवर्मा—हाँ, उनकी विदाई करनी होगी। सभवत सिहासन पर बैठने का—राज्याभिषेक का प्रकरण होगा।

देवसेना—क्या आप को ठीक नही मालूम ?

बंधुवर्मा—नही तो, मुझसे कुछ कहा नही। परतु भौंहो के नीचे एक गहरी छाया है, बात कुछ समझ मे नही आती।

देवसेना—भइया, तुम लोगो के पास बाते छिपा रखने का एक भारी रहस्य है। जी खोलकर कह देने मे पुरुषो की मर्यादा घटती है। जब तुम्हारा हृदय भीतर से क्रन्दन करता है, तब तुम लोग एक मुस्कराहट से टाल देने ही—यह बडी प्रवंचना है।

बंधुवर्मा—**(हंसकर)** अच्छा—जा उधर, उपदेश मत दे ! **(विजया और देवसेना जाती है)** उदार, वीर-हृदय, दवीपम-सोदर्य, इस आर्यावर्त्त का एकमात्र आशा-स्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र-लिपिया से अकित हे। अत. करण मे तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखो मे एक जीवनपूर्ण ज्योति है। भविष्य के साथ इसका युद्ध होगा, देखू कौन विजयी होता है। परतु मै प्रतिज्ञा करता हू—अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है—चलूं।

[जाता है/दृश्यांतर]

द्वितीय दृश्य

[मठ में प्रपंचबुद्धि, भटार्क और शर्वनाग]

प्रपंचबुद्धि—बाहर देख लो, कोई है तो नही।

[शर्व जाकर लौट आता है]

शर्वनाग—कोई नही, परतु आप इतना चौकते क्यो है ? मैं कभी यह चिता नही करता कि कौन आया है या कौन आवेगा।

प्रपंचबुद्धि—तुम नही जानते।

शर्वनाग—नही श्रमण, हाथ मे खड्ग लिये प्रत्येक भविष्यत् की मै प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा—वही निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की आवश्यकता नही। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्यायें हल हो जायेंगी।

प्रपंचबुद्धि—प्रत्येक भित्तिके, किवाडके-- कान होते है, समझ लेना चाहिये, देख लेना चाहिये।

शर्वनाग—अच्छी बात है, कहिये !

भटार्क—पहले तुम चुप तो रहो।

[शर्व चुप रहने की मुद्रा बनाता है]

प्रपंचबुद्धि—धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना होगा।

शर्वनाग—भिक्षु शिरोमणे ! वह कौन-सा धर्म है, जिसकी हत्या हो रही है ?

प्रपंचबुद्धि—यही- हत्या रोकना, अहिंसा गौतम का धर्म है। यज्ञ की बलियों को रोकना, करुणा और सहानभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना। हाँ, अवसर ऐसा है कि हम वह काम भी करें जिससे तुम चौंक उठो। परंतु नही, वह तो तुम्हें करना ही होगा।

भटार्क - क्या ?

प्रपंचबुद्धि --महादेवी देवकी के कारण राजधानी मे विद्रोह की संभावना है।

शर्वनाग—ठीक है, तभी आप चौंकते है, और तभी धर्म की रक्षा होगी। हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेंगे—क्यों ?

भटार्क ठहरो शर्व ! परंतु महास्थविर ! क्या उसकी अत्यंत आवश्यकता है ?

प्रपंचबुद्धि -नितांत ?

शर्वनाग— बिना इसके काम नहीं चलेगा ? धर्म नहीं प्रचारित होगा ?

प्रपंचबुद्धि—और यह काम शर्व को करना होगा।

शर्वनाग- (चौंककर) मुझे ! मै कदापि नही ''।

भटार्क—शीघ्रता न करो शर्व ! भविष्यत् के सुखों मे इसकी तुलना करो।

शर्वनाग—नाप-तौल मै नही जानता, मुझे शत्रु दिखा दो। मैं भूखे भेड़िये की भाँति उसका रक्तपान कर लूंगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ—परंतु, निरीह-हत्या--यह मुझसे नही....!

भटार्क—मेरी आज्ञा !

शर्वनाग—तुम सैनिक हो -उठाओ तलवार ! चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखें, मरने से कौन भागता है ! कायरता—अबला महादेवी की हत्या ! किस प्रलोभन मे तुम पिशाच बन रहे हो।

भटार्क—सावधान शर्व—इस चक्र से तुम नही निकल सकते ! या तो करो या मरो। मैं सज्जनका का स्वाग नही ले सकता, मुझे वह नही भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा—लूंगा ! साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।

शर्वनाग—नही भटार्क ! लाभ के लिए ही मनुष्य सब काम करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था, मुझसे यह नही होने का।

प्रपंचबुद्धि—ठहरो भटार्क। मुझे पूछने दो। क्यों शर्व ! तुमने जो अस्वीकार किया है, वह क्यों—पाप समझ कर !

शर्वनाग—अवश्य।

प्रपंचबुद्धि—तुम किसी कर्म को पाप नही कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है—पवित्र है। संसार ही युद्ध-क्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र अर्पण करके—जीने से क्या लाभ ? तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो ! परंतु दूसरे स्थल पर अधर्म ?

शर्वनाग—हाँ।

प्रपंचबुद्धि—मार डालना, प्राणी का अंत कर देना, दोनों स्थलों में एक-सा है केवल देश और काल का भेद है—यही न !

शर्वनाग—हाँ, ऐसा ही तो।

प्रपंचबुद्धि—तब तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म को परखते हो, इसी से कर्म के अच्छे और बुरे होने की जाँच करते हो।

शर्वनाग—दूसरा उपाय क्या ?

प्रपंचबुद्धि—है क्यों नही। हम कर्म की जाँच परिणाम से करते है, और यही उद्देश्य तुम्हारे स्थान और समय वाली जाँच का होगा।

शर्वनाग—परंतु जिसके भावी परिणाम को अभी तुम देख न सके, उसके बल पर तुम कैसे पूर्व कर्म कर सकते हो ?

प्रपंचबुद्धि—आशा पर—जो सृष्टि का रहस्य है ! आओ इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण दें। **(मदिरा का पात्र भरता है / स्वयं पीकर सबको बार-बार पिलाता है)**

प्रपंचबुद्धि—क्यों, कैसी कड़वी थी ?

शर्वनाग—उँह, हृदय तक लकीर खिच गई।

भटार्क—परंतु अब तो एक आनंद का स्रोत हृदय मे बहने लगा है।

शर्वनाग—मैं नाचूं **(उठना चाहता है)**

प्रपंचबुद्धि—ठहरो—मेरे साथ ! **(उठकर दोनों नाचते हैं अकस्मात् लड़खड़ाकर प्रपंचबुद्धि गिर पड़ता है / उसे चोट लगती है)**

भटार्क—अरे रे ! **(सम्हलकर उठाता है)**

प्रपंचबुद्धि—कुछ चिंता नही।

शर्वनाग—बड़ी चोट आई।

प्रपंचबुद्धि—परंतु परिणाम अच्छा हुआ—तुम लोगों पर विपत्ति आने वाली थी।

भटार्क—वह टल गई क्या ? **(आश्चर्य से देखता है)**

शर्वनाग—क्यों सेनापति टल गई ?

प्रपंचबुद्धि—उसी विपत्ति का निवारण करने के लिए मैंने यह कष्ट सहा। मैं तुम लोगों के भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा हूं। जाओ, अब तुम लोग निर्भय हो !

भटार्क—धन्य गुरुदेव !

शर्वनाग—आश्चर्य !

भटार्क—शंका न करो, श्रद्धा करो, श्रद्धा का फल मिलेगा। शर्व, अब भी तुम विश्वास नही करते ?

शर्वनाग—करता हूं। जो आज्ञा होगी वही करूंगा।

प्रपंचबुद्धि—अच्छी बात है चलो—

[सब जाते हैं कुमारदासरूपी धातुसेन का प्रवेश]

धातुसेन—मैं अभी यही रह गया, सिंहल नही गया। इस रहस्यपूर्ण अभिनय को देखने की इच्छा बलवती हुई। परन्तु मुद्गल तो अभी नही आया, यहां तो आने को था। **(देखते हुए)** लो—वह आ गया।

मुद्गल—**(समीप से देखते)** क्यों भटगा, तुम्ही धातुसेन हो ?

धातुसेन—**(हंसकर)** पहचानते नही ?

मुद्गल—किसी की धातु पहचानना बडा असाधारण कार्य है। तुम किस धातु के हो ?

धातुसेन—भाई, सोना अत्यन्त घन होना है बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है। मूल्य भी बहुत लगता है। इतने पर भी सिर पर बोझ-सा रहता है। मैं सोना नही हू, क्योकि उसकी रक्षा के लिए भी एक धातु की आवश्यकता होती है वह है 'लोहा'।

मुद्गल—तब तुम लोहे के हो ?

धातुसेन—लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है। उहूं, भाई ! मैं तो मिट्टी हू—मिट्टी जिसम से सब निकलते हैं। मेरी समझ मे तो शरीर की धातु "मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री नही, और वास्तव मे उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते है, लडते है, जलते है, टूटते है, फिर मिट्टी हो जाते है। इसलिए मुझे मिट्टी समझो—धूल समझो। परन्तु यह तो बताओ, महादेवी की मुक्ति के लिए क्या उपाय सोचा ?

मुद्गल—मुक्ति का उपाय ! अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियों की दिवाले की चोट से गिर जाने मे और शूद्रों की—हम तीनों की ठोकरों से मुक्ति-ही-मुक्ति है। महादेवी तो क्षत्राणी है, सम्भवतः उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।

धातुसेन—तुमने ठीक सोचा, आज अर्द्धरात्रि में—कारागार में।

मुद्गल—कुछ चिन्ता नहीं, चलो युवराज आ गये है।

धातुसेन—मैं भी प्रस्तुत रहूँगा।

[दोनों का प्रस्थान/दृश्यांतर]

तृतीय दृश्य

[देवकी के राजमंदिर का बाहरी भाग/मदिरोन्मत्त शर्वनाग का प्रवेश]

शर्वनाग--कादंब, कामिनी, कंचन-वर्णमाला के पहले अक्षर। करना होगा। इन्ही के लिए कर्म करना होगा। मनुष्य को यदि इन कवर्गो की चाट नही तो कर्म क्यों करें? 'कर्म' में एक 'कु' और जोड़ दें—तो अच्छी वर्णमैत्री होगी! **(लड़खड़ाते हुए)** कादंब! ओह प्यास! **(प्याले में मदिरा उड़ेलता है)** लाल—यह क्या रक्त? आह! कैसी भीषण कमनीयता है! लाल मदिरा लाल नेत्रों मे लाल-लाल रक्त देखना चाहती है। किसका? एक प्राणी का, जिसके कोमल मास मे रक्त मिला हो। अरे रे, नही, दुर्बल नारी—उँह यह तेरी दुर्बलता है। चल अपना काम देख, सामने सोने का संसार खडा है!

रामा—**(प्रवेश करते)** पामर सोने की लंका राख हो गई।

शर्वनाग—उसमे मदिरा न रही होगी, सुन्दरी!

रामा—मदिरा का समुद्र उफन रहा था मदिरा-समुद्र के तट पर ही तो लंका बसी थी!

शर्वनाग—तब उसमें तुम जैसी कोई कामिनी न होगी। तुम कौन हो—स्वर्ग की अप्सरा या स्वप्न की चुड़ैल?

रामा—स्त्री को. देखते ही झिलमिल हुए, आँखे फाडकर देखते है—जैसे खा जायेंगे। मैं कोई हूँ!

शर्वनाग—सुन्दरी! यह तुम्हारा ही दोप है। तुम लोगों का वेश-विन्यास आँखों की लुका-चोरी, अंगों का सिमटना, चलने मे एक क्रीडा, एक कौतूहल, पुकार कर—टोंक कर कहते है—'हमे देखो'—क्या करे हम, देखते ही बनता है!

रामा—दुर्वृत्त मद्यप! तू अपनी स्त्री को नही पहचानना है? परस्त्री समझ कर उसे छेडता है!

शर्वनाग—**(सम्हल कर)** अयँ! अरे—ओह! मेरी रामा तुम हो?

रामा—हाँ, मैं हूँ।

शर्वनाग—**(हँसकर)** तभी तो, मैं तुमको जानकर ही बोला, नही भला मैं किसी पर स्त्री से—**(जीभ निकालकर कान पकड़ता है)**

रामा—अच्छा, यह तो बताओ, कादंब पीना कहाँ से सीखा? और यह क्या बकते थे?

शर्वनाग—अरे प्रिये ! तुमसे न कहूँगा तो किससे कहूँगा सुनो—

रामा—हाँ हाँ, कहो।

शर्वनाग—(निकट जाकर) तुमको रानी बनाऊँगा।

रामा—(चौंककर) क्या ?

शर्वनाग—(और निकट जाकर) तुम्हे सोने से लाद दूँगा।

रामा—किस तरह ?

शर्वनाग—वह भी बतला दूं ? तुम नित्य कहती हो कि 'तू निकम्मा है, अपदार्थ है, कुछ नही है—तो मैं कुछ कर दिखाना चाहता हूँ।

रामा—अरे कहो भी !

शर्वनाग—वह पीछे बताऊंगा। आज तुम महादेवी के बंदीगृह मे न जाना, समझा न ?

रामा—(उत्सुकता से) क्यो ?

शर्वनाग—सोना लेना हो, मान लेना हो, तो ऐसा ही करना, क्योंकि आज वहाँ जो कांड होगा, उसे तुम देख न सकोगी। तुम अभी इसी स्थान मे लौट जाओ।

रामा—(डरती हुई) क्या करोगे तुम ? पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक दिखाई देते हो तुम—क्या करोगे—बोलो !

शर्वनाग—(मद्यपान करता हुआ) हत्या—थोडी-सी मदिरा दे—शीघ्र दे ! नही तो छुरा भोक दूगा। ओह मेरा नशा उखडा जा रहा है !

रामा—आज तुम्हे क्या हो गया है—मेरे स्वामी ! मेरे····

शर्वनाग—अभी मैं तेरा कुछ नहीं हू सोना मिलने से सब हो जाऊंगा—इसी का उद्योग कर रहा हू।

[इधर-उधर देखकर बगल से सुराही निकाल कर पीता है]

रामा—ओह ! मै समझ गई ? तूने बेच दिया—पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया। अहा ! ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौडी के मोल बेच दिया। लोभवश मनुष्य से पशु हो गया। रक्त पिपासु ! क्रूरकर्मा मनुष्य ! कृतघ्नता की कीच का कीडा ! नरक की दुर्गन्ध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी। मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु मे जिसके कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आवर्षण है, उसके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या, स्वय ईश्वर भी हो—नही करने पावेगा।

शर्वनाग—क्या तूँ—ओ तूँ····

रामा—हाँ-हाँ मै न होने दूँगी। ले मुझे ही मार ले हत्यारे ! मद्यप ! तेरी रक्त-पिपासा शांत हो जाय। परन्तु महादेवी पर हाथ लगाया तो मै पिशाचिनी सी प्रलय की काली आंधी बन कुचक्रियों के जीवन की काली राख अपने शरीर मे लपेट कर ताण्डव नृत्य करूँगी। मान जा इसी मे तेरा भला है।

शर्वनाग—अच्छा, तू इसमें विघ्न डालेगी। तू तो क्या, विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठोकरों से हटा दिया जायेगा। मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देगा ?

रामा—मैं दूंगी। सोना मैं नही चाहती, मान मैं नही चाहती, मुझे अपना स्वामी अपने उसी मनुष्य-रूप मे चाहिए। **(पैर पड़ती है)** स्वामी ! हिंस्र-पशु भी जिनसे पाले जाते है, उन पर चोट नही करतें, अरे तुम तो मस्तिष्क रखने वाले मनुष्य हो।

शर्वनाग—**(ठुकरा देता है)** जा, तू हट जा, नही तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्यायें करनी पडेगी ! मैं प्रतिश्रुत हूं, वचन दे चुका हूं !

रामा -**(प्रार्थना करती हुई)** तुम्हारा यह झूठा सत्य है ! ऐसा प्रतिज्ञाओं का पालना सत्य नही कहा जा सकता, ऐसे धोखे का सत्य लेकर ही संसार मे पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी ! मान जाओ।

शर्वनाग—ओह, बिलंब होता है, तो पहले तू ही ले—**(पकड़ना और मारना चाहता है—रामा शीघ्रता से हाथ छुड़ाकर भाग जाती है)**

[अनन्तदेवी प्रपंचबुद्धि और भटार्क का प्रवेश]

भटार्क—शर्व !

शर्वनाग—जय हो ! मै प्रस्तुत हूं, परन्तु मेरी स्त्री इसमे बाधा डालना चाहती है। मैं पहले उसी को पकडना चाहता था, परन्तु वह भगी।

अनतदेवी—सौगन्ध है ! यदि तू विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायेगा।

प्रपंचवुद्धि--शर्व ! तुम तो स्त्री नही हो।

शर्वनाग—नही मैं प्रतिश्रुत हूं परन्तु····

भटार्क—तुम्हारी पद-वृद्धि और पुरस्कार का यह प्रमाण-पत्र प्रस्तुत है **(दिखाता है)** काम हो जाने पर—

शर्वनाग—तब शीघ्र चलिये, दुष्टा रामा भी पहुँच ही गयी होगी।

[सब जाते हैं/दृश्यांतर]

चतुर्थ दृश्य

[बन्दीगृह में देवकी और रामा]

रामा—महादेवी ! मैं लज्जा के गर्त्त मैं डूब रही हूं। मुझे कृतज्ञता और सेवा धर्म धिक्कार दे रहे हैं मेरा स्वामी····

देवकी—शात हो रामा ! बुरे दिन कहते किसे हैं ? जब स्वजन लोग अपने

शील-शिष्टाचार का पालन करें—आत्मसमर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलम्बन करें— तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर आँख उठाकर देखे। इस कठोर समय में भगवान की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर।

रामा—महादेवी! परन्तु आपकी क्या दशा होगी!

देवकी—मेरी दशा? मेरी लाज का बोझ उसी पर है जिसने वचन दिया है, जिस विपद्-भंजन की असीम दया—अपना स्निग्ध अञ्चल—सब दुखियों के आँसू पोंछने के लिए सदैव हाथ मे लिए रहती है।

रामा—परन्तु उसने पिशाच का प्रतिनिधित्व ग्रहण किया है, और····

देवकी—न घबरा रामा! एक पिशाच नही, नरक के असंख्य दुर्दांत प्रेतों और क्रूर पिशाचों का त्रास—उनकी ज्वाला—दयामय की कृपा-दृष्टि के एक बिंदु मे शात होती है।

(नेपथ्य से गान)

पालना बनें प्रलय की लहरें?
शीतल हो ज्वाला की आँधी, करुणा के धन छहरें।
दया दुलार करे, पल भर भी—विपदा पास न ठहरे।
प्रभु का हो विश्वास सत्य, तो सुख का केतन फहरे।

[भटार्क आदि के साथ अनंतदेवी का प्रवेश]

अनंतदेवी—परंतु व्यंग-विष की ज्वाला रक्तधारा से भी नही बुझती देवकी! तुम मरने के लिये प्रस्तुत हो जाओ।

देवकी— क्या तुम मेरी हत्या करोगी?

प्रपंचबुद्धि—हाँ! सद्धर्म का विरोधी, हिमालय की निर्जन ऊँची चोटी तथा अगाध समुद्र के अंतस्तल में भी नही बचने पावेगा; और उस महाबलिदान का आरंभ होगा— तुम्ही से। शर्व! आगे बढ़ो--

रामा—**(सम्मुख आकर)** एक शर्व नही, तुम्हारे-जैसे सैकड़ों पिशाच भी यदि जुट कर आवें तो भी आज महादेवी का अंगस्पर्श--कोई न कर सकेगा। **(छुरी निकालती है)**

शर्वनाग—मैं तेरा स्वामी हूं रामा! क्या तू मेरी हत्या करेगी?

रामा—ओह! बडी धर्मबुद्धि जगी है—पिशाच को, और यह महादेवी तेरी कौन है?

शर्वनाग—फिर भी मैं तेरा····

रामा—स्वामी! नही-नही, तू मेरे स्वामी का नरकवासी प्रेत है। तेरी हत्या कैसी—तू तो कभी का मर चुका है।

देवकी—शांत हो रामा ! देवकी अपने रक्त के बदले और किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती। चल, रक्त के प्यासे कुत्ते ! चल अपना काम कर !

[शर्व आगे बढ़ता है]

अनंतदेवी—क्यो देवकी ! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई ?

देवकी—परमात्मा की कृपा है कि मै स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी।

भटार्क—भगवान् का स्मरण कर लो।

देवकी—मेरे अंतर की करुण-कामना एक थी—स्कन्द को देख लूं। परंतु तुम लोगों से—हत्यारो से—मैं उसके लिए भी, प्रार्थना न करूँगी। प्रार्थना उसी विश्वंभर के श्री चरणो मे है, जो अपनी अनंत दया का अभेद्य कवच पहना कर मेरे स्कन्द को सदैव सुरक्षित रखेगा।

शर्वनाग—अच्छा तो **(खड्ग उठाता है / रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है)** हट जा अभागिनी !

रामा—मूर्ख ! अभागा कौन है—जो संसार के सब से पवित्र धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है—और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान है, वह या मै ?

शर्वनाग—कहता हूँ कि अपनी लोथ मुझे पैरो से न ठकराने दे !

रामा—टुकडे का लोभी ! तू सती का अपमान करे, तेरी यह स्पर्धा ? तू कीड़ों से भी तुच्छ है। पहले मै मरूँगी, तब महादेवी।

अनंतदेवी—**(क्रोध से)** तो पहले इसी का अंत करो शर्व ! शीघ्रता करो।

शर्वनाग—अच्छा तो वही होगा **(प्रहार करने पर उद्यत होता है / किवाड़ तोड़कर स्कंद भीतर घुस आता है / पीछे मुद्गल और धातुसेन आते ही शर्वनाग की गर्दन दबाकर तलवार छीन लेता है)**

स्कंदगुप्त—**(भटार्क से)** क्यों रे नीच पशु ! तेरी क्या इच्छा है ?

भटार्क—राजकुमार ! वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिये।

स्कंदगुप्त—तू वीर है ? अर्द्धरात्रि मे निस्सहाय अबला महादेवी की हत्या के उद्देश्य से घुमने वाले चोर—तुझे भी वीरता का अभिमान है—तो द्वंद्वयुद्ध के लिए आमंत्रित करता हूँ—बचा अपने को ! **(भटार्क दो-एक हाथ चलाकर घायल होकर गिरता है)**

स्कंदगुप्त—मेरी सौतेली माँ तु····?

अनंतदेवी—स्कंद ! फिर भी मै तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ।

[घुटनों के बल बैठ कर हाथ जोड़ती है]

स्कंदगुप्त—अनंतदेवी ! कुसुमपुर मे पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो।

जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परंतु सावधान ! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असंभव है । **(देवकी के चरणों पर झुकते हुए)** अहा ! मेरी, माँ !

देवकी—(आलिंगन करके) आओ मेरे वत्स ।

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[अवंती-दुर्ग का एक भाग/बधुवर्मा, भीमवर्मा और जयमाला का प्रवेश]

बंधुवर्मा—वत्स भीम ! बोलो, तुम्हारी क्या सम्मति है ?

भीमवर्मा—तात ! आपकी इच्छा—मै तो आपका अनुचर हूं ।

जयमाला—परंतु इसकी आवश्यकता ही क्या है ? उनका इतना बड़ा साम्राज्य है, तब भी मालव के बिना काम नही चलेगा क्या—

बंधुवर्मा—देवि ! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है। यह ठीक है कि शकों के पतन-काल मे पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं, परंतु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी, उस समय तुम लोगों को केवल आत्महत्या का ही अवलंब शेष था—तब इन्ही स्कंदगुप्त ने रक्षा की थी, यह राज्य अब न्याय से उन्ही का है ।

भीमवर्मा—परंतु क्या वे माँगते हैं ?

बंधुवर्मा—नही भीम ! युवराज स्कंद ऐसे क्षुद्र हृदय नही, उन्होंने पुरगुप्त को—उस जघन्य अपराध पर भी, मगध का शासक बना दिया है। वह तो सिंहासन भी नही लेना चाहते ।

जयमाला—परंतु तुम्हारा मालव उन्हे प्रिय है !

बंधुवर्मा—देवि, तुम नही देखती हो कि आर्यावर्त्त पर विपत्ति की प्रलय-मेघमाला घिर रही है, आर्य्य-साम्राज्य के अंतर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भली-भाँति जान गये है। शीघ्र ही देशव्यापी युद्ध की संभावना है। इसलिए यह मेरी ही सम्मति है कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए, आर्य-राष्ट्र के त्राण के लिए, युवराज उज्जयिनी में रहें—इसी में सबका कल्याण है : आर्यावर्त्त का जीवन केवल स्कंदगुप्त के कल्याण से है। और, उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा—सम्राट् होंगे स्कंदगुप्त ।

जयमाला—आर्यपुत्र ! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में नि:संकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नही है ? क्या फिर उन्ही की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा ?

बंधुवर्मा—**(सिर झुका कर सोचते हुए)** तुम कृतघ्नता का समर्थन करोगी—वैभव और ऐश्वर्य के लिए ऐसा कदर्य प्रस्ताव करोगी····इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था।

जयमाला—यदि होता ?

बंधुवर्मा—तब मैं इस कुटुंब की कमनीय कल्पना को दूर से ही नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिये ! जो केवल खड्ग का अवलंब रखने वाले सैनिक हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नही रहता। सिंहासन पर मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए क्षत्रियो ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

भीमवर्मा—भैया—तब ?

बंधुवर्मा—भीम ! क्षत्रियों का कर्तव्य है—आर्त्त-त्राण-परायण होना, विपद् का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसक्याकर अवहेलना करना, और—और विपन्नों के लिए—अपने धर्म के लिए—देश के लिए, प्राण देना !

देवसेना—**(सहसा प्रवेश करके)** भाभी ! सर्वात्मा के स्वर मे, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल मे अपने विशिष्ट व्यक्तिवाद का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है ! क्षुद्र स्वार्थ—भाभी जाने दो, भैया को देखो—कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र !

जयमाला—देवसेना ! समष्टि में भी व्यष्टि रहता है। व्यक्तियो से ही जाति बनती हैं। विश्व-प्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है, परंतु इसका अर्थ यह नही हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो !

बंधुवर्मा—ठहरो जयमाला ! इसी क्षुद्र ममत्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है इसी से हम स्वार्थ का समर्थन करते है। इसे छोड दो जयमाला ! इसके वशीभूत होकर हम अत्यंत पवित्र वस्तुओ से बहुत दूर हो जाते है। बलिदान करने के योग्य वह नही—जिसने अपना आपा नही खोया।

भीमवर्मा—भाभी ! अब तर्क न करो। समस्त देश के कल्याण के लिए—एक कुटुंब की भी नही, उसके क्षुद्र स्वार्थो की बलि होने दो भाभी ! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को। देखो—हमारा आर्यावर्त्त विपन्न है, यदि हम मर-मिट कर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें····

जयमाला—जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या।

बंधुवर्मा—तब मालवेश्वरी की जय हो, तुम्हीं इस सिंहासन पर बैठो। बंधुवर्मा तो आज से आर्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक है। तुम्हे तुम्हारा ऐश्वर्य सुखद हो। **(चलने को उद्यत होता है)**

भीमवर्मा—ठहरो भैया, हम भी चलते हैं।

चक्रपालित—(प्रवेश करके) धन्य वीर ! तुमने क्षत्रिय का शिर ऊँचा किया है। बंधुवर्मा ! आज तुम महान् हो, हम तुम्हारा अभिनंदन करते हैं। रण में, वन में, विपत्ति में, आनंद में, हम सब सहभागी होंगे। धन्य तुम्हारी जननी—जिसने आर्य-राष्ट्र का ऐसा शूर सैनिक उत्पन्न किया।

बंधुवर्मा—स्वागत चक्र ! मालवेश्वरी की जय हो ! अब हम सब सैनिक जाते हैं।

चक्रपालित—ठहरो बंधु ! एक सुखद समाचार सुन लो। पिताजी का अभी-अभी पत्र आया है कि सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल करके परम भट्टारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुके हैं।

बंधुवर्मा - संभवतः महाराजपुत्र उत्तरापथ की सीमा-रक्षा करेंगे।

चक्रपालित—हाँ बंधु !

देवसेना—चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी।

जयमाला—(घुटने टेक कर) मालवेश्वर की जय हो ! प्रजा ने अपराध किया है, दंड दीजिये। पतिदेव ! आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखें खुल गईं। आज हमने जो राज्य पाया है—वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊँचा है—महान् है। मेरे स्वामी और ऐसे महान्—धन्य हूँ मैं ! (बंधुवर्मा सिर पर हाथ रखता है)

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[पथ में भटार्क और उसकी माता]

कमला—तू मेरा पुत्र है कि नहीं ?

भटार्क—माँ संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है, और मुझे इतने पर ही विश्वास है। संसार के समस्त लाछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ, किस लिए ? केवल इसीलिए कि तू मेरी माँ है—और वह जीवित है !

कमला—और मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों न गई, मैं क्यों अपने कलंक-पूर्ण जीवन को पालती रही। भटार्क ! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा—म्लेच्छों से पददलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा, मेरा शिर ऊँचा होगा। परंतु हाय !

भटार्क - माँ ! तो तुम्हारी आशाओं को मैंने विफल किया ? क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती ? क्या मेरे रण-नाद वज्र-ध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते ? क्या तेरे भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते ?

कमला—मानते हैं—इसी से तो और भी ग्लानि है ।

भटार्क—घर लौट चलो माँ ! ग्लानि क्यों है ?

कमला—इसलिए कि तू देशद्रोही है। तू राजकुल की शांति का प्रलयमेघ बन गया, और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है। ओह ! नीच ! कृतघ्न ! कमला कलंकिनी हो सकती है, परंतु यह नीचता, कृतघ्नता, उसके रक्त में नही। **(रोती है)**

[विजया का प्रवेश]

विजया—माता ! तुम क्यों रो रही हो ? **(भटार्क की ओर देखकर)** और यह कौन ? क्यों जी—तुमने इस वृद्धा का क्यो अपमान किया है ?

कमला—देवि ! यह मेरा पुत्र था।

विजया—था ! क्या अब नही ?

कमला—नही, इसने महाबलाधिकृत होने की लालच में अपने हाथ-पैर पाप की शृंखला मे जकड दिए; अब फिर भी उज्जयिनी मे आया है—किसी षड्यंत्र के लिए।

विजया—कौन—तुम महाबलाधिकृत भटार्क हो ! और तुम्हारी माता की यह दीन दशा !

कमला—ना बेटी ! उसे कुछ मत कहो, मैं स्वयं इसका ऐश्वर्य त्याग कर चली आई हूँ। महाकाल के मंदिर मे भिक्षा ग्रहण कर इसी उज्जयिनी मे पडी रहूँगी, परंतु इसमे....

भटार्क—माँ ! अब और लज्जित न करो। चलो—घर चलो।

विजया—**(स्वगत)** अहा ! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्त्ति है ! और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत !

कमला—इस पिशाच ने छलने के लिए रूप बदला है। सम्राट् का अभिषेक होने वाला है, यह उसी मे कोई प्रपंच रचने आया है। मेरी कोई न सुनेगा, नही तो मैं स्वयं इसे दंडनायक को समर्पित कर देती।

[सहसा मातृगुप्त, मुद्गल और गोविंदगुप्त का प्रवेश]

मुद्गल—कौन ! भटार्क ?

मातृगुप्त—अरे यहाँ भी !

[भटार्क तलवार निकालता है/गोविंदगुप्त उससे तलवार छीन लेते हैं]

मुद्गल—महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की जय !

गोविंदगुप्त—कृतघ्न ! वीरता उन्माद नही है—आँधी नहीं है, जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। केवल शस्त्रबल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है—न्याय ! तू उसे कुचलने पर सिर ऊँचा उठाकर

नहीं रह सकता, मातृगुप्त—बंदी करो इसे ! **(कमला के प्रति)** और तुम कौन हे भद्रे !

कमला—मैं इस कृतघ्न की माता हूँ। अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।

गोविंदगुप्त—यह तो मैंने अपने कानों से सुना। धन्य हो देवि ! तुम जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्य-राष्ट्र का विनाश असंभव है—और वह युवती कौन है ?

कमला—मुझे सहायता देती थी, कोई अभिजात कुल की कन्या है—इसका कोई अपराध नही।

मुद्गल—अरे राम ! यह अवश्य कोई भयानक स्त्री होगी !

मातृगुप्त—परंतु यह अपना कोई परिचय भी नही दे रही है !

विजया—मै अपराधिनी हूँ, मुझे भी बंदी करो।

भटार्क—यह क्यों, इस युवती से तो मैं परिचित भी नही हूँ—इसका कोई अपराध नही।

विजया—**(स्वगत)** ओह ! इस आनंद महोत्सव में मुझे कौन पूछता है, मैं मालव मे अब किस काम की हूँ ! जिसके भाई ने समस्त राज्य का अर्पण कर दिया है—वह देवसेना और कहाँ मैं ! **(भटार्क की ओर देखती हुई)** तब तो मेरा यही····

गोविंदगुप्त—भद्रे ! तुम अपना स्पष्ट परिचय दो।

विजया—मैं अपराधिनी हूँ।

मातृगुप्त—परंतु तुम्हारा और भी कोई परिचय है ?

विजया—यही कि बंदी होने की अभिलाषिणी हूँ।

कमला—वत्से ! तुम अकारण क्यों दुःख उठाती हो ?

विजया—मेरी इच्छा—मुझे बंदी कीजिये ! मै अपना परिचय न्यायाधिकरण मे दूँगी—यहाँ कुछ न कहूँगी। यहाँ मेरा अपमान किया जायगा तो आर्यराष्ट्र के नाम पर मैं तुम लोगों पर अभियोग लगाऊँगी।

गोविंदगुप्त—क्यों भटार्क ! यदि तुम्ही कुछ कहते····

भटार्क—मैं कुछ नही जानता कि यह कौन है। मुझे भी विलंब हो रहा है शीघ्र न्यायाधिकरण मे ले चलिये।

मुद्गल—और वृद्धा कमला ?

गोविंदगुप्त—यह बंदी नही है, परंतु ९०ाबार स्कंद के समक्ष इसे चलना होगा।

मातृगुप्त—तो फिर सब चलें—अभिषेक का समय भी समीप है।

[सब जाते हैं/दृश्यान्तर]

सप्तम दृश्य

[उज्जयिनी की राजसभा/बंधुवर्मा, भीमवर्मा, मातृगुप्त तथा मुद्गल के साथ एक ओर से स्कंदगुप्त का और दूसरी ओर से गोविंदगुप्त का प्रवेश]

स्कंदगुप्त—(बीच में खड़े होकर) तात ! कहाँ थे ? इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे ? **(चरण-बंदना करता है)**

गोविंदगुप्त—उठो वत्स ! आर्य चंद्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति ! गुप्तकुल-तिलक ! भाई से मैं रूठ गया था, परंतु तुमसे कदापि नही, तुम मेरे आत्मा हो वत्स ! **(आलिंगन करता है)**

[अनुचरियों सहित देवकी का प्रवेश/स्कंदगुप्त चरणवंदना करता है]

देवकी—वत्स ! चिरविजयी हो ! देवता तुम्हारे रक्षक हो। महाराजपुत्र ! इसे आशीर्वाद दीजिये कि गुप्तकुल के गुरुजनो के प्रति यह विनयशील रहे।

गोविंदगुप्त—महादेवी ! तुम्हारी कोख से पैदा हुआ यह रत्न—यह गुप्तकुल के अभिमान का चिह्न—सदैव यशोमंडित रहेगा !

स्कंदगुप्त—(बंधुवर्मा से) मित्र मालवेश ! बढो, सिंहासन पर बैठो ! हम लोग तुम्हारा अभिनंदन करे।

[जयमाला और देवसेना का प्रवेश]

जयमाला—देव ! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नही। अर्यावर्त्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिंहासन पर नही बैठ सकता।

['मालव की जय हो' की तुमुल ध्वनि]

बंधुवर्मा—(हँसकर) सम्राट् ! अब तो मालवेश्वरी ने स्वयं सिंहासन त्याग दिया है, और मै उन्हे दे चुका था, इसलिए सिहासन ग्रहण करने मे अब विलंब न कीजिये।

गोविंदगुप्त—वत्स ! इन आर्य-जाति के रत्नो की कौन-सी प्रशंसा करूँ। इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नही। बढो—वत्स ! सिहासन पर बैठो, मैं तुम्हारा तिलक करूँ।

स्कंदगुप्त—तात ! विपत्तियो के बादल घिर रहे है, अंतर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्ज्वलित है, ऐसे समय मैं केवल सैनिक बन सकूंगा, सम्राट् नही।

गोविंदगुप्त—आज, आर्य-जाति का प्रत्येक बच्चा सैनिक है—सैनिक छोड़कर और कुछ नही। आर्य-कन्याये अपहरण की जाती है, हूणों के विकट तांडव से पवित्र भूमि पादाक्रात है; कही देवता की पूजा नही होती—सीमा की बर्बर जातियो की राक्षसी वृत्ति का प्रचंड पाखंड फैला है। ऐसे समय आर्य-जाति तुम्हे पुकारती है—

सम्राट् होने के लिए नहीं, उद्धार-युद्ध में सेनानी बनने के लिए—सम्राट् ! **(गोविंदगुप्त और बंधुवर्मा हाथ पकड़कर स्कंदगुप्त को सिंहासन पर बैठाते हैं/भीमवर्मा छत्र लेकर बैठता है/देवसेना चमर करती है/गरुड़ध्वज लेकर बंधुवर्मा खड़े होते हैं/देवकी राजतिलक करती है/गोविंदगुप्त खड्ग का उपहार देते हैं/चक्रपालित गरुड़ांकित राजदंड देता है)**

गोविंदगुप्त—परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय हो !

सब—**(समवेत स्वर से)** जय हो !

बंधुवर्मा—आर्य-साम्राज्य के महाबलाधिकृत महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की जय हो ! **(सब वैसा ही कहते हैं)**

स्कंदगुप्त—आर्य ! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूं, और आर्यराष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूं, आप लोग इसके लिए भगवान् से प्रार्थना कीजिये और आशीर्वाद दीजिये कि स्कंदगुप्त अपने कर्त्तव्य से—स्वदेश-सेवा से, कभी विचलित न हो।

गोविंदगुप्त—सम्राट् ! परमात्मा की असीम अनुकम्पा से आपका उद्देश्य सफल हो। आज गोविंद ने अपना कर्त्तव्य पालन किया। वत्स बंधुवर्मा ! तुम इस नवीन आर्यराष्ट्र के संस्थापक हो। तुम्हारे इस आत्मत्याग की गौरवगाथा आर्य-जाति का मुख उज्ज्वल करेगी। वीर ! इस वृद्ध में साम्राज्य के महाबलाधिकृत होने की क्षमता नहीं, तुम्ही इसके उपयुक्त हो।

बंधुवर्मा—आर्य ! अभी आपके चरणों में बैठ कर यह बालक स्वदेश सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव का राजकुटुंब—एक-एक बच्चा—आर्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे, वही होगा।

[धन्य-धन्य का घोष]

स्कंदगुप्त—तात ! पर्णदत्त इस समय नहीं !

चक्रपालित—सम्राट् ! वह सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्रनीति की देख-रेख में लगे हैं।

[कुमारदास रूपी धातुसेन का प्रवेश]

मातृगुप्त—सिंहल के युवराज कुमार धातुसेन की जय हो !

[सब आश्चर्य से देखते हैं]

स्कंदगुप्त—कुमारदास—सिंहल के युवराज धातुसेन !

मातृगुप्त—हाँ महाराजाधिराज !

स्कंदगुप्त—अद्भुत ! वीर युवराज ! तुम्हारा स्नेह क्या कभी भूल सकता हूं ? आओ, स्वागत ! **(सब मंचों पर बैठते हैं)**

गोविंदगुप्त—बंदियों को ले आओ।

[सैनिकों के साथ भटार्क, शर्वनाग, विजया तथा कमला का प्रवेश]

स्कंदगुप्त– क्यो शर्व ! तुम क्या चाहते हो ?

शर्वनाग—सम्राट् ! वध की आज्ञा दीजिये, मेरे जैसे नीच के लिए और कोई दंड नही है।

स्कंदगुप्त —नही, मैं तुम्हे इससे भी कडा दंड दूंगा, जो वध से भी उग्र होगा।

शर्वनाग—वही हो सम्राट् ! जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा।

स्कंदगुप्त —परतु मैं तुम्हे मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकडो बिच्छुओ के डक की चोट करेंगे। आजीवन तुम उसी यंत्रणा को भोगो, क्योकि रामा—साध्वी रामा को—मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊँगा। सती रामा ! तेरे पुण्य से तेरा पति, आज मृत्यु से बचा !

[रामा सम्राट् का पैर पकड़ती है]

शर्वनाग—दुहाई सम्राट् की--मेरे वध की आज्ञा दीजिये, नही तो आत्महत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैने दुराचरण किया—ओह ?

[छुरी निकालना चाहता है]

स्कंदगुप्त -ठहरो शर्व ! मै तुम्हे आजीवन बंदी बनाऊँगा।

[रामा आश्चर्य और दुःख से देखती है]

स्कंदगुप्त -शर्व ! यहाँ आओ। **(शर्व समीप आता है)**

देवकी—वत्स ! इसे किसी विषय का शासक बनाकर भेजो, जिससे दुखिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

[समवेत कंठ से-महादेवी की जय हो]

स्कंदगुप्त —शर्व ! आज से तुम अन्तर्वेद के विषयपति नियत किये गये। यह लो–**(खड्ग देता है)**

शर्वनाग—**(खड्ग लेते रुद्ध कंठ से)** सम्राट् ! देवता ! आप की जय हो ! **(देवकी के पैर पर गिर कर)** मुझे क्षमा करो माँ ! मैं मनुष्य से पशु हो गया था ! अब तुम्हारी ही दया से मै मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि देव-चरणो मे आत्मबलि देकर जीवन को सफल करूँ !

देवकी—उठो शर्व ! **(क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती)** प्रतिहिंसा-पाशव धर्म है। उठो, मैं तुम्हे क्षमा करती हूँ। **(शर्व खड़ा होता है)**

स्कंदगुप्त—भटार्क ! तुम गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत नियत किये गये थे, और तुम्ही साम्राज्य-लक्ष्मी महादेवी की हत्या के कुचक्र में सम्मिलित थे ! यह तुम्हारा अक्षम्य अपराध है।

भटार्क—मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।

देवकी—क्यों भटार्क ! यह उत्तर तुम सच्चे हृदय से देते हो ? ऐसा कहकर तुम स्वयं अपने को धोखा देते हुए क्या औरों को भी प्रवंचित नही कर रहे हो ?

भटार्क—अपराध हुआ। **(शिर नीचा कर लेता है)**

स्कंदगुप्त—तुम्हारे खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था। तुम्हारे हृदय पर तुम्ही को भरोसा न रहे, यह बड़े धिक्कार की बात है। तुम्हारा इतना पतन ? **(भटार्क स्तब्ध रहता है/विजया की ओर देखकर)** और तुम विजया ? तुम क्यों उसमें—

देवसेना—सम्राट् ! विजया मेरी सखी है।

विजया—परंतु मैंने भटार्क को वरण किया है।

जयमाला—विजया !

विजया—कर चुकी देवि !

देवसेना—उसके लिए दूसरा उपाय न था राजाधिराज ! प्रतिहिंसा मनुष्य को इतने नीचे गिरा सकती है ! परंतु विजया तूने शीघ्रता की।

[स्कंद विजया की ओर देखते हुए विचार में पड़ जाता है]

गोविंदगुप्त—यह वृद्धा इसी कृतघ्न भटार्क की माता है ! भटार्क के नीच कर्म से दुखी होकर यह उज्जयिनी चली आई है।

स्कंदगुप्त—परंतु विजया, तुमने यह क्या किया ?

देवसेना—**(स्वगत)** आह ! जिसकी मुझे आशंका थी वही है—विजया, आज तू हार कर भी जीत गई।

देवकी—वत्स ! आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूंद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की यही मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन-दंड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सबके लिए क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

धातुसेन—आर्यनारी सती ! तुम धन्य हो ! इसी गौरव से तुम्हारे देश का शिर ऊँचा रहेगा।

स्कंदगुप्त—जैसी माता की इच्छा—

मातृगुप्त—परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय !

[समवेत कंठ से जयघोष]

[पटाक्षेप]

तृतीय अङ्क

प्रथम दृश्य

[शिप्रा तट]

प्रपंचबुद्धि—सब विफल हुआ। इस दुरात्मा स्कदगुप्त ने मेरी आशाओ के भडार पर अर्गला लगा दी। कुसुमपुर मे पुरगुप्त और अनंतदेवी अपने विडंबना के बिना बिता रहे है। भटार्क भी बंदी हुआ, उमके प्राणो की रक्षा नही। क्रूर कर्मो की अवतारणा मे भी एक बार सद्धर्म को उठाने की आकांक्षा थी, परंतु वह दूर गया। **(कुछ सोचकर)** उग्रतारा की माधना से विकट कार्य भी सिद्ध होते है, तो फिर इम महाकाल के महास्मशान मे बढकर कौन उपयुक्त स्थान होगा! चलूं— **(जाना चाहता है/भटार्क का प्रवेश)**

भटार्क—भिक्षुशिरोमणे! प्रणाम!

प्रपंचबुद्धि कौन, भटार्क? अरे मै क्या स्वप्न देख रहा हूँ!

भटार्क -नही आर्य—मै जीवित हूँ।

प्रपंचबुद्धि—उसने तुम्हे मूली पर नही चढाया?

भटार्क – नही, उससे बढकर!

प्रपंचबुद्धि—क्या?

भटार्क—मुझे अपमानित करके क्षमा किया। मेरी वीरता पर एक दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।

प्रपंचबुद्धि—तुम मूर्ख हो। शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिये, न कि उसके उपकारों का स्मरण।

भटार्क—मै इतना नीच नही हू!

प्रपंचबुद्धि—परंतु मै तुम्हारी प्रवृत्ति जानता हू--तुम इतने उच्च भी नही हो। चलो एकांत मे बाते करें। कोई आता है। **(दोनों जाते हैं)**

विजया - **(प्रवेश करते)** मैं कहाँ जाऊँ। उस उच्छृंखल वीर को मैं लौह-शृंखला पहना सकूँगी—अपने बाहुपाश मे उसे जकड सकूँगी? हृदय के विकल मनोरथ—आह! **(गाती है)**

उमड़ कर चली भिगोने आज तुम्हारा निश्चल अंचल छोर
नयन जल-धारा रे प्रतिकूल देख ले तू फिरकर इस ओर
हृदय की अंतरतम मुसक्यान कल्पनामय तेरा यह विश्व
लालिमा में लय हो लवलीन निरखते इन आँखों की कोर—

वह कौन ? ओ ? राजकुमारी ?

[देवसेना का प्रवेश—दूर पर उसकी परिचारिकायें]

देवसेना—विजया ! सायंकाल का दृश्य देखने शिप्रातट पर तुम भी आ गई हो !

विजया—हाँ, राजकुमारी। **(शिर झुका लेती है)**

देवसेना—विजया, अच्छा हुआ, तुमसे भेंट हो गई, मुझे कुछ पूछना था।

विजया—पूछना क्या है ?

देवसेना—तुमने जो किया उसे सोच-समझ कर किया है—कही तुम्हारे दंभ ने तुमको छल तो नही लिया ? तीव्र मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हें विपथगामिनी तो नही बना दिया ?

विजया—राजकुमारी ! मै अनुगृहीत हूँ। उस कृपा को नही भूल सकती जो आपने दिखाई है। परंतु अब और प्रश्न करके मुझे उत्तेजित करना ठीक नहीं।

देवसेना—**(आश्चर्य से)** क्यों विजया। मेरे सखी-जनोचित सरल प्रश्नों में भी तुम्हें व्यंग सुनाई पड़ता है ?

विजया—क्या इसमें भी प्रमाण की आवश्यकता है ? **(सरोष)** राजकुमारी ! आज से मेरी ओर देखना मत। मुझे कृत्या- अभिशाप की ज्वाला समझना और····

देवसेना—ठहरो, दम ले लो ! संदेह के गर्त मे गिरने से पहले विवेक का अवलंब ले लो—विजया !

विजया—हताश जीवन कितना भयानक होता है- यह नही जानती हो ? उस दिन जिस तीखी छुरी को रखने के लिए मेरी हँसी उड़ाई जा रही थी मैं समझती हूँ कि उसे रख लेना मेरे लिए आवश्यक था। राजकुमारी ! मुझे न छेड़ना। मैं तुम्हारी शत्रु हूँ **(क्रोध से देखती है)**

देवसेना—**(आश्चर्य से)** क्या कह रही हो ?

विजया—वहीं जिसे तुम सुन रही हो।

देवसेना—वह तो जैसे उन्मत्त का प्रलाप था अकस्मात् स्वप्न देखकर जग जाने वाले प्राणी की कुतूहल-गाथा थी। विजया ! क्या मैंने तुम्हारे सुख में बाधा दी—मैंने तो तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े न बिछाये।

विजया—उपकारों की ओट में मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उखाड़ कर कुचल दिया।

देवसेना—शीघ्रता करने वाली स्त्री ! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक। देवसेना मूल्य देकर प्रणय नही लिया चाहती····। अच्छा इससे क्या। **(जाती है)**

विजया—जाती हो, परंतु सावधान !

[भटार्क और प्रपंचबुद्धि का प्रवेश]

भटार्क—विजया ! तुम कब आई हो ?

विजया—अभी-अभी, तुम्ही को तो खोज रही थी। **(प्रपंचबुद्धि को देखकर)** आप कौन है ?

भटार्क—'योगाचार संघ' के प्रधान श्रमण आर्य प्रपंचबुद्धि।

[विजया नमस्कार करती है]

प्रपंचबुद्धि—कल्याण हो देवि ! भटार्क से तो तुम परिचित-सी हो, परंतु मुझे भी जान जाओगी।

विजया—आर्य ! आपके अनुग्रह-लाभ की बड़ी आकाक्षा है।

प्रपंचबुद्धि—शुभे ! प्रज्ञापारमिता-स्वरूपा तारा तुम्हारी रक्षा करे ! क्या तुम सद्धर्म की सेवा के लिए कुछ उत्सर्ग कर सकोगी ? **(कुछ सोचकर)** तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होने मे विघ्न और विलब है। इसलिए तुम्हे अवश्य धर्माचरण करना होगा।

विजया—आर्य ! मेरा भी एक स्वार्थ है।

प्रपंचबुद्धि—क्या ?

विजया—राजकुमारी देवसेना का अत !

प्रपंचबुद्धि—और मुझे उग्रतारा की साधना के लिए महाश्मशान मे एक राज-बलि चाहिये !

भटार्क—यह तो अच्छा सुयोग है।

विजया—उसे श्मशान तक ले आना तो मेरा काम है, आगे मैं कुछ न कर सकूँगी।

प्रपंचबुद्धि—सब हो जायगा। उग्रतारा की कृपा मे सब कुछ सुसंपन्न होगा।

भटार्क—परंतु मैं कृतघ्नता से कलकित होऊँगा, और स्कदगुप्त से मै किस मुँह से····नही····नही····

प्रपंचबुद्धि—सावधान ! भटार्क ! अलग ले जाकर समझाया फिर भी ···। तुम पहले अनंतदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुके हो।

भटार्क—ओह ! पाप-पक मे लिप्त मनुष्य की छुट्टी नही ! कुकर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश मे बाँध लेता है ! दुर्भाग्य !

[सब का प्रस्थान]

मातृगुप्त—**(ओट से निकल कर)** भयानक कुचक्र ! एक निर्मल कुसुमकली को कुचलने के लिए इतनी बड़ी प्रतारणा की चक्की ? मनुष्य ! तुझे हिंसा का उतना ही लोभ है, जितना एक भूखे भेड़िये को ! तब भी तेरे पास उससे कुछ

विशेष साधन हैं—छल, कपट, विश्वासघात कृतघ्नता और पैने अस्त्र। इनसे भी बढ़कर प्राण लेने की कलाकुशलता। देखा जायगा, भटार्क ! तुम जाते कहाँ हो ! **(प्रस्थान)**

[दृश्यांतर]

द्वितीय दृश्य

[श्मशान-साधक के रूप में प्रपंचबुद्धि/दूर से स्कंदगुप्त आता है]

स्कंदगुप्त—इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए ? हृदय मे अशांति, राज्य में अशांति, परिवार में अशांति ! केवल मेरे अस्तित्व से ? मालूम होता है कि सब की—विश्व-भर की—शांति-रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मै न होता—तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से - आनंद से, चला करता। परंतु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला—कहीं भी कामना की वन्या नहीं—बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त-सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप मे संलग्न रक्खा है। कोई भी मेरे अंतःकरण का आलिगन करके न रो सकता है, और न तो हँस सकता है। तब भी विजया····? ओह ! उसे स्मरण करके क्या होगा ! जिसे हमने सुख-शर्वरी की संध्या-तारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगत-दाह करना चाहती है। विजया ! तूने क्या किया ! **(प्रपंचबुद्धि को देखकर)** ओह ! कैसा भयानक मनुष्य है। कैसी क्रूर आकृति है—मूर्त्तिमान पिशाच है ? अच्छा, मातृगुप्त तो अभी तक नही आया। छिप कर देखूं।

[छिपता है/विजया के साथ देवसेना का प्रवेश]

देवसेना—आज फिर तुम किस अभिप्राय से आई हो ?

विजया—और तुम राजकुमारी ? क्या तुम इस महाबीभत्स श्मशान में आने से नही डरती हो ?

देवसेना—संसार का मूक शिक्षक—श्मशान—क्या डरने की वस्तु है ? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है ?

[नेपथ्य से गान]

सब जीवन बीता जाता है। धूप-छाँह के खेल-सदृश—सब०
समय भागता है प्रतिक्षण में, नव-अतीत के तुषार-कण में,
हमें लगा कर भविष्य-रण में, आप कहाँ छिप जाता है—सब०
बुल्ले, लहर, हवा के झोंके, मेघ और बिजली के टोंके,
किसका साहस है कुछ रोके, जीवन का वह नाता है—सब०

बंशी को बस बज जाने दो, मीठी मीड़ों को आने दो,
आँख बंद करके गाने दो, जो कुछ हमको आता है—सब०

विजया—(स्वगत) भाव-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी....आह ! कैसा भोला मुखड़ा ! पर नही, नही विजया ! सावधान ! प्रति-हिंसा....**(प्रकट)** राजकुमारी ! देखो, यह कोई बडा सिद्ध है, वहाँ तक चलोगी ?

देवसेना—चलो, परतु मुझे सिद्ध से क्या प्रयोजन ? जब मेरी कामनाये विस्मृति के नीचे दबा दी गई है, तब वह चाहे स्वय ईश्वर ही हो तो क्या ? तब भी एक कुतूहल है ! चलो—

[विजया देवसेना को आगे कर प्रपंचबुद्धि के पास ले जाती है और स्वयं हट जाती है/ध्यान से आँखे खोल कर प्रपंच उसे देखता है]

प्रपंचबुद्धि—तुम्हारा नाम देवसेना है !

देवसेना—(आश्चर्य से) हाँ, भगवन !

प्रपंचबुद्धि—तुमको देवसेवा के लिए शीघ्र प्रस्तुत होना होगा। तुम्हारी ललाटलिपि कह रही है कि तुम बडी भाग्यवती हो !

देवसेना—कौन-सी देवसेवा ?

प्रपंचबुद्धि—यह नश्वर शरीर, जिसका उपभोग तुम्हारा प्रेमी भी न कर सका और न करने की आशा है, देवसेवा मे अर्पित करो ! उग्रतारा तुम्हारा परम मंगल करेगी।

देवसेना—(सिहर उठती है) क्या मुझे अपनी बलि देनी होगी ? **(घूमकर देखती है)** विजया ! विजया !

प्रपंचबुद्धि—डरो मत, तुम्हारा सृजन इसीलिए था। नित्य की मोह-ज्वाला मे जलने से तो यही अच्छा है कि तुम एक साधक का उपकार करती हुई अपनी ज्वाला को शात कर दो !

देवसेना—परन्तु....कापालिक ! एक और भी आशा मेरे हृदय मे है। वह पूर्ण नही हुई। मै डरती नही हू, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता।

प्रपंचबुद्धि--(उठ कर उसका हाथ पकड़ कर खड्ग उठाता है) पर मुझे ठहरने का अवकाश नही। उग्रतारा की इच्छा पूर्ण हो !

दवसेना—प्रियतम ! मेरे देवता ! युवराज ! तुम्हारी जय हो ! **(सिर झुकाती है/पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच का हाथ पकड़ कर नेपथ्य में ले जाता है/देवसेना चकित होकर स्कंद का आलिगन करती है)**

[दृश्यांतर]

तृतीय दृश्य

[मगध के राजमंदिर में अनंतदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क]

पुरगुप्त--विजय-पर-विजय ! देखता हूं कि एक बार वंक्षुतट पर गुप्त-साम्राज्य की पताका फिर फहरायेगी। गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान मे अपनी स्वर्ण-प्रभा का विस्तार करेगा।

अनंतदेवी—परन्तु तुमको क्या ? निर्वीर्य—निरीह बालक ! तुम्हे भी इसकी प्रसन्नता है ? लज्जा के गर्त्त मे डूब नही जाते—और भी छाती फुला कर इसका आनन्द मनाते हो !

विजया—अहा ! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनंदन कर सकती !

भटार्क—यदि मै जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा !

दौवारिक—**(प्रवेश करके)** जय हो ! एक चर आया है।

भटार्क—ले आओ। **(दौवारिक जाकर चर को लिवा लाता है)**

चर—युवराज की जय हो !

भटार्क—तुम कहाँ से आये हो ?

चर—नगरहार के हूण स्कंधावार से।

भटार्क—क्या संदेश है ?

चर—सेनापति खिंगिल ने पूछा है कि मगध कि गुप्तपरिषद् क्या कर रही है ? उसने प्रचुर अर्थ लेकर भी मुझे ठीक समय पर धोखा दिया है। परंतु स्मरण रहे कि अबकी हमारा अभियान सीधे कुसुमपुर पर होगा स्कंदगुप्त का साम्राज्य-ध्वंस तो पीछे होगा—पहले कुसुमपुरी का मणि-रत्न-भांडार लूटा जायगा। प्रतिष्ठान, चरणाद्रि तथा गोपाद्रि के दुर्ग-पतियों को विद्रोह करने के लिए धन—परिषद् की आज्ञा से भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ ? अंतर्वेद के विषयपति की कुटिल दृष्टि ने उस रहस्य का उद्घाटन करके वह धन भी आत्मसात् कर लिया और सहायता के बदले हम लोग प्रवंचित हुए, जिससे हूणों को सिंधु का तट भी छोड़ देना पड़ा।

भटार्क—ओह ! शर्वनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया ! आचार्य प्रपंचबुद्धि का निधन होने से यह सब दुर्घटना हुई है। दूत ! हूणराज से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट् बनाने में उन्हें अवश्य सहायता करनी पडेगी।

चर—परंतु उन्हें विश्वास कैसे हो ?

भटार्क—मैं प्रमाण-पत्र दूंगा। हूणो को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कंदगुप्त ने समस्त सामंतों को आमंत्रण दिया है। मगध की रक्षक

सेना भी उसमें सम्मिलित होगी और मैं ही उसका परिचालन करूँगा। वही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा—और यह लो प्रमाण-पत्र। **(पत्र लिख कर देता है)**

पुरगुप्त—ठहरो !

अनंतदेवी—चुप रहो !

दूत—तो यह उपहार भी साम्राज्ञी के लिए प्रस्तुत है। **(रत्नमंजूषा देता है)**

भटार्क—और उत्तरापथ के समस्त धर्मसंघो के लिए क्या किया है ?

दूत—आर्य महाश्रमण के पास मै हो आया हूँ। सद्धर्म के समस्त अनुयायी और संघ, स्कदगुप्त के विरुद्ध है। याज्ञिक क्रियाओ की प्रचुरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से घबरा उठा है। वे सब विद्रोह करने के लिए उत्सुक है।

भटार्क—अच्छा, जाओ। नगरहार के गिरिव्रज का युद्ध इसका निबटारा करेगा। हूणराज मे कहना कि सावधान रहे-शीघ्र वही मिलूगा।

[दूत प्रणाम करके जाता है]

पुरगुप्त—यह क्या हो रहा है ?

अनंतदेवी—तुम्हारे सिहासन पर बैठने की प्रस्तावना है !

सैनिक—**(प्रवेश करके)** महादेवी की जय हो !

भटार्क—क्या है ?

सैनिक—कुसुमपुर की सेना जालधर मे भी आगे बढ चुकी है। साम्राज्य के स्कंधावार मे शीघ्र ही उसके पहुँच जाने की सम्भावना है।

पुरगुप्त—विजया ! बहुत विलब हुआ। एक पात्र....

[अनंतदेवी संकेत करती है/विजया उसे पिलाती है]

भटार्क—मेरे अश्वों की व्यवस्था ठीक है न ? मै उसके पहले पहुँचूंगा।

सैनिक—परतु महाबलाधिकृत !

भटार्क—कहो !

सैनिक—यह राष्ट्र का आपत्तिकाल है, युद्ध की आयोजनाओ के बदले हम कुसुमपुर मे आपानकों का समारोह देख रहे ह। राजधानी विलासिता का केंद्र बन रही है। यहाँ के मनुष्यो के लिये विलास क उपकरण बिखरे रहने पर भी—अपर्याप्त हैं ! नये-नये साधन और नवीन कल्पनाओ से भी इस विलासिता-राक्षसी का पेट नही भर रहा है भला मगध के विलासी सैनिक क्या करेगे ?

भटार्क—अबोध ! जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है ? जिस जाति मे जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी ? जाग्रत राष्ट्र मे ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारो की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते है।

विजया—बात तो यही है।

सैनिक— आप महाबलाधिकृत है—इसलिए मैं कुछ न कहूँगा।

भटार्क—नही तो ?

सैनिक —यदि दूसरा कोई ऐसा कहता, तो मै यही उससे कहता कि तुम देश के शत्रु हो !

भटार्क —(क्रोध से) है····

सैनिक—हाँ ! यवनो से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य-जाति उसी तरह पडी है, जैसे कुलवधू को छोडकर कोई नागरिक वेश्या के चरणो मे ! देश पर बर्बर हूणो की चढाई और तिसपर भी यह निर्लज्ज आमोद ! जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का—यह दृश्य— आह। जिस मगध की सेना सदैव नासीर मे रहती थी -आर्य चद्रगुप्त की वही विजयिनी सेना सबके पीछे निमत्रण पाने पर साम्राज्य-सेना मे जाय ! महाबलाधिकृत ! मेरी तो इच्छा होती है कि मै आत्महत्या कर लूं ! मैं उस सेना का नायक हूँ, जिस पर गरुडध्वज की रक्षा का भार रहता था। आर्य समुद्रगुप्त द्वारा प्रतिष्ठित - उसी सेना का ऐसा अपमान !

भटार्क— (अपने क्रोध का मनोभाव दबाकर) अच्छा, तुम यही मगध की रक्षा करना, मैं जाता हूँ।

सैनिक —हूँ—अच्छा तो यह खड्ग लीजिये, में आज से मगध की सेना का नायक नही। (खड्ग रख देता है)

पुरगुप्त—(मद्यप की-सो चेष्टा करते) यह अच्छा किया - आओ मित्र— हम-तुम कादब पियें। जाने दो इन्हे—लडने दो !

अनंतदेवी—(भटार्क को संकेत करती हुई ले जाती है और विजया से कहती है) विजया ! युवराज का मन बहलाओ।

[सैनिक तिरस्कार से देखते हुए जाता है/भटार्क और अनंतदेवी एक ओर विजया और पुरगुप्त दूसरी ओर जाते हे]

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[अवंती के उपवन में जयमाला और देवसेना]

जयमाला—तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ मे नही आता ? जब तू गीत गाती है तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है !

पहली सखी - सम्राट् युद्ध-यात्रा मे गये है और····

दूसरी सखी—तो क्या ?

देवसेना—तुम सब भी भाभी के साथ मिल गई हो। क्यों भाभी गाऊँ वह गीत ?

जयमाला—मेरी प्यारी ! तू गाती है। अहा ! बड़ी-बड़ी आँखें तो बरसाती ताल-सी लहरा रही है। तू दुखी होती है, मैं जाती हूँ। अरी ! तुम सब इसे हँसाओ। **(जाती है)**

देवसेना—क्या महारथी हार कर भगे ! अब तुम सब क्षुद्र सैनिको की पारी है ? अच्छा तो आओ।

पहली सखी—नही, राजकुमारी ! मैं पूछती हूँ कि सम्राट् ने तुमसे कभी प्रार्थना की थी ?

दूसरी सखी—हाँ, तभी तो प्रेम का सुख है !

तीसरी सखी—तो क्या मेरी राजकुमारी स्वयं प्राथिनी होंगी ? उहूँ !

देवसेना—प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है—क्यो कहूँ ? प्रार्थना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।

पहली सखी—न कहा, तब फिर क्या -हरी-हरी कोपलो की टट्टी मे फूल खिल रहा है—और क्या !

देवसेना—तेरा मुँह काला, और क्या ? निर्दय होकर आघात मत कर, मर्म बडा कोमल है। कोई दूसरी हँसी तुझे नही आती ? **(मुँह फेर लेती है)**

दूसरी सखी—लक्ष्यभेद ठीक हुआ-सा देखती हूँ।

देवसेना—क्यो घाव पर नमक छिडकती है ? मैने कभी उनमे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नही होने दिया है। नीरव जीवन और एकात व्याकुलता—कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय मे रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी मे सब छिप जाता है। **(आँखों से आँसू बहता है)**

तीसरी सखी—है-है…क्या तुम रोती हो ? मेरा अपराध क्षमा करो !

देवसेना—**(सिसकती हुई)** नही प्यारी सखी ! आज ही मै प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ, बस, फिर नही। यह एक क्षण का रुदन अनंत स्वर्ग का सृजन करेगा।

दूसरी सखी—तुम्हे इतना दुःख है, मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी।

देवसेना—**(सम्हलकर)** यही तू भूलती है। मुझे तो इसीमे सुख मिलता है मेरा हृदय मुझ से अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है मै उसे मनाती हूँ। आँखे प्रणय-कलह उत्पन्न कराती है, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ

सुनते ही नहीं ! मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी ! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुंब में गृहस्थी सम्हाल कर, स्वस्थ होकर, बैठती हूँ।

तीसरी सखी—आश्चर्य ! राजकुमारी ! तुम्हारे हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भरी है !

देवसेना—कूलों मे उफनकर बहने वाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा ! परंतु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।

[पहली सखी गाती है]

माँझी ! साहस है—खे लोगे ?
जर्ज्जर तरी भरी पथिकों से झड़ में क्या खोलोगे ?
अलस नील-घन की छाया में—
जलजालों की छल-माया में—अपना बल तोलोगे ?
अनजाने तट की मदमाती—
लहरें, क्षितिज चूमती आतीं—ये झटके झेलोगे ?
माँझी ? साहस है—खे लोगे ?

[भीमवर्मा का प्रवेश]

भीमवर्मा—बहिन ! शक-मंडल से विजय का समाचार आया है।

देवसेना—भगवान् की दया है।

भीमवर्मा—परंतु महाराजपुत्र गोविंदगुप्त वीरगति को प्राप्त हुए, यह बड़ा····

देवसेना—वे धन्य है !

भीमवर्मा—वीर-शय्या पर सोते-सोते उन्होने अनुरोध किया कि महाराज बंधुवर्मा गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत बनाये जायँ, इसलिए अभी वे स्कंधावार में ठहरेंगे। उनका आना अभी नही हो सकता। और भी कुछ सुना देवसेना ?

देवसेना—क्या ?

भीमवर्मा—सम्राट् ने तुम्हें बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है। गांधारवंशी राजा अब वहाँ नही हैं। काश्मीर अब साम्राज्य के अंतर्गत हो गया है।

देवसेना—सम्राट् की महानुभावता है। भाई ! मेरे प्राणों का इतना मूल्य ?

भीमवर्मा—आर्य-साम्राज्य का उद्धार हुआ है। बहिन ! सिंधु प्रदेश के म्लेच्छ राज्य का ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट् स्कंदगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठा कर नही देखता। लौहित्य से सिंधु तक हिमालय की कंदराओं में भी स्वच्छंदतापूर्वक सामगान होने लगा। धन्य है हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिए जीवित हैं !

देवसेना—मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई, साहस चाहिये, कोई वस्तु असंभव नही।

भीमवर्मा—उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था करके परम भट्टारक शीघ्र आवेंगे। मुझे अभी स्नान करना है।—जाता हूँ।

देवसेना—आई ! तुम अपने शरीर के लिए बड़े ही निश्चिंत रहते हो। और कामो के लिए तो····

[भीम हँसता हुआ जाता है/मुद्गल का प्रवेश]

मुद्गल—जो है सो काणाम से करके—यह तो अपने से नही हो सकता। उहूँ, जब कोई न मिला तो फूटे ढोल की तरह मेरे गले पड़ी !

देवसेना—क्या है मुद्गल !

मुद्गल—वही-वही, सीता का सखी मदोदरी की नानी त्रिजटा ! कहाँ है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम ! अपने को कवि भी लगाता था ! मेरी कुँडली मिलाई या कि मुझे मिट्टी मे मिलाया ! शाप दूँगा—एक शाप ! दाँत पीसकर, हाथ उठाकर, शिखा खोलते हुए चाणक्य का लकडदादा बन जाऊँगा। मुझे इस झँझट मे फँसा दिया ! उसने क्यों मेरा ब्याह कराया····?

देवसेना—तो क्या बुरा किया ?

मुद्गल—झख मारा, जो है सो काणाम से करके।

देवसेना—अरे ब्याह भी तुम्हारा होता ?

मुद्गल—न होता तो क्या इससे भी बुरा रहता ? बाबा अब तो मै इस पर भी प्रस्तुत हूँ कि कोई इसको फेर ले। परतु यह हत्या कौन अपने पल्ले बाँधेगा ! **(सब हँसती हैं)**

देवसेना—आज कौन-सी तिथि है ? एकादशी तो नही है ?

मुद्गल—हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी—क्योंकि ठीक मध्याह्न मे एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ बैठती है, उसका गला दबा देती है, पेट पचकने लगता है !

देवसेना—अच्छा, आज तुम्हारा निमंत्रण है—तुम्हारी स्त्री के साथ।

मुद्गल—जो है सो देवता प्रसन्न हो, आपका कल्याण हो ! फिर शीघ्रता होनी चाहिये। पुण्यकाल बीत न जाय·· चलिये मैं उसे बुला लेता हूँ।

[सब जाता है]

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[गांधार की घाटी—रणक्षेत्र]

[तुरही बजती है, स्कंदगुप्त और बंधुवर्मा के साथ सैनिकों का प्रवेश]

बंधुवर्मा—वीरो ! तुम्हारी विश्वविजयिनी वीर-गाथा सुर-सुन्दरियो की वीणा के साथ मंद ध्वनि से नदन मे गूंज उठेगी। असीम साहसी आर्य सैनिक ! तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणो को बता दिया है कि रणविद्या केवल नृशसता नही है। जिनके आतक से आज विश्वविख्यात रूम-साम्राज्य पादाक्रात है, उन्हे तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरो के नीचे दबे हुए कठ से उन्हे स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर है। समझ लो आज के युद्ध म प्रत्यावर्त्तन नही है। जिसे लौटना हो, अभी से लौट जाय।

सैनिक—आर्य-सैनिको का अपमान करने का अधिकार—महाबलाधिकृत को भी नही है। हम सब प्राण देने आये हे—खेलने नही !

स्कंदगुप्त—साधु ! तुम यथार्थ ही जननी जन्मभूमि की सतान हो।

सैनिक—राजाधिराज श्री स्कदगुप्त विक्रमादित्य की जय !

चर—**(प्रवेश करके)** परम भट्टारक की जय हो !

स्कंदगुप्त—क्या समाचार है ?

चर—देव ! हूण शीघ्र ही—नदी पार होकर—आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे है, यदि आक्रमण न हुआ, तो वे स्वय आक्रमण करेगे।

बंधुवर्मा—और कुभा के रणक्षेत्र का क्या समाचार है ?

चर—मगध की सेना पर विश्वास करने के लिए मे न कहूँगा। भटार्क की दृष्टि मे पिशाच की मत्रणा चल रही है, खिगल के दूत भी आ रहे है। चक्रपालित उस कूट-चक्र को तोड सकेगे कि नही इसमे सदेह है।

स्कंदगुप्त—बधुवर्मा ! तुम कुभा के रण-क्षेत्र की ओर जाओ, मै यहाँ देख लूंगा।

बंधुवर्मा—राजाधिराज ! मगध की सेना पर अधिकार रखना मेरे सामर्थ्य के बाहर होगा, और मालव की सेना—आज नासीर मे है। आज इस नदी की तीक्ष्ण धारा को लाल करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है। आज मालव का एक भी सैनिक नासीर-सेना न हटेगा।

स्कंदगुप्त—बधु ! यह यश मुझसे मत छीन लो।

बंधुवर्मा—परंतु सबके प्राण देने के स्थान भिन्न है। यहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहाँ मर कर अधिकार जमाने का अधिकार नही। और बधुवर्मा

मरने-मारने मे जितना पटु है, उतना षड्यंत्र में नहीं। आपके रहने से सौ बंधुवर्मा उत्पन्न होंगे। आप शीघ्रता कीजिये।

स्कंदगुप्त—बंधुवर्मा ! तुम बड़े कठोर हो।

बंधुवर्मा—शीघ्रता कीजिये। यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्त्तव्य है, उसे मैं ही करूँगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोड़ूँगा। चक्रपालित वीर है, परंतु अभी वह नवयुवक है, आपका वहाँ पहुँचना आवश्यक है। भटार्क पर विश्वास न कीजिये।

स्कंदगुप्त—मैंने समझा कि हूणों के सम्मुख वह विश्वासघात न करेगा।

बंधुवर्मा—ओह ! जिस दिन ऐमा हो जायगा, उस दिन कोई भी इधर आँख उठाकर न देखेगा—सम्राट् ! शीघ्रता कीजिये !

स्कंदगुप्त—**(आलिंगन करता है)** मालवेश की जय !

बंधुवर्मा—महाराजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय !

[चर के साथ स्कंदगुप्त जाते हैं/नेपथ्य में रणवाद्य/शत्रु-सेना आती है/हूणों की सेना से विकट युद्ध/हूणों का मरना, घायल होकर भागना/बंधुवर्मा की अंतिम अवस्था/गरुड़ध्वज टेककर उसे चूमना]

बंधुवर्मा—**(दम तोड़ते हुए)** विजय ! तुम्हारी····विजय····! आर्य···· साम्राज्य की जय !

बंधुवर्मा—भाई ! स्कन्दगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, भीम और देवसेना उनकी शरण है।

सैनिक—महाराज ! आप क्या कहते है ! **(सब शोक करते हैं)**

बंधुवर्मा—बंधुगण ! यह रोने का नही—आनंद का समय है। कौन वीर इसी तरह जन्मभूमि की रक्षा मे प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हूँ।

सैनिक—महाराज बंधुवर्मा की जय !

[गरुड़ध्वज की छाया में बंधुवर्मा की मृत्यु]

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[दुर्ग के सम्मुख कुभा-तट का रणक्षेत्र/चक्रपालित और स्कंदगुप्त]

चक्रपालित—सम्राट् ! प्रतारणा की पराकाष्ठा ! दो दिनों से जान-बूझकर शत्रु को उस ऊँची पहाड़ी पर जमने का अवकाश दिया जा रहा है। आक्रमण करने से मैं रोका जा रहा हूँ—मगध की समस्त सेना उसके संकेत पर चल रही है।

स्कंदगुप्त चक्र ! कुभा में जल बहुत कम है, आज ही उतरना होगा। तुम्हें दुर्ग में रहना चाहिये। मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं परंतु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा।

चक्रपालित—नहीं सम्राट् ! उसे बंदी कीजिये। वह देखिये—आ रहा है !

भटार्क—(**प्रवेश करके**) राजाधिराज की जय हो !

स्कंदगुप्त—क्यों सेनापति ! यह क्या हो रहा है ?

भटार्क—आक्रमण की प्रतीक्षा सम्राट् !

स्कंदगुप्त—या समय की ?

भटार्क—सम्राट का मुझ पर विश्वास नहीं है, यह····

चक्रपालित—विश्वास तो कहीं से क्रय नहीं किया जाता !

भटार्क—तुम अभी बालक हो।

चक्रपालित—दुराचारी ! कृतघ्न ? अभी मैं तेरा कलेजा फाड खाता, तेरा····

भटार्क—सावधान ? अब मैं सहन नहीं कर सकता। (**तलवार पर हाथ रखता है**)

स्कन्दगुप्त—भटार्क ? वह बालक है। कूट मंत्रणा, वाक्चातुरी नहीं जानता—चुप रहो चक्र ? (**चक्रपालित और भटार्क सिर नीचा कर लेते है**) भटार्क ? प्रवंचना का समय नहीं है। स्मरण रखना—कृतघ्नों और नीचों की श्रेणी में, तुम्हारा नाम पहले रहेगा। (**भटार्क चुप रहता है**) युद्ध के लिए प्रस्तुत हो ?

भटार्क—मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा।

स्कंदगुप्त—अच्छा तो अपनी सेना लेकर तुम गिरिसंकट पर पीछे से आक्रमण करो और सामने से मैं आता हूं। चक्र ! तुम दुर्ग की रक्षा करो।

भटार्क—जैसी आज्ञा ! नगरहार के स्कंधावार को भी सहायता के लिए कहला दिया जाय तो अच्छा हो।

स्कंदगुप्त चर गया है। तुम शीघ्र जाओ। देखो सामने शत्रु दीख पडते हैं। (**भटार्क का प्रस्थान**)

चक्रपालित—तो मैं बैठा रहूं ?

स्कंदगुप्त—भविष्य अच्छा नहीं है चक्र ! नगरहार से समय पर सहायता पहुंचती नहीं दिखाई देती। परंतु यदि आवश्यकता हो—तो शीघ्र नगरहार की ओर प्रत्यावर्त्तन करना। मैं वहीं तुमसे मिलूंगा। (**चर का प्रवेश**)

स्कंदगुप्त—गांधार युद्ध का क्या समाचार है ?

चर—विजय ! उस रणक्षेत्र में हूण नहीं रह गये—परंतु सम्राट् बंधुवर्मा नहीं हैं।

स्कंदगुप्त—आह बंधु ! तुम चले गये ? धन्य हो वीर-हृदय ! (**शोक से बैठ जाता है**)

चक्रपालित---इसका समय नही है सम्राट्, उठिये सेना आ रही है, इस समय यह समाचार नही प्रचारित करना है।

स्कन्दगुप्त---(**उठते हुए**) ठीक कहा! (**भटार्क के साथ सेना का प्रवेश**) भटार्क! देखो, कुभा के उस बध से सावधान रहना। आक्रमण मे यदि असफलता हो, और शत्रु की दूसरी सेना कुभा को पार करना चाहे तो उसे काट देना। देखो भटार्क! तुम्हारे विश्वास का यही प्रमाण है।

भटार्क--जैसी आपकी आज्ञा। (**कुछ सैनिकों के साथ जाता है**)

स्कन्दगुप्त--चक्र! दुर्ग-रक्षक सैनिको को लेकर तुम प्रतीक्षा करना! हम इसी छोटी-सी सेना से आक्रमण करेगे। तुम सावधान! (**नेपथ्य में रण-वाद्य**) देखो--वह रण [illegible] रहे हे! उन्हे वही रोकना होगा।

चक्रपालित--जैसी आज्ञा। (**जाता हे**)

स्कन्दगुप्त---वीर मगध-सैनिको! आज स्कदगुप्त तुम्हारी परिचालना कर रहा है, यह ध्यान रहे, गरुडध्वज का मान रहे, भले ही प्राण जायँ!

मगध-सेना- राजाधिराज श्री स्कदगुप्त की जय!

[सेना बढ़ती हे ऊपर से अस्त्र-वर्षा होती है/घोर युद्ध के बाद हूण भागते है/साम्राज्य-सेना जयनाद करते हुए शिखर पर अधिकार करती है]

नायक---(**ऊपर से देखता हुआ**) सम्राट्! आश्चर्य है, भागी हुई हूण-सेना कुभा के उस पार उतर जाना चाहती है!

स्कन्दगुप्त---क्या कहा?

नायक---कुछ मगध-सेना भी वहाँ है, परतु वह तो जैसे उनका स्वागत कर रही है।

स्कन्दगुप्त--विश्वासघात---प्रतारणा! नीच भटार्क!

नायक-- फिर क्या आज्ञा है?

स्कन्दगुप्त---दुर्ग की रक्षा होनी चाहिये। उस पार की हूण-सेना यदि आ गई, तो दुरात्मा भटार्क उन्हे मार्ग बतावेगा। वीरो, शीघ्र--उन्हे उसी पार रोकना होगा, अभी कुभा पार होने की सम्भावना है।

(नायक तुरही बजाता है सैनिक इकट्ठे होते है)

स्कन्दगुप्त--(**घबराहट से देखते हुए**) शीघ्रता करो!

नायक---क्या?

स्कन्दगुप्त--नीच भटार्क ने बध तोड दिया है, कुभा मे जल बडे वेग से बढ रहा है। चलो शीघ्र---

[सब उतरना चाहते हे/कुभा में अकस्मात् जल बढ़ जाता है/सब बहते हुए दिखाई देते है]

[सधन होते अंधकार में पटाक्षेप]

चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य

[कुसुमपुर के प्रकोष्ठ में विजया और अनंतदेवी]

अनन्तदेवी--क्या कहा ?

विजया--मैं आज ही पासा पलट सकती हूँ ! जो झूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके मे पृथ्वी चूमने के लिए विवश कर सकती हूँ।

अनन्तदेवी--क्यो ? इतनी उत्तेजना क्यो है ? सुनूँ भी तो।

विजया--समझ जाओ।

अनन्तदेवी--नही, स्पष्ट कहो।

विजया--भटार्क मेरा है !

अनन्तदेवी--तो ?

विजया--उस राह से दूसरो को हटना होगा।

अनन्तदेवी--कौन छीन रहा है ?

विजया--एक पाप-पंक मे फँसी हुई निर्लज्ज नारी। क्या उसका नाम भी बताना होगा ? समझी, नही तो साम्राज्य का स्वप्न गला दबा कर भंग कर दिया जायगा।

अनन्तदेवी--(हँसती हुई) मूर्ख रमणी ! तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य-साधन का अस्त्र है, और कुछ नही। वह पुरगुप्त के ऊँचे सिहासन की सीढी है--समझी ?

विजया--समझी और तुम भी जान लो कि तुम्हारा नाश समीप है।

अनन्तदेवी--(बात बनाती हुई) क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नही बैठना चाहती हो ? क्यो--वह भी तो कुमारगुप्त का पुत्र है ?

विजया--हाँ वह कुमारगुप्त का पुत्र है, परतु वह तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न है ! तुमसे उत्पन्न हुई संतान--छि !

अनन्तदेवी--क्या कहा ? समझ कर कहना।

विजया--कहती हूँ--और फिर कहूँगी। प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भटार्क से वंचित नही कर सकता। प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़ों--विघ्नो को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ होती है। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाडी नदियो से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से बीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा मे भी लहरदार होती है। मुझे तुम्हारा सिंहासन नही चाहिये। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त के विलास-जर्ज्जर मन यौवन में ही

जीर्ण शरीर का अवलंब वाछनीय नही। कह देती हूँ, हट जाओ, नही तो तुम्हारी समस्त कुमंत्रणा को एक फूंक मे उड़ा दूंगी !

अनन्तदेवी—क्या ! इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ! जानती है कि किसके साथ बात कर रही है ? मैं वही हूँ—जो अश्वमेध-पराक्रम कुमारगुप्त से बालो को सुगंधित करने के लिए गंधचूर्ण जलवाती थी—जिसकी एक तीखी कोर से गुप्त-साम्राज्य डाँवाडोल हो रहा है, उसे तुम··· एक सामान्य स्त्री ! जा-जा, ले अपने भटार्क को, मुझे कीटपतंगो की आवश्यकता नही। परंतु स्मरण रखना, मैं हूँ अनंतदेवी ! तेरी कूटनीति के कण्टकित कानन की दावाग्नि—तेरे गर्व-शैल-शृंग का वज्र ! मै वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे ! (जाती है)

विजया—मै कही की न रही ! इधर भयानक पिशाचो की लीला-भूमि, उधर गभीर समुद्र ! दुर्बल रमणी-हृदय थोडी आँच मे गरम, और शीतल हाथ फेरते ही ठंढा ! क्रोध से अपने आत्मीय जनो पर विप उगल देना ! जिनको क्षमा की आवश्यकता है—जिन्हे स्नेह के पुरस्कार की वाछा है, उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार, और जो पराये है, उनके माथ दौडती हुई सहानुभूति ! यह मन का विष, यह बदलने वाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह ! जब हम अनजान लोगो की भूल और दुखो पर क्षमा या सहानुभूति प्रकट करते है, तो भूल जाते है कि यहाँ मेरा स्वार्थ नही है। क्षमा और उदारता वही सच्ची है, जहाँ, स्वार्थ की भी बलि हो। अपना अतुल धन और हृदय दूसरो के हाथ मे देकर चलू—कहाँ—किधर ?

[उन्मत्त भाव से प्रस्थान करना चाहती है/पदच्युत नायक का प्रवेश]

नायक—शात हो।

विजया—कौन ?

नायक—एक सैनिक ?

विजया—दूर हो, मुझे सैनिको से घृणा है।

नायक—क्यो सुन्दरी ?

विजया—क्रूर ! केवल अपने झूठे मान के लिए, बनावटी बडप्पन के लिए, अपना दम्भ दिखलाने के लिए एक अनियत्रित हृदय का लोहो से खेल विडंबना है ! किसकी रक्षा, किस दीन की सहायता के लिए तुम्हारे अस्त्र है ?

नायक—साम्राज्य की रक्षा के लिए !

विजया—झूठ—तुम सबको जंगली हिंस्र पशु होकर जन्म लेना था। डाकू ! थोड़े-से ठीकरो के लिए अमूल्य मानव-जीवन का नाश करने वाले, भयानक भेडिये !

नायक—(स्वगत) पागल हो गई है क्या ?

विजया—स्नेहमयी देवसेना का शका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देव-तुल्य स्कन्दगुप्त से विद्रोह किया, किस लिए ? केवल

अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हे नीचा दिखाने के लिए ? स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया---इस लोक का सुख, उस लोक की शांति ! ओह !

नायक---शांत हो !

विजया---शाति कहाँ ? अपने को दण्ड देने के लिए मैं स्वयं उनसे अलग हुई उन्हें दिखाने के लिए---'मैं भी कुछ हू ?' अपनी भूल थी, उसे अभिमान से उनके सिर दोष के रूप में मढ़ रक्खा था। उन पर झठा अभियोग लगाकर, नीच-हृदय को नित्य उत्तेजित कर रही थी---अब उसका फल मिला।

नायक---रमणी ! भूला हुआ लौट आता है, खोया मिल जाता है, परन्तु जो जान-बूझकर भूल-भुलैया तोडने के अभिमान से उसमे घुसता है, वह उसी चक्रव्यूह मे स्वयं मरता है, दूसरो को भी मारता है। शाति का---कल्याण का मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, मब तुम्हारा है।

विजया---**(सिसकती हुई)** मैं अनाथ निस्सहाय ह !

नायक---**(बनावटी रूप उतारते हुए)** मैं शर्वनाग हूँ---सम्राट का अनुचर। मगध की परिस्थिति देख कर अपने विषय अन्तर्वद को लौट रहा हूँ।

विजया---क्या अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग ?

शर्वनाग---हाँ, परन्तु देश पर एक भीषण आतंक है। भटार्क की पिशाचलीला सफल होना चाहती है। विजया ! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवक को उसकी भलाई मे लगाना होगा, कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राजसिंहासन न प्रस्तुत कर सके तो हमे अधीर न होना चाहिए। हम देश की प्रत्येक गली को झाडू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलनेवाले राजमार्ग का सुख पावे !

विजया---**(कुछ सोचकर)** तुमने सच कहा ! सबको कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिये। चलो---**(दोनों का प्रस्थान/दृश्यांतर)**

द्वितीय दृश्य

[भटार्क का शिविर नर्त्तकी गाती है]

भाव-निधि में लहरियाँ उठतीं तभी, भूल कर भी जब्र स्मरण होता कभी।
मधुर मुरली फूंक दी तुमने भला, नींद मुझको आ चली थी बस अभी।
सब रगों में फिर रही हैं बिजलियाँ, नील नीरद ! क्या न बरसोगे कभी ?
एक झोंका और मलयानिल अहा ! क्षुद्र कलिका है खिली जाती अभी।
कौन मर-मर कर जियेगा इस तरह, यह समस्या हल न होगी क्या कभी ?

[कमला और देवकी का प्रवेश]

देवकी—भटार्क ! कहाँ है मेरा सर्वस्व ? बता दे—मेरे आनद का उत्सव, मेरी आशा का सहारा—कहाँ है ?

भटार्क—कौन ?

कमला—कृतघ्न ! नही देखता है, यह वही देवी है—जिन्होने तेरे नारकीय अपराध को क्षमा किया था—जिन्होने तुम-से घिनौने कीडे को भी मरने से बचाया था, वही—वही, देव-प्रतिमा महादेवी देवकी।

भटार्क—(पहचान कर) कौन—मेरी माँ !

कमला—तू कह सकता है। परतु मुझे तुमको पुत्र कहने मे संकोच होता है, लज्जा से गडी जा रही हू ! जिस जननी की सतान—जिसका अभागा पुत्र—ऐसा देशद्रोही हो, उसको क्या मुख दिखाना चाहिये ? आह भटार्क !

भटार्क—राजमाता और मेरी माता !

देवकी—बता भटार्क ! वह आर्यावर्त्त का रत्न कहाँ है ? देश का बिना दाम का सेवक, वह जन-साधारण क हृदय का स्वामी—कहाँ है ? उससे शत्रुता करते हुए तुझे—

कमला—बोल दे भटार्क !

भटार्क—क्या कहू—कुभा की क्षुब्ध लहरो से पूछो—हिमवान की गल जाने वाली बर्फ से पूछो कि वह कहाँ है—मैं नही....।

देवकी—आह ! गया मेरा स्कद—मेरा प्राण !

[गिरती है—मृत्यु]

कमला—(उसे सम्हालती हुई) देख पिशाच—एक बार अपनी विजय पर प्रसन्नता से खिलखिला ले—नीच ! पुण्य-प्रतिमा को, स्त्रियो की गरिमा को, धूल मे लोटता हुआ देखकर एक बार हृदय खोल कर हँस ले। हा देवी !

भटार्क—क्या ! (भयभीत होकर देखता है)

कमला—इस यत्रणा और प्रतारणा से भरे हुए ससार की पिशाचभूमि को छोड कर अक्षय लोक को गई, और तू जीता रहा—सुखी घरो मे आग लगाने, हाहाकार मचाने और देश को अनाथ बनाकर उसकी दुर्दशा कराने के लिए—नरक के कीडे ! तू जीता रहा ?

भटार्क—माँ अधिक न कहो। साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मेरा उद्देश्य नही था, केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतीज्ञा से प्रेरित होकर मैंने यह किया। स्कंदगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट् होगा।

कमला—अरे मूर्ख ! अपनी तुच्छ बुद्धि को सत्य मानकर, उसके दर्प मे भूल कर, मनुष्य कितना बडा अपराध कर सकता है ! पामर ! तू सम्राटो का नियामक

बन गया ? मैंने भूल की—सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोंट कर क्यों न मार डाला ! आत्म-हत्या के अतिरिक्त अब कोई प्रायश्चित्त नहीं।

भटार्क—माँ, क्षमा करो। आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूं, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा। **(तलवार डाल देता है)**

कमला—तूने विलंब किया भटार्क ! महादेवी—एक दिन जिनके नाम पर गुप्त साम्राज्य नतमस्तक होता था, आज उसकी अंत्येष्टि-क्रिया के लिए कोई उपाय नहीं !....हा दुर्दैव !

भटार्क—**(ताली बजाता है, सैनिक आते हैं)** महादेवी की अंत्येष्टि-क्रिया राज-सम्मान से होनी चाहिये। चलो, शीघ्रता करो !

[देवकी के शव को एक ऊँचे स्थान पर दोनों मिलकर रखते हैं]

कमला—भटार्क ! इस पुण्य-चरण के स्पर्श से, संभव है, तेरा पाप छूट जाय !

[भटार्क और कमला पर तीव्र आलोक में दृश्यांतर]

तृतीय दृश्य

[काश्मीर-न्यायाधिकरण में मातृगुप्त, एक स्त्री और दंडनायक]

मातृगुप्त—नंदीग्राम के दंडनायक—देवनंद ! यह क्या है !

देवनन्द—कुमारामात्य की जय हो ! बहुत परिश्रम करने पर भी मैं इस रमणी के अपहृत धन का पता न लगा सका। इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है।

मातृगुप्त—फिर किसका है ? तुम गुप्त-साम्राज्य का विधान भूल गये ! प्रजा की रक्षा के लिए 'कर' लिया जाता है। यदि तुम उनकी रक्षा न कर सके, तो वह अर्थ तुम्हारी भृति से कट कर इस रमणी को मिलेगा।

देवनन्द—परन्तु वह इतना अधिक है कि मेरे जीवन भर की भृति से भी उसका भरना असम्भव है।

मातृगुप्त—तब राज-कोष उसे देगा, और तुम उसका फल भोगोगे।

देवनन्द—परन्तु मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ, इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है। यह श्रीनगर की सबसे अधिक समृद्धिशालिनी वेश्या—अपने अन्तरंग लोगों का परिचय भी नहीं बताती, फिर मैं कैसे पता लगाऊँ ? गुप्तचर भी थक गये !

मातृगुप्त—हाँ, इसका नाम मैं भूल गया।

देवनन्द—मालिनी।

मातृगुप्त—क्या ! मालिनी ? **(कुछ सोचता हुआ)** अच्छा जाओ कोषाध्यक्ष को भेज दो।

[देवनंद का प्रस्थान]

मातृगुप्त---मालिनी ! अवगुण्ठन हटाओ, सिर ऊँचा करो, मैं अपना भ्रम निवारण करना चाहता हूँ। **(मालिनी अवगुंठन हटाकर मातृगुप्त की ओर देखती है/मातृगुप्त चकित होकर उसको देखता है)**

मातृगुप्त---तुम कौन हो---मालिनी ? छलना ! नहीं-नहीं, भ्रम है !

मालिनी---नहीं मातृगुप्त, मैं ही हूँ ! अवगुण्ठन केवल इसलिए था कि मैं तुम्हें मुख नहीं दिखला सकती थी ! मातृगुप्त ! मैं वही हूँ।

मातृगुप्त---तुम ? नहीं मेरी मालिनी ! मेरे हृदय की आराध्य देवता---वेश्या ! असम्भव। परन्तु नहीं, वही है मुख ! यद्यपि विलास ने उस पर अपनी मलिन छाया डाल दी है---उस पर अपने अभिशाप की छाप लगा दी है, पर तुम वही हो ? हा दुर्दैव ?

मालिनी---दुर्दैव ?

मातृगुप्त---मैं आज तक तुम्हें पूजता था। तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रहा। मूर्ख मैं ...आह मालिनी ! मेरे शून्य भाग्याकाश के मन्दिर का द्वार खोलकर तुम्हीं ने उनींदी उषा के सदृश झाँका था, और मेरे भिखारी-संसार पर स्वर्ण बिखेर दिया था---तुम्हीं ने मालिनी ! तुमने सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम बेंच डाला। जाओ मालिनी ? राज-कोष से अपना धन ले लो।

मालिनी---**(मातृगुप्त के पैरों पर गिरती हुई)** एक बार क्षमा कर दो मातृगुप्त !

मातृगुप्त---मैं इतना दृढ़ नहीं हूँ मालिनी कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊँ। पर वह स्मृति---दूसरे प्रकार की होगी। उसमें ज्वाला न होगी। धुँआ उठेगा और तुम्हारी मूर्त्ति धुँधली होकर सामने आवेगी ! जाओ ! **(मालिनी का प्रस्थान/चर का प्रवेश)**

चर---कुमारामात्य की जय हो !

मातृगुप्त---क्या समाचार है---सम्राट् का पता लगा ?

चर---नहीं। पंचनद हूणों के अधिकार में है, और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं। **(प्रस्थान)**

मातृगुप्त---तो सब गया ! मेरी कल्पना के सुन्दर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले ! ओह ! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त्त में गौरव का सूर्य चमकेगा, और पुण्य-कर्मों से समस्त पाप-पंक धुल जायेंगे, हिमालय से निकली हुई सप्तसिंधु तथा गंगा-यमुना की घाटियाँ किसी आर्य-सद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आँगन-सी, भूखी जाति के

निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी और आर्य जाति अपने दृढ़ सबल हाथों में शस्त्र-ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अचल हिमालय की भाँति सिर ऊँचा किये, विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी, आलस्य-सिंधु में शेष-पर्यंकशायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे, सिंधु में हलचल होगी, रत्नाकर से रत्नराशियाँ आर्यावर्त की वेला-भूमि पर निछावर होंगी। उद्बोधन के गीत गाये—हृदय के उद्गार सुनाये जायँगे—परंतु पासा पलट कर भी न पलटा! प्रवीर उदार-हृदय स्कंदगुप्त कहाँ है? तब, काश्मीर! तुझसे विदा।

[प्रस्थान/दृश्यान्तर]

चतुर्थ दृश्य

[नगर प्रांत के पथ में धातुसेन और प्रख्यातकीर्त्ति]

प्रख्यातकीर्त्ति—प्रिय वयस्य! आज तुम्हे आये तीन दिन हुए, क्या सिंहल का राज्य तुम्हे भारत-पर्यटन के सामने तुच्छ प्रतीत होता है?

धातुसेन—भारत समग्र विश्व का है, और संपूर्ण वसुधरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुंधरा का हृदय—भारत—किस मूर्ख को प्यारा नही है? तुम देखते नही कि विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने, और गभीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है। एक-से-एक सुन्दर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर मे चित्रित कर रक्खा है। भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है। किंतु देखता हू, बौद्ध जनता और संघ भी साम्राज्य के विरुद्ध है। महाबोधि-विहार के संघ-महास्थविर ने निर्वाण-लाभ किया है, उस पद के उपयुक्त भारत-भर मे केवल प्रख्यातकीर्त्ति है। तुमसे संघ की मलिनता बहुत-कुछ धुल जायगी।

प्रख्यातकीर्त्ति—राजमित्र! मुझे क्षमा कीजिये। मै धर्मलाभ करने के लिए भिक्षु हुआ हू। महास्थविर बनने के लिए नही।

धातुसेन—मित्र! मै मातृगुप्त से मिलना चाहता हूं।

प्रख्यातकीर्त्ति—वह तो विरक्त होकर घूम रहा है।

धातुसेन—तुमको मेरे साथ काश्मीर चलना होगा।

प्रख्यातकीर्त्ति—पर अभी तो कुछ दिन ठहरोगे?

धातुसेन—जहाँ तक सभव हो शीघ्र चलो।

[एक भिक्षु का प्रवेश]

भिक्षु—आचार्य? महान् अनर्थ।

प्रख्यातकीर्त्ति—क्या है? कुछ कहो भी?

भिक्षु---विहार के समीप जो चातुष्पथ का चैत्य है, वहाँ कुछ ब्राह्मण बलि किया चाहते हैं। इधर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित है।

धातुसेन---चलो, हम लोग भी चले---उन उत्तेजित लोगो को शांत करने का प्रयत्न करे।

[सब जाते हैं/दृश्यांतर]

पंचम दृश्य

[विहार के समीप चतुष्पथ/एक ओर ब्राह्मण लोग बलि के उपकरण लिए, दूसरी ओर उत्तेजित भिक्षु और बौद्ध जनता/दंडनायक का प्रवेश]

दडनायक---नागरिकगण ! यह समय अन्तर्विग्रह का नही। देखते नहीं हो कि साम्राज्य विना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है, और तुम लोग क्षुद्र बातो को लिए परस्पर झगडने लगे।

ब्राह्मण---इन्ही बौद्धो ने गुप्त शत्रु का काम किया है। कई बार के विताडित हूण इन्ही लोगो की सहायता मे पुन आये है इन गुप्त शत्रुओ को कृतघ्नता का उचित दंड मिलना चाहिये।

श्रमण---ठीक है। गगा, यमुना और सरयू के तट पर गडे हुए यज्ञयूप सद्धर्मियो की छाती मे ठुकी हुई कीलो की तरह अब भी खटकते हैं। हम लोग निस्सहाय थे---क्या करते---विधर्मी विदेशी की शरण म भी यदि प्राण बच जायें और धर्म की रक्षा हो। राष्ट्र और समाज मनुष्यो के द्वारा बनते है---उन्ही के सुख के लिए। जिस राष्ट्र और समाज से हमारी सुख-शाति मे बाधा पडती हो---उसका हमे तिरस्कार करना ही होगा। इन सस्थाओ का उद्देश्य है---मानवो की सेवा। यदि वे हमी से अवैध सेवा लेना चाहे और हमारे कष्टो को न हटावे, तो हमे उसकी सीमा के बाहर जाना ही पडेगा।

ब्राह्मण---ब्राह्मणो को इतनी हीन अवस्था मे बहुत दिनो तक विश्वनियंता नही देख सकते। जो जाति विश्व के मस्तिष्क का शासन करने का अधिकार लिये उत्पन्न हुई है---वह कभी चरणो के नीचे न बैठेगी। आज यहाँ बलि होगी---हमारे धर्माचरण मे स्वयं विधाता भी बाधा नही डाल सकते।

श्रमण---निरीह प्राणियो के वध मे कौन-सा धर्म है---ब्राह्मण ? तुम्हारी इसी हिंसा-नीति और अहकार मूलक आत्मवाद का खडन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था ? क्यों नतमस्तक होकर समग्र जंबूद्वीप ने उस ज्ञान-रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार की ? तुम हमारे धर्म पर अत्याचार किया चाहते हो, यह नही हो सकेगा। इन पशुओ के बदले हमारी बलि

होगी। रक्तपिपासु दुर्दांत ब्राह्मणदेव ! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शांत करेंगे।

[धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति का प्रवेश]

धातुसेन—अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या-क्या आवश्यकता थी ? **उपनिषदों के 'नेति-नेति' से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है।** यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धांत—मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से संसार में प्रचारित हुआ, व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नही है। वह एक सुधार था—उसके लिए रक्तपात क्यों ?

दंडनायक—देखो, यदि ये हठी लोग कुछ तुम्हारे समझाने से मान जायँ, अन्यथा यहाँ बलि न होने दूंगा

ब्राह्मण—क्यों न होने दोगे—अधार्मिक शासक ! क्यों न होने दोगे ? आज गुप्त कुचक्रों से गुप्त-साम्राज्य शिथिल है। कोई क्षत्रिय राजा नही जो ब्राह्मण के धर्म की रक्षा कर सके—धर्माचरण के लिए अपने राजकुमारों को तपस्वियों की रक्षा में नियुक्त करे। आह धर्मदेव ! तुम कहाँ हो ?

धातुसेन—सप्तसिंधु प्रदेश नृशंस हूणों से पादाक्रांत है—जाति भीत और त्रस्त है, और उसका धर्म असहाय अवस्था मे पैरों से कुचला जा रहा है। क्षत्रिय राजा—धर्म का पालन कराने वाला राजा—पृथ्वी पर क्यों नहीं रह गया ? आपने इसे विचारा है ? क्यों ब्राह्मण टुकड़ों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका छीन रहे है ? क्यों एक वर्ण के लोग दूसरे की अर्थकरी वृत्तियाँ ग्रहण करने लगे हैं ? लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया, दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धर्म, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे। कामना से अंधी जनता के विलासी-समुदाय के ढोंग के लिए तुम्हारा धर्म आवरण हो गया है। **जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिये, वह धर्म जन-साधारण की संपत्ति नहीं !** धर्मवृक्ष के चारों ओर स्वर्ण के काटेदार जाल फैलाये गये हैं और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है। जिन धनवानों के लिए तुमने धर्म को सुरक्षित रखा, उन्होंने समझा कि धर्म धन से खरीदा जा सकता है, इसीलिए धनोपार्जन मुख्य हुआ और धर्म गौण ! जो पारस्यदेश की मूल्यवान मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बने रहने के लिए प्रभात मे एक गो-निष्क्रय भी कर मकता है। धर्म को बचाने के लिए तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई। धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल के द्वारा सुरक्षित होगा !

ब्राह्मण—तुम कौन हो—मूर्ख उपदेशक ? हट जाओ—तुम नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध ! तुमको क्या अधिकार है कि हमारे धर्म की व्याख्या करो ?

धातुसेन—ब्राह्मण क्यों महान् हैं इसीलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्त्ति हैं। इसी के बल पर बड़े-बड़े सम्राट् उनके आश्रमों के निकट निश्शस्त्र होकर आते थे, और वे तपस्वी—ऋत और अमृत-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए सायं-प्रातः अग्निशाला में भगवान् से प्रार्थना करते थे—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

—आप लोग उन्ही ब्राह्मणों की संतान है, जिन्होंने अनेक यज्ञों को एक बार ही बंद कर दिया था। उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्त्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानव-बुद्धि, ज्ञान का—जो वेदों के द्वारा हमे मिला है—प्रस्तार करेगी, उसके विकास के साथ बढेगी और यही धर्म की श्रेष्ठता है।

प्रख्यातकीर्त्ति—धर्म के अंधभक्तों! मनुष्य अपूर्ण है। इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असंभव हो जाय। प्रत्येक प्रचारक को कुछ-न-कुछ प्राचीन असत्य परंपराओं का आश्रय इसी से ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार विवृत होते रहे हैं और होंगे। हम लोगों को हठ-धर्मिता से उन आगंतुक क्रमिकपूर्णता प्राप्त करने वाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखायें है। आओ हम दोनो विचार के फूलो से दु खदग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करे।

बहुत-से लोग—ठीक तो है—ठीक तो है, हम लोग व्यर्थ आपस मे ही झगड़ते हैं और आततायियो को देखकर घर मे घुस जाते हे। हूणो के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नही अड़ जाते?

दंडनायक—यही तो बात है नागरिक!

प्रख्यातकीर्त्ति—मै इस विहार का आचार्य हू, और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों मे बौद्धो को माननी चाहिये। मैं जानता हू कि भगवान् ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया हे, और जीव-रक्षा इसीलिए धर्म है। किंतु जब तुम लोग स्वयं इसके लिए युद्ध करोगे, तो हत्या की संख्या बढ़ेगी ही। अत यदि तुम में कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणो से पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं। क्योंकि इन पशुओ से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि मे भी विशेष होगा। आइये, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है!

(बौद्धों में से कोई नहीं हिलता)

प्रख्यातकीर्त्ति—**(हँसकर)** यही आपका धर्मोन्माद था? एक युद्ध करने वाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म करना और धर्माचरण की दुंदुभी बजाना—यही आपकी करुणा की सीमा है? जाइये, घर लौट जाइये। **(ब्राह्मण**

से) आओ रक्त-पिपासु धार्मिक ! लो, उपहार देकर अपने देवता को संतुष्ट करो ! **(सिर झुका लेता है)**

ब्राह्मण—**(तलवार फेंककर)** धन्य हो महाश्रमण ! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे ऐसे धार्मिक भी इसी संघ में हैं। मैं बलि नहीं करूँगा। **(जनता में जय-जयकार/सब धीरे-धीरे जाते हैं/दृश्यांतर)**

षष्ठ दृश्य

[पथ में विजया और शोकमग्न मातृगुप्त]

विजया—नहीं कविवर ! ऐसा नहीं।

मातृगुप्त—कौन, विजया ?

विजया—आश्चर्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि-शिरोमणि ! गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े ? एक बार वह उद्बोधन-गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जायँ।

मातृगुप्त—**(विकल भाव से)** देवि ! तुम देवि....

विजया—हाँ मातृगुप्त ! एक प्राण बचाने के लिए जिसने तुम्हारे हाथ में काश्मीर-मंडल दे दिया था, आज तुम उसी सम्राट् को खोजते हो ! एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कंदगुप्त, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायें ! सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जाय और समुद्र काँप कर रह जाय—अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुंद की मोह-निद्रा से भारतवासी जाग पड़ें। हम-तुम गली-गली, कोने-कोने पर्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे !

मातृगुप्त—बीर बाले ! तुम धन्य हो। आज से मैं यही करूँगा **(देखकर)** वह लो—चक्रपालित आ रहा है। **(चक्रपालित का प्रवेश)**

चक्रपालित—**(अन्यमनस्क भाव से)** लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जलबिंदु, आकाश के मेघ-समारोह—अरे इनसे भी क्षुद्र नीहार-कणिकाओं की प्रभात-लीला, मनुष्य की अदृष्ट-लिपि वैसी ही है जैसी अग्नि-रेखाओं से कृष्णमेघ में बिजली की वर्णमाला—एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली ! **भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य अतीत का स्वामी है !**

मातृगुप्त—बंधु चक्रपालित !

चक्रपालित—कौन, मातृगुप्त ?

भीमवर्मा—**(विक्षिप्त सा सहसा प्रवेश करके)** कहाँ है मेरा भाई, मेरे

हृदय का बल, भुजाओं का तेज, वसुन्धरा का शृंगार, वीरता का वरणीय—बंधु, मालव-मुकुट आर्य बंधुवर्मा ?

[प्रख्यातकीर्त्ति और श्रमण का प्रवेश]

प्रख्यातकीर्त्ति—सब पागल, लूटे गये-से अनाथ और आश्रयहीन—यही तो हैं ! आर्य-राष्ट्र के कुचले हुए अंकुर, भग्न-साम्राज्य-पोत के टूटे हुए पटरे और पतवार ऐसे वीर हृदय ! ऐसे उदार !

मातृगुप्त—तुम कौन हो ?

प्रख्यातकीर्त्ति—संभवतः तुम्हीं मातृगुप्त हो !

मातृगुप्त—(शंका से देखता हुआ) क्यों अहेरी कुत्तों के समान सूघते हुए यहाँ भी ! परंतु तुम—

प्रख्यातकीर्त्ति—संदेह मत करो मातृगुप्त। शैशव-सहचर कुमार धातुसेन की आज्ञा से मैं तुम लोगो को खोज रहा हूं। यह लो प्रमाण-पत्र।

मातृगुप्त—(पढ़कर) धन्य सिंहल के युवराज, श्रमण ! कह देना मैं आज्ञानुसार चलूंगा, और कनिष्क-चैत्य के समीप भेट होगी।

प्रख्यातकीर्त्ति—कल्याण हो ! (जाता है)

विजया—कहाँ चलें हम लोग ?

मातृगुप्त—उसी जंगल में। (सब लोग जाते हैं)

[दृश्यांतर]

सप्तम दृश्य

[कमला की कुटी पर विचित्र अवस्था में स्कंदगुप्त का प्रवेश]

स्कंदगुप्त—बौद्धों का निर्वाण, योगियो की समाधि और पागलो की संपूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिये। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर मे जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है ? (चिंतामग्न होता है) करुणासहचर ! क्या जिस पर कृपा होती है, उसी को दुःख का अमोघ दान देते हो ! नाथ ! मुझे दुखों से भय नही, संसार के संकोचपूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बंधनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है ! परंतु यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था ! आर्य-साम्राज्य का नाश इन्ही आँखों को देखना था ! हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो—मुझे अधिकार की आवश्यकता नही, यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय-वृक्ष—गुप्त-साम्राज्य—हरा-भरा रहे, और

कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो। ओह! जाने दो, गया सब कुछ गया! मन बहलाने को कोई वस्तु न रही। कर्त्तव्य—विस्मृत, भविष्य—अंधकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनंत सागर का संतरण है—

बजा दो वेणु मनमोहन! बजा दो
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो।
विमल स्वातंत्र्य का बस मंत्र फूंको।
हमें सब भीति-बंधन से छुड़ा दो।
सहारा उन अँगुलियों का मिले हाँ?
रसीले राग में मन को मिला दो।
तुम्हीं सब हो इसी की चेतना हो?
इसे आनंदमय जीवन बना दो।

[प्रार्थना में झुकता है/उन्मत्त भाव से शर्वनाग का प्रवेश]

शर्वनाग—छीन लिया, गोद मे छीन लिया, सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल पर के मास की तरह सेकने लगे! जिन पर विश्व-भर का भंडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्ही गुदड़ी के लालों को राक्षसो ने—हूणों ने—लुटेरो ने—लूट लिया! किसन आहों को सुना—भगवान् ने? नही, उस निष्ठुर ने नही सुना! देखते हुए भी न देखा! आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्यो की दुर्दशा से दुखी होकर, अब नही। देश के हर कानन चिता बन रहे है। धधकती हुई नाश की प्रचंड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपनी ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नही समुद्र से जा मिलता? अरे जड, मूक. बधिर, प्रकृति के टीले! **(उन्मत्त भाव से प्रस्थान)**

स्कंदगुप्त—कौन है? यह शर्वनाग है क्या? अंतर्वेद भी हूणो से पादाक्रांत हुआ? अरे आर्यावर्त्त के दुर्दैव! बिजली के अक्षरो से क्या भविष्यत् लिख रहा है? भगवन्! यह अर्द्धोन्मत्त शर्व! आर्य साम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है? कितना बीभत्स है। सिंहों को विहारस्थली में शृगाल-वृंद सड़ी लोथ नोंच रहे हैं।

[पगली रामा का प्रवेश]

रामा—**(स्कंद को देखकर)** लुटेरा है तू भी! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियाँ? तेरे दाँतों से टूटेंगी? देख तो—**(हाथ बढ़ाती है)**

स्कंदगुप्त—कौन? रामा!

रामा—**(आश्चर्य से)** मैं रामा हूँ! हाँ, जिसकी संतान को हूणों ने पीस डाला! **(ठहर कर)** मेरी संतान! इन अभागों की-सी वे नही थी। वे तो तलवार

की बारीक धार पर पैर फैलाकर सोना जानती थीं। धधकती हुई ज्वाला में हँसती हुई कूद पड़ती थी। तुम **(देखती हुई)** लुटेरे भी नहीं, उद्दंड कायर भी नहीं, अकर्मण्य बातों में भुलाने वाले—तुम कौन हो? देखा था एक दिन! वही तो है जिसने अपनी प्रचंड हुंकार से दस्युओं को कँपा दिया था, ठोकर मारकर सोई हुई अकर्मण्य जनता को जगा दिया था, जिसके नाम से रोयें खड़े हो जाते थे, भुजायें फड़कने लगती थी। वही स्कंद—रमणियों का आश्रय और आर्यावर्त्त की छत्र-छाया! नहीं, भ्रम हुआ! तुम निष्प्रभ, निस्तेज उसी के मलिन चित्र-से—तुम कौन हो? **(प्रस्थान)**

स्कंदगुप्त—**(बैठकर)** आह! मैं वही स्कंद हूँ—अकेला, निस्सहाय!

[कमला कुटी खोलकर बाहर निकलती है]

कमला—कौन कहता है—तुम अकेले हो? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। सहानुभूति को जाग्रत करो। यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पादाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा! राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नही हो सकते? **समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है वही ईश्वर का अवतार है।** उठो स्कंद! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ और रोने वालो को हँसाओ। आर्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य-पताका के नीचे समग्र विश्व होगा—वीर!

स्कंदगुप्त—कौन तुम? भटार्क की जननी!

[नेपथ्य से क्रंदन—'बचाओ-बचाओ' का शब्द]

स्कंदगुप्त—कौन? देवसेना का-सा शब्द! मेरा खड्ग कहाँ है—**(जाता है)**

[देवसेना का पीछा करते हुए हूण का प्रवेश]

देवसेना—भीम! भाई! मुझे इस अत्याचारी से बचाओ, कहाँ गये?

हूण—कौन तुझे बचाता है? **(पकड़ना चाहता है / देवसेना छुरी निकाल कर आत्महत्या किया चाहती है / पर्णदत्त सहसा एक ओर से आकर एक हाथ से हूण की गर्दन दूसरे हाथ से देवसेना की छुरी पकड़ता है)**—क्षमा हो!

पर्णदत्त—अत्याचारी! जा तुझे छोड़ देता हूँ। आ बेटी, हम लोग चलें, महादेवी की समाधि पर।

कमला—कहाँ, वही—कनिष्क के स्तूप के पास!

देवसेना—हाँ, कौन कमला देवी?

कमला—वही अभागिनी।

देवसेना—अच्छा जाती हूँ, फिर मिलूँगी।

[पर्णदत्त के साथ देवसेना का प्रस्थान/स्कंदगुप्त का प्रवेश]

स्कंदगुप्त—कोई नहीं मिला। कहाँ से वह पुकार आई थी? मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है। सच्चे मित्र बंधुवर्मा की धरोहर! ओह!

कमला—वह सुरक्षित हैं, घबराइये नही। कनिष्क के स्तूप के पास आपकी माता की समाधि है, वही पर पहुँचा दी गई है।

स्कंदगुप्त—माँ! मेरी जननी! तू भी न रही! हा!

[मूर्च्छित होता है/कमला उसे कुटी में उठा ले जाती है]

[पटाक्षेप]

पंचम अक

प्रथम दृश्य

[पथ में मुद्गल]

मुद्गल—राजा से रंक और ऊपर से नीचे; अभी दुर्वृत्त दानव, अभी स्नेह संवलित मानव, कही वीणा की झन्कार, कही दीनता का तिरस्कार—**(सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है)** भाग्यचक्र! तेरी बलिहारी! जयमाला यह सुनकर कि बंधुवर्मा वीरगति को प्राप्त हुए सती हो गई, और देवसेना को लेकर बूढ़ा पर्णदत्त देवकुलिक-सा महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है। चक्रपालित, भीमवर्मा और मातृगुप्त राजाधिराज को खोज रहे हैं, सब विक्षिप्त! सुना है कि विजया का मन कुछ फिरा है, वह भी इन्ही लोगों के साथ मिली है, परंतु उस पर विश्वास करने को मन नही करता। अनंतदेवी ने पुरगुप्त के साथ हूणों से संधि कर ली है; मगध मे महादेवी और परम भट्टारक बनने का अभिनय हो रहा है। सम्राट् की उपाधि है 'प्रकाशादित्य' परंतु प्रकाश के स्थान पर अंधेरा है! आदित्य मे गर्मी नही। सिंहासन के सिंह सोने के है! समस्त भारत हूणों के चरणों मे लोट रहा है, और भटार्क मूर्ख की बुद्धि के समान अपने कर्मो पर पश्चात्ताप कर रहा है। **(सामने देखकर)** वह विजया आ रही है! तो हट चलूं।

[उठकर जाना चाहता है]

विजया—अरे मुद्गल! जैसे पहचानता ही न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।

मुद्गल—तुम कौन हो जी? वे जान-पहचान की छेड़-छाड़ अच्छी नही लगती,

और तिस पर मैं हूँ ज्योतिषी। जहाँ देखो वहीं यह प्रश्न होता है, मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—मुझसे रूठे हुये हैं? किसी दूसरे पर उनका स्नेह है? वह सुन्दरी कब मिलेगी? मिलेगी या नहीं?—इस देश के छबीले छैल और रसीली छोकरियों ने यही प्रश्न गुरुजी से पाठ में पढ़ा है। अभिसार के लिए मुहूर्त्त पूछे जाते है!

विजया—क्या मुद्गल! मुझे पहचान लेने का भी तुम्हें अवकाश नही है?

मुद्गल अवकाश हो या नही, मुझे आवश्यकता नही।

विजया—क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य—मनुष्य से बात न करे? सच है, आवश्यकता ही संसार के व्यवहारो की दलाल है। परंतु मनुष्यता भी कोई वस्तु है मुद्गल!

मुद्गल—उसका नाम न लो। जिस हृदय मे अखंड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है, और जो क्रूरताओं का भांडार है, जो अपने सुख—अपनी तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसका मनुष्यता से क्या संबंध?

विजया—न सही, परंतु इतना तो बता सकोगे, सम्राट् स्कंदगुप्त से कहाँ भेट होगी? क्योंकि यह पता चला है कि वे जीवित है।

मुद्गल—क्या तुम महाराज से भेट करोगी, किस मुँह से? अवंती मे एक दिन यह बात सब जानते थे कि विजया महादेवी होगी!

विजया—उसी एक दिन के बदले मुद्गल आज मैं फिर कुछ कहना चाहती हूँ। वही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य छिपाये था।

मुद्गल—तुम्हारा साहस तो कम नही है!

विजया—मुद्गल! बता दोगे?

मुद्गल—तुम विश्वास के योग्य नही। अच्छा अब और तुम क्या कर लोगी! देवसेना के साथ जहाँ पर्णदत्त रहते है, आज कमला देवी के कुटीर से सम्राट् वही अपनी जननी की समाधि पर जाने वाले है—उसी कनिष्क-स्तूप के पास! अच्छा, जाता हूँ। देखो, विजया! मैंने बता तो दिया—पर सावधान! (जाता है)

विजया—उसने ठीक कहा। मुझे स्वयं अपने पर विश्वास नही। स्वार्थ में ठोकर लगते ही मैं परमार्थ की ओर दौड़ पड़ी, परंतु क्या यह सच्चा परिवर्त्तन है? क्या मैं अपने को भूलकर देश-सेवा कर सकूंगी? क्या देवसेना····ओह! फिर मेरे सामने वही समस्या। आज तो स्कंदगुप्त सम्राट् नही है, प्रतिहिंसे—सो जा! क्या कहा? नही, देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था—विजया भी एक बार वही करेगी। देश सेवा तो होगी ही, यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती! मेरा रत्न-गृह अभी बचा है, उसे सेना-संकलन करने के लिये सम्राट् को दूंगी, और—एक बार बनूंगी महादेवी! क्या नही होगा! अवश्य होगा। अदृश्य ने इसीलिए उस

रक्षित रत्न-गृह को बचाया है। उससे एक साम्राज्य ले सकती हूं ! तो आज वही करूंगी, और, इसमें दोनों होगा—स्वार्थ और परमार्थ (प्रस्थान)

[भटार्क का प्रवेश]

भटार्क——अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा, परंतु परिणाम में मधुर होता है। ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट् ! परंतु गया–मेरी ही भूल से सब गया। आज भी वे शब्द सामने आ जाते है, जो उस बूढ़े अमात्य ने कहे थे—'भटार्क, सावधान ! जिस काल-भुजंगी राष्ट्रनीति को लेकर तुम खेल रहे हो, प्राण देकर भी उसकी रक्षा करना।' हाय ! न हम उसे वश मे कर सके और न तो उससे अलग हो सके। मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दंभ, पाखंड की सीमा तक पहुँच गया। अनंतदेवी——एक क्षुद्र नारी——उसके कुचक्र मे—आशा के प्रलोभन में, मैंने सब बिगाड़ दिया। सुना है कि यही कही स्कंदगुप्त भी है, चलूँ उस महत् का दर्शन तो कर लूँ।

[प्रस्थान/दृश्यांतर]

द्वितीय दृश्य

[कनिष्क-स्तूप के पास महादेवी की समाधि/अकेले पर्णदत्त टहलते हुए]

पर्णदत्त——सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती है। जिन्हे कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय ! अक्षय-निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ ! मैं रोऊँगा नही, परंतु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ वहन करने के लिए है ! नहीं, पर्ण ! रोना मत। एक बूँद भी आँसू आँखो में न दिखाई पड़े। तुम जीते रहो——तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान् यदि होंगे, तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। संतोष कर उछलते हुए हृदय——संतोष कर ! तू रोटियों के लिए नही जीता है, तू उसकी भूल दिखाता है जिसने तुझे उत्पन्न किया है। परंतु जिस काम को कभी नही किया——उसे करते नही बनता——स्वाँग भरते नही बनता, देश के बहुत-से दुर्दशा-ग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा–साक्षी रहना भगवन् !

[एक नागरिक का प्रवेश]

पर्णदत्त——बाबा ! कुछ दे दो।

नागरिक——और तुम्हारी वह कहाँ गई—वह.... (संकेत करता है)

पर्णदत्त——मेरी बेटी स्नान करने गई है। बाबा ! कुछ दे दो !

नागरिक——मुझे उसका गान बड़ा प्यारा लगता है, अगर वह गाती——तो तुम्हें कुछ अवश्य मिल जाता। अच्छा, फिर आऊँगा। (जाता है)

पर्णदत्त—(दाँत पीसकर) नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा ! बालों को संवार कर, अच्छे कपड़े पहन कर, अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है ! कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़ कर चल रहा है, अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई ! जिस देश के नवयुवक ऐसे हों उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिये। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज !

देवसेना—(प्रवेश करते) क्या है बाबा। क्यों चिढ़ रहे हो ? जाने दो, जिसने नही दिया—उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नही ले गया।

पर्णदत्त—अपना ! देवसेना ! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए—हम भूखों के लिए—रख छोड़ा है। वह थाती है—उसे लौटाने में इतनी कुटिलता ! विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रो के लिए नही ? अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हे भूल न जाना चाहिए कि....

देवसेना—बाबा ! क्षमा करो। जाने दो, कोई तो देगा।

पर्णदत्त—हमारे ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालको का भार है ! बेटी ! ये युद्ध मे मरना जानते है, परंतु भूख से तड़पते हुए उन्हे देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है।

देवसेना—बाबा ! महादेवी की समाधि स्वच्छ करती हुई आ रही हूँ। कई दिनों से भीम नही आया, मातृगुप्त भी नहीं—सब कहाँ है ?

पर्णदत्त—आवेंगे बेटी ! तुम बैठो, मैं अभी जाता हूँ। (प्रस्थान)

देवसेना—संगीत-सभा की अंतिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान् सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबो की प्रतिकृति—मेरा क्षुद्र मारीजीवन ! मेरे प्रिय गान ! अब क्या गाऊँ और क्या सुनाऊँ ? इन बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खीचता है ? केवल सुनने की ही नही, प्रत्युत जिसके साथ अनंतकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है—(गाती है)

> शून्य गगन में खोजता जैसे चंद्र निराश
> राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश।
> हृदय ! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें,
> मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें।
> रस-निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास,
> मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस।

हृदय ! तू है बना जलनिधि लहरियाँ खेलती तुझमें,
मिला अब कौन सा नवरत्न जो पहले न था तुझमें ! (प्रस्थान)

[वेश बदले हुए स्कंदगुप्त का प्रवेश]

स्कंदगुप्त—जननी ! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रणाम। (समाधि के समीप घुटने टेककर फूल चढ़ाते हुए) माँ अंतिम बार आशीर्वाद नहीं मिला, इसी से यह कष्ट—यह अपमान ! माँ तुम्हारी गोद में पलकर भी तुम्हारी सेवा न कर सका—यह अपराध क्षमा करो।

[देवसेना का प्रवेश]

देवसेना - (पहचानती हुई) कौन ? अरे—सम्राट की जय हो !

स्कंदगुप्त—देवसेना !

देवसेना—हाँ राजाधिराज ! धन्य भाग्य, आज दर्शन हुए।

स्कंदगुप्त—देवसेना ! बड़ी-बड़ी कामनाये थी।

देवसेना—सम्राट् !

स्कंदगुप्त—क्या तुमने यहाँ कोई कुटी बना ली है ?

देवसेना—हाँ यहीं गाकर भीख माँगती हूँ, और आर्य पर्णदत्त के साथ रहती हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूँ।

स्कंदगुप्त—मालवेश-कुमारी देवसेना ! तुम और यह कर्म ! समय जो चाहे करा ले ! कभी हमने भी तुम्हें अपने काम का बनाया था ! देवसेना यह सब मेरा प्रायश्चित्त है। आज मैं बंधुवर्मा के आत्मा को क्या उत्तर दूँगा ? जिसने निस्स्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा ? मैं यह सब देखता हूँ—और, जीता हूँ !

देवसेना—मैं अपने लिए ही नही माँगती देव ! आर्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निरवलंब है ! किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-खंड ! उन सब की सेवा इसी आश्रम में होती है।

स्कंदगुप्त—वृद्ध पर्णदत्त—तात पर्णदत्त ! तुम्हारी यह दशा ? जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है। देवसेना ! अब इसका कोई काम नही, चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों, हम तुम अब अलग न होंगे ! साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा, और एकांतवास करूँगा !

देवसेना—सो न होगा सम्राट् ! मै दासी हू ! मालव ने देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट् !

देखो यही पर सती जयमाला की छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की रक्षा होनी चाहिये !

स्कंदगुप्त—देवसेना ! बंधुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी।

देवसेना—परंतु क्षमा हो सम्राट् ! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी ! मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी; परंतु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।

स्कंदगुप्त—देवसेना ! एकात मे किसी कानन के कोने मे तुम्हे देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा ! साम्राज्य की इच्छा नही—एक बार कह दो !

देवसेना—तब तो और भी नही ! मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परंतु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिये। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी ! सम्राट् –क्षमा हो। इस हृदय मे—आह ! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोडकर न तो कोई दूसरा आया और न वह आयगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर मे फँसाकर कलुषित न कीजिये। नाथ ! मैं आपकी ही हू, मैंने अपने को दे दिया, अब उसके बदले कुछ लिया नही चाहती।[1] (स्कंदगुप्त के पैरों पर गिरती है)

स्कंदगुप्त—(आँसू पोंछता हुआ) उठो देवसेना ! तुम्हारी विजय हुई। आज से मैं प्रतिज्ञा करता हू कि मैं कुमार-जीवन ही व्यतीत करूँगा, मेरी जननी की समाधि इसमे साक्षी है।

देवसेना—हैं, हैं—यह क्या किया !

स्कंदगुप्त—कल्याण का श्रीगणेश ! यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका—तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कंटक छोड सकूँगा।

देवसेना—(निश्वास लेकर) देवव्रत ! तुम्हारी जय हो। जाऊँ आर्य पर्णदत्त को लिवा लाऊँ। (प्रस्थान)

[विजया का प्रवेश]

विजया—इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह—जैसे सरस्वती के शोणित जल में इन्दीवर का विकास। इसी कारण अब मैं भी मरती हू। मेरे स्कंद ! मेरे प्राणाधार !

स्कंदगुप्त—(घूमकर) यह कौन, इन्द्रजाल-मंत्र ? अरे विजया !

विजया—हाँ, मैं ही हू।

स्कंदगुप्त—तुम कैसे ?

विजया—तुम्हारे लिए अन्तस्तल की आशा जीवित है।

1 मैं दे दूं और न फिर कुछ लूं····कामायनी, लज्जासर्ग (सं०)

स्कंदगुप्त—नहीं विजया ! उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं, यदि दूसरी बात हो तो कहो। उन बातों को रहने दो।

विजया—नहीं, मुझे कहने दो (सिसकती हुई) मैं अब भी....

स्कंदगुप्त—चुप रहो विजया ! यह मेरी आराधना की—तपस्या की भूमि है, इसे प्रवञ्चना से कलुषित न करो। तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले तो मैं उससे दूर रहना चाहता हूं।

विजया—मेरे पास अभी दो रत्न-गृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही उन हूणों को परास्त कर सकते हो !

स्कंदगुप्त—परन्तु साम्राज्य के लिए मैं अपने को बेंच नही सकता। विजया चली जाओ, इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं। यह प्रसंग यही तक !

विजया—मैंने देशवासियों को सन्नद्ध करने का संकल्प किया है, और भटार्क का प्रसंग छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनाने का उद्योग कर रही हू। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतंत्र करा दूंगी; अर्थलोभी हूण-दस्युओं से उन्हे छुड़ा लेना मेरा काम है। केवल तुम स्वीकार कर लो।

स्कंदगुप्त—विजया, मुझे इतना लोभी समझ लिया है ? मैं सम्राट् बन कर सिंहासन पर बैठने के लिए नही हूँ। शस्त्र-बल से शरीर देकर भी यदि हो सका तो जन्म-भूमि का उद्धार कर लूंगा। सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नही चाहता।

विजया—क्या जीवन के प्रत्यक्ष सुखों से तुम्हे वितृष्णा हो गई ? आओ हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो।

स्कंदगुप्त—और असहाय दीनों को राक्षसों के हाथ उनके भाग्य पर छोड़ दूं ?

विजया—कोई दुःख भोगने के लिए है, कोई सुख। फिर सब का बोझ अपने सिर पर लाद कर क्यों व्यस्त होते हो ?

स्कंदगुप्त—परंतु इस संसार को कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्व-नियंता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूं, विजया ! मैं कुछ नही हूँ, उसका अस्त्र हूँ—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसी से मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नही। देशव्यापी हलचल के भीतर कोई शक्ति कार्य कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं सन्नद्ध हैं। मैं उसी ब्रह्मचक्र का एक....

विजया—रहने दो यह थोथा ज्ञान—प्रियतम ! यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद

मंडल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा[1] करते करते हम लोग तिरोहित हो जायँ। और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत की आँखों को थोड़े काल के लिए बंद कर रक्खे। स्वर्ग की कल्पित अप्सरायें और इस लोक के अनंत पुण्य के भागी जीव भी—जिस सुख को देखकर आश्चर्य-चकित हों, वही मादक सुख, घोर आनंद, विराट् विनोद हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जाय!—

अगुरु-धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से,
व्याकुलता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से—
व्याकुल बिजली-सी, तुम मचलो आर्द्र-हृदय-घनमाला से,
आँसू वरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से।
इस उदास मन की अभिलाषा अँटकी रहे प्रलोभन से,
व्याकुलता सौ-सौ बल खा कर उलझ रही हो जीवन से।
छवि-प्रकाश-किरणें उलझी हों जीवन के भविष्य तम से,
ये लायेंगी रंग सुलालित होने दो कंपन सम से।
इस आकुल जीवन की घड़ियाँ इन निष्ठुर आघातों से,
बजा करें अगणित यंत्रों से सुख-दुख के अनुपातों से।
उखड़ी साँसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो,
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो।
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहो ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से, जिसमें तुम भी सुख पाओ।

[स्कंद के पैरों को पकड़ती है]

स्कंदगुप्त—(पैर छुड़ाकर) विजया! पिशाची! हट जा, नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार्य-व्रत की प्रतिज्ञा की है।

विजया—तो क्या मैं फिर हारी? (भटार्क का प्रवेश/विजया स्तब्ध होती है)

भटार्क—निर्लज्ज हार कर भी नहीं हारता, मर कर भी नहीं मरता।

विजया—कौन भटार्क?

भटार्क—हाँ, तेरा पति भटार्क। दुश्चरित्रे! सुना था कि तुझे देश-सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परंतु हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—[illegible] कभी शांति-पाठ पढ़ेगी?

विजया—(सिर नीचा करके) अपराध हुआ।

भटार्क—फिर भी किसके साथ? जिस पर अत्याचार करके मैं भी लज्जित [illegible] जिससे क्षमा-याचना करने मैं आ रहा था। नीच स्त्री!

---

1. खेलता ज्यों दो बिजलियों में मधुरिमा जाल। (कामायनी, वासना सर्ग)।

विजया—घोर अपमान, तो बस....(**छुरी निकाल कर आत्महत्या करती है**)

स्कंदगुप्त—भटार्क ! इसके शव का संस्कार करो।

भटार्क—देव ! मेरी भी लीला समाप्त है—(**छुरी निकाल कर अपने को मारना चाहता है स्कंदगुप्त हाथ पकड़ लेता है**)

स्कंदगुप्त—तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है। तुम्हारा यह प्रायश्चित्त नहीं। रणभूमि में प्राण देकर जननी जन्म-भूमि का उपकार करो। भटार्क ! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं—जन्मभूमि के उद्धार के लिए—मैं अकेला युद्ध करूंगा और तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करूंगा। आत्महत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रक्खो।

भटार्क—(**स्कंद के सामने घुटने टेक कर**) 'श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो !' जो आज्ञा होगी वही करूंगा !

स्कन्दगुप्त—(**प्रस्थान करते**) पहले इस शव का प्रबंध होना चाहिए।

भटार्क (**स्वगत**) इस घृणित शव का अग्नि-संस्कार करना ठीक नहीं लाओ, इसे यहीं गाड़ दूं ! (**भूमि खोदते समय एक भयानक शब्द के साथ रत्न-गृह का प्रकट होना और भटार्क का प्रसन्न होकर पुकारना/स्कंदगुप्त का आकर रत्न-गृह देखना**)

स्कन्दगुप्त—भटार्क ! यह तुम्हारा है।

भटार्क—हां सम्राट् ! यह हमारा है, इसीलिए देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूंगा।

स्कन्दगुप्त—वह दूर पर बड़ी भीड़ हो रही है—स्तूप के पास।

भटार्क—नागरिकों का उत्सव है (**रत्न-गृह बंद करके**) चलिये, देखूं।

[दृश्यांतर]

तृतीय दृश्य

[स्तूप का एक पार्श्व/नागरिकों का आवागमन/उन्हीं में वेश बदले हुए मातृगुप्त, भीमवर्मा, चक्रपालित, शर्वनाग, कमला, रामा इत्यादि का और दूसरी ओर से वृद्ध पर्णदत्त का हाथ पकड़े हुए देवसेना का प्रवेश]

एक नागरिक—अरे वह छोकरी आ गई इससे कुछ सुना जाय।

अन्य नागरिक—हां रे छोकरी ! कुछ गा तो।

पर्णदत्त—भीख दो बाबा ! देश के बच्चे भूखे हैं, असहाय हैं—कुछ दे दो बाबा !

अन्य नागरिक—अरे गाने भी दे बूढ़े !

पर्णदत्त—हाय रे अभागे देश !

[देवसेना गाती है]

देश की दुर्दशा निहारोगे, डूबते को कभी उबारोगे ?
हारते ही रहे, न है कुछ अब, दाँव पर आपको न हारोगे ?
कुछ करोगे कि बस सदा रोकर, दीन हो दैव को पुकारोगे।
सो रहे तुम, न भाग्य सोता है, आप बिगड़ी तुम्हीं सँवारोगे।
दीन जीवन बिता रहे अब तक, क्या हुए जा रहे, विचारोगे ?

पर्णदत्त—नही बेटी निर्लज्ज कभी विचार नही करेंगे।

चक्र० और भीम०—आर्य पर्णदत्त की जय !

पर्णदत्त—मुझे जय नही चाहिये—भीख चाहिये। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्म-भूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए, कोई देगा भीख मे ?

स्कन्दगुप्त—(भीड से निकलकर) मैं प्रस्तुत हू तात !

भटार्क—श्री स्कदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो !

[नागरिकों में से वहुत-से युवक निकल पड़ते हैं]

सब—हम है, हम आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत है।

स्कन्दगुप्त—आर्य पर्णदत्त !

पर्णदत्त—आओ वत्स—सम्राट्। (आलिगन करता है)

[उत्साह से जनता पूजा के फूल बरसाती है/चक्रपालित, भीमवर्मा, मातृगुप्त, शर्वनाग, कमला रामा, सब का प्रकट होना/तुमुल जयनाद के साथ दृश्यांतर]

चतुर्थ दृश्य

[महाबोधि विहार में अनंतदेवी, पुरगुप्त, प्रख्यातकीर्त्ति, हूण-सेनापति]

अनंतदेवी—इसका उत्तर महाश्रमण देगे।

हूण-सेनापति—मुझे उत्तर चाहिये—चाहे कोई दे।

प्रख्यातकीर्त्ति—सेनापति ! मुझ से सुनो, समस्त उत्तरापथ का बौद्ध-संघ—जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन मे भूल गया था—वह अब न होगा।

हूण-सेनापति—तभी बौद्ध जनता से जो सहायता हूण-सैनिको को मिलती थी, बंद हो गई और उल्टा तिरस्कार !

प्रख्यातकीर्त्ति—वह भ्रम था। बौद्धों को विश्वास था कि हूण लोग सद्धर्म

का उत्थान करने में सहायक होंगे, परंतु ऐसे हिंसक लोगों को सद्धर्म कोई आश्रय नहीं देगा। **(पुरगुप्त की ओर देखकर)** यद्यपि संघ ऐसे अकर्मण्य युवक को आर्य-साम्राज्य के सिंहासन पर नहीं देखना चाहता तो भी बौद्ध धर्माचरण करेंगे, राजनीति में भाग न लेंगे।

अनंतदेवी—भिक्षु ! क्या कह रहे हो ? समझ कर कहना।

हूण-सेनापति—गोपाद्रि से समाचार मिला है, स्कन्दगुप्त फिर जी उठा है, और सिंधु के इस पार के हूण उसके घेरे में हैं, संभवतः शीघ्र ही अंतिम युद्ध होगा। तब तक के लिए संघ को प्रतिज्ञा भंग न करनी चाहिये।

पुरगुप्त—क्या—युद्ध ! तुम लोगों को कोई दूसरी बात नही····

अनंतदेवी—चुप रहो।

पुरगुप्त—तब फिर—एक पात्र ! **(सेवक देता है)**

प्रख्यातकीर्त्ति—अनार्य ! विहार में मद्यपान ! निकलो यहाँ से।

अनंतदेवी—भिक्षु ! समझ कर बोलो, नहीं तो मुंडित मस्तक भूमि पर लोटने लगेगा।

हूण-सेनापति—इसी की सब प्रवंचना है। इसका तो मैं अवश्य ही वध करूंगा।

प्रख्यातकीर्त्ति—क्षणिक और अनात्मभव में कौन किसका वध करेगा, मूर्ख !

हूण-सेनापति—पाखंड ! मरने के लिए प्रस्तुत हो।

प्रख्यातकीर्त्ति—सिंहल के युवराज की प्रेरणा से हम लोग इस सत्पथ पर अग्रसर हुए हैं, वहाँ से लौट नहीं सकते।

[हूण-सेनापति मारना चाहता है]

धातुसेन—**(ससैन्य प्रवेश करके)** सम्राट् स्कन्दगुप्त की जय !

[सैनिक सबको बंदी कर लेते हैं]

धातुसेन—कुचक्रियो ! अपने फल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जाओ ! भारत के भीतर की बची हुई समस्त हूण-सेना के रुधिर से यह उन्हीं की लगाई ज्वाला शांत होगी !

अनंतदेवी—धातुसेन ! यह क्या, तुम····हो ?

धातुसेन—हाँ महादेवी ! एक दिन मैंने समझाया था, तब मेरी अवहेलना की गई—यह उसी का परिणाम है। **(सैनिकों से)** सबको शीघ्र साम्राज्य-स्कंधावार में ले चलो।

[सबका प्रस्थान/दृश्यांतर]

पञ्चम दृश्य

[रणक्षेत्र में सम्राट् स्कन्दगुप्त, भटार्क, चक्रपालित, पर्णदत्त, मातृगुप्त, भीमवर्मा इत्यादि सेना के साथ परिक्रमण करते हैं]

मातृगुप्त—वीरो ।

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार ।
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार ।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक ।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक ।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में सप्रीत ।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत ।
बचा कर बीज-रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत ।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत ।
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारा जातीयता विकास ।
पुरंदर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरा इतिहास ।
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह ।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह ।
धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद ।
हमीं ने दिया शांति-संदेश सुखी होते देकर आनंद ।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही, धरा पर धूम ।
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर-घर घूम ।
यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि ।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि ।
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं ।
हमारी जन्म-भूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं ।
जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर ।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर ।
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा संपन्न ।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न ।
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव ।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव ।
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान ।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान ।

जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

सब—(समवेत स्वर में) जय ! राजाधिराज स्कंदगुप्त की जय !

[हूण-सेना के साथ खिंगिल का प्रवेश]

खिंगिल—बच गया था भाग्य से, फिर सिंह के मुख में आना चाहता है ! भीषण परशु के प्रहारों से तुम्हें अपनी भूल स्मरण हो जायगी !

स्कन्दगुप्त—यह बात करने का स्थल नहीं है।

[घोर युद्ध/खिंगिल घायल होकर बंदी होता है/सम्राट् को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु/गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है]

स्कन्दगुप्त—धन्य वीर आर्य पर्णदत्त !

सब—आर्य पर्णदत्त की जय ! आर्य साम्राज्य की जय !

[बंदी-वेश में पुरगुप्त और अनंतदेवी के साथ धातुसेन का प्रवेश]

स्कन्दगुप्त—मेरी सौतेली माता ! इस विजय से आप सुखी होंगी !

अनंतदेवी—क्यों लज्जित करते हो स्कन्द ! तुम भी तो मेरे पुत्र हो !

स्कन्दगुप्त—आह ! यदि यही होता मेरी विमाता ! तो देश की इतनी दुर्दशा न होती।

अनंतदेवी—मुझे क्षमा करो सम्राट् !

स्कन्दगुप्त—माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हुई—वही तो कैकेयी ने भी किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूंगा परंतु कुमारगुप्त के इस अग्नितेज को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढंक दिया— पुरगुप्त !

पुरगुप्त—देव ! अपराध हुआ—(पैर पकड़ता है)

स्कन्दगुप्त—भटार्क ! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूं। देखना, मेरे बाद जन्म-भूमि की दुर्दशा न हो। (रक्त का टीका पुरगुप्त को लगाता है)

भटार्क—देवव्रत ! अभी आपकी छत्रछाया में हम लोगों को बहुत सी विजय प्राप्त करनी है, यह आप क्या कहते हैं ?

स्कन्दगुप्त—क्षत-जर्जर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेगा, इसी से मैंने भावी सम्राज्य-नीति की घोषणा कर दी है। इस हूण को छोड़ दो और कह दो कि सिंधु के पार देश मे कभी आने का साहस न करे।

खिंगिल—आर्य सम्राट् ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

[जाता है/दृश्यांतर]

षष्ठ दृश्य

[उद्यान का एक भाग]

देवसेना—हृदय की कोमल कल्पना ! सो जा ! जीवन में जिसकी संभावना नही, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सब से मैं बिदा लेती हूँ।

आह ! वेदना मिली बिदाई !
मैंने भ्रमवश जीवन संचित, मधुकरियों की भीख लुटाई।
छलछल थे संध्या के श्रमकण, आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा पर लेती थी—नीरवता अनंत अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में, गहन-विपिन की तरु-छाया में।
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—यह विहाग की तान उठाई।
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी, रही बचाये फिरती कबकी।
मेरी आशा आह ! बावली तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर, प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर, उससे हारी-होड़ लगाई।
लौटा लो यह अपनी थाती, मेरी करुणा हा-हा खाती !
विश्व ! न सँभलेगी यह मुझसे इससे मन की लाज गँवाई।

स्कन्दगुप्त—(प्रवेश करते) देवसेना !

देवसेना—जय हो देव ! श्री चरणों मे मेरी भी कुछ प्रार्थना है।

स्कन्दगुप्त—मालवेश-कुमारी ! क्या आज्ञा है ? आज बंधुवर्मा इस आनन्द को देखने के लिए नही है। जननी जन्म-भूमि का उद्धार करने की जिस वीर की दृढ़ प्रतिज्ञा थी—जिसका ऋणशोध कभी नही किया जा सकता—उसी वीर बंधुवर्मा की भगिनी मालवेश कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है ?

देवसेना—मैं मृत भाई के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही, अब मुझे छुट्टी मिले।

स्कन्दगुप्त—देवि ! यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग एक-दूसरे का मुंह देखकर काट लेगे ; हमने अंतर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परंतु इस नंदन की वसंतश्री, इस अमरावती की शची, स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ—ऐसा

मैं किस मुंह से कहूं ? (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूं ? देवसेना—देवसेना ! तुम जाओ—हतभाग्य स्कन्दगुप्त ! अकेला स्कन्द—ओह !

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है—तपस्या अग्नि है—सम्राट् ! यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !!

[घुटने टेकती हैं, स्कन्द उसके सिरपर हाथ रखता है]

य व नि का

●

चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से इस नाटक के प्रथम प्रकाशन के समय—यह शीर्षक-रेखांकन कवि के उन्हीं सुहृद्वर के द्वारा हुआ है जिन्हें 'चन्द्रगुप्त' का प्रीति-उपहार मिला। इसलिए इसकी रेखाओं की स्नेह-सिक्त बंकिमा रक्षणीय है। (सम्पादक)

प्रिय सुहृद्वर

राय कृष्णदास

को

प्रीति-उपहार

प्रथम प्रकाशकीय वक्तव्य

श्री

"प्रसाद जी न केवल कवि, कहानी-लेखक, उपन्यासकार अथवा नाटककार हैं बल्कि वे इतिहास के मौलिक अन्वेषक भी हैं। हिन्दी मे चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में विशद ऐतिहासिक विवेचन सबसे पहले 'प्रसाद' जी ने ही किया था—यह उस समय की बात है जब चाणक्य लिखित अर्थशास्त्र का आविष्कार मात्र हुआ था एवं पुरातत्त्व के देशी अथवा विदेशी विद्वान् चन्द्रगुप्त के विषय में उदासीन-से थे। सं० १९६६ में "प्रसाद" जी ने अपनी **यह विवेचना 'चन्द्रगुप्त मौर्य' के नाम से प्रकाशित की थी जो प्रस्तुत नाटक के प्रारम्भ में सम्मिलित है।**

इस उत्कृष्ट नाटक के लिखने की भावना भी प्रसाद जी के मन में उसी समय से बनी हुई थी—इसी के नमूने पर एक छोटा-सा रूपक 'कल्याणी-परिणय' के नाम से उन्होंने लिखा भी जो अगस्त ९१२ मे 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। किन्तु, वह हिन्दी का अनुवाद-युग था और सन् १७ में डी० एल० राय का चन्द्रगुप्त अनुवादित होकर हिन्दी मे आ गया था। अतएव इस मौलिक कृति की ओर लोग उतने आकृष्ट न हुए जितने उस अनुवाद के। फलतः वही अनुवाद हेरफेर के साथ कई रूप मे हिन्दी पाठकों के सामने लाया गया। फिर भी 'प्रसाद' जी की मौलिक प्रतिभा इस सुन्दर ऐतिहासिक नाटक को अपने ढंग पर लिखने में प्रवृत्त हुई। और, बड़ी प्रसन्नता की बात है कि वे अपने प्रयास में सफल ही नही—पूर्ण सफल हुए हैं। भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण, सभी दृष्टियों से इस नाटक का अधिकांश इतना मार्मिक हुआ है कि 'प्रसाद' जी की लेखनी पर अत्यन्त मुग्ध हो उठना पड़ता है। कुल मिलाकर हमारी समझ में 'प्रसाद' जी के बड़े नाटकों मे यह सर्वश्रेष्ठ है। इसमें 'कल्याणी-परिणय' भी यथा प्रसंग परिवर्तित और परिवर्द्धित होकर सम्मिलित हो गया है।

यह ग्रन्थ दो वर्ष पहले ही प्रेस में दे दिया गया था, किन्तु ऐसे कारण आते गये कि यह अब के पहिले प्रकाशित न हो सका, इसका हमें खेद है।

अस्तु।

यह वर्षो का अन्वेषणपूर्ण उद्योग आज इस रूप मे हम पाठकों के सामने बड़े हर्ष के साथ उपस्थित करते है।"

रथयात्रा संवत् १९८८

अंगण-वेदी वसुधा, कुल्या जलधिः, स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः, कृत-प्रतिज्ञस्य वीरस्य ।।

—हर्षचरित

यस्याभिचार वज्रेण वज्रज्ज्वलनतेजसः ।
नपात मूलतः श्रीमान्सुपर्वानन्द पर्वतः ।।
एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्तः शक्ति धरोपमः ।
आजहारनृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ।।
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्र महोदधेः ।
य उद्दध्रेनमस्तस्यै विष्णुगुप्ताय वेधसे ।।

—कामन्दकीय नीतिसार

येनशस्त्रं च शास्त्रं च नन्दराजगताचभू ।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतं ।।

—अर्थशास्त्र-चाणक्य

पुरुष पात्र

चाणक्य (विष्णुगुप्त)	: मौर्य साम्राज्य का संस्थापक
चन्द्रगुप्त	: मौर्य-सम्राट्
नन्द	: मगध का सम्राट्
राक्षस	: मगध का अमात्य
वररुचि (कात्यायन)	: मगध का अमात्य
शकटार	मगध का मन्त्री
आंभीक	· तक्षशिला का राजकुमार
गांधार-नरेश	: आंभीक का पिता
मौर्य-सेनापति	. चन्द्रगुप्त का पिता
सिंहरण	: मालव गणमुख्य का कुमार
पर्वतेश्वर	: पंजाब का राजा (पोरस)
देवबल, नागदत्त, गणमुख्य	: मालव गणतन्त्र के पदाधिकारी
दाण्ड्यायन	: एक तपस्वी
धनदत्त	: पाटलिपुत्र का सार्थवाह
चन्दन	· धनदत्त का पार्षद
आजीवक	: एक साधु
सिकन्दर	: ग्रीक आक्रामक
फिलिप्स	: सिकन्दर का क्षत्रप
सिल्यूकस	: सिकन्दर का सेनापति
एनीसाक्रटीज़	· सिकन्दर का सहचर
साइबर्टियस, मेगास्थनीज़	: यवन दूत

राजपुरुष, वैद्य, सैनिक, दास, दासी

स्त्री पात्र

कार्नेलिया	· सिल्यूकस की कन्या।
एलिस	: कार्नेलिया की सहेली
मौर्य-पत्नी	. चन्द्रगुप्त की माता
कल्याणी	. नन्द की कन्या मगध राजकुमारी
नीला, लीला	: कल्याणी की सहेलियाँ
अलका	: तक्षशिला की राजकुमारी
सुवासिनी	: शकटार की कन्या
मालविका	: सिंधु देश की कुमारी
मणिमाला	: धनदत्त की पत्नी
माधवी	: चन्दन की पत्नी

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

[तक्षशिला के गुरुकुल का प्रांगण/चाणक्य और सिंहरण]

चाणक्य—सौम्य, कुलपति ने मुझे गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी। केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए ठहरा था, क्योंकि इस वर्ष के भावी स्नातकों को अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ाकर मुझ अकिंचन को गुरुदक्षिणा चुका देनी थी।

सिंहरण—आर्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नही जितनी अस्त्रशास्त्र की। इसीलिए मैं पाठ में पिछड़ा रहा, क्षमाप्रार्थी हूँ।

चाणक्य—अच्छा, अब तुम मालव जाकर क्या करोगे?

सिंहरण—अभी तो मैं मालव नही जाता। मुझे तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।

चाणक्य—मुझे प्रसन्नता होती है कि तुम्हारा अर्थशास्त्र पढ़ना सफल होगा। क्या तुम जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ क्यों आये हैं?

सिंहरण—मैं उसे जानने की चेष्टा कर रहा हूँ—आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिये कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खंड-राज्य द्वेष से जर्जर है। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा!

[सहसा आंभीक और अलका का प्रवेश]

आंभीक—कैसा विस्फोट? युवक, तुम कौन हो?

सिंहरण—एक मालव।

आंभीक—नहीं, विशेष परिचय की आवश्यकता है।

सिंहरण—तक्षशिला गुरुकुल का एक छात्र।

आंभीक—देखता हूँ कि तुम दुश्शील भी हो।

सिंहरण—कदापि नहीं राजकुमार! विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, और मुझे तो तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है।

आंभीक—परन्तु तुम किसी विस्फोट की बातें—अभी कर रहे थे। और चाणक्य—क्या तुम्हारा भी इसमें कुछ हाथ है? **(चाणक्य को चुप देखकर क्रोध**

से) बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन !

चाणक्य—राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वाराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।

आंभीक—वह काल्पनिक महत्त्व—मायाजाल है, तुम्हारे प्रत्यक्ष नीच-कर्म उस पर परदा नहीं डाल सकते।

चाणक्य—सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय ! इसी से दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।

आंभीक—और तुम धक्का देने का कुचक्र विद्यार्थियों को सिखा रहे हो ?

सिंहरण—विद्यार्थी और कुचक्र ! असम्भव—यह तो वे ही कर सकते हैं जिनके हाथ में अधिकार हो—जिनका स्वार्थ समुद्र से भी विशाल और सुमेरु से भी कठोर हो, जो यवनों की मित्रता के लिए स्वयं वाह्लीक तक····

आंभीक—बस-बस, दुर्धर्ष युवक ! बता, तेरा अभिप्राय क्या है ?

सिंहरण—कुछ नहीं।

आंभीक—नहीं, बताना होगा। मेरी आज्ञा है।

सिंहरण—गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य होती हैं, अन्य आज्ञाएँ अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं राजकुमार !

अलका—भाई ! इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छंद हृदय में कितना बलवान वेग है ! यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है। जाने दो।

आंभीक—चुप रहो अलका, यह ऐसी बात नहीं है जो यों ही उड़ा दी जाय। इसमें कुछ रहस्य है। **(चाणक्य चुपचाप मुस्कराता है)**

सिंहरण—हाँ-हाँ, रहस्य है ! यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल-स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्यावर्त्त की सुख-रजनी की शान्ति-निद्रा में उत्तरापथ की अर्गला—धीरे से खोल देने का रहस्य है ! क्यों राजकुमार संभवतः तक्षशिलाधीश वाह्लीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गये थे ?

आंभीक—**(पैर पटक कर)** ओह, असह्य ! युवक, तुम बन्दी हो। **(तलवार खींचता है)**

सिंहरण—कदापि नहीं—मालव कदापि बन्दी नहीं हो सकता।

चन्द्रगुप्त—**(सहसा प्रवेश करके)** ठीक है, प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतन्त्र

है, उसे कोई बन्दी नहीं बना सकता है। यह क्या राजकुमार! खड्ग को कोष में स्थान नहीं है क्या!

सिंहरण—(व्यंग से) वह तो स्वर्ण से भर गया है।

आंभीक—तो तुम सब कुचक्र में लिप्त हो। और इस मालव को तो मेरा अपमान करने का प्रतिफल—मृत्युदण्ड—अवश्य भोगना पड़ेगा।

चन्द्रगुप्त—क्यों, क्या यह एक निस्सहाय छात्र तुम्हारे राज्य में शिक्षा पाता है और तुम एक राजकुमार हो—बस इसीलिए?

[आंभीक तलवार चलाता है / चन्द्रगुप्त अपनी तलवार पर उसे रोकता है / आंभीक की तलवार छूट जाती है / वह निस्सहाय होकर चन्द्रगुप्त के आक्रमण की प्रतीक्षा करता है / बीच में अलका आ जाती है]

सिंहरण—वीर चन्द्रगुप्त, बस! जाओ राजकुमार, यहाँ कोई कुचक्र नहीं। अपने कुचक्रों से अपनी रक्षा स्वयं करो।

चाणक्य—राजकुमारी, मैं गुरुकुल का अधिकारी हूं। मैं आज्ञा देता हूं कि तुम क्रोधाभिभूत कुमार को लिवा जाओ। गुरुकुल में शस्त्रों का प्रयोग शिक्षा के लिये होता है, द्वन्द्व युद्ध के लिये नहीं। विश्वास रखना इस दुर्व्यवहार का समाचार महाराज के कानों तक न पहुँचेगा।

अलका—ऐसा ही हो। चलो भाई! (क्षुब्ध आंभीक उसके साथ जाता है)

चाणक्य—(चन्द्रगुप्त से) तुम्हारा पाठ समाप्त हो चुका है और आज का यह काण्ड—असाधारण है। मेरी सम्मति है कि तुम शीघ्र तक्षशिला का परित्याग कर दो। और सिंहरण, तुम भी।

चन्द्रगुप्त—आर्य, हम मगध हैं और यह मालव! अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की परीक्षा भी देते।

चाणक्य—क्या यही मेरी शिक्षा है? बालकों की-सी चपलता दिखलाने का यह स्थल नहीं। तुम लोगों को समय पर शस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु अकारण रक्तपात नीति-विरुद्ध है।

चन्द्रगुप्त—आर्य! संसार-भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है। सिंहरण मेरा आत्मीय है, मित्र है, उसका मान मेरा ही मान है।

चाणक्य—देखूंगा कि इस आत्म-सम्मान की भविष्य-परीक्षा में तुम कहाँ तक उत्तीर्ण होते हो!

सिंहरण—आपके आशीर्वाद से हम लोग अवश्य सफल होंगे।

चाणक्य—तुम मालव हो और यह मगध, यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म-सम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मगध को

भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे ? आज जिस व्यंग को लेकर इतनी घटना हो गई है, वह बात भावी गान्धार-नरेश आंभीक के हृदय में शल्य के समान चुभ गई है। पञ्चनद-नरेश पर्वतेश्वर से विरोध के कारण यह क्षुद्रहृदय आंभीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्यावर्त्त का सर्वनाश होगा।

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, विश्वास रखिये, यह सब कुछ नही होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।

चाणक्य—तुम्हारी प्रतिज्ञा अचल हो। परन्तु इसके लिए पहले तुम मगध जाकर साधन-सम्पन्न बनो। यहाँ समय बिताने का प्रयोजन नही। मैं भी पञ्चनद-नरेश से मिलता हुआ मगध आऊँगा और सिंहरण, तुम भी सावधान !

सिंहरण—आर्य, आपका आशीर्वाद ही मेरा रक्षक है।

[चन्द्रगुप्त और चाणक्य का प्रस्थान]

—एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्यावर्त्त के लौह-अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चञ्चला रण-लक्ष्मी इन्द्र-धनुष-सी विजय-माल हाथ मे लिए उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर-से नाचेंगे ! तब आओ देवि ! स्वागत !!

[अलका का प्रवेश]

अलका—मालव वीर, अभी तुमने तक्षशिला का परित्याग नहीं किया ?

सिंहरण– क्यों देवि ! क्या मैं यहाँ रहने के उपयुक्त नहीं हूँ ?

अलका—नहीं, मैं तुम्हारी सुख-शान्ति के लिए चिन्तित हूँ ? भाई ने तुम्हारा अपमान किया है पर वह अकारण न था ! जिसका जो मार्ग है उस पर वह चलेगा। तुमने अनधिकार चेष्टा की थी ! देखती हूँ कि प्रायः मनुष्य दूसरों को अपने मार्ग परँ चलाने के लिए रुक जाता है, और अपना चलना वन्द कर देता है।

सिंहरण—परन्तु भद्रे, जीवन-यात्रा में भिन्न-भिन्न मार्गों की परीक्षा करते हुए जो ठहरता हुआ चलता है, वह दूसरों को लाभ ही पहुँचाता है। यह कष्टदायक तो है, परन्तु निष्फल नही।

अलका—किन्तु मनुष्य को अपने जीवन और सुख का भी ध्यान रखना चाहिये।

सिंहरण—मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर और पत्थर से भी कठोर—करुणा के लिए निरवकाश हृदय वाला हो जायगा, नही जाना जा सकता। अतीत के सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्त्तमान को तो अपने अनुकूल बना ही लूँगा, फिर चिन्ता किसकी !

अलका —मालव, तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन अमूल्य है, और वही यहाँ आपत्ति में है।

सिंहरण– राजकुमारी, इस अनुकम्पा के लिए कृतज्ञ हुआ। परन्तु **मेरा देश मालव ही नहीं, गान्धार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त्त है** इसलिए मैं—

अलका—**(आश्चर्य से)** क्या कहते हो ?

सिंहरण—गान्धार आर्यावर्त्त से भिन्न नही है, इसलिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।

अलका—**(निश्वास लेकर)** इसका मै अनुभव कर रही हूँ। परन्तु जिस देश मे ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है। मालव वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतन्त्रता है और तुम्हारी दृढ भुजाओ मे आर्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है, तुम्हें सुरक्षित रहना चाहिये। मै भी आर्यावर्त्त की बालिका हूँ तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तुम शीघ्र गान्धार छोड दो। मै आभीक को शक्ति भर पतन से रोकूँगी, परन्तु उसके न मानने पर तुम्हारी आवश्यकता होगी—जाओ वीर !

सिंहरण अच्छा राजकुमारी तुम्हारे स्नेहानुरोध से मैं जाने के लिए बाध्य हो रहा हूँ। शीघ्र ही चला जाऊँगा देवि ! किन्तु यदि किसी प्रकार सिन्धु की प्रखर धारा को यवन सेना न पार कर सकती·····

अलका—मैं चेष्टा करूँगी वीर, तुम्हारा नाम ?

सिंहरण —मालवगण के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण।

अलका—अच्छा, फिर कभी—**(परस्पर देखते हुए प्रस्थान)**

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

[मगध-सम्राट् नन्द के विलास-कानन में विलासी युवकों और युवतियों का विहार]

नन्द—**(प्रवेश करते)** आज वसन्त-उत्सव है क्या ?

एक युवक—जय हो देव ! आपकी आज्ञा से कुसुमपुर के नागरिको ने आयोजन किया है।

नन्द—परन्तु मदिरा का तो तुम्हारे समाज मे अभाव है, फिर आमोद कैसा ? **(एक युवती से)**—देखो-देखो—तुम सुन्दरी हो परन्तु तुम्हारे यौवन का विभ्रम अभी संकोच की अर्गला से जकडा हुआ है तुम्हारी आँखो मे काम का सुकुमार संकेत नही, अनुराग की लाली नही ! फिर कैसा प्रमोद !

एक युवती—हम लोग तो निमन्त्रित नागरिक हैं देव ! इसका दायित्व तो निमन्त्रण देने वाले पर है।

नन्द—वाह, यह अच्छा उलाहना रहा ! (अनुचर से) मूर्ख ! अभी और कुछ सुनवावेगा ? तू नहीं जानता कि मैं ब्रह्मास्त्र से अधिक इन सुन्दरियों के कुटिल कटाक्षों से डरता हूँ ! ले आ—शीघ्र ले आ—नागरिकों पर तो मैं राज्य करता हूँ, परन्तु मेरी मगध की नागरिकाओं—कुसुमपुर की काम-कामनियों का शासन—मेरे ऊपर है। श्रीमति, सबसे कह दो—नागरिक नन्द, कुसुमपुर के कमनीय कुसुमों से अपराध के लिए क्षमा माँगता है और आज के दिन यह तुम लोगों का कृतज्ञ सहचर-मात्र है।

[अनुचर लोग प्रत्येक कुंज में मदिरा-कलश और चषक पहुंचाते हैं/ राक्षस और सुवासिनी का प्रवेश, पीछे-पीछे कुछ नागरिक]

राक्षस—सुवासिनी ! एक पात्र और. चलो इस कुंज मे—

सुवासिनी—नहीं, अब मैं न सँभल सकूँगी।

राक्षस—फिर इन लोगों से कैसे पीछा छूटेगा ?

सुवासिनी—मेरी एक इच्छा है।

एक नागरिक—क्या इच्छा है सुवासिनी, हम लोग अनुचर है। केवल एक सुन्दर अलाप की, एक कोमल मूर्च्छना की लालसा है।

सुवासिनी—अच्छा तो अभिनय के साथ।

सब—(उल्लास से)—सुन्दरियों की रानी सुवासिनी की जय !

सुवासिनी—परन्तु राक्षस को कच का अभिनय करना पड़ेगा।

एक नागरिक—और तुम—देवयानी ! क्यों ? यही न। राक्षस सचमुच राक्षस होगा, यदि इसमें आनाकानी करे—तो····चलो राक्षस !

दूसरा—नही मूर्ख ! आर्य राक्षस कह इतने बड़े कला-कुशल विद्वान् को किस प्रकार सम्बोधित करना चाहिये, तू इतना भी नही जानता। आर्य राक्षस ! इन नागरिकों की प्रार्थना से इस कष्ट को स्वीकार कीजिये !

[राक्षस उपयुक्त स्थान ग्रहण करता है/कुछ मूक अभिनय के बाद सुवासिनी का भाव सहित गान]

तुम कनक किरन के अन्तराल में लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?

नत मस्तक गर्व वहन करते

यौवन के घन, रस कन ढरते

हे लाज भरे सौन्दर्य ! बता दो—मौन बने रहते हो क्यों ?

अधरों के मधुर कगारों में

कल-कल ध्वनि की गुंजारों में ?

मधुसरिता-सी यह हँसी तरल—अपनी पीते रहते हो क्यों ?
वेला विभ्रम की बीत चली
रजनीगन्धा की कली खिली—
अब, सांध्य-मलय आकुलित-दुकूल-कलित हो यों छिपते हो क्यों ?

[साधु-साधु की ध्वनि]

नन्द—उस अभिनेत्री को यहाँ बुलाओ।

[सुवासिनी नन्द के समीप आकर प्रणत होती है]

नन्द—तुम्हारा अभिनय तो अभिनय नहीं हुआ !

नागरिक—अपितु वास्तविक घटना जैसी देखने में आवे, वैसी ही देव !

नन्द—तुम बड़े कुशल हो—ठीक कहा।

सुवासिनी—तो मुझे दण्ड मिले। आज्ञा कीजिये देव !

नन्द—मेरे साथ एक पात्र।

सुवासिनी—परन्तु देव, एक बड़ी भूल होगी।

नन्द—वह क्या ?

सुवासिनी—आर्य राक्षस का अभिनयपूर्ण गान नही हुआ।

नन्द—राक्षस !

नागरिक—यही हैं देव !

[राक्षस सम्मुख आकर प्रणाम करता है]

नन्द—बसन्तोत्सव की रानी की आज्ञा से तुम्हें गाना होगा।

राक्षस—उसका मूल्य होगा एक पात्र कादम्ब !

[सुवासिनी पात्र भरकर देती है / सुवासिनी मान का मूक अभिनय करती है / राक्षस सुवासिनी के सम्मुख अभिनय सहित गाता है]

निकल मत बाहर दुर्बल आह लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद नीरद माला के बीच तड़प ले चपला-सी भयभीत
पड़ रहे पावन प्रेम-फुहार जलन कुछ-कुछ है मीठी पीर
सम्हाले चल कितनी है दूर प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर
अश्रुमय सुन्दर विरह निशीथ भरे तारे न ढुलकते आह !
न उफना दे आँसू हैं भरे इन्ही आँखों में उनकी चाह
काकली-सी बनने की तुम्हें लगन लग जाय न हे भगवान्
पपीहा का पी सुनता कभी अरे कोकिल की देख दशा न,
हृदय है पास, साँस की राह चले आना-जाना चुपचाप
अरे छाया बन छू मत इसे भरा है तुझमें भीषण ताप

हिलाकर धड़कन से अविनीत जगा मत सोया है सुकुमार
देखता है स्मृतियों का स्वप्न हृदय पर मत कर अत्याचार।

समवेत कण्ठ से—'स्वर्गीय अमात्य वक्रनास के कुल की जय'

नन्द—क्या कहा—वक्रनास का कुल ?

नागरिक—हाँ देव, आर्य राक्षस उन्हीं के भ्रातृष्पुत्र हैं।

नन्द—राक्षस ! आज से तुम मेरे अमात्यवर्ग में नियुक्त हुए। तुम तो कुसुमपुर के एक रत्न हो !

[नन्द राक्षस को माला पहनाता है और शस्त्र देता है]

सब—सम्राट् की जय हो ! अमात्य राक्षस की जय हो !

नन्द—और सुवासिनी—तुम मेरी अभिनयशाला की रानी !

[नृत्यांगना सुवासिनी की जयकार करते सब जाते हैं]

दृ श्या न्त र

तृतीय दृश्य

[कुसुमपुर में एक भग्न कुटीर]

चाणक्य—**(प्रवेश करके)** झोपड़ी ही तो थी, पिताजी यही मुझे गोद मे लेकर राज-मन्दिर का सुख अनुभव करते थे। ब्राह्मण थे—ऋत और अमृत-जीविका से सन्तुष्ट थे, पर वे भी न रहे ! कहाँ गए, कोई नही जानता। मुझे भी कोई नही पहचानता। यही तो मगध का राष्ट्र है। प्रजा की खोज है किसे ? वृद्ध, दरिद्र ब्राह्मण कही ठोकरें खाता होगा या मर गया होगा !

[एक प्रतिवेशी का प्रवेश]

प्रतिवेशी—**(चाणक्य को देखकर)** तुम कौन हो जी ? इधर के घरों को बड़ी देर से क्या घूर रहे हो ?

चाणक्य—ये घर है—जिन्हें पशु की खोह कहने में भी संकोच होता है ? यहाँ कोई स्वर्ण-रत्नो का ढेर नही, जो लुटने का भय हो ?

प्रतिवेशी—युवक, तुम किसी को खोज रहे हो ?

चाणक्य—हाँ खोज रहा हूँ—इसी झोपड़ा में रहने वाले वृद्ध ब्राह्मण चणक को। आजकल वे कहाँ हैं, बता सकते हो ?

प्रतिवेशी—**(सोच कर)** ओहो, कई बरस हुए वह तो राजा की आज्ञा से निर्वासित कर दिया गया है। **(हँसकर)**—वह ब्राह्मण भी बड़ा हठी था। उसने राजा नन्द के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ किया। सो भी क्यों—एक मन्त्री शकटार के लिए। उसने सुना कि राजा ने शकटार का बन्दीगृह में वध करवा डाला।

ब्राह्मण ने नगर मे इस अन्याय के विरुद्ध आतंक फैलाया। सबसे कहने लगा कि—"यह महापद्म का जारज पुत्र नन्द—महापद्म का हत्याकारी नन्द—मगध में राक्षसी राज्य कर रहा है, नागरिको सावधान !"

चाणक्य - अच्छा तब क्या हुआ ?

प्रतिवेशी—वह पकड़ा गया। सो भी कब, जब एक दिन अहेर की यात्रा करते हुए नन्द के लिए राजपथ मे नागरिको ने मुक्तकण्ठ से अनादर के वाक्य कहे। नन्द ने ब्राह्मण को समझाया। यह भी कहा कि तेरा मित्र शकटार बन्दी है, मारा नहीं गया। पर वह बडा हठी था, उसने न माना, नन्ही माना। नन्द ने भी चिढ़ कर उसका ब्रह्मस्व बौद्ध-विहार मे दे दिया और मगध से निर्वासित कर दिया। यही तो उसकी झोपडी है। **(जाता है)**

चाणक्य—**(उसे बुलाकर)** अच्छा एक बात और बताओ।

प्रतिवेशी—क्या पूछते हो जी, तुम इतना जान लो कि नन्द को ब्राह्मणों से घोर शत्रुता है और वह बौद्ध-धर्मानुयायी हो गया है।

चाणक्य—होने दो, परन्तु यह तो बताओ– शकटार का कुटुम्ब कहाँ है ?

प्रतिवेशी—कैसे मनुष्य हो ? अरे राज कोपानल मे वे सब जल मरे। इतनी-सी बात के लिए मुझे लौटाया था छि ! **(जाता [illegible]ता है)**

चाणक्य—हे भगवान् ! एक बात दया करके और बता दो– शकटार की कन्या सुवासिनी कहाँ है ?

प्रतिवेशी—**(जोर से हँसता है)** युवक ! वह बौद्ध-विहार मे चली गयी थी, परन्तु वहाँ भी न रह सकी। पहले तो अभिनय करती फिरती थी, आजकल कहाँ है, नही जानता। **(जाता है)**

चाणक्य—पिता का पता नही, झोपडी भी नही रही। सुवासिनी अभिनेत्री हो गयी—संभवतः पेट की ज्वाला से। एक साथ दो-दो कुटुम्बो का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलो की सेज मे ऊँघ रहा है ! क्या इसीलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था ! मगध ! मगध ! सावधान ! इतना अत्याचार ! सहना असम्भव है। तुझे उलट दूँगा। नया बनाऊँगा—नही तो नाश ही करूँगा। **(ठहर कर)** एक बार चलूँ—नन्द से कहूँ ! नही—परन्तु मेरी भूमि, मेरी वृत्ति—वही मिल जाय, मैं शास्त्र-व्यवसायी न रहूँगा, मै कृषक बनूँगा। मुझे राष्ट्र की भलाई-बुराई से क्या। तो चलूँ। **(देखकर)** यह एक लकडी का स्तम्भ अभी उसी झोपड़ी का खड़ा है, इसके साथ मेरे बाल्यकाल की सहस्रो भाँवरियाँ लिपटी हुई है, जिन पर मेरी धवल मधुर हँसी का आवरण चढा रहता था ! शैशव की स्मृति ! विलीन हो जा !

[खम्भा खींच कर गिरता हुआ चला जाता है]

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[कुसुमपुर में सरस्वती-मन्दिर के उपवन का पथ]

राक्षस —सुवासिनी ! हठ न करो ।

सुवासिनी —नही, उस ब्राह्मण को दण्ड दिये बिना सुवासिनी जी नही सकती अमात्य, तुमको करना होगा। मैं बौद्ध स्तूप की पूजा करके आ रही थी, उसने व्यंग किया और वह बड़ा कठोर था—राक्षस ! उसने कहा—'वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ ऐसे धर्म के अनुकूल पतितो की भी कमी नही !'

राक्षस —यह उसका अन्याय था ।

सुवासिनी—परन्तु अन्याय का प्रतिकार भी है। नही तो मैं समझूंगी कि तुम भी वैसे ही एक कठोर ब्राह्मण हो ।

राक्षस मैं वैसा हूँ कि नही, यह पीछे मालूम होगा। परन्तु सुवासिनी, मैं स्वयं हृदय से बौद्ध मत का समर्थक हूँ, केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक, इतना ही कि संसार दुःखमय है ।

सुवासिनी —इसके बाद ?

राक्षस—मैं इस क्षणिक जीवन की घड़ियों को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ—और तुम जानती हो कि मैंने ब्याह नही किया —परन्तु भिक्षु भी न बन सका ।

सुवासिनी—तब आज से मेरे कारण तुमको राजचक्र मे बौद्ध मत का समर्थन करना होगा ।

राक्षस—मैं प्रस्तुत हूँ ।

सुवासिनी —फिर तो, मैं तुम्हारी हूँ। मुझे विश्वास है कि दुराचारी सदाचार के द्वारा शुद्ध हो सकता है, और बौद्ध मत इसका समर्थन करता है, सबको शरण देता है। हम दोनों उपासक होकर सुखी बनेंगे ।

राक्षस—इतना बड़ा सुख-स्वप्न का जाल—आँखों मे न फैलाओ !

सुवासिनी—नही प्रिय ! मैं तुम्हारी अनुचरी हूँ। मैं नन्द की विलास-लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नही रहना चाहती। **(जाती है)**

राक्षस—एक परदा उठ रहा है, या गिर रहा है, समझ में नहीं आता **(आँखें मींचकर)** सुवासिनी ! कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम—मैं हस्तगत कर लूं ? नही, राजकोप होगा ! परन्तु जीवन वृथा है। मेरी विद्या, मेरे परिष्कृत विचार सब व्यर्थ हैं। सुवासिनी एक लालसा है, एक प्यास है—वह अमृत है, उसे पाने के लिए सौ बार मरूँगा। **(नेपथ्य से—'हटो—मार्ग छोड़ दो' की ध्वनि सुनकर)** कोई राजकुल की सवारी है ? तो चलूं। **(जाता है)**

[रक्षियों के साथ शिविका पर राजकुमारी कल्याणी का प्रवेश]

कल्याणी—**(शिविका से उतरती हुई लीला से)** शिविका उद्यान के बाहर ले जाने के लिए कहो और रक्षी लोग भी वही ठहरें। **(शिविका लेकर रक्षी जाते हैं—नेपथ्य की ओर देखकर)** आज़ सरस्वती मन्दिर में कोई समाज है क्या ? जा तो नीला, देख आ। **(नीला जाती है)**

लीला—राजकुमारी चलिये इस श्वेत शिला पर बैठिये। यहाँ अशोक की छाया बड़ी मनोहर है। अभी तीसरे पहर का सूर्य कोमल होने पर भी स्पृहणीय नही।

कल्याणी—चल। **(दोनों जाकर बैठती हैं/नीला आती है)**

नीला—राजकुमारी, आज तक्षशिला से लौटे हुए स्नातक लोग सरस्वती दर्शन के लिए आये है।

कल्याणी—क्या सब लौट आये है ?

नीला—यह तो न जान सकी।

कल्याणी—अच्छा, तू भी बैठ। देख, कैसी सुन्दर माधवी लता फैल रही है। महाराज के उद्यान मे भी लताये ऐसी हरी-भरी नही, जैसे राज-आतंक से वे भी डरी हुई हो। सच नीला, मैं देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नही करता, डरते भले ही हों।

नीला—सखी, मुझ पर उनका कन्या-सा ही स्नेह है, परन्तु मुझे डर लगता है।

कल्याणी—मुझे इसका बडा दु ख है। दखती हूँ कि समस्त प्रजा उनसे त्रस्त और भयभीत रहती है, प्रचण्ड शासन करने के कारण उनका बड़ा दुर्नाम है।

नीला—परन्तु इसका उपाय क्या है ? देख लीला, वे दो कौन इधर आ रहे हैं। चल, हम लोग छिप जाये।

[सब कुंज में चली जाती है / दो ब्रह्मचारियों का प्रवेश]

एक ब्रह्मचारी—धर्मपालित मगध को उन्माद हो गया है। वह जनसाधारण के अधिकार अत्याचारियों के हाथ में देकर विलासिता का स्वप्न देख रहा है। तुम तो गये नहीं, मैं अभी उत्तरापथ से आ रहा हूँ गणतन्त्रों मे सब प्रजा वन्यवीरुध के समान स्वच्छन्द फल-फूल रही है। इधर उन्मत्त मगध, साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है।

दूसरा—स्नातक, तुम ठीक कह रहे हो। महापद्म का जारज पुत्र नन्द केवल शस्त्र-बल और कूटनीति के द्वारा सदाचारों के सिर पर ताण्डव-नृत्य कर रहा है। यह सिद्धान्त-विहीन, नृशंस, कभी बौद्धों का पक्षपाती, कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों में भेदनीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचाई जा रही है। तुम देश-विदेश देखकर आये हो, आज मेरे घर पर

तुम्हारा निमन्त्रण है, वहाँ सबको तुम्हारी यात्रा का विवरण सुनने का अवसर मिलेगा।

पहला—चलो। **(दोनों जाते हैं / कल्याणी बाहर आती है)**

कल्याणी—सुनकर हृदय की गति रुकने लगती है। इतना कदर्थित राजपद ! जिसे साधारण नागरिक भी घृणा की दृष्टि से देखता है कितने मूल्य का है लीला ?

[नेपथ्य से 'भागो-भागो ! राजा का अहेरी चीता पिंजरे से निकल भागा है, भागो-भागो'—तीनों चीखती हुई कुंज में छिपने लगती हैं / चीता आता है / दूर से आकर एक तीर उसका सिर छेद कर निकल जाता है—चीता गिरता है / धनुष लिए हुए चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त - कौन है यहाँ ? किधर से स्त्रियों का क्रन्दन सुनाई पड़ा था ? **(देखकर)** अरे, यहाँ तो तीन सुकुमारियाँ है। भद्रे - पशु ने कुछ चोट तो नही पहुँचाई ?

लीला —साधु ! वीर ! राजकुमारी की प्राण-रक्षा के लिए तुम्हे अवश्य पुरस्कार मिलेगा !

चन्द्रगुप्त— कौन ? राजकुमारी कल्याणी देवी ?

लीला—हाँ, यही न है ? भय से मुख विवर्ण हो गया है।

चन्द्रगुप्त—राजकुमारी, मौर्य-सेनापति का पुत्र चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

कल्याणी—**(स्वस्थ होकर सलज्ज)** नमस्कार—चन्द्रगुप्त, मैं कृतज्ञ हुई। तुम भी स्नातक होकर लौटे हो ?

चन्द्रगुप्त—हाँ देवि, तक्षशिला मे पाँच वर्ष रहने के कारण यहाँ के लोगो को पहचानने नें विलम्ब होता है। जिन्हे किशोर छोड़कर गया था, अब वे तरुण दिखाई पड़ते है। अपने कई बाल सहचरो को भी मै न पहचान सका।

कल्याणी—परन्तु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूल जाओगे।

चन्द्रगुप्त—देवि, यह अनुचर सेवा के उपयुक्त अवसर पर पहुँचा। चलिये शिबिका तक पहुँचा दूँ। **(सब जाते है)**

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[नगर की सीमा में सार्थवाह धनदत्त अपने पैरों को गिनते हुए रखता बाईं नासिका बन्द किए दाहिने से जोर-जोर से श्वाँस फेंकता हुआ एक, दो, तीन, चार, पाँच कहते आता है, सामने से बड़ी-बड़ी जटाओं वाला एक आजीवक लम्बा-सा बाँस लिये और चादर ओढ़े उसके सम्मुख आकर जोर

से छींक देता है, धनदत्त घबराकर बैठ जाता है और उसे देखते नेपथ्य की ओर हाथ उठाकर रुकने का संकेत करता है / आजीवक हँसने लगता है]

धनदत्त—**(सक्रोध)** तुम हँस रहे हो !

आजीवक—तो क्या रोऊँ !

धनदत्त—अरे नही-नही तुमने छीक तो दिया ही अब यात्रा के समय रोने भी लगोगे।

आजीवक—फिर क्या होगा ?

धनदत्त—कही राह मे कुवे सूख जायँ। घोडे बैल मर जायँ। डाकू घेर ले। आँधी चलने लगे। पानी बरसने लगे, रात को प्रेतो का आक्रमण हो, गाड़ियाँ उलट जायँ।

आजीवक—फिर—

धनदत्त—तुम्हारा सिर ! मै जा रहा हूँ इतनी दूर, शकुन देखकर घर से निकला था। तुम पूरे व्यतीपात की तरह मेरी यात्रा मे व्याघात बन रहे हो।

आजीवक—यह बात ! तो तुम अपनी यात्रा करो। **(जाने के लिये मुँह फिराता है, दूसरी ओर से दौड़ता हुआ चन्दन आता है / आजीवक को पकड़ कर घुमा देता है)**

चन्दन—अब चले कहाँ। यह देखो सामने इतने मनुष्यो का झुण्ड ! सबको ग्यारह-ग्यारह पग दाहिने स्वर मे चलकर चैत्य-वृक्ष के नीचे रुक जाना था। सो पाँच ही चल सके। अब तुम भी यही ठहरो।

आजीवक—अरे चल भी। ग्यारह पग चलने के लिये इतना बडा आयोजन !

[चन्दन आश्चर्य से धनदत्त को देखता है / धनदत्त क्रोध से आजीवक को झकझोर कर हिला देता है]

चन्दन—ठहरिये मैं पूछ तो लूं। **(आजीवक से)** अरे भाई तुम दार्शनिक हो ?

आजीवक—हूँ।

चन्दन—तुम्हारा क्या सिद्धान्त है ? पृथ्वी चल है या अचल—अग्नि मे जल है या नही। पानी गरम करने मे जीव मरते है कि जल शुद्ध हो जाता है ?

आजीवक—चुप रहो।

धनदत्त—मैं पूछता हूँ कि जब शकुन देखकर, ब्राह्मण का आशीर्वाद लेकर घर से मैं निकला तब तुम ठीक उसी समय मेरे पथ मे बर्नाविलाव की तरह क्यों आ गए मुझे जाना है तक्षशिला फिर सिन्धु देश फिर शिविजनपद मे—

आजीवक—फिर ?

धनदत्त—क्या सब तुम्ही को बता दें ? व्यापार के गूढ़ रहस्यों को तुम जैसे जटाधारी नारियल की खोपडी क्या समझेगी।

आजीवक—तो मैं पूछता कब हूँ ?

चन्दन—पर जो अपशकुन हो गया। अब हम लोग न पीछे लौट सकते हैं न आगे बढ़ सकते हैं।

आजीवक—यही तो—पुरुष कुछ नही कर सकता है।

चन्दन—(आश्चर्य से) क्यों ?

आजीवक—क्योकि उसमे न कर्तृत्त्व है न कर्म।

धनदत्त—है है यह तुम क्या कहते हो।

आजीवक—यही तो क्योंकि उसमे वीर्य नही।

धनदत्त—यह तो हुई पुरुषो की बात। भला स्त्री !

चन्दन—अरे रे मैं तो भूल ही गया था।

धनदत्त—क्या ?

चन्दन—मेरी स्त्री ने मुझ से कहा है कि तक्षशिला की दुकानों मे चीन देश का हलाहल मिलता है—थोडा-सा लेते आना। और, आपकी श्रीमती जी ने भी मांगा है—तंगण देश का सोने का चूर्ण— सत्ताइस थैली।

धनदत्त—(लम्बी साँस लेकर) किन्तु जटाधारी जी तो कहते है कि मैं कुछ कर ही नही सकता। दौड़कर जाओ चन्दन दोनो से यही कहते आओ।

चन्दन—किन्तु बिना थैली के घर नही लौट सकते—समझा।

धनदत्त—अरे चन्दन कोई उपाय बता क्या करूँ ? मुहूर्त्त तो निकल ही गया। अब चैत्य-वृक्ष के नीचे विश्राम करूँ या घर ही लौट चलूँ। फिर कोई दूसरा शकुन देखकर यात्रा होगी।

आजीवक—तुम, नियति के क्रीडा कन्दुक—कुछ न कर सकोगे।

चन्दन—श्रीमान् ! इस अकर्मण्य को मुंहतोड उत्तर देने के लिए आप यही चित्त लेट जाइये और कुछ कर दिखाइये। (धनदत्त लम्बी साँस लेकर इधर-उधर देखता हुआ बैठ जाता है)

चन्दन—हाँ-हाँ लेट जाइये—कहता हूँ न ! कन्दुक की ऐसी-तैसी—क्यों महाराज ! अब कोई उछाले इस गेंद को।

धनदत्त—(लेटता हुआ) अरे चन्दन ! यह साधु सच तो नही कह रहा है ? पुरुष क्यों सचमुच कुछ नही कर सकता।

चन्दन—हो भी सकता है। ठहरिए, मैंने कही पढ़ा है। ऐ, वह पंक्ति—'न कर्त्तृत्वं त कर्मोपि' ठीक तो आप कुछ भी नही कर सकते हैं।

आजीवक—चन्दन ! तुम तो खूब घिसे हुए हो।

[दौड़ कर दासी आती धनदत्त से ठोकर खाकर गिरते-गिरते बचती है]

दासी—हत्तेरे की ! स्वामी कहाँ है चन्दन।

चन्दन—अन्धी—देखती नहीं, किसे ठोकर लगा रही है।

[दासी कान पकड़ कर दांतों से जीभ दबा लेती है]

आजीवक—क्यों भाई सार्थवाह कन्दुक बने कि नहीं।

धनदत्त—ठहरो जी (दासी से) क्या कहती है रे, अब और कुछ—

दासी—स्वामिनी ने कहा है सात जोड़ी काश्मीर का सूक्ष्म कम्बल जिस पर स्वर्ण तारों से फूल बने हों और चीन की सत्रह रेशमी साड़ियां ले आने के लिए कहना मैं भूल गई थी।

[धनदत्त साँस लेकर उठ बैठता है और कहता है 'भाग यहां से'—दासी जाती है / दूसरी ओर से एक राजपुरुष आता है। उधर आजीवक को देखता हुआ फिर धनदत्त की ओर झुकता है। धनदत्त फिर साँस खींचता हुआ लेट जाता है]

राजपुरुष—यह क्या ! सार्थवाह धनदत्त को किसी ने मारा-पीटा है क्या ?

धनदत्त—(रुआँसे स्वरसे) मारा-पीटा ही नही बिल्कुल हत्या की गई है। कुछ करने लायक नही रह गया।

राजपुरुष—ओ हो ! (समीप से देखकर) कही चोट तो नही दिखलाई देती—जी।

धनदत्त—बहुत-सी चोटें ऐसी होतीं हैं जो दिखाई नही पड़ती।

चन्दन—जैसे आँख की चोट।

धनदत्त—ओ—वह तो जात-पांत की बात है। आँखों से लगी हुई चोट को आँखें देखने देंगी ?

चन्दन—और बात की चोट।

राजपुरुष—तो फिर हुआ क्या ? किसने क्या कहा ?

धनदत्त—देखते नहीं सामने भदन्त खड़े हैं। पूरे छदन्त।

राजपुरुष—क्या इन्होंने शाप दिया है ?

आजीवक—यह अज्ञानी है—सन्दिग्ध है।

राजपुरुष—हूँ, सुनो सार्थवाह ! महाराज नन्द ने कहा है कि उस बार समुद्र पार के वाणिज्य पर तुमने बीस प्रतिशत कर नहीं दिया था। इसलिए अबकी बार जब तुम नगर के बाहर जा रहे हो तो सत्रह नीलमणियां, पांच गजमुक्ताएँ, तीन सर्पमणियां लेकर ही आना। यही कहने के लिए मैं भेजा गया हूँ।

धनदत्त—ऑय—कहते क्या हैं आप !

राजपुरुष—जो तुम सुन रहे हो।

धनदत्त—इसके सुनने पर कान फटने से बच जायेंगे ?

राजपुरुष—मैं यह सब कुछ नही जानता।

धनदत्त—किन्तु देखिए भदन्त कहते है कि पुरुष कुछ कर ही नही सकता—क्यों न !

आजीवक—नियति जो करती है वही मनुष्य के लिए पथ्य है। मूर्ख मनुष्य ! व्यर्थ अपनी टाँग अड़ाता है।

राजपुरुष—अकर्मण्य भिक्षु ! यह क्या पाठ पढ़ा रहे हो।

चन्दन—नियति यदि तुम्हारी टाँग तोड दे ? भिक्षु जी !

आजीवक—तो तुम मुझे अपनी पीठ पर लाद कर मुझे जहाँ जाना है पहुँचा दोगे।

चन्दन—और तुम्हारा बोझ ढोना मै न स्वीकार करूँ ?

आजीवक—तो कदाचित् नियति तुम्हारी टाँग भी तोड़ चुकी होगी।

चन्दन—है-है यह मुँह है कि अभिशापो का परनाला ! कहे देता हूँ मैं सेठ-वेठ नही हूँ। मै भी कुछ—समझा न। शाप देने का मुझे भी अधिकार है। **(यज्ञोपवीत निकालने लगता है)**

आजीवक—**(मुस्कराता हुआ)** तुम कुछ हो यह तो मैं नही जानता था।

राजपुरुष—सुनो राजा की आज्ञा क्या है इसको तो तुम समझ गए होंगे !

धनदत्त—सब समझ गया। किन्तु यह तो बताइए सर्पमणि क्या होगी वह विष से बुझी हुई वस्तु भला राजा-

राजपुरुष—अरे ! तुमको नही मालूम कि राजकुमारी का ब्याह पञ्चनद नरेश से होने की बात चल रही है। उसमे उपहार देने के लिए इन मणियों की नितान्त आवश्यकता है।

चन्दन—नितान्त !

राजपुरुष—**(घुड़क कर)** चुप न रहोगे तो तुमको अभी—

चन्दन—**(रुआँसा स्वर बनाकर)** अपमान न करो मेरा। हाँ, मैं भी कभी, कोई, कुछ, कही था। अपना-अपना समय है धनदत्त की देख-रेख करने उसकी सहायता के लिये मै परदेश जा रहा हूँ। नही तो····

राजपुरुष—मैं तो तुम्हारा दु:ख बहुत सहज मे छुडा सकता हूँ। चले—चलो मेरे साथ। जहाँ अन्धकूप मे तीन मास रहे कि यह सब रोग छूट जायँगे। बड़े-बड़े लोगों की अमात्यो और मन्त्रियो की भी वहाँ चिकित्सा हो रही है।

चन्दन—**(काँप कर)** दुहाई है—भाई धनदत्त ! मुझे बचाओ इस यमदूत से। कुछ दे-लेकर रक्षा करो।

धनदत्त—किन्तु इतनी बड़ी उपहार सूची। ओह यह तो सूची की तरह चुभने लगती है। **(राजपुरुष से)** क्यो महोदय ! क्यों न मैं ही इन सब वस्तुओं को

पञ्चनद नरेश तक पहुँचा दूँ, जहाँ राजकुमारी का ब्याह होने वाला है। आप भी झंझट से बच जायेंगे। यहाँ आते समय कहीं मेरे सार्थ पर डाका पड गया, तब ?

राजपुरुष -नहीं ! यहाँ वे सब मणियाँ भाण्डागारिक की परीक्षा मे पहले आवेंगी। स्मरण रखना, मैं जाता हूँ।

चन्दन—मुझे छोड़े जाइए। आपका बडा यश गाता फिरूँगा। हे महापुरुष—देवपुरुष—राजपुरुष—मेरे पूर्व पुरुष ! क्षमा !

[दण्डवत करता है / राजपुरुष का हँसते हुए प्रस्थान]

धनदत्त—चन्दन ! देखता हूँ कि जाना नही होगा।

चन्दन—यह भी अच्छा ही है **(आजीवक से)** क्यो महात्मा जी ! आपकी क्या सम्मति है ?

आजीवक—नियति तुम लोगो को अपने पथ पर आप ही ले चलेगी।

चन्दन—और आपको।

आजीवक –मै तो भाई पहले ही कह चुका हूँ। मनुष्य कुछ नही कर सकता है। चले चलो आँख मूँद कर।

धनदत्त आज की यात्रा मे तो देखता हूँ कि बडी बाधाएँ हे, हे न ?

चन्दन—अरे भाई अब रात यही चैत्य-वृक्ष के नीचे बितानी होगी। तो चलो वही चलें।

धनदत्त—किन्तु ग्यारह पग तो दक्षिण श्वाँस मे चल नही सका पाँच ही चलकर बैठ गया। अब ?

चन्दन—यही तो मैं भी विचार कर रहा हूँ।

आजीवक—तो फिर आप लोग विचार कीजिए **(जाने का उपक्रम करता है)**।

धनदत्त –वाह ! आप चले कहाँ ! आज की रात तो आपको यही हम लोगो के साथ बितानी पड़ेगी। देखो हम लोगो के साथी तो वही रुके रहेगे रात को हम लोग अकेले उस वृक्ष के नीचे कैसे रहेगे ? तुम रहोगे तो भूत लोग तुम्हे अपना भाई-बन्धु समझ कर हम लोगो को न सतावेंगे।

आजीवक—परन्तु उस वृक्ष के नीचे चलो तब तो।

धनदत्त—हाँ रे चन्दन ! सूची मे कुछ भूल न हो।

चन्दन—अरे ! चलो तो बैठकर लिख भी लें।

धनदत्त—पर चलें तो कैसे। कैसे मुहूर्त्त मे निकले हैं भगवान्।

आजीवक—मैं बताऊँ पैर से न चलो रेंग कर चलो।

धनदत्त—ऐं !

चन्दन—ठीक तो !

धनदत्त—अरे मेरी तोंद तो देख लो तब कहो ! छिल जाय तो !

चन्दन—फिर मुहूर्त्त की व्यवस्था !

धनदत्त--अच्छा फिर (पेट के बल घिसकने लगता है)।

.दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[मगध में नन्द की राजसभा / राक्षस और सभासदों के साथ नन्द]

नन्द—हाँ, तब ?

राक्षस दूत लौट आये और उन्होने कहा कि पञ्चनद-नरेश को यह सम्बन्ध स्वीकार नही।

नन्द—क्यों ?

राक्षस—प्राच्य-देश के बौद्ध और शूद्र राजा की कन्या से वे परिणय नही कर सकते।

नन्द---इतना गर्व !

राक्षस—यह उनका गर्व नही, यह धर्म का दम्भ है, व्यंग है। मैं इसका फल चखा दूँगा। मगध—जैसे शक्तिशाली राष्ट्र का अपमान करके कोई यों ही नही बच जायेगा। ब्राह्मणो का यह ···

[प्रतिहारी का प्रवेश[

प्रतिहारी—जय हो देव, मगध से शिक्षा के लिए गये हुए तक्षशिला से स्नातक आये है।

नन्द—लिवा लाओ।

[प्रतिहारी का प्रस्थान / चन्द्रगुप्त के साथ कई स्नातकों का प्रवेश]

स्नातक—राजाधिराज की जय हो !

नन्द—स्वागत ! अमात्य वररुचि अभी नही आये, देखो तो !

[प्रतिहारी का प्रस्थान और वररुचि के साथ प्रवेश]

वररुचि—जय हो देव, मैं स्वयं आ रहा था।

नन्द—तक्षशिला से लौटे हुए, स्नातकों की परीक्षा लीजिये।

वररुचि—राजाधिराज, जिस गुरुकुल में मैं स्वयं परीक्षा देकर स्नातक हुआ हूँ, उसके प्रमाण की भी पुनः परीक्षा, अपने गुरुजनों के प्रति अपराध करना है।

नन्द—किन्तु राजकोष का रुपया व्यर्थ ही स्नातकों को भेजने में लगता है या इसका सदुपयोग होता है, इसका निर्णय कैसे हो ?

राक्षस—केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है ! और वह तो मगध में ही मिल सकती है।

[चाणक्य का सहसा प्रवेश / त्रस्त दौवारिक पीछे-पीछे आता है]

चाणक्य—परन्तु बौद्धधर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नही हो सकती, भले ही वह संघ विहार मे रहने वालों के लिए उपयुक्त हो।

नन्द—तुम अनधिकार चर्चा करने वाले कौन हो जी ?

चाणक्य—तक्षशिला से लौटा हुआ एक स्नातक ब्राह्मण।

नन्द—ब्राह्मण ! ब्राह्मण ! जिधर देखो कृत्या के समान इनकी आतंक ज्वाला धधक रही है।

चाणक्य—नही महाराज ! ज्वाला कहाँ ? भस्मावगुण्ठित अंगारे रह गये है !

राक्षस—तब भी इतना ताप !

चाणक्य—वह तो रहेगा ही ! जिस दिन उसका अन्त होगा, उसी दिन आर्यावर्त्त का ध्वंस होगा। यदि अमात्य ने ब्राह्मण-विनाश करने का विचार किया हो तो जन्मभूमि की भलाई के लिए उसका त्याग कर दें, क्योंकि राष्ट्र का शुभ-चिन्तन केवल ब्राह्मण ही कर सकते है। एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध, सिर पर मँडराने वाली विपत्तियो से—रक्त-समुद्र की आँधियों से—आर्यावर्त्त की रक्षा करने मे असमर्थ प्रमाणित होगे।

नन्द—ब्राह्मण ! तुम बोलना नही जानते हो तो चुप रहना सीखो।

चाणक्य महाराज, उसे सीखने के लिए मैं तक्षशिला गया था और मगध का सिर ऊँचा करके उसी गुरुकुल मे मैंने अध्यापन का कार्य भी किया है। इसलिए मेरा हृदय यह नही मान सकता कि मैं मूर्ख हूँ।

नन्द—तुम चुप रहो।

चाणक्य—एक बात कहकर महाराज !

राक्षस—क्या ?

चाणक्य—यवनो की विकटवाहिनी निषध-पर्वत माला तक पहुँच गई है—तक्षशिलाधीश की भी उसमे अभिसन्धि है। संभवतः समस्त आर्यावर्त्त पादाक्रान्त होगा। उत्तरापथ मे बहुत-से छोटे-छोटे गणतन्त्र है, वे उस सम्मिलित पारसीक—यवन-बल को रोकने में असमर्थ होगे। अकेले पर्वतेश्वर ने साहस किया है, इसलिए मगध को पर्वतेश्वर की सहायता करनी चाहिये।

कल्याणी—(प्रवेश करके) पिताजी, मैं पर्वतेश्वर के गर्व की परीक्षा लूँगी। मैं वृषल-कन्या हूँ ? उस क्षत्रिय को यह सिखा दूँगी कि राज-कन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से कम नही। सेनापति को आज्ञा दीजिये कि आसन्न गान्धार-युद्ध मे मगध की सेना अवश्य जाय और मै स्वयं उसका संचालन करूँगी। पराजित पर्वतेश्वर को सहायता देकर उसे नीचा दिखाऊँगी।

[नन्द हँसता है]

राक्षस—राजकुमारी, राजनीति महलों में नही रहती, इसे हम लोगों के लिये छोड़ देना चाहिये। उद्धत पर्वतेश्वर अपने गर्व का फल भोगे और ब्राह्मण चाणक्य ! परीक्षा देकर ही कोई साम्राज्य-नीति समझ लेने का अधिकारी नहीं हो जाता।

चाणक्य—सच है बौद्ध अमात्य, परन्तु यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे।

नन्द—वाचाल ब्राह्मण ! तुम अभी चले जाओ, नही तो प्रतिहारी तुम्हें धक्के देकर निकाल देंगे।

चाणक्य—राजाधिराज मैं जानता हूँ कि प्रमाद में मनुष्य कठोर सत्य का भी अनुभव नहीं करता, इसीलिए मैंने प्रार्थना नही की—अपने अपहृत ब्रह्मस्व के लिए मैंने भिक्षा नही माँगी। क्यों ? जानता था कि वह मुझे ब्राह्मण होने के कारण न मिलेगी, परन्तु जब राष्ट्र के लिए—

राक्षस—चुप रहो। चणक के पुत्र हो न, तुम्हारे पिता भी ऐसे ही हठी थे।

नन्द—क्या ! उसी विद्रोही ब्राह्मण की सन्तान ? निकालो इसे अभी यहाँ से।

[प्रतिहारी आगे बढ़ता है / चन्द्रगुप्त सामने आकर रोकता है]

चन्द्रगुप्त—सम्राट् मै प्रार्थना करता हूँ कि गुरुदेव का अपमान न किया जाय। मैं भी उत्तरापथ से आ रहा हूँ। आर्य चाणक्य ने जो कुछ कहा है, वह साम्राज्य के हित की बात है। उस पर विचार किया जाय।

नन्द—कौन ? सेनापति मौर्य का कुमार चन्द्रगुप्त !

चन्द्रगुप्त—हाँ देव, मैं युद्ध-नीति सीखने के लिए ही तक्षशिला भेजा गया था। मैंने अपनी आँखों गान्धार का उपप्लव देखा है, मुझे गुरुदेव के मत में पूर्ण विश्वास है। यह आगन्तुक आपत्ति पञ्चनद-प्रदेश तक ही न रह जायगी।

नन्द—अबोध युवक, तो क्या इसीलिए अपमानित होने पर भी मैं पर्वतेश्वर की सहायता करूँ ? असम्भव है। तुम राजाज्ञा में बाधा न देकर शिष्टता सीखो। प्रतिहारी, निकालो इस ब्राह्मण को यह बड़ा ही कुचक्री मालूम पडता है।

चन्द्रगुप्त—राजाधिराज, ऐसा करके आप एक भारी अन्याय करेंगे और मगध के शुभचिन्तकों को शत्रु बनायेंगे।

कल्याणी—पिताजी, चन्द्रगुप्त पर ही दया कीजिये। एक बात उसकी भी मान लीजिये।

नन्द—चुप रहो, ऐसे उद्दण्ड को मैं कभी नही क्षमा करता, और सुनो चन्द्रगुप्त, तुम भी यदि इच्छा हो तो इसी ब्राह्मण के साथ जा सकते हो, अब कभी मगध में मुंह न दिखाना।

[प्रतिहारी दोनों को निकालना चाहता है / चाणक्य रुककर कहता है]

चाणक्य—सावधान नन्द ! तुम्हारी धर्मान्धता से प्रेरित राजनीति आँधी की

तरह चलेगी, उसमें नन्द-वंश समूल उखड़ेगा। नियति-सुन्दरी के भवों में बल पड़ने लगा है। समय आ गया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाये जायँ और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों।

नन्द—यह समझ कर कि ब्राह्मण अवध्य है तू मुझे भय दिखलाता है! प्रतिहारी, इसकी शिखा पकड़ कर इसे बाहर करो।

[प्रतिहारी उसकी शिखा पकड़कर घसीटता है / वह निश्शंक और दृढ़ता से कहता है]

चाणक्य—खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते? खींच ले! परन्तु यह शिखा नन्दकुल की काल-सर्पिणी है, यह तब तक न बन्धन में होगी, जब तक नन्द-कुल निश्शेष न होगा।

नन्द—इसे बन्दी करो।

[चाणक्य बन्दी किया जाता है]

दृ श्यां त र

सप्तम दृश्य

[सिन्धु-तट पर अलका और मालविका]

मालविका—राजकुमारी! मैं देख आयी, उद्भाण्ड[1] में सिन्धु पर सेतु बन रहा है। युवराज स्वयं उसका निरीक्षण करते हैं। और मैंने उस सेतु का एक मानचित्र भी प्रस्तुत किया था। यह कुछ अधूरा-सा रह गया है पर इसके देखने से कुछ आभास मिल जायगा।

अलका—सखी! बड़ा दुःख होता है, जब मैं यह स्मरण करती हूँ कि स्वयं महाराज का इसमें हाथ है। देखूँ तो तेरा मानचित्र!

[मालविका मानचित्र देती है, अलका उसे देखती है, एक यवन सैनिक का प्रवेश—वह मानचित्र अलका से ले लेना चाहता है]

अलका—दूर हो दुर्विनीत दस्यु! **(मानचित्र अपनी कंचुकी में छिपा लेती है)**

यवन—यह गुप्तचर है, मैं इसे पहचानता हूँ। परन्तु सुन्दरी! तुम कौन हो जो इसकी सहायता कर रही हो? अच्छा हो कि मुझे मानचित्र मिल जाय, और मैं इसे सप्रमाण बन्दी बनाकर महाराज के सामने ले जाऊँ।

अलका—यह असम्भव है। पहले तुम्हें बताना होगा कि तुम यहाँ किस अधिकार से यह अत्याचार करना चाहते हो?

यवन—मैं? देवपुत्र विजेता अलक्षेन्द्र का नियुक्त अनुचर हूँ और तक्षशिला की मित्रता का साक्षी हूँ। यह अधिकार मुझे गान्धार-नरेश ने दिया है।

---

१. वर्त्तमान अटक से सोलह मील उत्तर जहां से पहले सिन्धु को पार करते थे। (सं०)

अलका—आह—यवन ! गान्धार-नरेश ने तुम्हे यह अधिकार कभी नही दिया होगा कि तुम आर्य-ललनाओ के साथ धृष्टता का व्यवहार करो।

यवन—करना ही पड़ेगा, मुझे मानचित्र लेना ही होगा।

अलका—कदापि नही।

यवन—क्या यह वही मानचित्र नही है, जिसे इस स्त्री ने उद्भाण्ड मे बनाना चाहा था ?

अलका—परन्तु यह तुम्हे नही मिल सकता। यदि तुम सीधे यहाँ से न टलोगे तो शान्ति-रक्षको को बुलाऊँगी।

यवन—तब तो मेरा उपकार होगा, क्योकि इस अँगूठी को देखकर वे मेरी सहायता करेगे।

अलका—**(देखकर सिर पकड़ लेती है)** ओह !

यवन- **(हँसता हुआ)** अब ठीक पथ पर आ गयी होगी—बुद्धि। लाओ, मानचित्र मुझे दे दो।

[अलका निस्सहाय इधर-उधर देखती है / सिंहरण का प्रवेश]

सिंहरण—**(चौंककर)** है ! कौन राजकुमारी ! और यह यवन !

अलका—मालववीर ! स्त्री की मर्यादा को न समझने वाले इस यवन को तुम समझा दो कि यह चला जाय।

सिंहरण—यवन, क्या तुम्हारे देश की सभ्यता तुम्हे स्त्रियो का सम्मान करना नही सिखाती ? क्या सचमुच तुम बर्बर हो ?

यवन—मेरी उस सभ्यता ने ही मुझे रोक लिया है नही तो मेरा यह कर्त्तव्य था कि मै उस मानचित्र को किसी भी पुरुष के हाथ मे होने से उसे जैसे बनता ले ही लेता।

सिंहरण—तुम बड़े प्रगल्भ हो यवन ! क्या तुम्हे भय नही कि तुम एक दूसरे राज्य मे ऐसा आचरण करके अपनी मृत्यु बुला रहे हो ?

यवन—उसे आमन्त्रण देने के लिए ही उतनी दूर से आया हूँ।

सिंहरण—राजकुमारी ! यह मानचित्र मुझे देकर आप निरापद हो जायँ, फिर मै देख लूँगा।

अलका—**(मानचित्र देती हुई)** तुम्हारे लिए ही तो यह मँगाया गया था।

सिंहरण—**(उसे देखते हुए)** ठीक है, मै रुका भी इसीलिए था। **(यवन से)** हाँ जी, कहो, अब तुम्हारी क्या इच्छा है ?

यवन -**(खड्ग निकाल कर)** मानचित्र हमे दे दो या प्राण देना होगा।

सिंहरण—उसके अधिकारी का निर्वाचन खड्ग करेगा। तो फिर सावधान हो जाओ, **(तलवार खींचता है)**

[यवन के साथ युद्ध—सिंहरण घायल होता है परन्तु यवन को उसके भीषण प्रत्याक्रमण से भय होता है, वह भाग निकलता है]

अलका —वीर ! यद्यपि तुम्हे विश्राम की आवश्यकता है, परन्तु अवस्था बड़ी भयानक है। वह जाकर कुछ उत्पात मचावेगा। पिताजी पूर्णरूप से यवनों के हाथ मे आत्म-समर्पण कर चुके है।

सिंहरण —(हँसता और रक्त पोंछता हुआ) मेरा काम हो गया राजकुमारी। मेरी नौका प्रस्तुत है, मैं जाता हूँ। परन्तु बडा अनर्थ होना चाहता है, क्या गान्धार-नरेश किसी तरह न मानेगे ?

अलका कदापि नही, पर्वतेश्वर से उनका वैर बद्धमूल है।

सिंहरण अच्छा देखा जायगा जो कुछ होगा। देखिए मेरी नौका आ रही है अब विदा माँगता हूँ।

[सिन्धु में नौका आती है / घायल सिंहरण उस पर बैठता है / सिंहरण और अलका दोनों एक दूसरे को देखते हैं]

अलका मालविका भी तुम्हारे साथ जायगी—तुम अकेले जाने योग्य इस समय नहीं हो।

सिंहरण—जैसी आज्ञा। बहुत शीघ्र फिर दर्शन करूँगा। जन्मभूमि के लिए ही जीवन है। फिर जब आप-सी सुकुमारियाँ इसकी सेवा मे कटिबद्ध है तब मैं पीछे कब रहूँगा। अच्छा नमस्कार।

[मालविका नाव में बैठती है / अलका सतृष्ण नयनों से देखती हुई नमस्कार करती है / नाव चली जाती है / सैनिकों के साथ यवन का प्रवेश]

यवन—निकल गया मेरा अहेर ! यह सब प्रपञ्च इसी रमणी का है। इसको बन्दी बनाओ। (सैनिक अलका को देखकर सिर झुकाते हैं) बन्दी करो सैनिक !

सैनिक—मैं नही कर सकता।

यवन—क्यो गान्धार-नरेश ने तुम्हे क्या आज्ञा दी है ?

सैनिक—यही कि आप जिसे कहे, उसे हम लोग बन्दी करके महाराज के पास ले चले।

यवन—फिर विलम्ब क्यो ?

[अलका संकेत से वर्जित करती है]

सैनिक—हम लोगो की इच्छा।

यवन—तुम राजद्रोही हो।

सैनिक—कदापि नही, पर यह काम हम लोगो से न हो सकेगा।

यवन—सावधान! तुमको इस आज्ञा-भंग का फल भोगना पड़ेगा। मैं स्वयं बन्दी बनाता हूँ (ठहर कर अलका की ओर बढ़ता है सैनिक तलवार खींच लेते है) यह क्या?

सैनिक—डरते हो क्या? कायर!, स्त्रियो पर वीरता दिखाने मे बड़े प्रबल हो और एक युवक के सामने भाग निकले!

यवन—क्या, राजकीय आज्ञा का न तुम स्वय पालन करोगे और न करने दोगे।

सैनिक—यदि साहस हो मरने का—तो आगे बढो।

अलका—(सैनिकों से) ठहरो, विवाद करने का समय नही है। (यवन से) कहो, तुम्हारा अभिप्राय क्या है।

यवन—मै तुम्हे बन्दी करना चाहता हूँ।

अलका—कहाँ ले चलोगे?

यवन—गान्धार-नरेश के पास।

अलका—मै चलती हूँ, चलो।

[आगे अलका, पीछे यवन और सैनिक जाते है]

दृश्यान्तर

अष्टम दृश्य

[मगध का बन्दीगृह]

चाणक्य समीर की गति भी अवरुद्ध है, शरीर का फिर क्या कहना! परन्तु मन मे इतने सकल्प और विकल्प? एक बार निकलने पाता तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथो मे साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय मे कर्त्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की कठोरता भी है। जकडी हुई लौह शृखले! एक बार तू फूलो की माला बन जा और मै मदोन्मत्त विलासी के समान तेरी सुन्दरता को भग कर दूँ! क्या रोने लगू? इस निष्ठुर यन्त्रणा की कठोरता से बिल-बिलाकर दया की भिक्षा मांगूं? और मांगूं कि मुझे भोजन के लिए एक मुट्ठी चने जो देते हो, न दो, एक बार स्वतन्त्र कर दो? नही चाणक्य! ऐसा न करना। नही तो तू भी साधारण-सी ठोकर खाकर चूर-चूर हो जाने वाली एक बाँबी रह जायगा। तब—मै आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूंगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर न किसी पर करूंगा (ऊपर देखकर)—क्या कभी नही? हाँ—हाँ कभी किसी पर नही। मै प्रलयवन्या के समान अबाध गति और कर्त्तव्य मे इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनूंगा।

[किवाड़ खुलता है, वररुचि और राक्षस का प्रवेश]

राक्षस—स्नातक ! अच्छे तो हो ?

चाणक्य—बुरे कब थे बौद्ध अमात्य !

राक्षस—आज हम लोग एक काम से आये हैं। आशा है कि तुम अपनी हठवादिता से मेरा और अपना दोनों का अपकार न करोगे।

वररुचि—हाँ चाणक्य ! अमात्य का कहना मान लो।

चाणक्य—भिक्षोपजीवी ब्राह्मण ! क्या बौद्धों का संग करते-करते तुम्हें अपनी गरिमा का सम्पूर्ण-विस्मरण हो गया ? चाटुकारों के समान हाँ में हाँ मिलाकर, जीवन की कठिनाइयों से बचकर, मुझे भी कुत्ते का पाठ पढ़ाना चाहते हो। भूलो मत, यदि राक्षस देवता हो जाय तो उसका विरोध करने के लिए मुझे ब्राह्मण से दैत्य बनना पड़ेगा। क्योंकि, मैं जानता हूँ -वह भी इसका कपट रूप होगा।

वररुचि—ब्राह्मण हो भाई ! त्याग और क्षमा के प्रमाण—तपोनिधि ब्राह्मण हो। इतना····

चाणक्य—त्याग और क्षमा, तप, और विद्या—तेज और सम्मान के लिए है—लोहे और सोने के सामने सिर झुकाने के लिए हम लोग—ब्राह्मण नहीं बने हैं। हमारी दी हुई विभूति से हमी को अपमानित किया जाय, ऐसा नहीं हो सकता। कात्यायन ! अब केवल पाणिनि से काम न चलेगा। अर्थशास्त्र और दण्ड-नीति की आवश्यकता है।

वररुचि—मैं वार्त्तिक लिख रहा हूँ चाणक्य ! उसी के लिए तुम्हें सहकारी बनाना चाहता हूँ। तुम इस बन्दीगृह से निकलो।

चाणक्य—मैं लेखक नही हूँ कात्यायन ! शास्त्र-प्रणेता हूँ—व्यवस्थापक हूँ।

राक्षस—अच्छा, मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम विवाद न बढ़ाकर स्पष्ट उत्तर दो। तुम तक्षशिला में मगध के गुप्त-प्रणिधि बनकर जाना चाहते हो या मृत्यु चाहते हो ? तुम्ही पर विश्वास करके क्यों भेजना चाहता हूँ, यह तुम्हारी स्वीकृति मिलने पर बताऊँगा।

चाणक्य—जाना तो चाहता हूँ तक्षशिला, पर तुम्हारी सेवा के लिए नही। और सुनो—पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए तो कदापि नहीं।

राक्षस—यथेष्ट है, अधिक कहने की आवश्यकता नही।

वररुचि—विष्णुगुप्त ! मेरा वार्त्तिक अधूरा रह जायगा। मान जाओ। तुमको पाणिनि के कुछ प्रयोगों का पता भी लगाना होगा जो उस शालातुरीय वैयाकरण ने लिखे है ! फिर से एक बार तक्षशिला जाने पर ही उनका····

चाणक्य—मेरे पास पाणिनि मे सिर खपाने का समय नही। भाषा ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूँ, समझे !

वररुचि—जिसने 'श्वयुवमघोनामनद्धते' सूत्र लिखा है, वह केवल वैयाकरण ही नही, दार्शनिक भी था। उसकी अवहेलना !

चाणक्य—यह मेरी समझ मे नही आता, मैं कुत्ता, साधारण युवक और इन्द्र को कभी एक सूत्र मे नही बाँध सकता। कुत्ता-कुत्ता ही रहेगा, इन्द्र-इन्द्र ही, सुनो वररुचि ! मैं कुत्ते को कुत्ता ही बनाना चाहता हूँ। नीचो के हाथ मे इन्द्र का अधिकार चले जाने से जो सुख होता है, उसे मैं भोग रहा हूँ। तुम जाओ।

वररुचि—क्या मुक्ति भी नही चाहते ?

चाणक्य—तुम लोगो के हाथो से वह भी नही।

राक्षस—अच्छा तो फिर तुम्हे अंधकूप मे जाना होगा।

[चन्द्रगुप्त का रक्ताक्त खड्ग लिए सहसा प्रवेश / चाणक्य का बन्धन काटता है / राक्षस प्रहरियों को बुलाना चाहता है]

चन्द्रगुप्त—चुप रहो अमात्य ! शवो मे बोलने की शक्ति नही, तुम्हारे प्रहरी जीवित नही रहे।

चाणक्य—मेरे शिष्य ! वत्स चन्द्रगुप्त।

चन्द्रगुप्त—चलिए गुरुदेव ! **(खड्ग उठाकर राक्षस से)** यदि तुमने कुछ भी कोलाहल किया तो····

[राक्षस बैठ जाता है—वररुचि गिर पड़ता है/चन्द्रगुप्त चाणक्य को लिए निकलता हुआ किवाड़ बन्द कर देता है]

दृ श्या न्त र

नवम दृश्य

[गांधार नरेश का प्रकोष्ठ/चिन्तायुक्त राजा प्रवेश करते हुए]

राजा—बूढा हो चला, परन्तु मन बूढा न हुआ। बहुत दिनो तक तृष्णा को तृप्त करता रहा, पर तृप्त नही होती। आम्भीक तो अभी युवक है, उसके मन मे महत्त्वाकाक्षा का होना अनिवार्य है। उसका पथ कुटिल है, गन्धर्व-नगर की-सी सफलता उसे अपने पीछे दौडा रही है **(विचार कर)** हाँ ठीक तो नही है, पर उन्नति के शिखर पर नाक के सीधे चढने मे बडी कठिनता है। **(ठहर कर)** रोक दूं ! अब से भी अच्छा है, जब वे घुस आवेगे तब तो गान्धार को भी वही कष्ट भोगना पड़ेगा, जो हम दूसरो को देना चाहते हैं—

[अलका के साथ यवन और रक्षकों का प्रवेश]

बेटी ! अलका !

अलका—हाँ, महाराज, अलका।

राजा—नही, कहो—हाँ पिताजी। अलका, कब तक तुम्हें सिखाता रहूँ!

अलका—नही महराज!

राजा—फिर महाराज! पागल लड़की—कह, पिता जी!

अलका—वह कैसे महाराज! न्यायाधिकरण पिता-संबोधन से पक्षपाती हो जायगा।

राजा—यह क्या?

यवन—महराज! मुझे नही मालुम कि ये राजकुमारी है। अन्यथा मैं, इन्हें बन्दी न बनाता।

राजा—सिल्यूकस! तुम्हारा मुख कन्धे पर से बोल रहा है। यवन! यह मेरी राजकुमारी अलका है। आ बेटी! **(उसकी ओर हाथ बढ़ाता है / वह अलग हट जाती है)**

अलका—नही महाराज! पहले न्याय कीजिये।

यवन—उद्भाण्ड पर बँधने वाले पुल का मानचित्र इन्होंने एक स्त्री से बनवाया है, और जब मैं उसे माँगने लगा, तो एक युवक को देकर इन्होंने उसे हटा दिया। मैंने यह समाचार आप तक निवेदन किया और आज्ञा मिली कि वे बन्दी किये जायँ; परन्तु वह युवक निकल गया।

राजा—क्यो बेटी! मानचित्र देखने की इच्छा हुई थी? **(सिल्यूकस से)** तो क्या चिन्ता है, जाने दो—मानचित्र तुम्हारा पुल बँधना रोक नही सकता।

अलका—नही महाराज! मानचित्र एक विशेष कार्य से बनवाया गया है—वह गान्धार की लगी हुई कालिख छुड़ाने के लिए....

राजा—सो तो मैं जानता हूँ बेटी! तुम क्या कोई नासमझ हो।

[वेग से आंभीक का प्रवेश]

आंभीक—नही पिताजी, आपके राज्य मे एक भयानक षड्यन्त्र चल रहा है और तक्षशिला का गुरुकुल उसका केन्द्र है। अलका उस रहस्यपूर्ण कुचक्र की कुंजी है।

राजा—क्यो अलका यह बात सही है?

अलका—सत्य है महाराज! जिस उन्नति की आशा मे आंभीक ने यह नीच कर्म किया है, उसका पहला फल यह है कि आज मैं बन्दिनी हूँ सम्भव है कल आप होंगे और परसों गान्धार की जनता बेगार करेगी। उनका मुखिया होगा आपका वंश-उज्ज्वलकारी—आंभीक।

यवन—सन्धि के अनुसार देवपुत्र का साम्राज्य और गान्धार मित्र-राज्य हैं, यह व्यर्थ की बात है।

आंभीक—सिल्यूकस ! तुम विश्राम करो। हम इसको समझ कर तुमसे मिलते हैं।

राजा—परन्तु आंभीक ! राजकुमारी बन्दिनी बनायी जाय, वह भी मेरे ही सामने ! उसके लिए एक यवन दण्ड की व्यवस्था करे, यही तो तुम्हारे उद्योगों का फल है !

अलका—महाराज ! मुझे दण्ड दीजिये, कारागार मे भेजिये, नहीं तो मैं मुक्त रहने पर यही करूँगी। कुलपुत्रों के रक्त से आर्यावर्त्त की भूमि सिंचेगी ! दानवी बनकर जननी जन्म-भूमि अपनी सन्तान को खायेगी। महाराज ! आर्यावर्त्त के सब बच्चे आभीक जैसे नही होंगे। वे इसकी मान-प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायेंगे। स्मरण रहे, यवनो की विजयवाहिनी के आक्रमण को प्रत्यावर्त्तन बनाने वाले यही भारत-सन्तान होगे। सब बचे हुए क्षताग-वीर, गान्धार को—भारत के द्वार-रक्षक को—विश्वासघाती के नाम से पुकारेंगे और उसमे नाम लिखा जायगा मेरे पिता का—आह ! उसे सुनने के लिए मुझे जीवित न छोडिये। दण्ड दीजिये—मृत्युदण्ड !

आंभीक—इसे उन सबो ने खूब बहकाया है। राजनीति के खेल यह क्या जाने ! पिताजी, पर्वतेश्वर—उद्दण्ड पर्वतेश्वर ने जो मेरा अपमान किया है, उसका प्रतिशोध !

राजा—हाँ बेटी। उसने स्पष्ट कह दिया कि, कायर आभीक से अपने लोक विश्रुत कुल की कुमारी का ब्याह न करूँगा। और भी उसने वितस्ता के इस पार अपनी एक चौकी बना ली है—जो प्राचीन सन्धियों के विरुद्ध है।

अलका—तब महाराज। उस प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए जो लडकर मर नही गया वह कायर नही तो और क्या है।

आंभीक—चुप रहो अलका।

राजा—तुम दोनों ही ठीक बाते कर रहे हो, फिर मैं क्या करूँ ?

अलका—तो महाराज ! मुझे दण्ड दीजिये, क्योंकि राज्य का उत्तराधिकारी आंभीक ही उसके शुभाशुभ की कसौटी है, मैं भ्रम मे हूँ।

राजा—मैं यह कैसे कहूँ ?

अलका—तब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं राज-मन्दिर छोड़कर चली जाऊं।

राजा—कहाँ जाओगी और क्या करोगी अलका ?

अलका—गान्धार मे विद्रोह मचाऊँगी।

राजा—नही अलका, तुम ऐसा नही करोगी।

अलका—करूँगी महाराज, अवश्य करूँगी।

राजा—फिर मैं पागल हो जाऊँगा। मुझे तो विश्वास नहीं होता।

आंभीक—और तब अलका, मैं अपने हाथों से तुम्हारी हत्या करूँगा।

राजा—नहीं आंभीक। तुम चुप रहो। सावधान! अलका के शरीर पर जो हाथ उठाना चाहता है, उसे मैं द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारता हूँ।

[आंभीक सिर नीचे कर लेता है]

अलका—तो मैं जाती हूँ पिताजी।

राजा—(अन्य मनस्क भाव से सोचता हुआ) जाओ (अलका चली जाती है)। आंभीक!

आंभीक—पिताजी!

राजा—लौट आओ।

आंभीक—इस अवस्था में तो लौट आता, परन्तु वे यवन सैनिक छाती पर खड़े हैं। पुल बँध चुका है। नहीं तो पहले गान्धार का ही नाश होगा।

राजा—तब? (निश्वास लेकर)—जो होना हो—सो हो। पर एक बात आंभीक—आज से मुझसे कुछ न कहना। जो उचित समझो, करो। मैं अलका को खोजने जाता हूँ—गान्धार जाने और तुम जानो।

[वेग से प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

दशम दृश्य

[पर्वतेश्वर की राजसभा]

पर्वतेश्वर—आर्य चाणक्य! आपकी बातें ठीक-ठीक नहीं समझ में आतीं।

चाणक्य—कैसे आवेंगी, मेरे पास केवल बात ही है न, अभी कुछ कर दिखाने में असमर्थ हूँ।

पर्वतेश्वर—परन्तु इस समय मुझे यवनों से युद्ध करना है, मैं अपना एक भी सैनिक मगध नहीं भेज सकता।

चाणक्य—निरुपाय हूँ—लौट जाऊँगा। नहीं तो मगध की लक्षाधिक सेना आगामी यवन-युद्ध में पौरव पर्वतेश्वर की पताका के नीचे युद्ध करती। वही मगध—जिसने सहायता माँगने पर पञ्चनद का तिरस्कार किया था।

पर्वतेश्वर—हाँ, तो इस मगध-विद्रोह का केन्द्र कौन होगा? नन्द के विरुद्ध कौन खड़ा होता है?

चाणक्य—मौर्य-सेनानी का पुत्र चन्द्रगुप्त—जो मेरे साथ यहाँ आया है।

पर्वतेश्वर—पिप्पिली-कानन के मौर्य भी तो वैसे ही वृषल हैं, उनको राज-सिंहासन दीजियेगा ?

चाणक्य—आर्य-क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला, वस्तुतः ये क्षत्रिय हैं। बौद्धों के प्रभाव में आने से इनके श्रौत-संस्कार छूट गये हैं—अवश्य, परन्तु इनके क्षत्रिय होने मे कोई सन्देह नही। और महाराल! धर्म के नियामक ब्राह्मण है, मुझे पात्र देखकर उसका संस्कार करने का अधिकार है। ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम एवम् शाश्वत बुद्धि-वैभव है। वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का सगठन कर लेगा। राजन्य-संस्कृति से पूर्ण—मनुष्य को मूर्द्धाभिषिक्त करने में दोष क्या है ?

पर्वतेश्वर—(हँसकर) यह आपका सुविनार नही है ब्रह्मन्!

चाणक्य—वसिष्ठ का ब्राह्मणत्व जव पीडित हुआ था, तब—पल्लव, दरद, काबोज आदि क्षत्रिय बने थे। राजन् यह कोई नई बात नही है।

पर्वतेश्वर—वह समर्थ ऋषियो की बात हे।

चाणक्य—भविष्य इसका विचार करता है कि ऋषि किसे कहते हैं। क्षत्रियाभिमानी पौरव ! तुम इसके निर्णायक नहो हो सकते हो।

पर्वतेश्वर—शूद्र शासित राष्ट्र मे रहने वाले ब्राह्मण के मुख से यह बात शोभा नही देती।

चाणक्य—तभी तो ब्राह्मण मगध को क्षत्रिय-शासन मे ले आना जाहता है। पौरव ! असके लिए कहा गया है, कि क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्त्तवाणी नहीं सुनाई पडनी चाहिये, मौर्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा।

पर्वतेश्वर—कल्पना है।

चाणक्य—प्रत्यक्ष होगी ! और, स्मरण रखया—आसन्न यवन-युद्ध मे, शौर्य के गर्व से तुम पराभूत होगे। यवनो के द्वारा समग्र आर्यावर्त्त पादाक्रात होगा। उस समय तुम—मेरा स्मरण करोगे।

पर्वतेश्वर—केवल अभिशाप अस्त्र लेकर ही तो ब्राह्मण लड़ते हैं। मैं इससे नही डरता। परन्तु डराने वाले ब्राह्मण! तुम मेरी सीमा के बाहर हो जाओ।

चाणक्य—(ऊपर देखकर)—रे पददलित ब्राह्मणत्व ? देख, शूद्र ने निगड़बद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासिन करता है, तब जल—एक बार अपनी ज्वाला से जल ! उसकी चिनगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक शूद्र, और रक्षक क्षत्रिय उत्पन्न हों। जाता हूँ पौरव !

[उपेक्षा से देखते पर्वतेश्वर एक ओर जाता है दूसरी ओर क्षुब्ध चाणक्य]

दृ श्या न्त र

ग्यारहवां दृश्य

[कानन पथ में अलका]

अलका—चली जा रही हूँ। अनन्त पथ है; कही पाथशाला नही, और न पहुँचने का निर्दिष्ट स्थान—शैल पर से गिरा दी गई स्रोतस्विनी के सदृश अविराम भ्रमण, ठोकर और तिरस्कार। कानन मे कहाँ चली जा रही हूँ? **(सामने देखकर)** अरे—यवन!

[शिकारी के वेश में सिल्यूकस का प्रवेश]

सिल्यूकस—तुम कहाँ सुन्दरी राजकुमारी!

अलका—मेरा देश है, मेरे पहाड है, मेरी नदियाँ है और मेरे जगल है। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे है और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्ही परमाणुओ के बने है। फिर मै कहाँ जाऊँगी यवन!

सिल्यूकस—यहाँ तो तुम अकेली हो सुन्दरी!

अलका—सो तो ठीक है--**(दूसरी ओर देखकर सहसा)** परन्तु देखो वह सिंह आ रहा है।

[सिल्यूकस उधर देखता है/अलका दूसरी ओर निकल जाती है]

सिल्यूकस—निकल गयी! **(दूसरी ओर जाता है)**

[चाणक्य और चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चाणक्य—वत्स तुम बहुत थक गये होगे।

चन्द्रगुप्त—आर्य! नसो ने अपने बन्धन ढीले कर दिये है, शरीर अवसन्न हो रहा है, प्यास भी लगी है।

चाणक्य—और कुछ दूर न चल सकोगे?

चन्द्रगुप्त—जैसी आज्ञा हो।

चाणक्य—पास ही सिन्धु लहराता होगा, उसके तट पर ही विश्राम करना ठीक होगा। **(चन्द्रगुप्त चलने के लिए पैर बढ़ाता है फिर बैठ जाता है—उसे पकड़ कर)** सावधान—चन्द्रगुप्त!

चन्द्रगुप्त—आर्य? प्यास से कण्ठ सूख रहा है—चक्कर आ रहा है।

चाणक्य—तुम विश्राम करो, मैं अभी जल लेकर आता हूँ। **(प्रस्थान)**

[चन्द्रगुप्त पसीने से तर लेट जाता है/एक व्याघ्र समीप आता दिखाई पड़ता है/सिल्यूकस प्रवेश करके धनुष सँभाल कर तीर चलाता है/व्याघ्र मरता है/सिल्यूकस की चन्द्रगुप्त को सचेत करने की चेष्टा/चाणक्य का जल लिये आना]

सिल्यूकस—थोड़ा जल—इस सत्त्वपूर्ण पथिक की रक्षा करने के लिए थोड़ा जल चाहिये।

चाणक्य—(जल के छींटे देकर) आप कौन है ? (चन्द्रगुप्त स्वस्थ होता है)

सिल्यूकस—यवन सेनापति, तुम कौन हो ?

चाणक्य—एक ब्राह्मण।

सिल्यूकस—यह तो कोई बड़ा श्रीमान् पुरुष है—ब्राह्मण ! तुम इसके साथी हो ?

चाणक्य—हाँ, मैं इस राजकुमार का गुरु हूँ—शिक्षक हूँ।

सिल्यूकस—कहाँ निवास है ?

चाणक्य—यह चन्द्रगुप्त मगध का निर्वासित राजकुमार है।

सिल्यूकस—(कुछ विचार कर)—अच्छा, अभी तो मेरे शिविर में चलो विश्राम करके फिर कही जाना।

चन्द्रगुप्त—यह व्याघ्र कैसे मरा ? ओह, प्यास से मैं हतचेत हो गया था—आपने मेरे प्राणों की रक्षा की, मैं कृतज्ञ हूँ। आज्ञा दीजिये, हम लोग, फिर उपस्थित होंगे, निश्चय जानिये।

सिल्यूकस—जब तुम अचेत पडे थे तब यह तुम्हारे पास बैठा था। मैंने विपद समझ कर इसे मार डाला—मैं यवन सेनापति हूँ।

चन्द्रगुप्त—धन्यवाद ! भारतीय कृतघ्न नही होते—सेनापति ! मैं आपका अनुगृहीत हूँ, अवश्य आपके पास आऊँगा।

[तीनों जाते हैं/अलका का प्रवेश]

अलका—आर्य चाणक्य और चन्द्रगुप्त—ये भी यवनों के साथी ! जब आँधी और करका-वृष्टि, अवर्षण और दावाग्नि का प्रकोप हो, तब देश की हरी-भरी खेती का रक्षक कौन है ? शून्य व्योम प्रश्न को—बिना उत्तर दिये लौटा देता है। ऐसे लोग भी आक्रमणकारियों के चंगुल मे फँस रहे हो, तब रक्षा की क्या आशा ? झेलम के पार सेना उतरना चाहती है, उन्मत्त पर्वतेश्वर अपने विचारों मे मग्न है। गान्धार छोड़कर चलूँ, नही एक बार महात्मा दाण्ड्यायन को नमस्कार कर लूँ उस शान्ति-सन्दोह से कुछ प्रसाद लेकर तब अन्यत्र जाऊँगी। (जाती है)

दृ श्या न्त र

बारहवाँ दृश्य

[सिन्धु तट पर दाण्ड्यायन का आश्रम]

दाण्ड्यायन—पवन एक क्षण विश्राम नही लेता, सिन्धु की जलधारा बही जा रही है, बादलों में नीचे पक्षियों का झुण्ड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने

किस आकर्षण में खिंचे चले जा रहे जैसे काल अनेक रूप में चल रहा है—यही तो····

[एनिसाक्रटीज़ का प्रवेश]

एनिसाक्रटीज़—महात्मन् ।

दाण्ड्यायन—चुप रहो, सब चले जा रहे है, तुम भी चले जाओ। अवकाश नहीं—अवसर नही ।

एनिसाक्रटीज़—आप से कुछ····

दाण्ड्यायन—मुझ से कुछ मत कहो। कहो तो अपने-आप से ही कहो, जिसे आवश्यकता होगी सुन लेगा। देखते हो कोई किसी की सुनता है ? मै कहता हूँ—सिन्धु के एक बिन्दु ! धारा मे न बहकर मेरी एक बात सुनने के लिए ठहर जा—वह सुनता है ? ठहरता है ? कदापि नही !

एनिसाक्रटीज़—परन्तु देवपुत्र ने····

दाण्ड्यायन—देवपुत्र ?

एनिसाक्रटीज—देवपुत्र—जगद्विजेता सिकन्दर ने आपका स्मरण किया है। आपका ... सुनकर आपसे कुछ उपदेश ग्रहण करने की उनकी बलवती इच्छा है।

दाण्ड्यायन—(हँसकर) भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभासमात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नही अभिभूत कर सकते—दूत ! वह किसी बलवान की इच्छा का क्रीडा-कंदुक नही बन सकता—तुम्हारा राजा अभी झेलम भी नही पार कर सका, फिर भी जगत् विजेता की उपाधि लेकर जगत को वंचित करता है। मैं लोभ से, सम्मान से या भय से किसी के पास नही जा सकता।

एनिसाक्रटीज़—महात्मन् ! ऐसा क्यो ? यदि न जाने ... देवपुत्र दण्ड दें ?

दाण्ड्यायन—मेरी आवश्यकताये परमात्मा की विभूति- प्रकृति पूरी करती है। उसके रहते दूसरो का शासन कैसा ? समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति, प्रभु की दी हुई है—मृत्यु के द्वारा वही इसको लौटा लेता है। जिस वस्तु को मनुष्य दे नही सकता, उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़कर दूसरा दम्भ नही। मैं फल-मूल खाकर, अंजलि से जलपान कर, तृण-शय्या पर आँख बन्द किये सो रहता हूँ। न मुझसे किसी को डर है और न मुझको किसी से डरने का कारण है। तुम यदि हठात् मुझे ले जाना चाहो तो केवल मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मेरे स्वतन्त्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नही हो सकता।

एनिसाक्रटीज़—बड़े निर्भीक हो ब्राह्मण जाता हूँ, यही कह दूंगा। (प्रस्थान)

[एक ओर से अलका/दूसरी ओर से चाणक्य और चन्द्रगुप्त का प्रवेश/सब वन्दना करके सविनय बैठते हैं]

अलका—देव ! मैं गान्धार छोड़कर जाती हूँ।

दाण्ड्यायन—क्यों अलके, तुम गान्धार की लक्ष्मी हो, ऐसा क्यों ?

अलका—ऋषे ! यवनों के हाथ स्वाधीनता बेच कर उनके दान से जीने की शक्ति—मुझ में नहीं।

दाण्ड्यायन—तुम उत्तरापथ की लक्ष्मी हो तुम अपना प्राण बचाकर कहाँ जाओगी ?—(कुछ विचार कर)—अच्छा जाओ देवि ! तुम्हारी आवश्यकता है। मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाये रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते[1]। परन्तु जब तुम्हारी इच्छा हो, निस्संकोच चली आना।

अलका—देव हृदय में सन्देह है।

दाण्ड्यायन—क्या अलका ?

अलका—ये दोनों महाशय, जो आपके सम्मुख बैठे है—जिनपर पहले मेरा पूर्ण विश्वास था, ये ही अब यवनों के अनुगत क्यों होना चाहते है ?

[दाण्ड्यायन चाणक्य की ओर देखता है और चाणक्य कुछ विचारने लगता है]

चन्द्रगुप्त—देवि ! कृतज्ञता का बन्धन अमोघ है।

चाणक्य—राजकुमारी ! उस परिस्थिति पर आपने विचार नही किया है, आपकी शंका निर्मूल है।

दाण्ड्यायन—सन्देह न करो अलका। कल्याणकृत् को पूर्ण विश्वासी होना पड़ेगा। विश्वास सुफल देगा दुर्गति नही।

[यवन सैनिक का प्रवेश]

यवन—देवपुत्र आपकी सेवा में आना चाहते है; क्या आज्ञा है ?

दाण्ड्यायन—मैं क्या आज्ञा दूँ सैनिक। मेरा कोई रहस्य नहीं, निभृत-मन्दिर नही, यहाँ पर सबका प्रत्येक क्षण स्वागत है। (सैनिक जाता है)

अलका—तो मैं जाती हूँ, आज्ञा हो।

दाण्ड्यायन—कोई आतंक नही है, अलका ठहरो तो।

चाणक्य—महात्मन्, हम लोगों को क्या आज्ञा है ? किसी दूसरे समय उपस्थित हों ?

दाण्ड्यायन—चाणक्य ! तुमको तो कुछ दिनों तक इस स्थान पर रहना होगा, क्योंकि सब विद्याओं के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला—उद्वेग नहीं मिटा। अभी तक तुम्हारे हृदय में हलचल मची है, यह अवस्था सन्तोषजनक नहीं।

१. क्षणिक विनाशों में स्थिर मंगल चुपके से हँसता क्या —कामायनी, कर्मसर्ग।

[सिकन्दर का सिल्यूकस, कार्नेलिया, एनिसाक्रटीज़ इत्यादि सहचरों के साथ प्रवेश/सिकन्दर नमस्कार करता है/सब बैठते हैं]

दाण्ड्यायन—स्वागत अलक्षेन्द्र ! तुम्हें सुबुद्धि मिले।

सिकन्दर—महात्मन् ! अनुगृहीत हुआ; परन्तु मुझे कुछ और आशीर्वाद चाहिये।

दाण्ड्यायन—मैं और आशीर्वाद देने में असमर्थ हूं क्योंकि इसके अतिरिक्त जितने आशीर्वाद होंगे, वे अमंगलजनक होंगे।

सिकन्दर—मैं आपके मुख से जय सुनने का अभिलाषी हूँ।

दाण्ड्यायन—जयघोष तुम्हारे चारण करेंगे, हत्या, रक्तपात और अग्नि-काण्ड के लिए उपकरण जुटाने मे मुझे आनन्द नही। विजय-तृष्णा का अन्त पराभव में होता है, अलक्षेन्द्र ! राजसत्ता सुव्यवस्था से बढे तो वढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं। इसलिए अपनी प्रजा के कल्याण मे लगो।

सिकन्दर—अच्छा **(चन्द्रगुप्त को दिखाकर)**—यह तेजस्वी युवक कौन है ?

सिल्यूकस—यह मगध का एक निर्वासित राजकुमार है।

सिकन्दर—मै आपका स्वागत करने के लिए अपने शिविर में निमन्त्रित करता हूँ।

चन्द्रगुप्त—अनुगृहीत हुआ। आर्य लोग किसी निमन्त्रण को अस्वीकार नहीं करते।

सिकन्दर—**(सिल्यूकस से)**—तुमसे इनका परिचय कब हुआ ?

सिल्यूकस—इनसे तो मैं पहले ही मिल चुका हूँ।

चन्द्रगुप्त—आपका उपकार मैं भूला नही हूँ। आपने व्याघ्र से मेरी रक्षा की थी, जब मैं अचेत पड़ा था।

सिकन्दर—अच्छा नो आप लोग पूर्व परिचित हैं। तब ता सेनापति, इनके आतिथ्य का भार आप ही पर रहा।

सिल्यूकस—जैसी आज्ञा।

सिकन्दर—**(महात्मा से)**—महात्मन् ! लौटती बार आपका फिर दर्शन करूँगा, जब भारत विजय कर लूँगा।

दाण्ड्यायन—अलक्षेन्द्र सावधान ! **(चन्द्रगुप्त को दिखाकर)** देखो यह भारत का भावी सम्राट् तुम्हारे सामने बैठा है।

[सब स्तब्ध होकर चन्द्रगुप्त को देखते हैं और चन्द्रगुप्त आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगता है/एक दिव्य आलोक]

य व नि का

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

[उद्भाण्ड में सिंधु-तट पर ग्रीक-शिविर के पास एक वृक्ष के नीचे कार्नेलिया]

कार्नेलिया—सिंधु का यह मनोहर तट जैसे मेरी आँखों के सामने एक नया चित्रपट उपस्थित कर रहा है। इस वातावरण मे धीरे-धीरे उठती हुई प्रशान्त स्निग्धता जैसे हृदय मे घुस रही है। लम्बी यात्रा करके जैसे मैं वही पहुँच गयी हूँ—जहाँ के लिए चली थी। यह कितना निसर्ग-सुन्दर है—कितना रमणीय है! हाँ, आज वह भारतीय संगीत का पाठ—देखूँ भूल तो नही गयी? (गाती है)

अरुण यह मधुमय देश हमारा!
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर—
छिटका जीवन हरियाली पर—मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे—
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये—समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणा जल—
लहरें टकराती अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा।
हेमकुम्भ ले उषा सबेरे भरती ढुलकाती सुख मेरे—
मदिर ऊँघते रहते जब—जग कर रजनी भर तारा।
अरुण यह मधुमय देश हमारा!

फिलिप्स—(प्रवेश करके) कैसा मधुर गीत है! कार्नेलिया, तुमने तो भारतीय संगीत पर पूरा अधिकार कर लिया है, चाहे हम लोगो को भारत पर अधिकार करने मे अभी विलम्ब हो।

कार्नेलिया—फिलिप्स! यह तुम हो! आज दारा की कन्या वाह्लीक जायगी?

फिलिप्स—दारा की कन्या! नही कुमारी, साम्राज्ञी कहो!

कार्नेलिया—असम्भव है फिलिप्स! ग्रीक लोग केवल देशों का विजय करके समझ लेते हैं कि लोगो के हृदय पर भी अधिकार कर लिया। वह देवकुमारी-सी सुन्दर बालिका साम्राज्ञी कहने पर तिलमिला जाती है। उसे यह विश्वास है कि वह एक महान् साम्राज्य की लूट में मिली हुई दासी है—प्रणय-परिणीता की पत्नी नही।

फिलिप्स—कुमारी ! प्रणय के सम्मुख क्या साम्राज्य तुच्छ है ?

कार्नेलिया—यदि प्रणय हो !

फिलिप्स—प्रणय तो मेरा हृदय पहचानता है।

कार्नेलिया—**(हँसकर)** ओहो ! यह तो बड़ी विचित्र बात है।

फिलिप्स—कुमारी, क्या तुम मेरे प्रेम की हँसी उडाती हो ?

कार्नेलिया—नही सेनापति ! तुम्हारा उत्कृष्ट प्रेम बडा भयानक होगा, उससे तो डरना चाहिये।

फिलिप्स—**(गम्भीर होकर)** मैं पूछने आया हूं कि आगामी युद्धो से दूर रहने के लिए शिविर की सब स्त्रियाँ स्कन्धावार मे साम्राज्ञी के साथ जा रही हैं, क्या तुम भी चलोगी ?

कार्नेलिया—नहीं सम्भवत पिताजी का यही रहना होगा, इसलिये मेरे जाने की आवश्यकता नही।

फिलिप्स—**(कुछ सोचकर)** कुमारी ! न जाने फिर कब दर्शन हो, इसलिए एक बार इन कोमल करो को चूमने की आज्ञा दो।

कार्नेलिया—तुम मेरा अपमान करने का साहस न करो फिलिप्स ?

फिलिप्स—प्राण देकर भी नही कुमारी ! परन्तु प्रेम अन्धा है।

कार्नेलिया तुम अपने अन्धेपन मे दूसरे को ठुकराने का लाभ नही उठा सकते—फिलिप्स !

फिलिप्स—**(इधर-उधर देखकर)** यह नही हो सकता है—

[कार्नेलिया का हाथ पकड़ना चाहता है/वह चिल्लाती है—रक्षा करो ! रक्षा करो ! चन्द्रगुप्त प्रवेश करके फिलिप्स की गर्दन पकड़ कर दबाता है/वह गिरकर क्षमा माँगता है/चन्द्रगुप्त छोड़ देता है]

कार्नेलिया—धन्यवाद- आर्यवीर !

फिलिप्स—**(लज्जित होकर)** कुमारी, प्राथना करता हूँ कि इस घटना को भूल जाओ—क्षमा करो।

कार्नेलिया—क्षमा तो कर दूँगी—परन्तु भूल नही सकती—फिलिप्स ! तुम अभी चले जाओ। **(फिलिप्स नतमस्तक जाता है)**

चन्द्रगुप्त—चलिये, आपको शिविर के भीतर पहुँचा द।

कार्नेलिया—पिताजी कहाँ है ? उनसे यह बात कह देनी होगी, यह घटना—नही तुम्ही कह देना।

चन्द्रगुप्त—ओह वे मुझे बुला गये है, मै जाता हूँ, उनसे कह दूँगा।

कार्नेलिया—आप चलिये, मै आती हूँ **(चन्द्रगुप्त का प्रस्थान)**—एक घटना

हो गई, फिलिप्स ने विनती की उसे भूल जाने की, किन्तु उस घटना से और भी किसी का सम्बन्ध है, उसे कैसे भूल जाऊँ ! उन दोनों में शृंगार और रौद्र का संगम है वह भी आह—कितना आकर्षक है—कितना तरंग-संकुल है ! इसी चन्द्रगुप्त के लिए न उस साधु ने भविष्यवाणी की है—भारत-सम्राट् होने की ! उसमें कितनी विनयशील वीरता है। (प्रस्थान)

[कुछ सैनिकों के साथ सिकन्दर का प्रवेश]

सिकन्दर—विजय करने की इच्छा क्लान्ति से मिटती जा रही है। हम तो इतने बड़े आक्रमण के समारम्भ में लगे हैं और यह देश जैसे सोया हुआ है, लड़ना जैसे इनके जीवन का उद्वेगजनक अंश नहीं। अपने ध्यान में दार्शनिक के सदृश निमग्न है, सुनते है—पौरव ने केवल झेलम के पास कुछ सेना प्रतिरोध करने के लिए या केवल देखने के लिए रख छोड़ी है। हम लोग जब पहुँच जायँगे तब वे लड़ लेंगे।

एनिसाक्रटीज—मुझे तो ये लोग आलसी मालूम पड़ते हैं।

सिकन्दर—नहीं-नहीं, यहाँ के दार्शनिक की परीक्षा तो तुम कर चुके—दाण्ड्यायन को देखा न ! थोड़ा ठहरो, यहाँ के वीरों का भी परिचय मिल जायगा। यह अद्भुत देश है।

एनिसाक्रटीज—परन्तु आंभीक तो अपनी प्रतिज्ञा का सच्चा निकला—प्रबन्ध तो उसने अच्छा कर रखा है।

सिकन्दर—लोभी है—सुना है कि उसकी एक बहन चिढ़कर सन्यासिनी हो गई है।

एनिसाक्रटीज—मुझे विश्वास नहीं होता, इसमें कोई रहस्य होगा। पर एक बात कहूँगा, ऐसे शैल-पंथ में साम्राज्य की समस्या हल करना कहाँ तक ठीक है ? क्यों न शिविर में ही चला जाय ?

सिकन्दर—एनिसाक्रटीज, फिर तो पर्सिपोलिस का राजमहल छोड़ने की आवश्यकता न थी, एकान्त में मुझे कुछ ऐसी बातों पर विचार करना है, जिन पर भारत-अभियान का भविष्य निर्भर है। मुझे उस नंगे ब्राह्मण की बातों से बड़ी आशंका हो रही है, भविष्यवाणियाँ प्रायः सत्य होती हैं। (एक ओर से फिलिप्स, आंभीक, दूसरी ओर से सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त का प्रवेश)—कहो फिलिप्स ! तुम्हें क्या कहना है ?

फिलिप्स—आंभीक से पूछ लिया जाय।

आंभीक—यहाँ एक षड्यन्त्र चल रहा है।

फिलिप्स—और उसके सहायक हैं सिल्यूकस।

सिल्यूकस—(क्रोध और आश्चर्य से)—इतनी नीचता ! अभी उस लज्जा-

जनक अपराध को प्रकट करना बाकी ही रहा—उलटा अभियोग ! प्रमाणित करना होगा फिलिप्स ! नहीं तो खड्ग इसका न्याय करेगा।

सिकन्दर—उत्तेजित न हो सिल्यूकस !

फिलिप्स—तलवार तो कभी का न्याय कर देती, परन्तु देवपुत्र का भी जान लेना आवश्यक था। नही तो ऐसे निर्लज्ज विद्रोही की हत्या करना—पाप नहीं पुण्य है। **(सिल्यूकस तलवार खींचता है)**

सिकन्दर—तलवार खीचने से अच्छा होता कि तुम अभियोग को निर्मूल प्रमाणित करने की चेष्टा करते ! बताओ, तुमने चन्द्रगुप्त के लिए अब क्या सोचा ?

सिल्यूकस—चन्द्रगुप्त ने अभी-अभी कार्नेलिया को इस नीच फिलिप्स के हाथों अपमानित होने से बचाया है और मैं स्वयं यह अभियोग आपके सामने उपस्थित करने वाला था।

सिकन्दर—परन्तु साहस नही हुआ, क्यो सिल्यूकस !

फिलिप्स—कैसे साहस होता—इनकी कन्या दाण्ड्यायन के आश्रम पर भारतीय दर्शन पढ़ने जाती है, भारतीय संगीत सीखती है, वहीं पर विद्रोह-कारणी अलका भी आती है और चन्द्रगुप्त के लिए यह जनरव फैलाया गया है कि यही भारत का भावी सम्राट् होगा !

सिल्यूकस—रोक, अपनी अबाध गति से चलनेवाली जीभ को रोक !

सिकन्दर—ठहरो सिल्यूकस ! तुम अपने को विचाराधीन समझो हाँ, तो चन्द्रगुप्त ! मुझे तुमसे कुछ पूछना है।

चन्द्रगुप्त—क्या ?

सिकन्दर—सुना है कि मगध का वर्त्तमान शासक एक नीच-जन्मा जारज सन्तान है। उसकी प्रजा असन्तुष्ट है और तुम उस राज्य को हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहे हो ?

चन्द्रगुप्त—हस्तगत नही—उसका शासन क्रूर हो गया है—मगध का उद्धार करना चाहता हूँ।

सिकन्दर—और उस ब्राह्मण के कहने पर अपने सम्राट् होने का तुम्हें विश्वास हो गया होगा, जो परिस्थिति को देखते हुए असम्भव भी नही जान पड़ता।

चन्द्रगुप्त—असम्भव क्यों नही ?

सिकन्दर—हमारी सेना इसमें सहायता करेगी, फिर भी असम्भव है ?

चन्द्रगुप्त—मुझे आपसे सहायता नही लेनी है।

सिकन्दर—**(क्रोध से)** फिर इतने दिनों तक ग्रीक-शिविर मे रहने का तुम्हारा उद्देश्य ?

चन्द्रगुप्त—एक सादर निमन्त्रण—और सिल्यूकस से उपकृत होने के कारण उनके अनुरोध की रक्षा ! परन्तु मैं—यवनो को अपना शासक बनने को आमन्त्रित करने नही आया हूँ।

सिकन्दर—परन्तु इन्ही यवनों के द्वारा भारत जो आज तक कभी भी आक्रान्त नही हुआ है, विजित किया जायगा।

चन्द्रगुप्त—यह भविष्य के गर्भ मे है उसके लिए अभी से इतनी उछलकूद मचाने की आवश्यकता नही।

सिकन्दर—अबोध युवक, तू गुप्तचर है !

चन्द्रगुप्त—नही, कदापि नही। अवश्य ही यहाँ रहकर यवन-रणनीति से मैं कुछ परिचित हो गया हूँ। मुझे लोभ से पराभूत गाधार-राज आभीक समझने की भूल न होनी चाहिये, मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु यवन लुटेरो की सहायता से नही।

सिकन्दर—तुमको अपनी विपत्तियो से डर नही—ग्रीक लुटेरे है ?

चन्द्रगुप्त—क्या यह झूठ है ? लूट के लोभ से हत्या-व्यवमायियो को एकत्र करके उन्हे वीर-सेना कहना, रण-कला का उपहास करना है।

सिकन्दर—(आश्चर्य और क्रोध से)—सिल्यूकस !

चन्द्रगुप्त—सिल्यूकस नही, चन्द्रगुप्त से कहने की बात चन्द्रगुप्त से कहनी चाहिये।

आंभीक—शिष्टता से बाते करो।

चन्द्रगुप्त—स्वच्छ हृदय भीरु कायरो की-सी वञ्चक-शिष्टता नही जानता। अनार्य ! देशद्रोही ! आभीक ! चन्द्रगुप्त रोटियो की लालच या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नही आया है।

सिकन्दर—बन्दी कर लो इसे। **(आंभीक, फिलिप्स, एनिसाक्रटीज़ टूट पड़ते है, चन्द्रगुप्त असाधारण वीरता से तीनों को घायल करता हुआ निकल जाता है)** सिल्यूकस !

सिल्यूकस—सम्राट् !

सिकन्दर—यह क्या ?

सिल्यूकस—आपका अविवेक—चन्द्रगुप्त एक वीर युवक है, यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है, सम्राट् ! हम लोग जिस काम से आये हैं—उसे करना चाहिये। फिलिप्स को अन्त पुर की महिलाओ के साथ वाह्लीक जाने दीजिये।

सिकन्दर—**(सोचकर)** अच्छा जाओ। **[प्रस्थान]**

दृ श्या न्त र

द्वितीय दृश्य

[झेलम-तट के वन-पथ में चाणक्य, चन्द्रगुप्त और अलका]

अलका—आर्य ! अब हम लोगों का क्या कर्त्तव्य है ?

चाणक्य—पलायन !

चन्द्रगुप्त—व्यंग न कीजिये गुरुदेव !

चाणक्य—दूसरा उपाय क्या है ?

अलका—है क्यों नही ?

चाणक्य—हो सकता है—**(दूसरी ओर देखने लगता है)** ।

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव !

चाणक्य—परिव्राजक होने की इच्छा है क्या ? यही एक सरल उपाय है ।

चन्द्रगुप्त—नही, कदापि नही ! यवनो को प्रतिपद मे बाधा देना मेरा कर्त्तव्य है और शक्ति-भर प्रयत्न करूँगा ।

चाणक्य—यह तो अच्छी बात है । परन्तु सिंहरण अभी नही आया ।

चन्द्रगुप्त—उसे समाचार मिलना चाहिये ।

चाणक्य—अवश्य मिला होगा ।

अलका—यदि न आ सके ?

चाणक्य—जब काली घटाओं से आकाश घिरा हो, रह-रहकर बिजली चमक जाती हो, पवन स्तब्ध हो, उमस बढ रही हो और आषाढ के आरम्भिक दिन हों, तब किस बात की सम्भावना होनी चाहिये ?

अलका—जल बरसने की ।

चाणक्य—ठीक उसी प्रकार—जब देश मे युद्ध हो, मालव सिंहरण को समाचार मिला हो, तब उसके आने की भी निश्चित आशा है ।

चन्द्रगुप्त—उधर देखिये—वे दो व्यक्ति कौन आ रहे है ।

[सिंहरण का सहारा लिये वृद्ध गांधारराज का प्रवेश]

चाणक्य—राजन् !

गांधारराज—विभव की छलनाओ से वंचित एक वृद्ध ! जिसके पुत्र ने विश्वासघात किया हो और कन्या ने साथ छोड़ दिया हो—मैं वही—एक अभागा मनुष्य हूँ ।

अलका—पिताजी—**(गले से लिपट जाती है)**

गांधारराज—बेटी अलका—अरे तू कहाँ भटक रही है !

अलका—कही नही पिता जी आपके लिए छोटी-सी झोपड़ी बना रखी है, चलिये विश्राम कीजिये ।

गांधारराज—नहीं, तू मुझे अबकी झोपड़ी में बिठाकर चली जायगी। जो महलों को छोड़ चुकी है, उसका झोपड़ियों के लिए क्या विश्वास !

अलका—नहीं पिताजी, विश्वास कीजिये। (सिंहरण से) मालव मैं कृतज्ञ हूँ।

[सिंहरण सस्मित नमस्कार करता है/अपने पिता के साथ अलका जाती है]

चाणक्य—सिंहरण ! तुम आ गये परन्तु....

सिंहरण—किंतु-परन्तु नहीं आर्य ! आप आज्ञा दीजिये हम लोग कर्त्तव्य में लग जायँ। विपत्तियों के बादल मँडरा रहे है।

चाणक्य—उसकी चिन्ता नहीं। पौधे अन्धकार मे बढ़ते हैं और मेरी नीतिलता भी उसी भाँति विपत्ति के तम मे लहलही होगी। हाँ, केवल शौर्य से काम नहीं चलेगा। एक बात समझ लो—**चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों।** बोलो, तुम लोग प्रस्तुत हो !

सिंहरण—हम लोग प्रस्तुत है।

चाणक्य—तो युद्ध नहीं करना होगा।

चन्द्रगुप्त—फिर क्या ?

चाणक्य—सिंहरण और अलका को नट और नटी बनना होगा, चन्द्रगुप्त बनेगा सँपेरा और मैं ब्रह्मचारी। देख रहे हो चन्द्रगुप्त—पर्वतेश्वर की सेना मे जो एक गुल्म अपनी छावनी अलग डाले है ! वे सैनिक कहाँ के है ?

चन्द्रगुप्त—नहीं जानता।

चाणक्य—अभी जानने की आवश्यकता भी नहीं। हमलोग उसी सेना के साथ अपने स्वाँग रखेगे। वहीं हमारे खेल होंगे। चलो, हमलोग चले, देखो—नवीन गुल्म का युवक सेनापति जा रहा है।

[सबका प्रस्थान/पुरुष-वेश में कल्याणी और सेनापति का प्रवेश]

कल्याणी—सेनापति ! मैंने दुस्साहस करके पिताजी को चिढ़ा तो दिया, पर अब कोई मार्ग बताओ, जिससे मैं सफलता प्राप्त कर सकूँ। पर्वतेश्वर को नीचा दिखलाना ही मेरा प्रधान उद्देश्य है।

सेनापति—राजकुमारी !

कल्याणी—सावधान—सेनापति !

सेनापति—क्षमा हो, अब भूल न होगी। हाँ, तो केवल एक मार्ग है।

कल्याणी—वह क्या ?

सेनापति—घायलों की शुश्रूषा का भार ले लेना।

कल्याणी—मगध सेनापति ! तुम कायर हो।

सेनापति—तय जैसी आज्ञा हो !—**(स्वगत)** स्त्री की अधीनता वैसी ही बुरी होती है, तिस पर युद्धक्षेत्र में ! भगवान् ही बचावें।

कल्याणी—मेरी इच्छा है कि जब पर्वतेश्वर यवन सेना द्वारा चारों ओर से घिर जाय, उस समय उसका उद्धार करके अपना मनोरथ पूर्ण करूँ।

सेनापति—बात तो अच्छी है।

कल्याणी—और तब तक हम लोगो की रक्षित सेना—**(रुककर देखते हुए)** यह लो पर्वतेश्वर इधर ही आ रहा है।

[पर्वतेश्वर का रण-वेश में प्रवेश]

पर्वतेश्वर—**(दूर दिखलाकर)** वह किस गुल्म का शिविर है युवक !

कल्याणी—मगध-गुल्म का महाराज !

पर्वतेश्वर—मगध की सेना ! असम्भव ! उसने तो रण-निमन्त्रण ही अस्वीकृत किया था।

कल्याणी—परन्तु मगध की बड़ी सेना में से एक छोटा-सा वीर युवकों का दल इस युद्ध के लिए परम उत्साहित था। स्वेच्छा से उसने इस युद्ध में योग दिया है।

पर्वतेश्वर—प्राच्य मनुष्यों में भी इतना उत्साह ! **(हँसता है)**

कल्याणी—महाराज, उत्साह का निवास किसी विशेष दिशा में नहीं है।

पर्वतेश्वर—**(हँसकर)** प्रगल्भ हो युवक परन्तु, जब रण नाचने लगता है, तब भी तुम्हारा यह उत्साह बना रहे तो मानूँगा। हाँ तुम बड़े सुन्दर सुकुमार युवक हो, इसलिए साहस न कर बैठना। तुम मेरी रक्षित सेना के साथ रहो तो अच्छा, समझा न।

कल्याणी—जैसी आज्ञा।

[चन्द्रगुप्त, सिंहरण और अलका का वेश बदले हुए प्रवेश]

सिंहरण—खेल देख लो खेल ! ऐसा खेल—जो कभी न देखा हो न सुना !

पर्वतेश्वर—नट ! इस समय खेल देखने का अवकाश नहीं।

अलका—क्या युद्ध के पहले ही घबरा गये, सेनापति ! वह भी तो वीरों का खेल ही है।

पर्वतेश्वर—बड़ी ढीठ है !

चन्द्रगुप्त—न हो तो नागों को दर्शन ही कर लो !

कल्याणी—बड़ा कौतुक है महराज ! इन नागों को ये लोग किस प्रकार वश में कर लेते हैं।

चन्द्रगुप्त—**(संभ्रम से)** महाराज हैं—तब तो अवश्य पुरस्कार मिलेगा।

[संपेरों की सी चेष्टा करता है/पिटारी खोलकर सांप निकालता है]

कल्याणी—आश्चर्य है ! मनुष्य ऐसे कुटिल विषधरों को भी वश कर सकता है परन्तु मनुष्य को नहीं।

पर्वतेश्वर—नट, नागों पर तुम लोगों का अधिकार कैसे हो जाता है ?

चन्द्रगुप्त—मन्त्र-महौषधि के भाले से बड़े-बड़े मत्त नाग वशीभूत होते हैं।

पर्वतेश्वर—भाले से ?

सिंहरण—हाँ महाराज ! वैसे ही जैसे भालो से मदमत्त मातंग !

पर्वतेश्वर—तुम लोग कहाँ से आ रहे हो ?

सिंहरण—ग्रीकों के शिविर से।

चन्द्रगुप्त—उनके भाले भारतीय हाथियों के लिए वज्र ही है।

पर्वतेश्वर—तुम लोग आंभीक के चर तो नही हो ?

सिंहरण—रातो-रात यवन-सेना वितस्ता के पार हो गई है—समीप है, महाराज ! सचेत हो जाइये।

पर्वतेश्वर—मगधनायक ! इन लोगों को बन्दी करो।

[चन्द्रगुप्त कल्याणी को ध्यान से देखता है]

अलका—उपकार का भी यह फल है !

चन्द्रगुप्त—हम लोग बन्दी ही है। परन्तु रण-व्यूह से सावधान होकर सैन्य-परिचालन कीजिये। जाइये महाराज ! यवन-रणनीति भिन्न है।

[पर्वतेश्वर उद्विग्न भाव से जाता है]

कल्याणी—(**सिंहरण से**) चलो, हमारे शिविर मे ठहरो, फिर बताया जायगा।

चन्द्रगुप्त—मुझे कुछ कहना है।

कल्याणी—अच्छा, तुम लोग आगे चलो।

[सिंहरण इत्यादि आगे बढ़ते हैं]

चन्द्रगुप्त—इस युद्ध मे पर्वतेश्वर की पराजय निश्चित है।

कल्याणी—परन्तु तुम कौन हो—(**ध्यान से देखती हुई**)—मैं तुमको पहचान····

चन्द्रगुप्त—मगध का एक सँपेरा !

कल्याणी—हूँ ! और भविष्यवक्ता भी ?

चन्द्रगुप्त—मुझे मगध की पताका के सम्मान की····

कल्याणी—कौन ! चन्द्रगुप्त तो नही।

चन्द्रगुप्त—अभी तो एक सँपेरा हूँ राजकुमारी कल्याणी।

कल्याणी—(**एक क्षण चुप रहकर**) हम दोनों को चुप रहना चाहिये, चलो।

[दोनों का प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

तृतीय दृश्य

[युद्ध क्षेत्र में सैनिकों के साथ पर्वतेश्वर]

पर्वतेश्वर—सेनापति, भूल हुई।

सेनापति—हाथियों ने ऊधम मचा रखा है और रथी सेना भी व्यर्थ-सी हो रही है।

पर्वतेश्वर—सेनापति, युद्ध में जय या मृत्यु —दो मे से एक होनी चाहिये।

सेनापति—महाराज, सिकन्दर को वितस्ता पर यह अच्छी तरह विदित हो गया है कि हमारे खड्गों में कितनी धार है। स्वयं सिकन्दर का अश्व मारा गया और राजकुमार के भाले की चोट सिकन्दर न सँभाल सका।

पर्वतेश्वर—प्रशंसा का समय नहीं—शीघ्रता करो। मेरा रण-गज प्रस्तुत हो, मैं स्वयं गजसेना का संचालन करूँगा—चलो मब जाते हैं।

[कल्याणी और चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

कल्याणी—चन्द्रगुप्त, तुम्हें यदि मगध सेना विद्रोही जानकर बन्दी बनावे ?

चन्द्रगुप्त—बन्दी सारा देश है[1] राजकुमारी, दारुण द्वेष से मब जकड़े हैं। मुझको इसकी चिन्ता भी नहीं। परन्तु राजकुमारी का युद्धक्षेत्र में आना अनोखी बात है।

कल्याणी—केवल तुम्हें देखने के लिए ! मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे और मुझे भ्रम हो रहा है कि तुम्हारे निर्वासन के भीतरी कारणों में एक मैं भी हूँ।

चन्द्रगुप्त—परन्तु राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है। इस ज्वाला में स्मृति-लता मुरझा गयी है।

कल्याणी—चन्द्रगुप्त !

चन्द्रगुप्त—राजकुमारी ! समय नहीं ! वह देखो—भारतीयों के प्रतिकूल दैव ने मेघमाला का सृजन किया है। रथ बेकार होंगे और हाथियों का प्रत्यावर्त्तन तो और भी भयानक हो रहा है।

कल्याणी—तब ! मगध-सेना तुम्हारे अधीन है, जैसा चाहो करो !

चन्द्रगुप्त—पहले उस पहाड़ी पर सेना एकत्र होनी चाहिये। शीघ्र आवश्यकता होगी। पर्वतेश्वर की पराजय को रोकने की चेष्टा कर देखूँ।

कल्याणी—चलो !

१. चन्द्रगुप्त नाटक स्वाधीनता-संग्राम के मध्यकाल १९२८ में लिखा गया था जब पूरे देश को एक वृहत् कारागार कहा जाता था।

[मेघों की गड़गड़ाहट / दोनों जाते हैं / एक ओर से सिल्यूकस, दूसरी ओर से पर्वतेश्वर का ससैन्य प्रवेश/युद्ध]

सिल्यूकस—पर्वतेश्वर ! अस्त्र रख दो।

पर्वतेश्वर—यवन ! सावधान ! बचाओ अपने को।

[तुमुल युद्ध, घायल होकर सिल्यूकस हटता है]

पर्वतेश्वर—सेनापति ! देखो, उन कायरो को रोको ! उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिंता नही। इन्हें बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते है। बादलो से पानी की जगह वज्र बरसें, सारी गजसेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथ हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें, परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्वतेश्वर के लिए असंभव है। धर्मयुद्ध में प्राण-भिक्षा माँगने वाले भिखारी—हम नही। जाओ, उन भगोडो से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने के लिये कहो—कहो कि मरने का क्षण एक ही है—जाओ !

[सेनापति का प्रस्थान/सिंहरण और अलका का प्रवेश]

सिंहरण—महाराज ! यह स्थान सुरक्षित नही। उस पहाडी पर चलिये।

पर्वतेश्वर—तुम कौन हो युवक !

सिंहरण—एक मालव !

पर्वतेश्वर—मालव के मुख से ऐसा कभी नही सुना गया—मालव ! खड्गक्रीड़ा देखनी हो तो खडे रहो। डर लगता हो तो पहाडी पर जाओ।

सिंहरण—महाराज, यवनो का दल आ रहा है।

पर्वतेश्वर—आने दो। तुम हट जाओ।

[फिलिप्स का प्रवेश सिंहरण का भीषण युद्ध/फिलिप्स का हटना/सिल्यूकस फिलिप्स का पुनः प्रवेश, सिंहरण का घायल होना और संकेत करना/पर्वतेश्वर का युद्ध और लड़खड़ा कर गिरने की चेष्टा/चन्द्रगुप्त और कल्याणी का सैनिकों के साथ पहुँचना/दूसरी ओर से सिकन्दर का आना/युद्ध बन्द करने की सिकन्दर की आज्ञा]

चन्द्रगुप्त—युद्ध होगा !

सिकन्दर—कौन, चन्द्रगुप्त।

चन्द्रगुप्त—हाँ देवपुत्र !

सिकन्दर—किससे युद्ध ? मुमूर्षु—घायल पर्वतेश्वर—वीर पर्वतेश्वर से ! कदापि नही ! आज मुझे जय-पराजय का विचार नही—मैंने एक अलौकिक वीरता का स्वर्गीय दृश्य देखा है। होमर की कविता मे पढ़ी हुई—जिस कल्पना से मेरा

हृदय भरा है—उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखा ! भारतीय वीर पर्वतेश्वर ! अब मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूँ ।

पर्वतेश्वर—(रक्त पोंछते हुए) जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है, सिकन्दर !

सिकन्दर—मैं तुमसे मैत्री करना चाहता हूँ । विस्मय विमुग्ध होकर तुम्हारी सराहना किये बिना मैं नही रह सकता—धन्य ! आर्य-वीर !

पर्वतेश्वर—मैं तुमसे युद्ध न करके मैत्री भी कर सकता हूँ ।

चन्द्रगुप्त—पंचनद-नरेश ! आप क्या कर रहे है । समस्त मागध सेना आपकी प्रतीक्षा में है, युद्ध होने दीजिये ।

कल्याणी—इन थोड़े-से अर्द्धजीव यवनों को विचलित करने के लिए पर्याप्त मागध सेना है । महाराज ! आज्ञा दीजिये !

पर्वतेश्वर—नही युवक ! वीरता भी एक सुन्दर कला है, उस पर मुग्ध होना आश्चर्य की बात नही, मैंने वचन दे दिया, अब सिकन्दर चाहे हटें ।

सिकन्दर—कदापि नही ।

कल्याणी—**(शिरस्त्राण फेंककर)** जाती हूँ क्षत्रिय पर्वतेश्वर ! तुम्हारे पतन में रक्षा न कर सकी, बडी निराशा हुई ।

पर्वतेश्वर—तुम कौन हो ?

चन्द्रगुप्त—मगध की राजकुमारी कल्याणी देवी !

पर्वतेश्वर—ओह पराजय ! निकृष्ट पराजय !

[चन्द्रगुप्त और कल्याणी का प्रस्थान/सिकन्दर आश्चर्य से देखता है/ अलका घायल सिंहरण को उठाना चाहती है/आंभीक आकर दोनों को बन्दी करता है]

पर्वतेश्वर—यह क्या ?

आंभीक—इनको अभी बन्दी रखना आवश्यक है ।

पर्वतेश्वर—तो ये लोग मेरे यहाँ रहेंगे ।

सिकन्दर—पंचनद-नरेश की जैसी इच्छा हो ।

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[मालव में सिंहरण के उद्यान का एक अंश]

मालविका—(प्रवेश करके) फूल हँसत हुए आते हैं, मकरन्द गिराकर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणी को भिगोकर चले जाते हैं ! एक स्निग्ध समीर का झोंका

आता है, निश्वास फेंककर चला जाता है। क्या पृथ्वीतल रोने के लिए ही है ? नहीं सबके लिए एक नियम तो नही ! कोई रोने के लिए है—तो कोई हँसने के लिए—(**विचारती हुई**) आजकल तो छुट्टी-सी है, परन्तु विदेशियों का एक विचित्र-सा दल यहाँ ठहरा है, उनमे से एक को तो देखते ही डर लगता है। लो देखो—वह युवक आ गया।

[सिर झुकाकर फूल सँवारने लगती है/ऐंद्रजालिक के वेश में चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त—मालविका !

मालविका—क्या आज्ञा है !

चन्द्रगुप्त—तुम्हारे नागकेशर की क्यारी कैसी है ?

मालविका—हरी-भरी।

चन्द्रगुप्त—आज कुछ खेल भी होगा—देखोगी !

मालविका—खेल तो नित्य देखती हूँ। न जाने कहाँ से लोग आते है और कुछ-न-कुछ अभिनय करते हुए चले जाते है। इसी उद्यान के कोने से बैठी हुई सब देखा करती हूँ।

चन्द्रगुप्त—मालविका, तुबको कुछ गाना आता है।

मालविका—आता तो है, परन्तु....

चन्द्रगुप्त—परन्तु क्या ?

मालविका—युद्धकाल है—देश मे रण-चर्चा छिडी है। आजकल मालवस्थान में कोई गाता-बजाता नही।

चन्द्रगुप्त—रण-भेरी के पहले यदि मधुर मुरली की एक तान सुन लूँ, तो हानि न होगी—मालविका ! न जाने क्यो आज ऐसी कामना जाग पड़ी है।

मालविका—अच्छा सुनिये—

चाणक्य—(**सहसा प्रवेश कर**) छोकरियों से बाते करने का समय नही है मौर्य !

चन्द्रगुप्त—नही गुरुदेव ! मैं आज ही विपाशा के तट से आया हूं, यवन शिविर भी घूमकर आया हूँ।

चाणक्य—क्या देखा ?

चन्द्रगुप्त—समस्त यवन-सेना शिथिल हो गयी है। मगध का इन्द्रजाली मानकर मुझसे यवन-सैनिको ने वहाँ की सेना का हाल पूछा। मैंने कहा, पंचनद के सैनिकों से भी दुर्धर्ष कई लक्ष रण-कुशल योद्धा शतद्रु-तट पर तुम लोगों की प्रतीक्षा कर रहे है। यह सुनकर नन्द के पास कई लाख सेना है, उन लोगों में आतंक छा गया और एक प्रकार का विद्रोह फैल गया।

चाणक्य—हाँ ! तब क्या हुआ—केलिस्थनीज् के अनुयायियों ने क्या किया ?

चन्द्रगुप्त—उनकी उत्तेजना से सैनिकों ने विपाशा को पार करना अस्वीकार कर दिया और यवन—देश लौट चलने के लिए आग्रह करने लगे। सिकन्दर के बहुत अनुरोध करने पर भी वे युद्ध के लिए सहमत नहीं हुए। इसलिए रावी के जल-मार्ग से लौटने का निश्चय हुआ है। अब उनकी इच्छा युद्ध की नहीं है।

चाणक्य—और क्षुद्रकों का क्या समाचार है ?

चन्द्रगुप्त—वे भी प्रस्तुत हैं। मेरी इच्छा है कि इस जगद्विजेता का ढोंग करनेवाले को एक पाठ पराजय का भी पढ़ा दिया जाय। परन्तु इस समय यहाँ सिंहरण का होना अत्यन्त आवश्यक है।

चाणक्य—अच्छा देखा जायगा। सम्भवतः स्कन्धावार में मालवों की युद्ध-परिषद् होगी। अत्यन्त सावधानी से काम करना होगा। मालवों को मिलाने का पूरा प्रयत्न तो हमने कर लिया है।

चन्द्रगुप्त—चलिये मैं अभी आया ! (चाणक्य का प्रस्थान)

मालविका—यह खेल तो बड़ा भयानक होगा मागध !

चन्द्रगुप्त—कुछ चिन्ता नहीं, अभी कल्याणी नहीं आई।

[एक सैनिक का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त—क्या है ?

सैनिक—सेनापति ! मगध-सेना के लिए क्या आज्ञा है ?

चन्द्रगुप्त—विपाशा और शतद्रु के बीच जहाँ अत्यन्त संकीर्ण भू-भाग है वहीं अपनी सेना रखो। स्मरण रखना कि विपाशा पार करने पर मगध का साम्राज्य-ध्वंस करना यवनों के लिए बड़ा साधारण काम हो जायगा। सिकन्दर की सेना के सामने इतना विराट् प्रदर्शन होना चाहिए कि वह भयभीत हो।

सैनिक—अच्छा, राजकुमारी ने पूछा है कि आप कबतक आवेंगे ? उनकी इच्छा मालव में ठहरने की नहीं है।

चन्द्रगुप्त—राजकुमारी से मेरा प्रणाम कहना और कह देना कि मैं सेनापति का पुत्र हूँ, युद्ध ही हमारी आजीविका है। क्षुद्रकों की सेना का मैं सेनापति होने के लिए आमन्त्रित किया गया हूँ। इसलिए मैं यहाँ रहकर भी मगध की अच्छी सेवा कर सकूँगा।

सैनिक—जैसी आज्ञा ! (जाता है)

चन्द्रगुप्त—(कुछ सोचकर) सैनिक ! (सैनिक लौट आता है)

सैनिक—क्या आज्ञा है ?

चन्द्रगुप्त—राजकुमारी से कह देना कि मगध जाने की उत्कट इच्छा होने पर भी वे सेना को साथ न ले जायँ।

सैनिक—उत्तर भी लेकर आना होगा ?

चन्द्रगुप्त—नहीं। (सैनिक का प्रस्थान)

मालविका—मालव में बहुत-सी बातें मेरे देश से विपरीत है। इनकी युद्ध-पिपासा बलवती है—फिर युद्ध !

चन्द्रगुप्त—तो क्या तुम इस देश की नहीं हो ?

मालविका—नहीं, मैं सिंधु की रहनेवाली हूँ, आर्य ! वहाँ युद्ध—विग्रह नही, न्यायालयों की आवश्यकता नही। प्रचुर स्वर्ण के रहते भी कोई उसका उपयोग नहीं—इसलिए अर्थमूलक विवाद कभी उठते ही नही। मनुष्य के प्राकृतिक जीवन का सुन्दर पालना—मेरा सिंधुदेश है।

चन्द्रगुप्त—तो यहाँ कैसे चली आयी हो ?

मालविका—मेरी इच्छा हुई कि और देशों को भी देखूँ।[1] तक्षशिला में राजकुमारी अलका से कुछ ऐसा स्नेह हुआ कि वहाँ रहने लगी। उन्होंने मुझे घायल सिंहरण के साथ यहाँ भेज दिया। कुमार सिंहरण बड़े सहृदय है। परन्तु मागध, तुमको देखकर तो मैं चकित हो जाती हूँ। कभी इन्द्रजाली, कभी कुछ ! भला इतना सुन्दर रूप—तुम्हें विकृत करने की क्या आवश्यकता है ?

चन्द्रगुप्त—शुभे, मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ। तुम इन बातों को पूछकर क्या करोगी ! (प्रस्थान)

मालविका—स्नेह से हृदय चिकना हो जाता है। देखूँ कुमार सिंहरण कब आते हैं। (प्रस्थान)

पंचम दृश्य

[बन्दीगृह में घायल सिंहरण और अलका]

अलका—अब तो चल-फिर सकोगे ?

सिंहरण—हाँ अलका, परन्तु बन्दीगृह में चलना-फिरना व्यर्थ है।

अलका—नही मालव, बहुत शीघ्र स्वस्थ होने की चेष्टा करो। तुम्हारी आवश्यकता है।

सिंहरण—क्या ?

अलका—सिकन्दर की सेना रावी पार हो रही है। पञ्चनद से संधि हो गयी, अब यवन लोग निश्चिन्त होकर आगे बढ़ना चाहते हैं। आर्य चाणक्य का एक चर यह सन्देश सुना गया है।

सिंहरण—कैसे ?

---

१ घूमने का मेरा अभ्यास बढ़ा था मुक्त व्योमतल नित्य—कामायनी श्रद्धा सर्ग।

अलका –क्षपणक-वेश में गीत गाता हुआ—भीख माँगता आया था, संकेत से अपना तात्पर्य कह सुनाया।

सिंहरण—तो क्या आर्य चाणक्य जानते हैं कि मैं यहाँ बन्दी हूँ।

अलका—हाँ, आर्य चाणक्य इधर की सब घटनाओं को जानते हैं।

सिंहरण—तब तो मालव पर शीघ्र ही आक्रमण होगा!

अलका—कोई डरने की बात नहीं, क्योंकि चन्द्रगुप्त को साथ लेकर आर्य ने वहाँ पर एक बड़ा भारी कार्य किया है। क्षुद्रकों और मालवों में सन्धि हो गयी है। चन्द्रगुप्त को उनकी सम्मिलित सेना का सेनापति बनाने का उद्योग हो रहा है।

सिंहरण—(उठकर) तब तो अलका—मुझे शीघ्र पहुँचना चाहिये।

अलका—परन्तु तुम बन्दी हो।

सिंहरण—जिस तरह हो सके—अलके मुझे पहुँचाओ।

अलका—(कुछ सोचने लगती है) तुम जानते हो कि मैं क्यों बन्दिनी हूँ?

सिंहरण—क्यों?

अलका—आंभीक से पर्वतेश्वर की सन्धि हो गयी है और स्वयं सिकन्दर ने विरोध मिटाने के लिए पर्वतेश्वर की भगिनी से आंभीक का ब्याह करा दिया है, परन्तु आंभीक ने यह जानकर भी कि मैं यहाँ बन्दिनी हूँ, मुझे छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया। उसकी भीतरी इच्छा थी, कि पर्वतेश्वर की कई रानियों में से एक मैं भी हो जाऊँ, परन्तु मैंने अस्वीकार कर दिया।

सिंहरण—अलका, तब क्या करना होगा?

अलका—यदि मैं, पर्वतेश्वर से ब्याह करना स्वीकार करूँ—तो सम्भव है तुमको छुड़ा दूँ।

सिंहरण—मैं—अलका—मुझसे पूछती हो?

अलका—दूसरा उपाय क्या है?

सिंहरण—मेरा सिर घूम रहा है—अलका—तुम पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनोगी! अच्छा होता कि इसके पहले मैं ही न रह जाता।

अलका—क्यों मालव, इसमें तुम्हारी कुछ हानि है?

सिंहरण—कठिन परीक्षा न लो अलका! बड़ा दुर्बल हूँ। मैंने जीवन और मरण में तुम्हारा संग न छोड़ने का प्रण किया है।

अलका—मालव, देश की स्वतन्त्रता तुम्हारी आशा में है।

सिंहरण—और तुम पञ्चनद की अधीश्वरी बनने की आशा में! तब, मुझे रणभूमि में प्राण देने की आज्ञा दो।

अलका—(हँसती हुई) चिढ़ गये। आर्य चाणक्य की आज्ञा है कि थोड़ी देर पञ्चनद का सूत्र-संचालन करने के लिए मैं यहाँ की रानी बन जाऊँ।

सिंहरण—यह भी कोई हँसी है !

अलका—बन्दी ! जाओ सो रहो[1]—मैं आज्ञा देती हूँ। (सिंहरण का प्रस्थान)। सुन्दर निश्छल हृदय तुमसे हँसी करना भी अन्याय है, परन्तु व्यथा को दबाना पड़ेगा। सिंहरण को मालव भेजने के लिए प्रणय के साथ अत्याचार करना होगा।

[गाती है]

प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह,
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह।
बेंच डाला था हृदय अमोल, आज वह माँग रहा था दाम,
वेदना मिली तुला पर तोल, उसे लोभी ने ली बेकाम।
उड़ रही है हृत्पथ में धूल, आ रहे हो तुम बे-परवाह,
करूँ क्या दृग-जल से छिड़काव, बनाऊँ मैं बिलछन की राह !
सँभलते धीरे-धीरे चलो, इसी मिस तुमको लगे बिलम्ब,
सफल हो जीवन की सब साध, मिले आशा को कुछ अवलम्ब।
विश्व की सुषमाओं का स्रोत, बह चलेगा आँखों की राह,
और दुर्लभ होगी पहचान, रूप-रत्नाकर भरा अथाह।

[पर्वतेश्वर का प्रवेश]

पर्वतेश्वर—सुन्दरी अलका—तुम कब तक यहाँ रहोगी ?

अलका—यह तो बन्दी बनानेवाले की इच्छा पर निर्भर है।

पर्वतेश्वर—कौन तुम्हें बन्दी कहता है ? यह तुम्हारा अन्याय है, अलका ! चलो, सुसज्जित राजभवन तुम्हारी प्रत्याशा मे है।

अलका—नहीं पौरव, मैं राजभवनों से डरती हूँ क्योंकि—उसके लोभ से मनुष्य आजीवन मानसिक कारावास भोगता है।

पर्वतेश्वर—इसका तात्पर्य ?

अलका—कोमल शय्या पर लेटे रहने की प्रत्याशा में स्वतन्त्रता का भी विसर्जन करना पड़ता है—यही उन विलासपूर्ण राजभवनों का प्रलोभन है।

पर्वतेश्वर—व्यंग न करो अलका। पर्वतेश्वर ने जो कुछ किया है, वह भारत का एक-एक बच्चा जानता है। परन्तु दैव प्रतिकूल हो—तब क्या किया जाय ?

अलका—मैं मानती हूँ, परन्तु आपकी आत्मा इसे मानने के लिए प्रस्तुत न होगी। हम लोग—जो आपके लिए, देश के लिए, प्राण देने को प्रस्तुत थे, केवल यवनों को प्रसन्न करने के लिए—बन्दी किये गये।

१ तुलनीय आकाशदीप कहानी।

पर्वतेश्वर—बन्दी कैसे ?

अलका—बन्दी नहीं तो और क्या ? सिंहरण, जो आपके साथ युद्ध करते घायल हुआ है, आज तक वह क्यों रोका गया ? पंचनद-नरेश आपका न्याय अत्यन्त सुन्दर है न !

पर्वतेश्वर—कौन कहता है सिंहरण बन्दी हैं ? उस वीर की मैं प्रतिष्ठा करता हूँ अलका, परन्तु उससे द्वन्द्व युद्ध करना चाहता हूँ।

अलका—क्यों ?

पर्वतेश्वर—क्योंकि अलका के दो प्रेमी नहीं हो सकते।

अलका—महाराज, यदि भूपालों का-सा व्यवहार न माँगकर आप सिकन्दर से द्वन्द्व-युद्ध माँगते, तो अलका को विचार करने का अवसर मिलता।

पर्वतेश्वर—यदि मैं सिकन्दर का विपक्षी बन जाऊँ—तो तुम मुझे प्यार करोगी अलका ? सच कहो।

अलका—तब विचार करूंगी, पर वैसी सम्भावना नहीं।

पर्वतेश्वर—क्या प्रमाण चाहती हो अलका ?

अलका—सिंहरण के देश पर यवनों का आक्रमण होनेवाला है, वहाँ तुम्हारी सेना यवनों की सहायक न बने और सिंहरण अपने मालव की रक्षा के लिए मुक्त किया जाय।

पर्वतेश्वर—मुझे स्वीकार है।

अलका—तो मैं भी राजभवन में चलने के लिए प्रस्तुत हूं, परन्तु एक नियम पर !

पर्वतेश्वर—वह क्या ?

अलका—यही कि सिकन्दर के भारत में रहने तक मैं स्वतन्त्र रहूँगी। पंचनद नरेश, यह दस्यु-दल बरसाती बाढ़ के समान निकल जायगा विश्वास रखिये।

पर्वतेश्वर—सच कहती हो अलका ! अच्छा, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम जैसा कहोगी, वैसा ही होगा। सिंहरण के लिए रथ आयेगा और तुम्हारे लिए शिविका। देखो भूलना मत।

[चिंतित भाव से प्रस्थान]

षष्ठ दृश्य

[मालवों के स्कन्धवार में युद्ध-परिषद]

देवबल—परिषद् के सम्मुख मैं यह विज्ञप्ति उपस्थित करता हूँ कि यवन-युद्ध के लिए जो संधि मालव-क्षुद्रकों में हुई है, उसे सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि

दोनों गणों की एक सम्मिलित सेना बनाई जाय और उसके सेनापति क्षुद्रकों के मनोनीत सेनापति मागध चन्द्रगुप्त ही हों। उन्ही की आज्ञा से सैन्य-संचालन हो।

[सिंहरण का प्रवेश—परिषद में हर्ष]

सब—कुमार सिंहरण की जय !'

नागदत्त—मगध एक साम्राज्य है। लिच्छवि और वृजि—गणतन्त्र को कुचलने वाले मगध का निवासी हमारी सेना का संचालन करे—यह अन्याय है। मैं इसका विरोध करता हूँ।

सिंहरण—मैं मालव-सेना का बलाधिकृत हूँ। मुझे सेना का अधिकार परिषद ने प्रदान किया है और साथ ही में संधि-विग्रहिक का भी कार्य करता हूँ—पंचनद की परिस्थिति मैं स्वयं देख आया हूँ और मागध चन्द्रगुप्त को भी भलीभाँति जानता हूँ। मैं चन्द्रगुप्त के आदेशानुसार युद्ध चलाने के लिए सहमत हूँ। और भी मेरी एक प्रार्थना है—उत्तरापथ के विशिष्ट राजनीतिज्ञ आर्य चाणक्य के गम्भीर राजनीतिक विचार सुनने पर आपलोग अपना कर्त्तव्य निश्चित करें।

गणमुख्य—आर्य चाणक्य व्यासपीठ पर आवें।

चाणक्य—**(व्यासपीठ से)** उत्तरापथ के प्रमुख गणतंत्र मालव राष्ट्र की परिषद् का मै अनुगृहीत हूँ कि ऐसे गंभीर अवसर पर मुझे कुछ कहने के लिए उसने आमंत्रित किया। गणतंत्र और एक राज्य का प्रश्न यहाँ नही, क्योकि लिच्छवियों और वृजियों का अपकार करने वाले मगध का एक-राज्य, शीघ्र ही गणतंत्र में परिवर्त्तित होने वाला है। युद्धकाल मे एक नायक की आज्ञा माननी पड़ती है। वहाँ शलाका-ग्रहण करके शस्त्र-प्रहार करना असंभव है। अतएव सेना का एक नायक तो होना ही चाहिए। और यहाँ की परिस्थिति में चन्द्रगुप्त से बढ़कर इस कार्य के लिए दूसरा व्यक्ति न होगा। वितस्ता-प्रदेश के अधीश्वर पर्वतेश्वर के यवनों से सन्धि करने पर भी चन्द्रगुप्त के ही उद्योग का यह फल है कि पर्वतेश्वर की सेना यवन-सहायता को न आवेगी। उसी के प्रयत्न से यवन-सेना मे विद्रोह भी हो गया जिससे उसका आगे बढ़ना असंभव हो गया है। परन्तु सिकन्दर की कूटनीति प्रत्यावर्तन में भी विजय चाहती है—वह अपनी विद्रोहिणी सेना को स्थल-मार्ग से लौटने की आज्ञा देकर नौबल के द्वारा स्वयं सिन्धु-संगम तक के प्रदेश विजय करना चाहता है! उसमे मालवो का नाश निश्चित है। अतएव, सेनापतित्व के लिए आपलोग चन्द्रगुप्त का ही वरण करें तो क्षुद्रको का सहयोग भी आप लोगों को मिलेगा। चन्द्रगुप्त को ही उन लोगों ने भी सेनापति बनाया है।

नागदत्त—ऐसा नही हो सकता—

चाणक्य—प्रबल प्रतिरोध करने के लिए दोनों सैन्यो में एकाधिपत्य का होना आवश्यक है। साथ ही क्षुद्रको की सन्धि की मर्यादा भी रखनी चाहिये। प्रश्न—

शासन का नहीं—युद्ध का है। युद्ध में सम्मिलित होने वाले वीरों का एकनिष्ठ होना लाभदायक है। फिर तो मालव और क्षुद्रक दोनों ही स्वतंत्र संघ हैं और रहेंगे। संभवतः इसमें प्राच्यों का एक गणराष्ट्र आगामी दिनों में और भी आ मिलेगा।

नागदत्त—समझ गया, चन्द्रगुप्त को ही सम्मिलित सेना का सेनापति बनाना श्रेयस्कर होगा!

सिंहरण—अन्न-पान और भैषज्य-सेवा करने वाली स्त्रियों ने मालविका को अपना प्रधान बनाने की प्रार्थना की है।

गणमुख्य—यह उन लोगों की इच्छा पर है। अस्तु, महाबलाधिकृत पद के लिए चन्द्रगुप्त का वरण करने की आज्ञा परिषद् देती है।

[समवेत जयघोष]

सप्तम दृश्य

[पर्वतेश्वर का प्रासाद]

अलका—सिंहरण मेरी आशा मे होगा और मैं यहाँ पड़ी हूँ। आज इसका कुछ निपटारा करना होगा—अब अधिक नही। **(आकाश की ओर देखकर)** तारों से भरी हुई काली रजनी का नीला आकाश—जैसे कोई विराट् गणितज्ञ निभृत में रेखा-गणित की समस्या सिद्ध करने के लिए बिन्दु दे रहा है!

[पर्वतेश्वर का प्रवेश]

पर्वतेश्वर—अलका बड़ी द्विविधा है।

अलका—क्यों पौरव?

पर्वतेश्वर—मैं तुमसे प्रतिश्रुत हो चुका हूँ कि मालव-युद्ध में मैं भाग न लूँगा, परन्तु सिकन्दर का दूत आया है कि आठ सहस्र अश्वारोही लेकर रावी तट पर मिलो। साथ ही पता चला है कि कुछ यवन-सेना अपने देश को लौट रही है।

अलका—**(अन्यमनस्क होकर)** हाँ, कहते चलो!

पर्वतेश्वर—तुम क्या कहती हो अलका!

अलका—मैं सुनना चाहती हूँ।

पर्वतेश्वर—बतलाओ, मैं क्या करूँ?

अलका—जो अच्छा समझो! मुझे देखने दो ऐसी सुन्दर वेणी—फूलों से गूँथी हुई श्यामा रजनी की सुन्दर वेणी—अहा!

पर्वतेश्वर—क्या कह रही हो?

अलका—गाने की इच्छा होती है, सुनोगे—**(गाती है)**

बिखरी किरन अलकें व्याकुल हो विरस वदन पर चिन्ता लेख,
छायापथ में राह देखती गिनती प्रणय-अवधि की रेख।
प्रियतम के आगमन-पंथ में उड़ न रही है कोमल धूल,
कादंबिनी उठी यह ढँकने वाली दूर जलधि के कूल।
समय-विहग के कृष्णपक्ष में रजत चित्र-सी अंकित कौन—
तुम हो सुन्दरि तरल तारिके! बोलो कुछ, बैठो मत मौन!
मन्दाकिनी समीप भरी फिर प्यासी आँखें क्यों नादान!
रूप-निशा की ऊषा में फिर कौन सुनेगा तेरा गान!

पर्वतेश्वर—अलका मैं पागल होता जा रहा हूं। यह तुमने क्या कर दिया है।

अलका—मैं तो गा रही हूँ।

पर्वतेश्वर—परिहास न करो—बताओ, मैं क्या करूँ?

अलका—यदि सिकन्दर के रण-निमन्त्रण में तुम न जाओगे तो तुम्हारा राज्य चला जायगा।

पर्वतेश्वर—बड़ी विडम्बना है।

अलका—पराधीनता से बढ़कर विडम्बना और क्या है[1]? अब समझ गये होगे कि वह सन्धि नहीं, पराधीनता की स्वीकृति थी।

पर्वतेश्वर—मैं समझता हूँ कि एक हजार अश्वारोहियों को साथ लेकर वहाँ पहुँच जाऊँ, फिर कोई बहाना ढूंढ़ निकालूंगा।

अलका—(मन में) मैं चलूं, निकल भागने का ऐसा अवसर दूसरा न मिलेगा! (प्रकट) अच्छी बात है, परन्तु मैं भी साथ चलूंगी। यहाँ अकेले क्या करूँगी? (पर्वतेश्वर के साथ प्रस्थान)

अष्टम दृश्य

[रावी के तट पर सैनिकों के साथ मालविका और चन्द्रगुप्त/नदी में दूर पर कुछ नावें]

मालविका—मुझे शीघ्र उत्तर दीजिये।

चन्द्रगुप्त—जैसा उचित समझो, तुम्हारी आवश्यक सामग्री तुम्हारे अधीन रहेगी—सिंहरण को कहाँ छोड़ा।

मालविका—आते ही होंगे।

१. पराधीनता को स्वीकृति दे चुकी सन्धियों की विडम्बना में ही अंग्रेज भी देशी नरेशों की सेना का उपयोग करते थे।

चन्द्रगुप्त—(**सैनिकों से**) तुम लोग कितनी दूर तक गये थे ?

सैनिक—अभी चार योजन तक यवनों का पता नहीं। परन्तु कुछ भारतीय सैनिक रावी के उस पार दिखाई दिये। मालव की पचासों हिंस्रिकाएँ वहाँ निरीक्षण कर रही हैं। उन पर धनुर्धर हैं।

सिंहरण—(**प्रवेश करके**) वह पर्वतेश्वर की सेना होगी। किन्तु मागध ! आश्चर्य है।

चन्द्रगुप्त—आश्चर्य कुछ नहीं।

सिंहरण—क्षुद्रकों के केवल कुछ ही गुल्म आये हैं, और तो····

चन्द्रगुप्त—चिन्ता नहीं। कल्याणी के मागध सैनिक और क्षुद्रक अपनी घात में हैं यवनों को इधर आ जाने दो। सिंहरण, थोड़ी सी हिंस्रिकाओं पर मुझे साहसी वीर चाहिये।

सिंहरण—प्रस्तुत हैं आज्ञा दीजिये।

चन्द्रगुप्त—यवनों की जलसेना पर आक्रमण करना होगा। विजय के विचार से नहीं, केवल उलझाने के लिए और उनकी सामग्री को नष्ट करने के लिये।

[सिंहरण संकेत करता है/नावें आती हैं]

मालविका—तो मैं स्कन्धावार के पृष्ठ भाग में अपने साधन रखती हूँ। एक क्षुद्र भांडार मेरे उपवन में भी रहेगा।

चन्द्रगुप्त—(**विचार करके**) अच्छी बात है।

[एक नाव तेजी से आती है/उस पर से अलका उतरती है]

सिंहरण—(**आश्चर्य से**) तुम अलका !

अलका—पर्वतेश्वर ने प्रतिज्ञा भंग की है। वह सैनिकों के साथ सिकन्दर की सहायता के लिए आया है। मालवों की नावें घूम रही थीं, मैं जान-बूझकर पर्वतेश्वर को छोड़कर वहीं पहुँच गयी—(**हँसकर**) परन्तु मैं बन्दी होकर आई हूँ।

चन्द्रगुप्त—देवि ! युद्धकाल है, नियमों को देखना ही पड़ेगा। मालविका ! ले जाओ इन्हें उपवन में। (**मालविका और अलका का प्रस्थान**)

[मालव-रक्षकों के साथ एक यवन का प्रवेश]

यवन—मालव के सन्धि-विग्रहिक अमात्य से मिलना चाहता हूँ।

सिंहरण—तुम दूत हो ?

यवन—हाँ !

सिंहरण—कहो मैं यही हूँ।

यवन—देवपुत्र ने आज्ञा दी है कि मालव-नेता आकर मुझसे भेंट करें और मेरी जल-यात्रा की सुविधा का प्रबन्ध करें।

सिंहरण—सिकन्दर से मालवों की ऐसी कोई सन्धि नहीं हुई जिससे वे इस

कार्य के लिए बाध्य हों। हाँ, भेट करने के लिए मालव सदैव प्रस्तुत है—चाहे सन्धि-परिषद् में या रणभूमि मे।

यवन—तो यही जाकर कह दूँ ?

सिंहरण—हाँ जाओ (रक्षकों से) इन्हे सीमा तक पहुँचा दो।

[रक्षकों के साथ यवन का प्रस्थान]

चन्द्रगुप्त—मालव, हम लोगो ने भयानक दायित्व उठाया है, इसका निर्वाह करना होगा !

सिंहरण—जीवन-मरण से खेलते हुए करेंगे वीरवर !

चन्द्रगुप्त—परन्तु सुनो तो, यवन लोग आर्यो की रण-नीति से नही लड़ते वे हमी लोगो के युद्ध है, जिनमे रणभूमि के पास ही स्वच्छदता से कृषक हल चलाता है। यवन आतंक फैलाना जानते है और उसे—अपनी रण-नीति का प्रधान अंग मानते है। निरीह साधारण प्रजा को लूटना, गाँवो को जलाना, उनके भीषण परन्तु साधारण कार्य है।

सिंहरण—युद्ध-सीमा के पार के लोगो को भिन्न-भिन्न दुर्गो मे एकत्र होने की आज्ञा प्रचारित हो गयी है। जो होगा—देखा जायगा।

चन्द्रगुप्त—पर एक बात सदैव ध्यान मे रखनी होगी।

सिंहरण—क्या ?

चन्द्रगुप्त—यही, कि हमे आक्रमणकारी यवनो को यहाँ से हटाना है, और उन्हे जिस प्रकार हो, भारतीय सीमा के बाहर करना है। इसलिए—शत्रु की ही नीति से युद्ध करना होगा।

सिंहरण—सेनापति की सब आज्ञाएँ मानी जायेगी, चलिये !

[सबका प्रस्थान]

नवम दृश्य

[शिविर के समीप कल्याणी और चाणक्य]

कल्याणी—आर्य अब मुझे लौटने की आज्ञा दीजिये, क्योंकि सिकन्दर ने विपाशा को अपने आक्रमण की सीमा बना ली है। अग्रसर होने की संभावना नही, और अमात्य राक्षस भी आ गये है, उनके साथ मेरा जाना ही उचित है।

चाणक्य—और चन्द्रगुप्त से क्या कह दिया जाय ?

कल्याणी—मैं नही जानती।

चाणक्य—परंतु राजकुमारी, उसका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा। वह बिना पतवार की नौका के सदृश इधर-उधर बहेगा।

कल्याणी—आर्य, मैं इन बातों को नहीं सुनना चाहती, क्योंकि समय ने मुझे अव्यवस्थित बना दिया है।

[अमात्य राक्षस का प्रवेश]

राक्षस—कौन ? चाणक्य ?

चाणक्य—हाँ अमात्य ! राजकुमारी मगध लौटना चाहती है।

राक्षस—तो उन्हें कौन रोक सकता है ?

चाणक्य—क्यों ? तुम रोकोगे।

राक्षस—क्या तुमने सबको मूर्ख समझ लिया है ?

चाणक्य—जो होंगे वे अवश्य समझे जायेंगे। अमात्य—मगध की रक्षा अभीष्ट नही है क्या ?

राक्षस—मगध विपन्न कहाँ है !

चाणक्य—तो मैं क्षुद्रको से कह दूं कि तुम लोग बाधा न दो, और यवनों से भी कह दिया जाय कि वास्तव मे यह स्कंधावार प्राच्य देश के सम्राट् का नही है, जिससे भयभीत होकर तुम विपाशा पार नही होना चाहते, यह तो क्षुद्रकों की क्षुद्र सेना है, जो तुम्हारे लिए मगध तक पहुँचने का सरल पथ छोड़ देने को प्रस्तुत है—क्यों ?

राक्षस—(विचार कर) आह ब्राह्मण, मैं रहूँगा, यह तो मान लेने योग्य सम्मति है परन्तु—

चाणक्य—फिर परन्तु लगाया। तुम स्वय रहो और राजकुमारी भी रहें और तुम्हारे साथ जो नवीन गुल्म आये है उन्हे भी रखना पड़ेगा। जब सिकन्दर रावी के अंतिम छोर पर पहुँचेगा, तब तुम्हारी सेना का काम पड़ेगा। राक्षस ! फिर भी मगध पर मेरा स्नेह है। मैं उसे उजडने और हत्याओं से बचाना चाहता हूँ। (प्रस्थान)

कल्याणी—क्या इच्छा है अमात्य ?

राक्षस—मैं इसका मुँह भी नही देखना चाहता। पर इसकी बातें मानने के लिए विवश हो रहा हूँ। राजकुमारी ! यह मगध का विद्रोही अब तक बन्दी कर लिया जाता, यदि इसकी स्वतंत्रता आवश्यक न होती।

कल्याणी—जैसी सम्मति हो।

चाणक्य—(प्रवेश करके) अमात्य ! सिंह पिंजड़े मे बन्द हो गया है।

राक्षस—कैसे ?

चाणक्य—जल यात्रा में इतना विघ्न उपस्थित हुआ कि सिकन्दर को स्थलमार्ग से मालवों पर आक्रमण करना पड़ा। अपनी विजयों पर फूल कर उसने ऐसा किया,

परन्तु आ फँसा उनके चंगुल में। अब इधर क्षुद्रकों और मागधों की नवीन सेनाओं से उसको बाधा पहुँचानी होगी।

राक्षस—तब तुम क्या कहते हो—क्या चाहते हो ?

चाणक्य—यही, कि तुम अपनी सम्पूर्ण सेना लेकर विपाशा के तट की रक्षा करो, और क्षुद्रकों को लेकर मैं पीछे से आक्रमण करने जाता हूँ। इसमें तो डरने की बात—कोई नहीं ?

राक्षस—मैं स्वीकार करता हूँ।

चाणक्य—यदि न करोगे तो अपना अनिष्ट करोगे। **(प्रस्थान)**

कल्याणी—विचित्र ब्राह्मण है अमात्य ! मुझे तो इसको देखकर डर लगता है।

राक्षस—विकट है—राजकुमारी एक बार इससे मेरा द्वन्द्व होना अनिवार्य है, परन्तु अभी मैं उसे बचाना चाहता हूँ।

कल्याणी—चलिये ! **(कल्याणी का प्रस्थान)**

चाणक्य—**(पुनः प्रवेश करके)**—राक्षस एक बात तुम्हारे कल्याण की है, सुनोगे ! मैं कहना भूल गया था।

राक्षस—क्या ?

चाणक्य—नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारे अनुचित सम्बन्ध का विश्वास हो गया है। अभी तुम्हारा मगध लौटना ठीक न होगा, समझे !

[चाणक्य का सवेग प्रस्थान—राक्षस सिर पकड़ कर बैठ जाता है]

[अन्धकार में दृश्यान्तर]

दशम दृश्य

[पंचनद के पथ में एक पड़ाव पर]

धनदत्त—नियति क्या चाहती है ? तुम बतलाओगे ?

आजीवक—यह तो वही जाने ! लाखों योनियों मे भ्रमण करते-करते वह पहुँचने वाले स्थान पर पहुँचा देगी।

धनदत्त—मैं पूछता हूँ कि एक बार मरने पर भी छुटकारा नहीं ! फिर दूसरी योनि में ! फिर—फिर, मैं तो फिरकी बन गया हूँ।

आजीवक—मनुष्य यही जान जाता तो फिर क्या कहना।

धनदत्त—तब आप इतना कैसे जानते है कि नियति ही सब कुछ कराती है ? यही क्या सत्य ज्ञान है ?

चन्दन—अरे ! ज्ञान के पीछे क्यों सर खपाते हो भाई। मगध में ज्ञानियों और दार्शनिकों की तो बाढ़ आ गयी है। तुम्हारे जैसे अज्ञानी उनकी सेवा के लिए भी तो

चाहिये। नहीं तो पानी गर्म करके पीना, बालों को नुचवाना, सिर मुड़वाना, काँटों पर सोना, पंचाग्नि तापना, लम्बी-लम्बी जटा बढ़ाकर सचल वटवृक्ष का अभिनय करना, सड़क पर झाड़ू देते चलना, मुख को कपड़े से ढंके रखना जिससे कोई प्राणी बिल समझ कर न घुस जाय। या, एकबार ही माता के गर्भ से निकल कर आनेवाली दिगम्बर अवस्था में रहना यह सब कैसे होगा।

धनदत्त—देखो चन्दन ! मुझे धीरे-धीरे ज्ञान होने लगा है। अहा ! कैसी उत्तम वस्तु मिल रही है उसमें तुम बाधा न डालो।

(आँखें मूँदकर विचार करने लगता है)

चन्दन—कुछ दिन तुम यहीं पड़े रहो कि पूर्ण ज्ञान होने के लिए दिवाला पिट जायगा। वाणिज्य संघ के यात्री तो चले गये वे सब तुम्हारी इस ज्ञान पिपासा का लाभ उठायेंगे और तुम यहाँ आजीवकजी की बकवाद सुनो।

धनदत्त—क्या वे सब चले गये।

चन्दन—नहीं तो क्या तुम्हारी तरह····नेपथ्य की ओर देखकर अरे—रे ! ! रे ! ! ! अब तो मैं जाता हूँ। **(उठकर इधर-उधर दौड़ने लगता है)**

आजीवक—धनदत्त ! नियति यदि उन सबों को दौड़ा रही है तो इसमें दूसरा क्या कर सकता है—**(नेपथ्य की ओर देख)** अंय !

[चन्दन की स्त्री माधवी का प्रवेश]

चन्दन—**(घबराकर)** हैंय ! हैंय ! ! तुमको लज्जा नहीं यहाँ इस तरह चली आ रही हो जैसे पगली भैंस !

माधवी—आप यहीं हैं अभी ! कितने महीने हो गए। घर में बैठी-बैठी लाज को घोलकर पीऊँ या संकोच को चबाऊँ ? वहाँ क्या रख आये !

चन्दन—अभी और आगे बढ़ने का मुहूर्त नहीं मिल रहा है। शकुन का धूमकेतु, सारे शुभ ग्रहों के पथ में अपनी पूंछ से झाड़ू लगा रहा है। इसीलिए अभी हमलोग पंचनद के पथ में ही ठहरे हैं।

माधवी—आग लगे धूमकेतु की पूँछ में मैं पूछ रही हूँ कि····

धनदत्त—चुप रहो—तुम भद्र-महिला होकर ऐसी बातें करती हो।

चन्दन—अरे ! कहाँ गया—वह सत्ययुग का स्मरणीय समय जब स्त्रियाँ पति के लिए चिता पर जला करती थीं। उनके पीछे-पीछे यम से लड़ाई करती थीं। चरणोदक लेकर रह जाती थीं कभी प्रतिवाद भी नहीं करती थीं। घोर कलयुग—आजीवकजी ! यह संसार की दुर्दशा देखते नहीं बनती।

माधवी—ऐसे निठल्ले पतियों के लिए स्त्रियाँ जल मरती होंगी ? गृहस्थी की कठिनाइयों से दुम दबाकर भागनेवाले पतिदेव ! तुम अपनी स्त्री से जल मरने की

आज्ञा मत करो। बच्चे भूख से बिलख रहे हैं, स्त्री छटपटा रही है और तुम धर्म का उपदेश····

[राजपुरुष का प्रवेश]

राजपुरुष—सार्थवाह ! क्या तुम यहीं पड़े रहोगे ? कब तक्षशिला जा रहे हो ?

धनदत्त—जब नियति ले जाय ! मैं तो चलने के लिए ही घर से निकला था। किन्तु क्या करूँ ?

राजपुरुष—सुनो ! जिन मणियों के ले आने की तुम्हें आज्ञा मिली थी, उनकी अब आवश्यकता नही रही क्योंकि कुमारी का ब्याह अब पंचनद नरेश से न होगा।

धनदत्त—(उठकर) हमारे महाराज चिरंजीवी हों और फिर वैसी हत्यापूर्ण मणियाँ छि· ! छि ! ! बहुत अच्छा किया महाराज ने उन्हें छूने मे भी पाप है।

राजपुरुष—किन्तु यह पत्र लो, देखो ! इसमे तुम्हें यह आदेश दिया गया है कि तुम राजकुमारी कल्याणी के सैनिकों की भोजन-व्यवस्था और धनभण्डार की देखरेख करो। जो कमी हो पूरी करो। यह युद्धकाल है। स्मरण रखना कुछ भी गड़बड़ी हुई और····

धनदत्त—और क्या ?

राजपुरुष—समस्त सम्पत्ति का राजकोष मे सुरक्षित हो जाना कैसा सुखद होता है, यह तुम जानते हो न।

धनदत्त—किन्तु····किन्तु····

चन्दन—परन्तु····परन्तु····

राजपुरुष—(घुड़ककर) किन्तु परन्तु से काम न चलेगा।

माधवी—श्रेष्ठिन् ! इसमें घबराने की क्या बात है ? चलिये राजकुमारी के साथ हमलोग भी रहें। इस युद्धकाल में सैनिकों से सुरक्षित रहना तो और भी अच्छा है।

धनदत्त—हम हैं वणिक। यह क्या तुम नही जानती हो।

चन्दन—और मुझको ब्राह्मण समझकर ही तुम्हारे पिता ने कन्यादान दिया था।

माधवी—तब ?

चन्दन—(गिड़गिड़ाकर) दोहाई है माधवी, तू पतिव्रता है। कुलीन कुल-कन्या है, अपने सुहाग की तू ही रक्षाकर मैं कहता हूँ कि जल मरने का सती होने होने का अवसर न आने दे युद्ध के समीप हम लोगों को न ले जा माधवी ! एँ, एँ, एँ !

माधवी—आजीवकजी को छोड़कर मैं सबकी रक्षा का भार लेती हूँ !

[आजीवक का प्रस्थान]

राजपुरुष -माधवी तुम ठहरो। मैं अभी आता हूँ।

[प्रस्थान—ग्रीक सैनिकों का प्रवेश]

चन्दन—अरे ! ये ! ! ये ! ! ! कौन ? कहाँ से ?

सैनिक—हमारे घोड़ों के लिए....

चन्दन—साईस चाहिये क्या ?

सैनिक—**(चन्दन और धनदत्त को देखकर)**—ओ हो ! तुम लोग ठीक समय पर मिले। बताओ यहाँ चारा कहाँ मिलेगा ? पकड़ लो इनको **(ग्रीक सैनिक घेर लेते हैं—सैनिक धनदत्त को देखकर)** बड़ा मोटा है यह....

धनदत्त—हमलोग तो कुछ कर ही नहीं सकते।

सैनिक—क्यों !

चन्दन—नियति का निर्देश ! जो करावेगी यही होगा !

सैनिक—तो समझ लो मैं तुम्हारी नियति हूँ ! देखो जी इन सबों के पास क्या है ! यह गुप्तचर तो नहीं। **(सब धनदत्त की गठरियों को देखने लगते हैं)**।

धनदत्त—अरे ! छू लिया। उसमें सब ...

सैनिक—क्या ?

चन्दन—ठहरो भाई। पहले मुझे भाग जाने दो।

धनदत्त—**(सैनिक को पिटारी खोलते देखकर)** अरे ! सर्प ! ! सर्प ! ! !

सैनिक—**(पिटारी छोड़कर)** क्या ?

चन्दन—मणिधर !

[ग्रीक सैनिक आश्चर्य से]

सैनिक—**(आश्चर्य से)** क्या तुम लोग सपेरे हो ?

धनदत्त—जी ! जी ! ! जी ! ! ! यह **(माधवी को देखकर)** यह साँप पकड़ना जानती है। भागे हुए पुरुषो को भी खूब ही पकड लेती है।

चन्दन—और ! और ! !

माधवी—ठहरो ! मैं पिटारी खोल दूँ।

[खोलने का अभिनय करती है/चन्दन उछल कूद मचाता है/इतने में राजपुरुष सैनिकों के साथ आता है/ग्रीक सैनिक भागते हैं/सबका प्रस्थान]

ग्यारहवाँ दृश्य

[मालव दुर्ग के भीतरी भाग में एक सूना परकोटा]

मालविका—अलका—इधर तो कोई भी सैनिक नहीं है। यदि शत्रु इधर से आवे तब ?

अलका—दुर्ग ध्वंस करने के लिए यन्त्र लगाये जा चुके हैं, परन्तु मालव-सेना भी सुख की नींद नहीं सो रही है। सिंहरण को दुर्ग की भीतरी रक्षा का भार देकर चन्द्रगुप्त नदी-तट से यवनसेना के पृष्ठ भाग पर आक्रमण करेंगे। आज ही युद्ध का अन्तिम निर्णय है। जिस स्थान पर यवन सेना को ले आना अभीष्ट था, वहाँ तक पहुँच गयी।

मालविका—अच्छा, चलो कुछ नवीन आहत आ गये है, उनकी सेवा का प्रबन्ध करना है।

अलका—(देखकर) मालविका! मेरे पास धनुष है और कटार है। इस आपत्तिकाल में एक आयुध अपने पास रखना चाहिये। तू कटार अपने पास रख ले।

मालविका—मैं डरती हूँ, घृणा करती हूँ। रक्त की प्यासी छुरी अलग करो अलका—मैंने सेवा का व्रत लिया है।

अलका—प्राणों के भय से—शस्त्र से घृणा करती हो क्या!

मालविका—प्राण तो धरोहर है, जिसका होगा वही लेगा, मुझे भयों से इनकी रक्षा करने की आवश्यकता नही, मैं जाती हूँ।

अलका—अच्छी बात है, जा! परन्तु सिंहरण को शीघ्र ही भेज दे! यहाँ जब तक कोई न आ जाय, मैं नही हट सकती।

[मालविका का प्रस्थान]

अलका—संध्या का नीरव निर्जन प्रदेश है। बैठूँ—(अकस्मात् बाहर से हल्ला होता है/युद्ध-शब्द) क्या चन्द्रगुप्त ने आक्रमण कर दिया! परन्तु यह स्थान····बड़ा ही अरक्षित है! (उठती है) अरे! वह कौन—प्राचीर पर यवन सैनिक है क्या? तो सावधान हो जाऊं।

[धनुष चढ़ाकर तीर मारती है/यवन-सैनिक का पतन/दूसरा फिर ऊपर आता है उसे भी मारती है/तीसरी बार स्वयं सिकन्दर ऊपर आता है—तीर का वार बचाकर दुर्ग में कूदता है और अलका को 'पकड़ना चाहता है/सहसा सिंहरण का प्रवेश और युद्ध]

सिंहरण—(तलवार चलाते हुए) तुमको स्वयं इतना साहस नहीं करना चाहिये सिकन्दर! तुम्हारा प्राण बहुमूल्य है!

सिकन्दर—सिकन्दर केवल सेनाओ को आज्ञा देना नही जानता। बचाओ अपने को—

[भाले का वार करता है/सिंहरण ऐसी फुरती से भाले को ढाल पर लेता है कि वह सिकन्दर के हाथ से छूट जाता है/यवनराज विवश होकर तलवार चलाता है किन्तु सिंहरण के भयानक प्रत्याघात से

घायल होकर गिरता है/तीन यवन-सैनिक कूदकर आते हैं, इधर से मालव सैनिक पहुँचते हैं]

सिंहरण—यवन ! दुस्साहस न करो ! तुम्हारे सम्राट् की अवस्था शोचनीय है ले जाओ, इनकी शुश्रूषा करो !

यवन—दुर्ग-द्वार टूटता है और अभी हमारे वीर सैनिक इस दुर्ग को मटियामेट करते हैं !

सिंहरण—पीछे चन्द्रगुप्त की सेना है मूर्ख ? इस दुर्ग में आकर तुम सब बन्दी होंगे। ले जाओ सिकन्दर को—उठा ले जाओ, जब तक और मालवों को यह न विदित हो जाय कि यही वह सिकन्दर है।

मालव सैनिक—सेनापति ! रक्त का बदला ! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध !

सिंहरण—ठहरो, मालव वीरों ! ठहरो, यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था ! पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है। यवन, जाओ—शीघ्र जाओ !

[तीनों यवन सिकन्दर को लेकर जाते हैं/घबराया हुआ एक सैनिक आता है]

सिंहरण—क्या है ?

सैनिक—दुर्ग द्वार टूट गया, यवन-सेना भीतर आ रही है।

सिंहरण—कुछ चिन्ता नहीं। दृढ़ रहो। समस्त मालव-सेना से कह दो—सिंहरण तुम्हारे साथ मरेगा। **(अलका से)** तुम मालविका को साथ लेकर अन्तःपुर की स्त्रियों को भूगर्भ-द्वार से सुरक्षित स्थान पर ले जाओ—अलका ! मालव के ध्वंस पर ही आर्यों का यशो-मन्दिर ऊँचा खड़ा हो सकेगा—जाओ !

[अलका का प्रस्थान/यवन-सैनिकों का प्रवेश/दूसरी ओर से चन्द्रगुप्त का प्रवेश और युद्ध/एक यवन सैनिक दौड़ा हुआ आता है]

यवन—सेनापति सिल्यूकस ! क्षुद्रकों की सेना भी पीछे से आ गयी है ! बाहर की सेना को उन लोगों ने उलझा रक्खा है।

चन्द्रगुप्त—यवन सेनापति मार्ग चाहते हो या युद्ध ? मुझ पर कृतज्ञता का बोझ है। तुम्हारा जीवन !

सिल्यूकस—**(कुछ सोचने लगता है)** हम दोनों के लिए प्रस्तुत है ! किन्तु....

चन्द्रगुप्त—शान्ति—मार्ग दो ! जाओ सेनापति—सिकन्दर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना।

[यवन-सेना का प्रस्थान/चन्द्रगुप्त का जयघोष]

य व नि का

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

[विपाशा-तट के शिविर में राक्षस टहलते हुए]

राक्षस---एक दिन चाणक्य ने कहा था कि आक्रमणकारी यवन---ब्राह्मण और बौद्ध का भेद न मानेंगे---वही बात ठीक उतरी। यदि मालव और क्षुद्रक परास्त हो जाते और यवन-सेना शतद्रु पार कर जाती तो मगध का नाश निश्चित था। मूर्ख मगध-नरेश ने संदेह किया है और बार-बार मेरे लौटने की आज्ञाएँ आने लगी हैं। परन्तु....

[एक चर प्रवेश करके प्रणाम करता है[

राक्षस---क्या समाचार है ?

चर---बड़ा ही आतंकजनक है---अमात्य !

राक्षस---कुछ कहो भी।

चर---सुवासिनी पर आपसे मिलकर कुचक्र रचने का अभियोग है वह कारागार में है।

राक्षस---(क्रोध से) और भी कुछ ?

चर---हाँ अमात्य, प्रान्त दुर्ग पर अधिकार करके विद्रोह करने के अपराध में आपको वन्दी बनाकर ले आनेवाले के लिए पुरस्कार की घोषणा की गई है।

राक्षस---यहाँ तक ! तुम मत्य कहते हो ?

चर---यहाँ तक कहने के लिए प्रस्तुत हूँ कि अपने बचने का शीघ्र उपाय कीजिये।

राक्षस---भूल थी---मेरी भूल थी ! राक्षस---मगध की रक्षा करने चला था। जाता मगध---कटती प्रजा--- लुटते नगर। नन्द, क्रूरता और मूर्खता की प्रतिमूर्त्ति नन्द---एक पशु ! उसके खिए क्या चिन्ता थी ! सुवासिनी---मैं सुवासिनी---मैं सुवासिनी के लिए मगध को वचाना चाहता था। कुटिल विश्वासघातिनी राज-सेवा ! तुझे धिक्कार है !

[एक नायक का सैनिकों के साथ प्रवेश]

नायक---अमात्य राक्षस, मगध-सम्राट् की आज्ञा से शस्त्र त्याग कीजिए---आप बन्दी हैं।

राक्षस---(खड्ग खींचकर) कौन है तू मूर्ख ? इतना साहस !

नायक---यह तो वन्दीगृह बतावेगा। बल-प्रयोग करने के लिए मैं बाध्य हूँ। (सैनिकों से) अच्छा ! बाँध लो---

[दूसरी ओर से आठ सैनिक आकर उन पहले के सैनिकों को बन्दी बनाते हैं/राक्षस आश्चर्यचकित होकर देखता है]

नायक—**(आश्चर्य से)** तुम सब कौन हो ?

नवागत सैनिक—राक्षस के शरीर-रक्षक !

राक्षस—मेरे !

नवागत सैनिक—हाँ अमात्य ! आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी है कि जबतक यवनों का उपद्रव है, तबतक सबकी रक्षा होनी चाहिये, भले ही वह राक्षस क्यों न हो।

राक्षस—इसके लिए मैं चाणक्य का कृतज्ञ हूँ।

नवागत सैनिक—परन्तु अमात्य ! कृतज्ञता प्रकट करने के लिए आपको उनके समीप तक चलना होगा।

[सैनिकों को संकेत करता है वे बन्दियों और नायक को लेकर जाते हैं]

राक्षस—मुझे कहाँ चलना होगा ? राजकुमारी से भेंट कर लूं।

नवागत सैनिक—वहीं सबसे भेंट होगी। यह पत्र है। **(राक्षस पत्र लेकर पढ़ता है)**

राक्षस—अलका सिंहरण से ब्याह होनेवाला है उसमें मैं भी निमन्त्रित किया गया हूँ ! चाणक्य—विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट-राजनीति के साथ रात-दिन जैसे खिलवाड़ किया करती है।

नवागत सैनिक—हाँ, आपने कुछ और भी सुना है ?

राक्षस—क्या ?

नवागत सैनिक—यवनों ने मालवों से संधि करने का संदेश भेजा है। सिकन्दर ने उस वीर रमणी अलका को देखने की बड़ी इच्छा प्रकट की है, जिसने दुर्ग में सिकन्दर का प्रतिरोध किया था।

राक्षस—आश्चर्य !

चर—हाँ अमात्य ! यह तो मैं कहने ही नही पाया था—रावी तट पर एक विस्तृत शिविरों की रंग-भूमि बनी है जिसमें अलका का ब्याह होगा। जब से सिकन्दर को यह विदित हुआ है कि अलका तक्षशिला नरेश आंभीक की बहन है, तब से उसे एक अच्छा अवसर मिल गया है। उसने उक्त शुभ अवसर पर मालवों और यवनों का एक सम्मिलित उत्सव करने की घोषणा कर दी है। आंभीक के पक्ष से निमंत्रित होकर—परिणय-सम्पादन कराने दल-बल के साथ स्वयं सिकन्दर भी आयेगा।

राक्षस—चाणक्य—तू धन्य है ! मुझे ईर्ष्या होती है, चलो !

[सब जाते हैं]

द्वितीय दृश्य

[रावी-तट के उत्सव-शिविर के पथ में पर्वतेश्वर अकेले टहलते हुए]

पर्वतेश्वर—आह ! कैसा अपमान ! जिस पर्वतेश्वर ने उत्तरापथ में अनेक प्रबल शत्रुओं के रहते भी विरोधों को कुचलकर गर्व से सिर ऊँचा कर रखा था, जिसने दुर्दान्त सिकन्दर के सामने मरण को तुच्छ समझते हुए, वक्ष ऊँचा करके भाग्य से हँसी-ठट्ठा किया था, उसी का यह तिरस्कार—सो भी एक स्त्री के द्वारा और सिकन्दर के संकेत से—प्रतिशोध—रक्त-पिशाची प्रतिहिंसा अपने दाँतों से नसों को नोच रही है। मरूँ या मार डालूँ। मारना तो असम्भव है। सिंहरण और अलका वर-वधू के वेश में हैं, मालवों के चुने हुए वीरों से वे घिरे हैं। सिकन्दर उनकी प्रशंसा और आदर में लगा है। इस समय सिंहरण पर हाथ उठाना असफलता के पैरों तले गिरना है। तो फिर जीकर क्या करूँगा ?

[छुरा निकालकर आत्महत्या करना ही चाहता है कि चाणक्य आकर हाथ पकड़ लेता है]

पर्वतेश्वर—कौन ?

चाणक्य—ब्राह्मण चाणक्य।

पर्वतेश्वर—मेरे इस अन्तिम समय में भी क्या कुछ दान चाहते हो ?

चाणक्य—हाँ।

पर्वतेश्वर—मैंने अपना राज्य दिया—अब हटो।

चाणक्य—यह तो तुमने दे ही दिया, परन्तु मैंने तुमसे माँगा न था, पौरव !

पर्वतेश्वर—फिर क्या चाहते हो ?

चाणक्य—एक प्रश्न का उत्तर।

पर्वतेश्वर—तुम अपनी बात मुझे स्मरण कराने आये हो ? तो ठीक है। ब्राह्मण ! तुम्हारी बात सच हुई। यवनों ने आर्यावर्त्त को पददलित कर दिया। मैं गर्व में भूला था, तुम्हारी बात न मानी। अब उसी का प्रायश्चित्त करने जाता हूँ—छोड़ दो !

चाणक्य—पौरव ! शान्त हो। मैं एक दूसरी बात पूछता हूँ। वृषल चन्द्रगुप्त क्षत्रिय है कि नहीं, अथवा उसे मूर्द्धाभिषिक्त करने में ब्राह्मण से भूल हुई ?

पर्वतेश्वर—आह—ब्राह्मण ! व्यंग न करो। चन्द्रगुप्त के क्षत्रिय होने का प्रमाण यही विराट् आयोजन है। आर्य चाणक्य ! मैं क्षमता रखते हुए जिस काम को न कर सका उसे निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया। आर्यावर्त्त से यवनों के निकल जाने का संकेत उसके प्रचुर बल का द्योतक है। मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्यावर्त्त का एकच्छत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है। अब मुझे छोड़ दो····

चाणक्य—पौरव ! ब्राह्मण राज्य करना नहीं जानता, करना भी नहीं चाहता, हाँ, वह राजाओं का नियमन करना जानता है, राजा बनाना जानता है। इसलिए तुम्हें अभी राज्य करना होगा और करना होगा वह कार्य जिसमें भारतीयों का गौरव हो और क्षात्र धर्म का पालन हो।

पर्वतेश्वर—(छुरा फेंककर) वह क्या काम है ?

चाणक्य—जिन यवनों ने तुमको लज्जित और अपमानित किया है, उनसे प्रतिशोध !

पर्वतेश्वर—असम्भव है !

चाणक्य—(हँसकर) मनुष्य अपनी दुर्बलता से भलीभाँति परिचित रहता है। परन्तु उसे अपने बल से भी अवगत होना चाहिये। असम्भव कहकर—किसी काम को करने से पहले—कर्मक्षेत्र में काँपकर लड़खड़ाओ मत पौरव ! तुम क्या हो—विचार कर देखो तो ! सिकन्दर ने जो क्षत्रप नियुक्त किया है—जिन संधियों को वह प्रगतिशील रखना चाहता है वे सब क्या है ? अपनी लूटपाट को वह साम्राज्य के रूप में देखना चाहता है ! चाणक्य जीते-जी यह नहीं होने देगा ! तुम राज्य करो।

पर्वतेश्वर- परन्तु आर्य, मैंने राज्य दान कर दिया है।

चाणक्य—पौरव ! तामस त्याग से सात्त्विक ग्रहण उत्तम है ! वह दान न था, उसमें कोई सत्य नही। तुम उसे ग्रहण करो।

पर्वतेश्वर—तो क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—पीछे बतलाऊँगा। इस समय मुझे केवल यही कहना है कि सिंहरण को अपना भाई समझो और अलका को बहन।

[वृद्ध गांधार-राज का सहसा प्रवेश]

वृद्ध—अलका ? कहाँ है, अलका !

पर्वतेश्वर—कौन हो तुम वृद्ध ?

चाणक्य—मैं इन्हें जानता हूँ—वृद्ध गांधार-नरेश !

पर्वतेश्वर—आर्य, मैं पर्वतेश्वर प्रणाम करता हूँ।

वृद्ध—मैं प्रणाम करने योग्य नही—पौरव ! मेरी सन्तान से देश का बड़ा अनिष्ट हुआ है ! आंभीक ने लज्जा की यवनिका में मुझे छिपा दिया है। इस देश-द्रोही के प्राण केवल अलका को देखने के लिए बचे हैं, उसी से कुछ आशा थी ! जिसको मोल लेने में लोभ असमर्थ था—उसी अलका को देखना चाहता हूँ और प्राण दे देना चाहता हूँ। (हाँफता है)

चाणक्य—क्षत्रिय ! तुम्हारे पाप और पुण्य दोनों जीवित हैं। स्वस्तिमती अलका आज सौभाग्यवती होने जा रही है, चलो कन्या-सम्प्रदान करके प्रसन्न हो जाओ !

[चाणक्य वृद्ध गांधार-नरेश को लिवा जाता है]

पर्वतेश्वर—जाऊँ--किधर जाऊँ—चाणक्य के पीछे ? **(जाता है)**

[कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त—कुमारी, आज मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई !

कार्नेलिया--किस बात की ।

चन्द्रगुप्त—कि मैं विस्मृत नहीं हुआ ।

कार्नेलिया—स्मृति कोई अच्छी वस्तु है क्या !

चन्द्रगुप्त—स्मृति जीवन का पुरस्कार है सुन्दरि !

कार्नेलिया—परन्तु मैं कितने दूर देश की हूँ । स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर उद्दण्ड हो जाती हैं । अतीत की कारा मे बन्दिनी स्मृतियाँ अपने करुण निःश्वास की श्रृंखलाओं को झनझनाकर सूचीभेद्य अंधकार में सो जाती हैं ।

चन्द्रगुप्त—ऐसा हो तो भूल जाओ शुभे ! इस केन्द्रच्युत जलते हुए उल्कापिण्ड की कोई कक्षा नही । निर्वासित-अपमानित प्राणों की चिन्ता क्या ?

कार्नेलिया—नही चन्द्रगुप्त, मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है । यहाँ के श्यामल-कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुई शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरला कृषक-बालिकाएं, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियो की जीवित प्रतिमाएँ है । यह स्वप्नों का देश—यह त्याग और ज्ञान का पालना—यह प्रेम की रंगभूमि—भारत-भूमि क्या भुलाई जा सकती है ? कदापि नही—अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, **यह भारत मानवता की जन्मभूमि** है ।

चन्द्रगुप्त—शुभे, यह सुनकर मैं चकित हो गया हूँ ।

कार्नेलिया—और मैं मर्माहत हो गयी हूँ—चन्द्रगुप्त मुझे पूर्ण विश्वास था कि यहाँ के क्षत्रप पिताजी नियुक्त होगे और मैं अलेग्जेन्द्रिया में—समीप ही रहकर भारत को देख सकूँगी । परन्तु वैसा न हुआ, सम्राट् ने फिलिप्स को यहाँ का शासक नियुक्त कर दिया है ।

[अकस्मात् फिलिप्स का प्रवेश]

फिलिप्स—तो बुरा क्या है कुमारी । सिल्यूकस के क्षत्रप न होने पर भी कार्नेलिया यहाँ की शासिका हो सकती है । फिलिप्स अनुचर होगा **(चन्द्रगुप्त को देखकर)** फिर वही भारतीय युवक !

चन्द्रगुप्त—सावधान--यवन ! हमलोग एक बार एक दूसरे की परीक्षा ले चुके हैं ।

फिलिप्स—ऊँह ! तुमसे मेरा सम्बन्ध ही क्या है, परन्तु....

कार्नेलिया--और मुझसे भी नहीं, फिलिप्स ! मैं चाहती हूँ कि तुम मुझसे न बोलो।

फिलिप्स—अच्छी बात है। किन्तु मैं चन्द्रगुप्त को भी तुमसे बातें करते हुए नहीं देख सकता। तुम्हारे प्रेम का····

कार्नेलिया—चुप रहो, मैं कहती हूँ, चुप रहो।

फिलिप्स—(चन्द्रगुप्त से) मैं तुमसे द्वन्द्व-युद्ध किया चाहता हूँ।

चन्द्रगुप्त—जब इच्छा हो, मैं प्रस्तुत हूँ। और संधि भंग करने के लिए तुम्हीं अग्रसर होगे, यह अच्छी बात होगी।

फिलिप्स—संधि राष्ट्र की है। यह मेरी व्यक्तिगत बात है। अच्छा, फिर कभी मैं तुम्हारा आह्वान करूँगा।

चन्द्रगुप्त—आधी रात, पिछले पहर, जब तुम्हारी इच्छा हो।

[फिलिप्स का प्रस्थान]

कार्नेलिया—सिकन्दर ने भारत मे युद्ध किया है और मैंने भारत का अध्ययन किया है। मैं देखती हूँ कि यह युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं, इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़ रही है। यह अररतु और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त तो उनके अस्त्र हैं।

चन्द्रगुप्त—मैं क्या कहूँ, एक निर्वासित ···

कार्नेलिया—लोग चाहे जो कहें, मैं भलीभाँति जानती हूँ कि अभी तक चाणक्य की विजय है। पिताजी से मेरा इस विषय पर अच्छा विवाद होता है—वे अरस्तू के शिष्यों में से हैं।

चन्द्रगुप्त—भविष्य के गर्भ में अभी बहुत से रहस्य छिपे हैं।

कार्नेलिया—अच्छा तो मैं जाती हूँ और फिर एक बार अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। किन्तु मुझे विश्वास है कि मैं पुन: लौटकर आऊँगी ?

चन्द्रगुप्त—उस समय भी मुझे भूलने की चेष्टा करोगी ?

कार्नेलिया—नहीं चन्द्रगुप्त ! विदा—यवन-बेड़ा आज ही जायगा।

[दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हुए जाते हैं/राक्षस और कल्याणी का प्रवेश]

कल्याणी—ऐसा विराट् दृश्य तो मैंने नहीं देखा था अमात्य ! मगध को किस बात का गर्व है ?

राक्षस—गर्व है राजकुमारी ! और उसका गर्व सत्य है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त मगध की ही प्रजा हैं, जिन्होंने इतना बड़ा उलट-फेर किया है ?

चाणक्य—(प्रवेश करते) तो तुम इसे स्वीकार करते हो अमात्य राक्षस ?

राक्षस –शत्रु की उचित प्रशसा करना मनुष्य का धर्म है। तुमने अद्‌भुत कार्य किये इसमे भी कोई सन्देह है ?

चाणक्य—अस्तु, अब तुम जा सकते हो। मगध तुम्हारा स्वागत करेगा।

राक्षस—राजकुमारी कल चली जायेंगी। पर मैंने अभीतक निश्चय नही किया है !

चाणक्य—मेरा कार्य हो गया, राजकुमारी जा सकती हैं, परन्तु एक बात कहूँ ?

राक्षस—क्या ?

चाणक्य यहाँ की कोई बात नन्द से न कहने की प्रतिज्ञा करनी होगी !

कल्याणी—मै प्रतिश्रुत हूँ।

चाणक्य—राक्षस मैं सुवासिनी से तुम्हारी भेट करा देता, परन्तु वह मुझ पर विश्वास नही करती।

राक्षस—क्या वह भी यही है ?

चाणक्य—कही होगी, तुम्हारा प्रत्यय देखकर वह आ सकती है।

राक्षस—यह लो मेरी अगुलीय मुद्रा। चाणक्य ! सुवासिनी को कारागार से मुक्त कराके मुझसे भेट करा दो।

चाणक्य—**(मुद्रा लेकर जाते हुए)** मै चेष्टा करूँगा।

राक्षस—तो राजकुमारी, प्रणाम !

कल्याणी—तुमने अपना कर्त्तव्य भलीभाँति सोच लिया होगा। मैं जाती हूँ, और विश्वास दिलाती हूँ कि मुझसे तुम्हारा अनिष्ट न होगा।

[दोनों का प्रस्थान]

तृतीय दृश्य

[रावी के तट पर सिकन्दर का प्रस्तुत बेड़ा देखते हुए चाणक्य और पर्वतेश्वर]

चाणक्य पौरव देखो यह नृशसता की बाढ आज उतर जायगी। चाणक्य ने जो किया –वह भला था या बुरा, अब समझ मे आवेगा !

पर्वतेश्वर—मैं मानता हूँ, यह आप ही का स्तुत्य कार्य है !

चाणक्य—और चन्द्रगुप्त के बाहुबल का—पौरव ! आज फिर मैं उसी बात को दुहराना चाहता हूँ। अत्याचारी नन्द के हाथो से मगध का उद्धार करने के लिए चाणक्य ने तुम्ही से पहले सहायता माँगी थी और अब तुम्ही से लेगा भी—अब तो तुम्हे विश्वास होगा ?

पर्वतेश्वर—मैं प्रस्तुन हूँ आर्य !

चाणक्य —मैं आश्वस्त हुआ। अच्छा, यवनों को आज विदा करना है।

[एक ओर से सिकन्दर, सिल्यूकस, कार्नेलिया, फिलिप्स इत्यादि का और दूसरी ओर से चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका, मालविका और आंभीक इत्यादि का अपने रणवाद्यों के साथ प्रवेश]

सिकन्दर—सेनापति चन्द्रगुप्त ! बधाई है।

चन्द्रगुप्त—किस बात की राजन् !

सिकन्दर—जिस समय तुम भारत के सम्राट् होगे, उस समय मैं उपस्थित न रह सकूँगा, उसके लिए पहले से बधाई है। मुझे उस नग्न ब्राह्मण दाण्डचायन की बातों का पूर्ण विश्वास हो गया।

चन्द्रगुप्त—आप वीर हैं।

सिकन्दर—आर्यवीर ! मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा है और देखा डिमास्थनीज को। सम्भवत प्लेटो और अरस्तू भी कहीं होंगे—मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ।

सिल्यूकस—सम्राट् ! यही आर्य चाणक्य हैं।

सिकन्दर—धन्य है—आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया—हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय-विमुग्ध हूँ ! जिनसे खड्ग परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थीं, उनसे हाथ मिलाकर—मैत्री के हाथ मिलाकर जाना चाहता हूँ।

चाणक्य—हमलोग प्रस्तुत हैं सिकन्दर ! तुम वीर हो, भारतीय सदैव उत्तम गुणों की पूजा करते हैं। तुम्हारी जल-यात्रा मंगलमय हो। हमलोग युद्ध करना जानते हैं—द्वेष नहीं।

[सिकन्दर हँसता हुआ अनुचरों के साथ नौका पर आरोहण करता है / नाव चलती है]

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[पथ में चर और राक्षस]

चर—छल ! प्रवंचना ! ! विश्वासघात ! ! !

राक्षस—क्या है, कुछ सुनूँ भी !

चर—मगध से आज मेरा सखा कुरंग आया है, उससे यह मालूम हुआ है कि महाराज नन्द का कुछ भी क्रोध आपके ऊपर नहीं, वह आपके शीघ्र मगध लौटने के लिए उत्सुक हैं।

राक्षस—और सुवासिनी ?

चर—सुवासिनी सुखी और स्वतन्त्र है। मुझे चाणक्य के चर से वह धोखा हुआ था, जब मैंने आपसे वहाँ का समाचार कहा था।

राक्षस—तब क्या मैं कुचक्र में डाला गया हूँ? (विचारकर) चाणक्य की चाल है। ओह, मैं समझ गया। अभी निकल भागना चाहिए। सुवासिनी पर भी कोई अत्याचार—मेरी मुद्रा दिखाकर न किया जा सके, इसके लिए मुझे शीघ्र पहुँचना चाहिये।

चर—क्या आपने मुद्रा भी दे दी है।

राक्षस—मेरी मूर्खता! चाणक्य, मगध में विद्रोह कराना चाहता है!

चर—अभी हम लोगों को मगध का गुल्म मार्ग मे मिल जायगा, चाणक्य से बचने के लिए उसका आश्रय अच्छा होगा। दो तीव्रगामी अश्व मेरे अधिकार में हैं—शीघ्रता कीजिये।

राक्षस—तो चलो! मैं चाणक्य के हाथो की कठपुतली बनकर मगध का नाश नहीं करा सकता।

[दोनों का प्रस्थान/अलका और सिंहरण का प्रवेश]

सिंहरण—देवि! पर इसका उपाय क्या है!

अलका—उपाय जो कुछ हो, मित्र के कार्य मे तुमको सहायता करनी ही चाहिये। चन्द्रगुप्त आज कह रहे थे कि 'मैं मगध जाऊँगा देखूँ पर्वतेश्वर क्या करते है।'

सिंहरण—चन्द्रगुप्त के लिए ये प्राण अर्पित है अलके! मालव कृतघ्न नही होते, देखो चन्द्रगुप्त और चाणक्य आ रहे है।

अलका—और उधर से पर्वतेश्वर भी।

[चन्द्रगुप्त, चाणक्य और पर्वतेश्वर का प्रवेश]

सिंहरण—मित्र अभी कुछ दिन और ठहर जाते तो अच्छा था, अथवा जैसी गुरुदेव की आज्ञा!

चाणक्य—पर्वतेश्वर, तुमने मुझसे प्रतिज्ञा की है!

पर्वतेश्वर—मैं प्रस्तुत हूं आर्य!

चाणक्य—अच्छा तो तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। सिंहरण मालव गण-राष्ट्र का एक व्यक्ति है, वह शक्ति-भर प्रयत्न कर सकता है, किन्तु सहायता बिना परिषद् की अनुमति लिए असम्भव है। मैं परिषद् के सामने अपना भेद नही खोलना चाहता। इसलिए पौरव, सहायता केवल तुम्हे करनी होगी। मालव अपने शरीर और खड्ग का स्वामी है, वह मेरे लिए प्रस्तुत है। मगध का अधिकार प्राप्त होने पर जैसा तुम कहोगे····

पर्वतेश्वर—मैं कह चुका हूँ आर्य चाणक्य! इस शरीर में, धन में, विभव में

था अधिकार में, मेरी स्पृहा नहीं रह गयी। मेरी सेना के महाबलाधिकृत सिंहरण और कोष आपका है।

चन्द्रगुप्त—मैं आप लोगों का कृतज्ञ होकर मित्रता को लघु नहीं बनाना चाहता। चन्द्रगुप्त सदा आपलोगों का वही सहचर है।

चाणक्य—परन्तु मगध नहीं जाना होगा। अभी जो सन्देश मगध से मिले हैं, वे बड़े भयानक हैं! सेनापति, तुम्हारे पिता कारागार में है—और भी····

चन्द्रगुप्त—इतने पर भी आप मुझे मगध जाने से रोक रहे हैं?

चाणक्य—यह प्रश्न अभी मत करो।

[चन्द्रगुप्त सिर झुका लेता है/एक पत्र लिए मालविका का प्रवेश]

मालविका—यह सेनापति के नाम पत्र है।

चन्द्रगुप्त—(पढ़कर) आर्य, मैं जा भी नहीं सकता।

चाणक्य—क्यों?

चन्द्रगुप्त—युद्ध का आह्वान है—द्वन्द्व के लिए फिलिप्स का निमंत्रण है।

चाणक्य—तुम डरते तो नहीं?

चन्द्रगुप्त—आर्य! आप मेरा उपहास कर रहे है।

चाणक्य—(हँसकर) तब ठीक है, पौरव! तुम्हारा यहाँ रहना हानिकारक होगा। उत्तरापथ की दासता के अवशिष्ट चिह्न—फिलिप्स का नाश निश्चित है। चन्द्रगुप्त उसके लिए उपयुक्त है। परंतु यवनों से तुम्हारा फिर संघर्ष मुझे ईप्सित नहीं है। यहाँ रहने से तुम्ही पर संदेह होगा, इसलिए तुम मगध चलो। और सिंहरण! तुम सन्नद्ध रहना, यवन-विद्रोह तुम्हीं को शांत करना होगा।

[सबका प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[मगध की रंगशाला में नन्द का प्रवेश]

नन्द—सुवासिनी!

सुवासिनी—देव!

नन्द—कहीं दो घड़ी चैन से बैठने की भी छुट्टी नहीं, तुम्हारी छाया में विश्राम करने आया हूँ!

सुवासिनी—प्रभु, क्या आज्ञा है? अभिनय देखने की इच्छा है?

नन्द—नहीं सुवासिनी अभिनय तो नित्य देख रहा हूँ। छल, प्रतारणा, विद्रोह के अभिनय देखते-देखते आँखें जल रही है। सेनापति मौर्य, जिसके बल पर मैं भूला

था, जिसके विश्वास पर मैं निश्चिन्त सोता था, विद्रोही-पुत्र चन्द्रगुप्त को सहायता पहुँचाता है ! उसी का न्याय करना था— न्याय हुआ कि अन्याय, हृदय संदिग्ध है। सुवासिनी—किस पर विश्वास करूँ ?

सुवासिनी —अपने परिजनों पर देव !

नन्द —अमात्य राक्षस भी नहीं, मैं तो घबरा गया हूँ !

सुवासिनी—द्राक्षासव ले आऊँ ?

नन्द—ले आओ **(सुवासिनी जाती है)** सुवासिनी कितनी सरल है ! प्रेम और यौवन के शीतल मेघ लहलही लता पर मँडरा रहे हैं परंतु—

[सुवासिनी का पात्र, कलश लिए प्रवेश/पात्र भरकर देती है]

नन्द—सुवासिनी ! गाओ—वही उन्मादक गान !

[सुवासिनी गाती है]

आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा !
मधु पीकर पागल हुआ, करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय, जैसे अपने आप !
लाज के बन्धन खोल रहा !
बिछल रही है चाँदनी—छवि-मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से, बहकाने की बात !
कौन मधु मदिरा घोल रहा ?

नन्द सुवासिनी—जगत् मे और भी कुछ है—ऐसा मुझे तो नही प्रतीत होता ! उस कोकिल की पुकार केवल तुम्ही सुनती हो ? ओह ? मैं इस स्वर्ग से कितनी दूर था, सुवासिनी ! **(कामुक जैसी चेष्टा करता है)**

सुवासिनी—भ्रम है महाराज ! एक वेतन पानेवाली का यह अभिनय है।

नन्द—कभी नही, यह भ्रम है तो समस्त ससार मिथ्या है। तुम सच कहती हो, निर्बोध नन्द ने कभी वह पुकार नही सुनी। सुन्दरि ! तुम मेरी प्राणेश्वरी हो !

सुवासिनी—**(सहसा चकित होकर)** मैं दासी हूँ महाराज !

नन्द—यह प्रलोभन देकर ऐसी छलना ! नन्द नही भूल सकता सुवासिनी ! आओ—**(हाथ पकड़ता है)**

सुवासिनी—**(भयभीत होकर)** महाराज ! मैं अमात्य राक्षस की धरोहर हूँ, सम्राट् की भोग्या नही बन सकती !

नन्द—अमात्य राक्षस इस पृथ्वी पर तुम्हारा प्रणयी होकर नही जी सकता।

सुवासिनी—**(सरोष)** तो उसे खोजने के लिए स्वर्ग मे जाऊँगी !

[नन्द उसे बलपूर्वक पकड़ लेता है/ठीक उसी समय राक्षस का प्रवेश]

नन्द—**(उसे देखते ही छोड़ता हुआ)** तुम—अमात्य राक्षस !

राक्षस—हाँ सम्राट् ! एक अबला पर अत्याचार न होने देने के लिए ठीक समय पर पहुँचा।

नन्द—यह तुम्हारी अनुरक्ता है, राक्षस ! मैं लज्जित हूँ।

राक्षस—मैं प्रसन्न हुआ कि सम्राट् अपने को परखने की चेष्टा करते हैं। अच्छा, तो इस समय जाता हूँ। चलो सुवासिनी !

[दोनों जाते हैं / नन्द सिर झुका लेता है]

[प्रबल वायु के झोंके से रंगशाला के दीप बुझ जाते हैं]

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[पाटलिपुत्र के बाहर—पथ में धनदत्त और चन्दन शीघ्रता से चलते हुए आकर रुक जाते हैं]

चन्दन—भई अब तो मैं नही चल सकता (बैठ जाता है)

धनदत्त—अरे अब तो ले लिया है मित्र थोड़े से सहारे का काम है—उठो चन्दन। सारा परिश्रम नष्ट हो जायगा। इतने दिनों की गाढ़ी कमाई इन रत्नों और स्वर्ण खण्डों को देखो।

चन्दन—तो मैं क्या करूँ ? देखते नही पैरों के छाले भागी घरवाली की तरह गाल फुलाये हैं।

[एक नागरिक का प्रवेश]

धनदत्त—ए ! ए ! सुनो तो तुम किधर जा रहे हो ?

नागरिक—मैं, मैं, मैं, (कुछ घबड़ाया हुआ-सा लगने लगता है)

धनदत्त—(रोककर) भेड़ की तरह मे, मे करने लगे—मैं पूछता हूँ कि तुम कहाँ....

नागरिक—पूछो मत भाई भारी उपद्रव....

धनदत्त—क्या ?

नागरिक—नगर मे शीघ्र ही भयानक उपद्रव मचने वाला है। नन्दराज ने अंधेर मचा रखा है। मेरी स्वामिनी आज एक सप्ताह से बाहर चली गई है। उनकी निधि का क्या किया जाय !

धनदत्त—क्या बड़ी लम्बी-चौड़ी निधि है।

नागरिक—तीन भूगर्भ सोने से खचाखच भरे हैं और सार्थवाह का वर्षों से पता नही ! स्वामिनी ने कहा कि मैं क्या यहाँ लुटेरों के हाथ प्राण दूँगी / तब मैं भी जाता हूँ।

धनदत्त—रे मूर्ख ! इतनी सम्पत्ति छोडकर क्यों जा रहा है—चल हम लोग उसकी रक्षा करेंगे।

चन्दन—हाँ, हाँ क्या हम लोगों के रहते कोई कुछ कर सकता है ? पंचनद के युद्ध में हमारी वीरता तुमने नही सुनी ?

धनदत्त—एक-एक खड्ग के प्रहार से डेढ़-डेढ सौ सैनिक—हाँ ! सिकन्दर ने पृथ्वी चूमकर मुझसे प्राण-भिक्षा माँगी थी। दिखाऊँ अपना वह हाथ ?

चन्दन—अरे ठहरो भी !

नागरिक—परंतु तुम मेरी स्वामिनी के पति को नही जानते, मैं तो नया-नया आया हूँ। सुना है कि उनको तीन आँखे है। जब सामने की आँखो से देखते हैं तब गुप्त आँखे दूसरा संकेत करती हे। दो हाथो मे देते हैं। उनके दो अदृश्य हाथ न जाने कैसे उसके घर की सारी सम्पत्ति बटोर लाते है। सहस्रो योजन की लम्बी यात्रा करते है। किन्तु गिद्ध की तरह उनकी दृष्टि अपनी सम्पत्ति को देखती रहती है। सुना है उनका नाम है—धनदत्त।

धनदत्त—(आश्चर्य से) क्या कहा धनदत्त !

नागरिक हाँ, हाँ उनकी स्त्री मणिमाला भी कम चतुर नही। ऊपर की सारी सम्पत्ति लेकर अपने विश्वासी मित्र के साथ टल गई है और निधि पर यक्ष का पहरा बैठा गयी है।

धनदत्त—भाई ! चन्दन ! यह क्या सुन रहा हूँ ? मणिमाला का विश्वासी मित्र कहाँ से टपक पडा।

नागरिक—अरे ! वह तो रात-दिन वही रहता था। सुना है कि स्वयं सार्थवाह ने उसे भेजा था।

धनदत्त—अरे चुप धनदत्त इतना मूर्ख नही कि अपनी स्त्री के लिए एक विश्वासी मित्र खोजकर भेज दे। कौन पिशाच है—चन्दन ! चल तो—देखे।

नागरिक—च् च् घ् च अरे वह तपस्वी है।

चन्दन—क्या बडी-बडी जटावाला दढियल ?

नागरिक—हाँ, हाँ।

चन्दन—वन-विलाव-सी बडी-बडी आँखे ?

नागरिक—हाँ जी !

धनदत्त—और बात-बात मे कहता है कि मनुष्य कुछ कर ही नही सकता।

नागरिक—ठीक पहुँचे। यही तो उनका उपदेश है।

धनदत्त—दुष्ट आजीवक ! मार डाला रे (बैठकर कराहने लगता है)

चन्दन—कभी-कभी इनको ऐसा हो जाता है। भाई जाकर एक शिविका ले आओ। इनको किसी वैद्य के पास ले चलूं (नागरिक का प्रस्थान)

धनदत्त—**(लम्बी-लम्बी साँस फेंककर)** चन्दन ! अब क्या होगा रे ?

चन्दन—चुप भी रहो। शिविका पर सब लादकर पहिले धीरे से घर पर तो पहुँच देखो—वहाँ घुसने पाते हो कि नहीं।

धनदत्त—अरे वहाँ तो यक्ष बैठा है रे।

[शिविका पर एक वैद्य का प्रवेश]

नागरिक—यह लीजिए शिविका भी, वैद्य भी....

धनदत्त—ओहो हो, हो। अरे, रे, रे मरे, रे, रे।

चन्दन—क्यों भाई मैंने तो तुमसे शिविका लाने के लिए कहा था। वैद्य जी को क्यों कष्ट दिया। **(धनदत्त से)** निकालो स्वर्ण मुद्रा, चले थे अरे, रे करने।

नागरिक—जाते तो वैद्य के ही पास अब यह वैद्य आ गये तो लगे बनने। न हो तो उतर आइये वैद्य जी। इन्हें शिविका पर जाने दीजिये। अपना और आपका दोनों का भाड़ा ये ही देंगे। हाँ और क्या। हमलोग टहलते टहलते चले चलेंगे।

[वैद्य शिविका से उतरकर धनदत्त की तोंद को देखता है]

वैद्य—ठीक ! चर् चर्—चरक ने जो कहा है वह बिलकुल ठीक है। **(चन्दन से)** रोगी तो मरणासन्न है। खाता है तो मुँह चलने लगता है न, चलने पर पैर आगे-पीछे पड़ते हैं न, और सोने पर आँखें बन्द हो जाती हैं।

चन्दन—सब होता है, पर तुमसे औषधि नही चाहता।

वैद्य—**(ऊँचा सुनने का अभिनय करके)** सो तो ठीक ही है। 'प्राणैः कण्ठगतरैपि' कहा है चचा चरक ने एक मात्रा तो देनी ही होगी।

धनदत्त—**(क्रोध से)** मैं कहता हूँ चन्दन तुम इसको हटाओ। मेरे तो प्राण निकल रहे हैं तुमको हँसी सूझती है।

वैद्य—किंचित्-किंचित् प्रलाप भी कभी-कभी **(अपने से बातें करता हुआ)** वही तो—पकड़ लिया।

चन्दन—अब छुटकारा नही। भाई धनदत्त दो स्वर्ण मुद्रा।

धनदत्त—क्या कह रहा है यह ? मणिमाला तुमने इतना बड़ा विश्वासघात किया हाँ !

वैद्य—कितना विलम्ब हुआ है।

धनदत्त—यही एक सप्ताह का। एक सप्ताह पहले ही पहुँच जाता तो यह दिन क्यों देखने में आता रे !

वैद्य—**(जैसे कुछ सुन लिया हो)** एक सप्ताह। पूरी विलम्बिका है। अँतड़ियों में विद्रधि है। नाकों में श्लीपद हो गया है **(नाड़ी देखकर)** देखते नही इसका पैर भारी है। बहुत धीरे-धीरे चल सकती है। स्नायुजाल में विसर्प है। भयानक ! तो

भी एक मास में तो अच्छा हो ही जायगा। मेढ़क खाये हुए सर्प की केचुल में लपेट-कर सत्रह गृहगोपिका का तुषाग्नि द्वारा तेल निकाला जायगा। फिर....

चन्दन--तुम तो पूरे चिडीमार हो जी !

धनदत्त--चन्दन इसको हटा किसी तरह। जी मिचलाने लगा।

[चन्दन अपनी पिटारी शिविका में रखता है और धनदत्त को बैठने का संकेत करता है, धनदत्त उछलकर उसमें जा बैठता है/ वैद्य आश्चर्य से देखने लगता है/दूसरी ओर से आजीवक के साथ मणिमाला का प्रवेश/वह धनदत्त को बड़े आश्चर्य से देखती है]

धनदत्त--यह क्या ? मणिमाला !

मणिमाला--आर्यपुत्र ! ओह ! मैं कितनी घबडा रही थी। यह तो कहिये महात्माजी मिल गये। मेरे प्राण बच गये।

धनदत्त--हूं ! बच गये न। **(आजीवक की ओर देखता है)**

मणिमाला--यदि इनकी कृपा न होती तो अब तक प्राण न बचते। इनकी सान्त्वना से मेरा विश्वास दृढ़ हो गया कि नियति जो चाहती है करती है और वही होकर रहेगा।

धनदत्त--अरे, रे, रे ! मैं तो पडा ही था। तू भी इसी चक्कर में पड़ गयी।

आजीवक--सार्थवाह ! अब मुझे नियति का आदेश है कि तू यहाँ से चल दे।

वैद्य--कुछ चिन्ता नही भद्रे ! अब मै आ गया। ये निरापद है। समझा न--वह तैल !

धनदत्त--अरे ! नही ! नही ! ! मुझे क्या हो गया है ? मैं क्या करूँ ?

[चाणक्य का प्रवेश]

चाणक्य--तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो जो ?

मणिमाला--हमलोग नन्द के अत्याचार से पीड़ित है। यह सब सम्पत्ति मेरे पति की अनुपस्थिति मे लेना चाहता था। उस समय तो एक आजीवक की कृपा से बच गयी नही तो बन्दी कर ली जाती। पर अब मेरे पति भी आ गये हैं अब हमलोग क्या करे।

चाणक्य--चलो ! हमलोग तुम्हारी रक्षा करेगे। मेरे साथ सहस्त्रों सैनिक हैं।

चन्दन--तब मै क्या करूँ ? मेरी माधवी ?

चाणक्य--माधवी वही ब्राह्मणी जो पञ्चनद मे राजकुमारी कल्याणी के साथ थी।

चन्दन--हाँ ! हाँ ! ! वही।

चाणक्य--वह मेरे सैनिकों के साथ आ रही है।

धनदत्त—चलिये। आपलोग मेरे गृह पर।

[सबका प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

सप्तम दृश्य

[कुसुमपुर का प्रत्यन्त/चाणक्य, मालविका और अलका]

मालविका—सुवासिनी और राक्षस स्वतन्त्र है! उनका परिणय शीघ्र ही होगा। इधर मौर्य कारागार में, वररुचि अपदस्थ नागरिक लोग नन्द की उच्छृंखलताओं से असन्तुष्ट····

चाणक्य—(बात काटते हुए) ठीक है, समय हो चला है! मालविका तुम नर्त्तकी बन सकती हो?

मालविका—हाँ, मैं नृत्य-कला जानती हूँ।

चाणक्य—तो नन्द की रंगशाला में जाओ और लो यह मुद्रा तथा पत्र, राक्षस का विवाह होने के पहले ठीक एक घड़ी पहले—नन्द के हाथ में यह पड़े और पूछने पर बतला देना—किसी ने सुवासिनी नाम की स्त्री को देने के लिए यह दिया था—परन्तु मुझसे भेंट न हो सकी।

मालविका—(स्वगत) क्या? क्या असत्य बोलना होगा! चन्द्रगुप्त के लिए सब करूँगी। (प्रगट) अच्छा।

चाणक्य—मैंने सिंहरण को लिख दिया था कि चन्द्रगुप्त को शीघ्र यहाँ भेजो। तुम यवनों के सिर उठाने पर उन्हे शान्त करके आना, तब तक अलका मेरी रक्षा कर लेगी। मैं चाहता हूँ कि सब सेना वणिकों के रूप में धीरे-धीरे कुसुमपुर में इकट्ठी हो जाय। जिस दिन राक्षस का ब्याह होगा, उसी दिन विद्रोह होगा और उसी दिन चन्द्रगुप्त राजा होगा!

अलका—परन्तु फिलिप्स के द्वन्द्व-युद्ध से चन्द्रगुप्त को लौट तो आने दीजिये, क्या जाने क्या हो!

चाणक्य—क्या हो! वही होकर रहेगा जिसे चाणक्य ने विचार करके ठीक कर लिया है। किन्तु··· **अवसर पर एक क्षण का विलम्ब असफलता का प्रवर्त्तक हो जाता है। (मालविका जाती है)**

अलका—गुरुदेव! महानगरी कुसुमपुरी का ध्वंस और नन्द-पराजय इस प्रकार सम्भव है?

चाणक्य—अलके! चाणक्य अपना कार्य अपनी बुद्धि से साधित करेगा। तुम

देखती भर रहो और मैं जो बताऊँ---करती चलो। मालविका अभी बालिका है, उसकी रक्षा आवश्यक है। उसे देखो तो····(**अलका जाती है**)

चाणक्य---वह सामने कुसुमपुर है, जहाँ मेरे जीवन का प्रभात हुआ था। मेरे उस सरल हृदय में उत्कट इच्छा थी कि कोई भी सुन्दर मन मेरा साथी हो। प्रत्येक नवीन परिचय मे उत्सुकता थी और उसके लिए मन मे सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी! परन्तु संसार---कठोर संसार ने सिखा दिया है कि तुम्हें परखना होगा! समझदारी आने पर यौवन चला जाता है---जब तक माला गूँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते हैं! जिससे मिलने के संभार की इतनी धूमधाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक, मनुष्य अपने हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं बनाये रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है। यही तो विषमता है! मैं---अविश्वास, कूटचक्र और छलनाओं का कंकाल, कठोरताओं का केन्द्र! आह! तो इस विश्व मे मेरा कोई सुहृद् नही? है---मेरा संकल्प! अब मेरा आत्माभिमान ही मेरा मित्र है। और थी---एक क्षीण रेखा---वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ? सुवासिनी न-न-न, वह कोई नही। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ---भयानक रमणीयता है। आज उस प्रतिज्ञा में जन्मभूमि के प्रति कर्त्तव्य का यौवन चमक रहा है। तृणशय्या पर आधे पेट खाकर सो रहनेवाले के सिर पर दिव्य यश का स्वर्ण-मुकुट! और सामने सफलता का स्मृति-सौध (**आकाश की ओर देखकर**) वह---इन लाल बादलों में दिग्दाह का धूम मिल रहा है! भीषण रव से सब जैसे चाणक्य का नाम चिल्ला रहे हैं। (**देखकर**) है! यह कौन भूमि-संधि तोडकर सर्प के समान निकल रहा है। छिपकर देखूं।

[छिप जाता है/एक ढूह को मिट्टी गिरती है/उसमें से वनमानुष के समान शकटार निकलता है]

शकटार---(**चारों ओर देखकर आँख बन्द कर लेता है---फिर खोलता हुआ**) आँखे नही सह सकती, इन्ही प्रकाश किरणो के लिए तड़प रही थी! ओह, तीखी है! तो क्या मैं जीवित हूं? कितने दिन---कितने महीने---कितने वर्ष हुए! नही स्मरण है। अन्धकूप की प्रधानता सर्वोपरि थी। सात लडके भूख से तड़पकर मरे। कृतज्ञ हूँ---उस अन्धकार का ---जिसने उन विवर्ण मुखों को नही देखने दिया, केवल उनके दम तोडने का क्षीण शब्द सुन सका। फिर भी जीवित रहा---सत्तू और नमक पानी से मिलाकर---अपनी नसो से रक्त पीकर जीवित रहा! प्रतिहिंसा के लिए। पर अब शेष है---दम घुट रहा है ओह ··

[गिर पड़ता है/चाणक्य पास आकर कपड़ा निचोड़कर मुँह में जल डाल सचेत करता है]

चाणक्य--आह ! तुम कोई दुखी मनुष्य हो ! घबराओ मत, मैं तुम्हारी सहायता के लिए प्रस्तुत हूँ।

शकटार--(ऊपर देखकर) तुम ! सहायता करोगे ! आश्चर्य ! मनुष्य, मनुष्य की सहायता करेगा ? वह उसे हिंस्रपशु के समान नोंच न डालेगा ? हाँ यह दूसरी बात है कि वह जोंक की तरह बिना कष्ट दिये रक्त चूसे। जिसमें कोई स्वार्थ न हो---ऐसी सहायता ! तुम भूखे भेड़िये !

चाणक्य---अभागे मनुष्य ! सबसे चौंककर अलग न उछल ! अविश्वास की चिनगारी पैरों के नीचे से हटा। तुम जैसे दुखी बहुत-से पड़े है। यदि सहायता नहीं तो परस्पर का स्वार्थ ही सही।

शकटार—दुःख ! दुःख नाम सुना होगा, या कल्पित आशंका से तुम उसका नाम लेकर चिल्ला उठते होगे। देखा है कभी---मात मात गोद के लालों को भूख से तड़पकर मरते ? अन्धकार की घनी चादर मे बरसो भू-गर्भ की जीवित समाधि में एक-दूसरे को अपना आहार देकर स्वेच्छा से मरते-- देखा है---प्रतिहिंसा की स्मृति को ठोकरे मार-मारकर जगाते और प्राण विसर्जन करते---देखा है कभी यह कष्ट---उन गबों ने अपना आहार मुझे दिया और पिता होकर भी मैं पत्थर-सा जीवित रहा ! उनका आहार खा डाला---उन्हे मरने दिया ! वे सुकुमार थे, वे सुख की गोद मे पले थे, वे नही सहन कर सकते थे, अत. सब मर गये। मैं बच रहा प्रतिशोध के लिए ! दानवी प्रतिहिंसा के लिए ! ओह ! उस अत्याचारी नर-राक्षस की अतड़ियों में से खीचकर एक बार रक्त का फुहारा छोड़ता---इस पृथ्वी को उसी से रँगा देखता।

चाणक्य—सावधान !

[घुटनों के बल खड़े शकटार को उठाता है]

शकटार -सावधान हों वे—जो दुर्बलों पर अत्याचार करते है ! पीड़ित पददलित, सब तरह लुटा हुआ ! जिसने पुत्रो की हड्डियों से सुरंग खोदी है, नखों से मिट्टी हटाई है, उसके लिए सावधान रहने की आवश्यकता नही। मेरी वेदना अपने अन्तिम अस्त्रों से सुसज्जित है !

चाणक्य—तो भी तुमको प्रतिशोध लेना है। हमलोग एक ही पथ के पथिक हैं। घबराओ मत। क्या तुम्हारा और कोई भी इस संसार मे जीवित नही ?

शकटार- बची थी, पर जाने कहाँ है। एक बालिका---अपनी माता की स्मृति—सुवासिनी। पर अब कहाँ है—कौन जाने ?

चाणक्य—क्या कहा—सुवासिनी !

शकटार---हाँ, सुवासिनी !

चाणक्य- और तुम शकटार हो ?

शकटार—(**चाणक्य का गला पकड़कर**) घोंट दूँगा गला, यदि फिर यह नाम तुमने लिया। मुझे नन्द से प्रतिशोध ले लेने दो, फिर चाहे डौंड़ी पीटना।

चाणक्य—(**उसके हाथ हटाते हुए**) वह सुवासिनी नन्द की रंगशाला में है। मुझे पहचानते हो?

शकटार—नही तो—(**देखता है**)।

चाणक्य—तुम्हारे प्रतिवेशी, सखा, ब्राह्मण चणक का पुत्र विष्णुगुप्त। तुम्हारी दिलाई हुई जिसकी ब्रह्मवृत्ति छीन ली गयी, जो तुम्हारा सहकारी जानकर निर्वासित कर दिया गया, मैं उसी चणक का पुत्र चाणक्य विष्णुगुप्त हूँ, जिसकी शिखा पकड़कर राज्यसभा में खीची गयी, जो बन्दीगृह मे मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा था! करोगे मुझ पर विश्वास?

शकटार—(**विचारता हुआ खड़ा हो जाता है**) करूँगा, जो तुम कहोगे वही करूँगा। किसी तरह प्रतिशोध चाहिये।

चाणक्य—तो चलो मेरी झोपडी मे, और इस सुरंग को घास-फूस से ढँक दो।

[सुरंग ढँककर दोनों जाते हैं]

दृ श्या न्त र

अष्टम दृश्य

[नन्द के राज-मन्दिर का एक प्रकोष्ठ]

नन्द—आज क्यों मेरा मन अनायास ही शंकित हो रहा है। कुछ नही होगा।

[सेनापति मौर्य की स्त्री को साथ लिये हुए वररुचि का प्रवेश]

नन्द—कौन है यह स्त्री?

वररुचि—जय हो देव, यह सेनापति मौर्य की स्त्री है।

नन्द—क्या कहना चाहती है?

स्त्री—राजा प्रजा का पिता है। वही उसके अपराधो को क्षमा करके सुधार सकता है। चन्द्रगुप्त बालक है, सम्राट्! उसके अपराध मगध से कोई सम्बन्ध नही रखते—तब भी वह निर्वासित है। परन्तु सेनापति पर क्या अभियोग है? मैं असहाय—मगध की प्रजा, श्री चरणों में निवेदन करती हूँ—मेरा पति छोड दिया जाय। पति और पुत्र दोनों से वंचित न की जाऊँ।

नन्द—रमणी! राजदण्ड पति और पुत्र के मोहजाल से सर्वथा स्वतन्त्र है। षड्यन्त्रकारियों के लिए बहुत निष्ठुर है—निर्मम है—कठोर है; तुम लोग आग की ज्वाला मे खेलने का फल भोगो। नन्द इन आँसू भरी आँखों और आँचल पसार कर भिक्षा के अभिनय में नहीं भुलवाया जा सकता।

स्त्री—ठीक है महाराज ! मैं ही भ्रम में थी। सेनापति मौर्य का ही तो अपराध है—जब कुसुमपुर की समस्त प्रजा विरुद्ध थी, जब जारज पुत्र के रक्त-रँगे हाथों से सम्राट् महापद्म की जीवन-लीला शेष हुई थी, तभी सेनापति को चेतना चाहिये था ! कृतघ्न के साथ उपकार किया है, यह उसे नही मालूम था।

नन्द—चुप दुष्टे ! **(उसके केश पकड़कर खींचना चाहता है/वररुचि बीच में आकर रोकता है)**

वररुचि—महाराज सावधान ! यह अबला है, स्त्री है।

नन्द—यह मैं जानता हूँ—कात्यायन ! हटो।

वररुचि—आप जानते है पर इस समय आपको विस्मृत हो गया है।

नन्द—तो क्या मैं तुम्हे भी इस कुचक्र में लिप्त समझूँ ?

वररुचि—यह महाराज की इच्छा पर निर्भर है और किसी का दास न रहना मेरी इच्छा पर **(छुरा रखते हुए)** मैं शस्त्र समर्पण करता हूँ।

नन्द **(वररुचि का छुरा उठाकर)** विद्रोही ! ब्राह्मण हो न तुम ! मैंने अपने को स्वयं धोखा दिया। जाओ परन्तु ठहरो। प्रतिहारी ! **(प्रतिहारी सामने आता है)** इसे बन्दी करो और इस स्त्री के साथ मौर्य के समीप पहुँचा दो।

[प्रतिहारी दोनों को बन्दी करता है]

वररुचि—नन्द ! तुम्हारे पाप का घड़ा फूटना ही चाहता है ! अत्याचार की चिनगारी साम्राज्य का हरा-भरा कानन दग्ध कर देगी। न्याय का गला घोंटकर उस भीषण पुकार को नही दबा सकोगे जो तुम तक पहुँचती है अवश्य, किन्तु चाटुकारों द्वारा कुछ और ही ढग से।

नन्द—बस—ले जाओ।

[प्रतिहारी का बन्दियों सहित प्रस्थान]

नन्द—**(स्वगत)** क्या अच्छा नही किया ? परन्तु ये सब मिले है जाने दो। **(अन्य प्रतिहारी का प्रवेश)** क्या है ?

प्रतिहार—जय हो देव ! एक सन्दिग्ध स्त्री राज-मन्दिर मे घूमती हुई पकड़ी गयी है। उसके पास से अमात्य राक्षस की मुद्रा और एक पत्र भी मिला है !

नन्द—अभी ले आओ। **(प्रतिहार जाकर मालविका को साथ ले आता है)** तुम कौन हो ?

मालविका—मैं एक स्त्री हूँ, महाराज !

नन्द—पर तुम यहाँ किसके पास आयी हो ?

मालविका—मैं—मैं—मुझे किसी ने शतद्रु-तट से भेजा है। मैं पथ में बीमार हो गयी थी, विलम्ब हुआ ?

नन्द—कैसा विलम्ब ?

मालविका—इस पत्र को सुवासिनी नाम की स्त्री के पास पहुँचाने में।

नन्द—तो किसने तुम्हें भेजा है ?

मालविका—मैं नाम तो नहीं जानती।

नन्द—हूँ (प्रतिहार से) पत्र कहाँ है ? **(प्रतिहार पत्र और मुद्रा देता है/ नन्द उसे पढ़ता है)** तुमको बतलाना पड़ेगा, किसने तुमको पत्र दिया है ? बोलो, शीघ्र बोलो, राक्षस ने भेजा था ?

मालविका—राक्षस नहीं, वह मनुष्य था।

नन्द—दुष्टे शीघ्र बता ? वह राक्षस ही रहा होगा।

मालविका—जैसा आप समझ लें।

नन्द—**(क्रोध से)** प्रतिहारी ! इसे भी ले जाओ उसी विद्रोहियों की माँद में। ठहरो, पहले जाकर शीघ्र सुवासिनी और राक्षस को, चाहे जिस अवस्था में हों—ले जाओ। **(नन्द चिन्तित भाव से दूसरी ओर टहलता है/मालविका बन्दी होती है नन्द पैर पटकते हुए)** आज सबको एक साथ ही सूली पर चढ़ा दूँगा। नहीं हाथियों के पैरों तले कुचलवाऊँगा। यह कथा समाप्त होनी चाहिए। नन्द नीच जन्मा है न ! यह विद्रोह उसी के लिए किया जा रहा है, तो फिर उसे भी दिखा देना है कि वह क्या है, नाम सुनकर लोग काँप उठें। प्रेम न सही, भय का ही सम्मान हो।

[अन्धकार में दृश्यान्तर]

नवम दृश्य

[कुसुमपुर के प्रान्तपथ में चाणक्य और पर्वतेश्वर]

चाणक्य—चन्द्रगुप्त कहाँ है ?

पर्वतेश्वर—सार्थवाह के रूप में युद्ध-व्यवसायियों के साथ आ रहे है। शीघ्र ही पहुँच जाने की सम्भावना है।

चाणक्य—और द्वन्द्व में क्या हुआ ?

पर्वतेश्वर—चन्द्रगुप्त ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। समस्त उत्तरापथ में फिलिप्स के मारे जाने पर नया उत्साह फैल गया है। आर्य ! बहुत से प्रमुख यवन और आर्यगण की उपस्थिति में वह युद्ध हुआ—वह खड्ग-परीक्षा देखने योग्य थी ! वह वीर-दृश्य अभिनन्दनीय था !

चाणक्य—यवन लोगों के क्या भाव थे ?

पर्वतेश्वर—सिंहरण अपनी सेना के साथ रंगशाला की रक्षा कर रहा था, कुछ हलचल तो हुई, परन्तु वह पराजय का क्षोभ था। यूडेमिस, जो उसका सहकारी था,

अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। किसी प्रकार वह ठण्ढा पड़ा। यूडेमिस सिकन्दर की आज्ञा की प्रतीक्षा में रुका था। अकस्मात् सिकन्दर के मरने का समाचार मिला। यवन लोग अब अपनी सोच रहे हैं, चन्द्रगुप्त सिंहरण को वहीं छोड़कर यहाँ चला आया, क्योंकि आपका आदेश था।

[अलका का प्रवेश]

अलका—गुरुदेव, यज्ञ का आरम्भ है।

चाणक्य—मालविका कहाँ है?

अलका—वह बन्द की गयी और राक्षस इत्यादि भी बन्दी होने ही वाले हैं। वह भी ठीक ऐसे अवसर पर जब उनका परिणय हो रहा है। क्योंकि आज ही····

चाणक्य—तब तुम जाओ, अलके! उस उत्सव से तू अलग न रह। उनके पकड़े जाने के अवसर पर ही नगर मे उत्तेजना फैल सकती है। जाओ—शीघ्र।

[अलका का प्रस्थान]

पर्वतेश्वर—मुझे क्या आज्ञा है?

चाणक्य—कुछ चुने हुए अश्वारोहियो को साथ लेकर प्रस्तुत रहना। चन्द्रगुप्त जब भीतर से युद्ध आरम्भ करे, उस समय तुमको नगर द्वार पर आक्रमण करना होगा। **(गुफा का द्वार खुलता है—मौर्य मालविका, वररुचि, चन्द्रगुप्त जननी को लिए शकटार निकलता है)** आओ मौर्य?

मौर्य—हमलोगों के उद्धारकर्त्ता, आप ही महात्मा चाणक्य हे।

मालविका—हाँ यही है।

मौर्य—प्रणाम!

चाणक्य—शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिए जियो सेनापति! नन्द के पापो की पूर्णता ने तुम्हारा उद्धार किया है अब तुम्हारा अवसर है।

मौर्य--इन दुर्बल हड्डियो मे अन्धकूप की भयानकता खटखटा रही है।

शकटार—और रक्तमय गम्भीर वीभत्स दृश्य, हत्या का निष्ठुर आह्वान कर रहा है। **(चन्द्रगुप्त का प्रवेश/माता-पिता के चरण छूता है)**

चन्द्रगुप्त—पिता! तुम्हारी यह दशा' एक-एक पीडा की, प्रत्येक निष्ठुरता की गिनती होगी—मेरी माँ! उन सबका प्रतिकार होगा, प्रतिशोध लिया जायेगा! ओह! मेरा जीवन व्यर्थ है! नन्द!

चाणक्य—चन्द्रगुप्त, सफलता का एक ही क्षण होता है। आवेश और कर्त्तव्य में बहुत अन्तर है।

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव आज्ञा दीजिये!

चाणक्य—देखो, उधर नागरिक लोग आ रहे है। सम्भवतः यही अवसर है—तुमलोगों के भी भीतर जाने का—विद्रोह फैलाने का।

[नागरिकों का प्रवेश]

पहला नागरिक—वेण और कंस का शासन क्या दूसरे प्रकार का रहा होगा ?

दूसरा नागरिक —ब्याह की वेदी से वर-वधू को घसीट ले जाना, इतने बड़े नागरिक का यह अपमान ! अन्याय है ।

तीसरा नागरिक—सो भी अमात्य राक्षस और सुवासिनी को ! कुसुमपुर के दो सुन्दर फूल !

चौथा नागरिक—और सेनापति, मन्त्री, सत्रों को अन्धकूप मे डाल देना ।

मौर्य—मन्त्री, सेनापति और अमात्यों को बन्दी बनाकर जो राज्य करता है । वह कैसा अच्छा राजा है । नागरिक ! उसकी कैसी अद्भुत योग्यता है । मगध को गर्व होना चाहिये ।

पहला नागरिक—गर्व नही वृद्ध ! लज्जा होनी चाहिये । ऐसा जघन्य अत्याचार !

वररुचि —यह तो मगध का पुराना इतिहास है । जरासंध का यह अखाडा है । एकाधिपत्य की कटुता का यह सदैव से अभ्यस्त है ।

दूसरा नागरिक—अभ्यस्त होने पर भी अब असह्य है ।

शकटार—आज आप लोगो को बड़ी वेदना है, एक उत्सव का भंग होना अपनी आँखो से देखा है, नही तो जिस दिन शकटार को दण्ड मिला था, एक अभिजात नागरिक की सकुटुम्ब हत्या हुई थी, उस दिन जनता कहाँ सो रही थी ?

तीसरा नागरिक—सच तो, पिता के समान हमलोगो की रक्षा करने वाले मन्त्री शकटार—हे भगवान् !

शकटार मैं ही हूँ । कंकाल-सा जीवित-समाधि से उठ खड़ा हुआ हूँ । मनुष्य, मनुष्य को इस तरह कुचलकर स्थिर न रह सकेगा । मैं पिशाच बनकर लौट आया हूँ—अपने निरपराध सात पुत्रों की निष्ठुर हत्या का प्रतिशोध लेने के लिये—चलोगे साथ ?

चौथा नागरिक—मन्त्री शकटार ! आप जीवित है ?

शकटार—हाँ, महापद्म के जारज पुत्र नन्द की—वधिक हिंस्रपशु नन्द की—प्रतिहिंसा का लक्ष्य—शकटार मैं ही हूँ !

सब नागरिक—हो चुका न्यायाधिकरण का ढोंग ! जनता की शुभकामना करने की प्रतिज्ञा नष्ट हो गयी । अब नही—आज न्यायाधिकरण मे पूछना होगा !

मौर्य —और मेरे लिए भी कुछ ···

नागरिक —तुम ?

मौर्य —सेनापति मौर्य—जिसका तुम लोगों का पता ही न था ।

नागरिक— आश्चर्य ! हमलोग आज क्या स्वप्न देख रहे है ? अभी लौटना चाहिये । चलिये आपलोग भी ।

शकटार-—परन्तु मेरी रक्षा का भार कौन लेता है—

[सब इधर-उधर देखने लगते है, चन्द्रगुप्त तन कर खड़ा हो जाता है]

चन्द्रगुप्त— मैं लेता हूँ ! उन सब पीडित, आघात-जर्जर, पद-दलित लोगों का संरक्षक मैं हूँ—जो मगध की प्रजा है ।

चाणक्य—साधु चन्द्रगुप्त !

[सब उत्साहित होते है/पर्वतेश्वर चाणक्य और वररुचि को छोड़कर सब जाते हैं]

वररुचि- चाणक्य ! यह क्या दावाग्नि फैला दी तुमने ?

चाणक्य—उत्पीडन की चिनगारी को अत्याचारी अपने ही अंचल मे छिपाये रहता है ! कात्यायन ! तुमने अन्धकूप का सुख क्यो लिया ? कोई अपराध किया था तुमने ?

वररुचि—नन्द की भूल थी । उसे अब भी सुधारा जा सकता है । ब्राह्मण ! क्षमानिधि ! भूल जाओ !

चाणक्य--प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर हम-तुम साथ ही वैखानस होगे कात्यायन ! शक्ति हो जाने दो, फिर क्षमा का विचार करना । चलो पर्वतेश्वर ! सावधान !

[सबका प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

दशम दृश्य

[नन्द की राजसभा / सुवासिनी और राक्षस बन्दी-वेश में]

नन्द —अमात्य राक्षस, यह कौन सी मन्त्रणा थी ? यह पत्र तुम्ही ने लिखा है ?

राक्षस — **(पत्र लेकर पढ़ता हुआ)**—'सुवासिनी, उस कारागार से शीघ्र निकल भागो, इस स्त्री के साथ आकर मुझसे मिलो । मैं उत्तरापथ मे नवीन राज्य की स्थापना कर रहा हूँ । नन्द से फिर समझ लिया जायगा ।' **(नन्द की ओर देखकर)** आश्चर्य ! मैंने तो यह नही लिखा ! यह कैसा प्रपंच है—और किसी का नही, उसी ब्राह्मण चाणक्य का महाराज, सतर्क रहिये, अपने अनुकूल परिजनों पर भी विश्वास न कीजिये । कोई भयानक घटना होने वाली है ।

नन्द—इस तरह से मै प्रताड़ित नही किया जा सकता--देखो यह तुम्हारी मुद्रा है ! **(मुद्रा देता है राक्षस देखकर सिर नीचे कर लेता है)** कृतघ्न ! बोल—उत्तर दे !

राक्षस—मैं कहूँ भी, तो आप मानने ही क्यों लगे !

नन्द—तो आज तुम लोगों को भी उसी अन्धकूप में जाना होगा—प्रतिहारी !

[नागरिकों का प्रवेश/राक्षस को शृंखला में जकड़ा हुआ देखकर उनमें उत्तेजना]

नागरिक—सम्राट् ! आपसे मगध की प्रजा प्रार्थना करती है कि राक्षस और अन्य लोगों पर भी राजदण्ड द्वारा किये गये जो अत्याचार है, उनका फिर से निराकरण होना चाहिये।

नन्द—क्या ! तुम लोगों को मेरे न्याय में अविश्वास है ?

नागरिक—इसके प्रमाण है—शकटार, वररुचि और मौर्य !

नन्द – **(उन लोगों को देखकर)** शकटार ! तू अभी जीवित है ?

शकटार—जीवित हूँ नन्द ! नियति सम्राटों से भी प्रवल है।

नन्द—यह मै क्या देखता हूँ ! प्रतिहारी ! पहले इन विद्रोहियों को बन्दी करो। क्या तुम लोगो ने इन्हे छुड़ाया है ?

नागरिक—इनका न्याय हमलोगों के सामने किया जाय, जिससे हमलोगो को राज-नियमों मे विश्वास हो सम्राट् ! न्याय को गौरव देने के लिए इनके अपराध सुनने की इच्छा आपकी प्रजा रखती है।

नन्द—प्रजा की इच्छा से राजा को चलना होगा ?

नागरिक—हाँ, महाराज !

नन्द—क्या तुम सब-के-सब विद्रोही हो ?

नागरिक—यह सम्राट् अपने हृदय से पूछ देखे।

शकटार—मेरे सात निरपराध पुत्रों का रक्त !

नागरिक—न्यायाधिकरण की आड़ में इतनी वड़ी नृशंसता !

नन्द—प्रतिहारी ! इन सबको बन्दी बनाओ।

[राज-प्रहरियों का सबको बाँधने का उद्योग/दूसरी ओर से सैनिकों के साथ चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त—ठहरो ! **(सब स्तब्ध रह जाते हैं)** महाराज नन्द ! हम सब आपकी प्रजा है, मनुष्य है, हमें पशु बनने का अवसर न दीजिये !

वररुचि—विचार की तो बात है, यदि सुव्यवस्था से काम चल जाय तो उपद्रव क्यों हो ?

नन्द—**(स्वगत)** विभीषिका ! विपत्ति ! सब अपराधी और विद्रोही एकत्र हुए हैं। **(कुछ सोचकर प्रकट)** अच्छा मौर्य ! तुम हमारे सेनापति हो और तुम वररुचि ! हमने तुम लोगों को क्षमा कर दिया।

शकटार—और हम लोगों से पूछो ! पूछो नन्द—अपनी नृशंसताओं से पूछो !

क्षमा—कौन करेगा ! तुम ? कदापि नही ! तुम्हारे घृणित अपराधों का न्याय होगा।

नन्द—(**तनकर**) तब रे मूर्खो ! देखो नन्द की निष्ठुरता ! प्रतिहारी ! राजसिंहासन संकट में है ! आओ, आज हमें प्रजा से लड़ना है !

[प्रतिहारी प्रहरियों के साथ आगे बढ़ता है / कुछ युद्ध होने के साथ ही राजपक्ष के कुछ लोग मारे जाते हैं और एक सैनिक आकर नगर के ऊपर आक्रमण होने की सूचना देता है / युद्ध करते-करते चन्द्रगुप्त नन्द को बन्दी बनाता है / चाणक्य का प्रवेश]

चाणक्य—नन्द ! शिखा खुली है। फिर खिचवाने की इच्छा हुई इसलिए आया हूँ। राजपद के अपवाद नन्द ! आज तुम्हारा विचार होगा।

नन्द—तुम ब्राह्मण। मेरे टुकड़ों से पले हुए —दरिद्र ! तुम मगध के सम्राट् का विचार करोगे ! तुम सब लुटेरे हो, डाकू हो ! विप्लवी हो अनार्य हो !

चाणक्य—(**राजसिंहासन के पास जाकर**) नन्द ! तुम्हारे ऊपर इतने अभियोग हैं—महापद्म की हत्या, शकटार को बन्दी करना —उसके सातों पुत्रों को भूख से तड़पाकर मारना ! सेनापति मौर्य की हत्या का उद्योग—उसकी स्त्री और वररुचि को बन्दी बनाना ! कितनी ही कुलीन कुमारियों का सतीत्वनाश—नगर भर में व्यभिचार का स्रोत बहाना ! ब्रह्मस्व और अनाथो की वृत्तियों का अपहरण ! अन्त में सुवासिनी पर अत्याचार -शकटार की एकमात्र बची हुई सन्तान— सुवासिनी, जिसे तुम अपनी घृणित पाशव-वृत्ति का— .

नागरिक—(**बीच में रोककर हल्ला मचाते हुए**) पर्याप्त है ! यह पिशाच लीला और सुनने की आवश्यकता नही, सब प्रमाण यही उपस्थित है।

चन्द्रगुप्त—ठहरिये (**नन्द से**) कुछ उत्तर देना चाहते है ?

नन्द—कुछ नही। (**'वध करो—हत्या करो'—का आतंक फैलता है**)

चाणक्य—तब भी कुछ समझ लेना चाहिये, नन्द ! हम ब्राह्मण—तुम्हारे लिए, भिक्षा माँगकर तुम्हें जीवन-दान दे सकते हैं ! लोगे -

['नहीं मिलेगी, नहीं मिलेगी' की उत्तेजना/कल्याणी को बंदिनी बनाये पर्वतेश्वर का प्रवेश]

नन्द—आह बेटी, असह्य ! मुझे क्षमा करो ! चाणक्य, मैं कल्याणी के साथ जंगल में जाकर तपस्या करना चाहता हूँ।

चाणक्य—नागरिक वृन्द ! आप लोग आज्ञा दें—नन्द को जाने की आज्ञा—

शकटार—(**छुरा निकालकर नन्द की छाती में घुसेड़ते हुए**) सात हत्याएँ हैं—नन्द यदि सात जन्मों मे मेरे ही द्वारा मारा जाय तो मैं उसे क्षमा कर सकता हूँ —मगध नन्द के बिना भी जी सकता है।

वररुचि—अनर्थ ! (सब स्तब्ध रह जाते हैं)

राक्षस—चाणक्य मुझे भी कुछ बोलने का अधिकार है ?

चन्द्रगुप्त—अमात्य राक्षस के बन्धन खोल दो। आज मगध के सब नागरिक स्वतन्त्र है।

[राक्षस, सुवासिनी, कल्याणी के बन्धन खुलते है]

राक्षस—राष्ट्र इस तरह नही चल सकता।

चाणक्य—तब ?

राक्षस—परिषद् की आयोजना होनी चाहिये।

नागरिक वृन्द—राक्षस, वररुचि, शकटार, चन्द्रगुप्त और चाणक्य की सम्मिलित परिषद् की हम घोषणा करते है।

चाणक्य—परन्तु उत्तरापथ के समान गणतन्त्र की योग्यता मगध मे नही और मगध पर विपत्ति की भी सम्भावना है। प्राचीनकाल से मगध साम्राज्य रहा है, इसलिए यहाँ एक सबल और सुनियन्त्रित शासक की आवश्यकता है। आपलोगो को यह जान लेना चाहिये कि यवन अभी हमारी छाती पर है।

नागरिक—तो कौन इसके उपयुक्त है ?

चाणक्य—आप ही लोग इसे विचारिये।

शकटार—हमलोगो के उद्धारकर्ता, उत्तरापथ के अनेक समरो के विजेता—वीर चन्द्रगुप्त !

नागरिक—चन्द्रगुप्त की जय !

चाणक्य—अस्तु, बढो चन्द्रगुप्त ! सिंहासन शून्य नही रह सकता। अमात्य राक्षस ! सम्राट् का अभिषेक कीजिये।

[मृतक हटाये जाते है / कल्याणी दूसरी ओर जाती है / राक्षस चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़कर सिंहासन पर बैठाता है]

सब नागरिक—सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय ! मगध की जय !

चाणक्य—मगध के स्वतन्त्र नागरिको को बधाई है। आज आपलोगो के राष्ट्र का नवीन जन्म-दिवस है। **स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है, परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वहीं तक दी जा सकती है, जहाँ दूसरों की स्वतन्त्रता मे बाधा न पड़े। यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है।** वत्स चन्द्रगुप्त ! स्वेच्छाचारी शासन का परिणाम तुमने स्वय देख लिया है, अब मन्त्रि-परिषद की सम्मति से मगध और आर्यावर्त के कल्याण मे लगो।

[‘सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय’ का घोष]

य व नि का

चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य

[मगध के राजकीय उपवन में कल्याणी]

कल्याणी—मेरे जीवन के दो स्वप्न थे—दुर्दिन के आकाश में नक्षत्र विलास-सी चन्द्रगुप्त की छवि और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध, किन्तु मगध की राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बन्दिनी है! मैं वही तो हूँ—जिसके संकेत पर मगध का साम्राज्य चल सकता था! वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय है, पर छिन गया अधिकार और मनुष्य का मानदण्ड—ऐश्वर्य। अब तुलना में सबसे छोटी हूँ। जीवन लज्जा की रंगभूमि बन रहा है **(सिर झुका लेती है)** तो जब नन्द वंश का कोई न रहा, तब एक राजकुमारी बचकर क्या करेगी? **(मद्यप की-सी चेष्टा करते हुए पर्वतेश्वर को प्रवेश करते देख चुप हो जाती है)**

पर्वतेश्वर—मगध मेरा है—आधा भाग मेरा है! और मुझसे कुछ पूछा तक न गया! चन्द्रगुप्त अकेले सम्राट् बन बैठा! कभी नहीं! यह मेरे जीते जी नहीं हो सकता! **(सामने देखकर)** कौन है? यह कोई अप्सरा होगी! अरे! कोई अपदेवता न हो! अरे—**(प्रस्थान)**

कल्याणी—मगध के राज-मन्दिर उसी तरह खड़े हैं। गंगा शोण से उसी स्नेह से मिल रही है, नगर का कोलाहल पूर्ववत् है। परन्तु न रहेगा एक नन्द-वंश फिर मैं क्या करूँ? आत्महत्या करूँ! नहीं, जीवन इतना सस्ता नहीं! अहा, देखो मधुर आलोकवाला चन्द्र! उसी प्रकार—नित्य जैसे एक टक इस पृथ्वी को देख रहा हो! कुमुदबन्धु—तुम मेरे भी बन्धु बन जाओ, इस छाती की जलन मिटा दो!

[गाती है]

सुधा-सीकर से नहला दो!
लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायँ वे अपने बस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय सागर को—बहला दो!
अन्धकार उजला हो जाये,
हँसी हंसमाला मँडराये,
मधुराका आगमन कलरवों के मिस—कहला दो!
करुणा के अंचल पर निखरे,
घायल आँसू हैं जो बिखरे,
ये मोती बन जायँ मृदुल कर से लो—सहला दो!

[पर्वतेश्वर का फिर प्रवेश]

पर्वतेश्वर--तुम कौन हो सुन्दरी ? मैं भ्रमवश चला गया था।

कल्याणी---तुम कौन हो ?

पर्वतेश्वर – पर्वतेश्वर।

कल्याणी—मैं हूँ कल्याणी, जिसे नगर-अवरोध के समय तुमने बन्दी बनाया था।

पर्वतेश्वर—राजकुमारी ! नन्द की दुहिता तुम्हीं हो ?

कल्याणी—हाँ पर्वतेश्वर !

पर्वतेश्वर—तुम्ही से मेरा विवाह होनेवाला था ?

कल्याणी –अब यम से होगा।

पर्वतेश्वर—नही सुन्दरी, ऐसा भरा हुआ यौवन !

कल्याणी—सब छीनकर अपमान भी !

पर्वतेश्वर -तुम नही जानती हो, मगध का आधा राज्य मेरा है। तुम मेरी प्रियतमा होकर सुखी रहोगी।

कल्याणी—मै अब सुख नही चाहती। सुख अच्छा है या दु:ख—मैं स्थिर न कर सकी। तुम मुझे कष्ट न दो।

पर्वतेश्वर—हमारे-तुम्हारे मिल जाने से मगध का पूरा राज्य हमलोगों का हो जायगा। उत्तरापथ की संकटमयी परिस्थिति मे अलग रहकर यही शान्ति मिलेगी।

कल्याणी—चुप रहो।

पर्वतेश्वर —सुन्दरी तुम्हें देख लेने पर ऐसा नही हो सकता !

[उसे पकड़ना चाहता है, वह भागती है, परन्तु पर्वतेश्वर पकड़ ही लेता है / कल्याणी उसी का छुरा निकालकर उसका वध करती है / चीत्कार सुनकर चन्द्रगुप्त आ जाता है]

चन्द्रगुप्त -कल्याणी ! कल्याणी ! ! यह क्या ! ! !

कल्याणी -जो होना था– चन्द्रगुप्त ! यह पशु मेरा अपमान करना चाहता था—मुझे भ्रष्ट करके, अपनी संगिनी बनाकर पूरे मगध पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु मौर्य ! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त।

चन्द्रगुप्त --क्या यह सच है कल्याणी !

कल्याणी —हाँ, यह सच है। परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को---प्रेम-पीड़ा को--मै पैरों से कुचलकर, दबाकर खड़ी रही ! अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नही ! पिता ! लो मैं भी आती हूँ ! **(अचानक छुरी मारकर आत्महत्या करती है, चन्द्रगुप्त उसे गोद में उठा लेता है)।**

चाणक्य –(**प्रवेश करके**) चन्द्रगुप्त ! आज तुम निष्कंटक हुए !

चन्द्रगुप्त –गुरुदेव ! इतनी क्रूरता ?

चाणक्य— महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है ! चलो अपना काम करो, विवाद करना तुम्हारा काम नहीं। अब तुम स्वच्छन्द होकर दक्षिणापथ जाने की आयोजना करो। (प्रस्थान)

[चन्द्रगुप्त कल्याणी को लिटाकर देखता है]

[मन्द होते प्रकाश में दृश्यान्तर]

द्वितीय दृश्य

[पथ में राक्षस और सुवासिनी]

सुवासिनी—राक्षस ! मुझे क्षमा करो !

राक्षस—क्यों सुवासिनी; यदि वह बाधा एक क्षण और रुकी रहती तो क्या हमलोग इस सामाजिक नियम के बन्धन मे बँध न गये होते ! अब क्या हो गया ?

सुवासिनी—अब पिताजी की अनुमति आवश्यक हो गयी है।

राक्षस—(व्यंग से) क्यों ? क्या अब वह तुम्हारे ऊपर अधिक नियन्त्रण रखते हैं ? अब उनका तुम्हारे विगत जीवन से कुछ सम्पर्क नहीं ? क्या····

सुवासिनी—अमात्य ! मैं अनाथ थी जीविका के लिए मैंने चाहे कुछ भी किया हो, पर स्त्रीत्व नही वेचा !

राक्षस—सुवासिनी, मैंने सोचा था तुम्हारे अंक मे सिर रखकर विश्राम करते हुए मगध की भलाई मे विपथगामी न हूँगा ! पर तुमने ठोकर मार दिया ? क्या तुम नहीं जानती हो—मेरे भीतर एक दुष्ट-प्रतिभा सदैव सचेष्ट रहती है ? अवसर न दो—उसे न जगाओ ! मुझे पाप से बचाओ !

सुवासिनी—मैं तुम्हारा प्रणय अस्वीकार नहीं करती। किन्तु अब इसका प्रस्ताव पिताजी से करो। तुम मेरे रूप और गुण के ग्राहक हो, और सच्चे ग्राहक हो, परन्तु राक्षस ! मैं जानती हूँ कि यदि व्याह छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार से मैं तुम्हारी हो जाती तो तुम व्याह से अधिक सुखी होते ! उधर पिता ने, जिनके लिए मेरा चारित्र्य, मेरी निष्कलंकता नितान्त वांछनीय हो सकती है, मुझे इस मलीनता के कीचड़ से कमल के समान हाथों मे लिया है ! मेरे चिर दुखी पिता ! राक्षस, तुम वासना से उत्तेजित हो, तुम नही देख रहे हो कि सामने एक जुड़ता हुआ घायल हृदय बिछुड़ जायगा, एक पवित्र कल्पना सहज ही नष्ट हो जायगी !

राक्षस—यह मैं मान लेता, कदाचित् इस पर पूर्ण विश्वास भी कर लेता, परन्तु सुवासिनी मुझे शंका है। चाणक्य का तुम्हारा बाल्य परिचय है। तुम शक्तिशाली की उपासना····

सुवासिनी—ठहरो अमात्य ! मै चाणक्य को इधर तो एक प्रकार से विस्मृत ही हो गयी थी, तुम इस सोयी हुई भ्रांति को न जगाओ ! **(जाती है)**

राक्षस—चाणक्य भूल सकता है ? कभी नहीं। वह राजनीति का आचार्य हो जाय, वह विरक्त तपस्वी हो जाय, परन्तु सुवासिनी का चित्र—यदि अंकित हो गया हो तो—उहूँ—**(सोचता है)**।

[नेपथ्य से गान]

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला ?
पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवाला,
सांध्य गगन-सी रागमयी यह बड़ी तीव्र है हाला,
लौह श्रृंखला से न कड़ी क्या—यह फूलों की माला ?

राक्षस—**(सचेत होकर)** तो चाणक्य मे फिर मेरी टक्कर होगी, होने दो ! वह अधिक सुखदायी होगा। आज से हृदय का यही ध्येय रहा। शकटार से किस मुँह से प्रस्ताव करूँ कि वह सुवासिनी को मेरे हाथ सौंप दे, यह असम्भव है ! तो मगध मे फिर एक आँधी आवे। चलूँ, चन्द्रगुप्त भी तो नही है चन्द्रगुप्त सम्राट् हो सकता है—तो दूसरे भी इसके अधिकारी है। कल्याणी की मृत्यु से बहुत से लोग उत्तेजित है। आहुति की आवश्यकता है, वह्नि प्रज्वलित है। **(जाता है)**

दृ श्यां त र

तृतीय दृश्य

[परिषद्-गृह]

राक्षस—**(प्रवेश करके)** तो आपलोगो की सम्मति है कि विजयोत्सव न मनाया जाय ? मगध का उत्कर्ष, उसके गर्व का दिन यों ही फीका रह जाय ?

शकटार—मैं तो चाहता हूँ परन्तु आर्य चाणक्य की सम्मति—इसमे नही है।

कात्यायन—जो कार्य विना किसी आडम्बर के हो जाय, वही तो अच्छा है।

[मौर्य सेनापति और उनकी स्त्री का प्रवेश]

मौर्य—विजयी होकर चन्द्रगुप्त लौट रहा है, हमलोग आज भी उत्सव न मनाने पायेगे ? राजकीय आवरण मे यह कैसी दासता है !

मौर्य-पत्नी—तब यही स्पष्ट हो जाना चाहिये कि कौन इस साम्राज्य का अधीश्वर है ! विजयी चन्द्रगुप्त अथवा यह ब्राह्मण या परिषद् ?

चाणक्य—**(राक्षस की ओर देखकर)** राक्षस तुम्हारे मन मे क्या है ?

राक्षस—मैं क्या जानूं—जैसी सब लोगों की इच्छा।

चाणक्य—मैं अपने अधिकार और दायित्व को समझकर कहता हूँ कि यह उत्सव न होगा।

मौर्य-पत्नी—तो मैं ऐसी पराधीनता में नहीं रहना चाहती **(मौर्य से)** समझा न! हमलोग आज भी बन्दी हैं।

मौर्य—**(क्रोध से)** क्या कहा—बन्दी? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता—हमलोग चलते हैं! देखूँ किसकी सामर्थ्य है जो रोके। अपमान से जीवित रहना मौर्य नहीं जानता है। चलो—

[चाणक्य और कात्यायन को छोड़कर सब जाते हैं]

कात्यायन—विष्णुगुप्त, तुमने कुछ समझकर ही तो ऐसा किया होगा। फिर भी मौर्य का इस तरह चले जाना चन्द्रगुप्त को···

चाणक्य—बुरा लगेगा! क्यों—भला लगने के लिए मैं कोई काम नहीं करता। कात्यायन—परिणाम में भलाई ही मेरे कामों की कसौटी है। तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी चले जाओ। बको मत!

[कात्यायन का प्रस्थान]

चाणक्य—**(स्वगत)** कारण समझ में नहीं आता—यह वात्याचक्र क्यों? **(विचारता हुआ)**—क्या कोई नवीन अध्याय खुलनेवाला है? अपनी विजयों पर मुझे विश्वास है, फिर यह क्या?

[सोचता है/सुवासिनी का प्रवेश]

सुवासिनी—विष्णुगुप्त!

चाणक्य—कहो सुवासिनी!

सुवासिनी—अभी परिषद्-गृह से जाते हुए पिताजी बहुत दुखी दिखाई दिए। तुमने अपमान किया क्या?

चाणक्य—यह तुमसे किसने कहा? इस उत्सव को रोक देने से साम्राज्य का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। मौर्य का जो कुछ है, वह मेरे दायित्व पर है। अपमान हो या मान, मैं उसका उत्तरदायी हूँ। और, पितृव्य तुल्य शकटार को मैं अपमानित करूँगा, यह तुम्हें कैसे विश्वास हुआ।

सुवासिनी—तो राक्षस ने ऐसा क्यों····

चाणक्य—कहा—ऐं? सो तो कहना ही चाहिये और तुम्हारा भी उस पर विश्वास होना आवश्यक है, क्यों—है न सुवासिनी?

सुवासिनी—विष्णुगुप्त मैं एक समस्या में डाल दी गई हूँ।

चाणक्य—तुम स्वयं पड़ना चाहती हो, कदाचित् यह ठीक भी है।

सुवासिनी—व्यंग न करो, तुम्हारी कृपा मुझ पर होगी ही, मुझे इसका विश्वास है।

चाणक्य—मैं तुमसे बाल्यकाल से परिचित हूँ सुवासिनी ! तुम खेल में भी हारने के समय रोते हुए हँस दिया करती और तब मैं हार स्वीकार कर लेता था। इधर तो तुम्हारा अभिनय का अभ्यास भी बढ़ गया है। तब तो··· (सुवासिनी को देखने लगता है)

सुवासिनी—यह क्या, विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो। फिर अपने को नहीं ? देखो दर्पण लेकर तुम्हारी आँखों में तुम्हारा यह कौन-सा नवीन चित्र है। (प्रस्थान)

चाणक्य—क्या—मेरी दुर्बलता ! नहीं। कौन है !

दौवारिक—(प्रवेश करके) जय हो आर्य, रथ पर मालविका आई है।

चाणक्य –उसे सीधे मेरे पास लिवा लाओ !

[दौवारिक का प्रस्थान / एक चर का प्रवेश]

चर—आर्य, सम्राट् के पिता और माता दोनों व्यक्ति रथ पर अभी-अभी बाहर गये हैं ! (जाता है)

चाणक्य—जाने दो ! इनके रहने से चन्द्रगुप्त के एकाधिपत्य में बाधा होती। स्नेहातिरेक से वह कुछ-का-कुछ कर बैठता।

[दूसरे चर का प्रवेश]

दूसरा चर—(प्रणाम करके) जय हो आर्य, वाल्हीक में नयी हलचल है। विजेता सिल्यूकस अपनी पश्चिमी-राजनीति से स्वतन्त्र हो गया है, अब वह सिकन्दर के पूर्वी-प्रान्तों की ओर दत्तचित्त है। वाल्हीक की सीमा पर नवीन यवन-सेना के शस्त्र चमकने लगे है।

चाणक्य—(चौंककर) और गांधार का समाचार ?

दूसरा चर—अभी कोई नवीनता नही।

चाणक्य—जाओ। (चर का प्रस्थान) क्या उसका भी समय आ गया ? तो ठीक है। ब्राह्मण ! अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह ! कुछ चिन्ता नही, सब सुयोग आप ही चले आ रहे हैं।

[ऊपर देखकर हँसता है / मालविका का प्रवेश]

मालविका—आर्य, प्रणाम करती हूँ। सम्राट् ने श्रीचरणों में सविनय प्रणाम करके निवेदन किया है कि आपके आशीर्वाद से दक्षिणापथ में अपूर्व सफलता मिली, किन्तु सुदूर दक्षिण जाने के लिए आपका निषेध सुनकर लौटा आ रहा हूँ। सीमान्त के राष्ट्रों ने भी मित्रता स्वीकार कर ली है।

चाणक्य—मालविका, विश्राम करो। सब बातों का विवरण एक साथ ही लूंगा।

मालविका—परन्तु आर्य ! स्वागत का कोई उत्साह राजधानी में नहीं।

चाणक्य—मालविका, पाटलिपुत्र षड्यन्त्रों का केन्द्र हो रहा है ! सावधान ! चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा तुम्हीं को करनी होगी ।

दृ श्या न्त र

चतुर्थ दृश्य

[प्रकोष्ठ में चन्द्रगुप्त]

चन्द्रगुप्त—विजयों की सीमा है, परन्तु अभिलाषाओं की नहीं ! मन ऊब-सा गया है । झंझटों से घड़ी-भर अवकाश नहीं । गुरुदेव और क्या चाहते हैं, समझ में नहीं आता । इतनी उदासी क्यों ? मालविका !

मालविका—(प्रवेश करके) सम्राट् की जय हो !

चन्द्रगुप्त—मैं सबसे विभिन्न एक भय-प्रदर्शन-सा बन गया हूँ । मेरा कोई अंतरंग नहीं, तुम भी मुझे सम्राट् कहकर पुकारती हो !

मालविका—देव, फिर मैं क्या कहूँ !

चन्द्रगुप्त—स्मरण आता है—मालव का उपवन और उसमें अतिथि के रूप में मेरा रहना ।

मालविका—सम्राट्, अभी कितने ही भयानक संघर्ष सामने हैं ।

चन्द्रगुप्त—संघर्ष ! युद्ध—देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो, मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का द्वन्द्व ! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण-सूची में रिक्त-चिह्न लगा देता है । मालविका, तुम मेरी ताम्बूलवाहिनी हो, मेरे विश्वास की—मित्रता की प्रतिकृति हो । देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं ! मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता ?

मालविका—आप महापुरुष हैं, साधारणजन-सुलभ दुर्बलता न होनी चाहिये आपमें देव ! बहुत दिनों पर मैंने एक माला बनाई है ।

[माला पहनाती है]

चन्द्रगुप्त—मालविका, इन फूलों का रस तो भौंरे ले चुके हैं ।

मालविका—निरीह कुसुमों पर दोषारोपण क्यों ? उनका काम है सौरभ बिखेरना, यह उनका मुक्त दान है । उसे चाहे भ्रमर ले या पवन !

चन्द्रगुप्त—कुछ गाओ तो मन बहल जाय ।

[मालविका गाती है]

मधुप कब एक कली का है !

पाया जिसमें प्रेम रस, सौरभ और सुहाग,

बेसुध हो उस कली से, मिलता भर अनुराग,

बिहारी—कुंजगली का है !

कुसुम धूल से धूसरित, चलता है उस राह,

काँटों में उलझा तदपि, रही लगन की चाह,

बावला—रंगरली का है !

हो मल्लिका, सरोजिनी, या यूथी का पूंज,

अलि को केवल चाहिये, सुखमय क्रीड़ा-कुंज,

मधुप कब एक कली का है !

चन्द्रगुप्त—मालविका, मन मधुप से भी चंचल और पवन से भी प्रगतिशील है—वेगवान है।

मालविका—उसका निग्रह करना ही महापुरुषों का स्वभाव है देव !

[प्रतिहारी का प्रवेश और संकेत/मालविका उससे बात कर लौटती है]

चन्द्रगुप्त—क्या है ?

मालविका—कुछ नही कहती थी कि यह प्राचीन राज-मन्दिर अभी परिष्कृत नहीं, इसलिए मैंने चन्द्रसौध में आपके शयन का प्रबन्ध करने के लिए कह दिया है।

चन्द्रगुप्त—जैसी तुम्हारी इच्छा—(पान करता हुआ) कुछ और गाओ मालविका ! आल.तुम्हारे स्वर मे स्वर्गीय मधुरिमा है।

[गाती है]

बज रही बंशी आठो धाम की।

अब तक गूँज रही है बोली प्यारे मुख अभिराम की

हुए चपल मृगनैन मोह-वश बजी विपंची काम की

रूप-सुधा के दो दृग प्यालों ने ही मति बेकाम की,

बज रही बंशी आठो याम की।

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी—जय हो देव—शयन का समय हो गया।

[प्रतिहारी, कंचुकी सहित चन्द्रगुप्त का प्रस्थान]

मालविका—जाओ प्रियतम ! सुखी जीवन बिताने के लिए और मैं रहती हूँ चिर-दुखी जीवन का अन्त करने के लिए। जीवन एक प्रश्न है, और मरण है उसका अटल उत्तर ! आर्य चाणक्य की आज्ञा हूँ—'आज घातक इस शयनगृह में आवेंगे,

इसलिए चन्द्रगुप्त यहाँ न सोने पावें और षड्यन्त्रकारी पकड़े जायँ।' **(शय्या पर बैठकर)** यह चन्द्रगुप्त की शय्या है। ओह, आज प्राणों में कितनी मादकता है। मैं····मैं कहाँ हूँ—कहाँ! स्मृति, तू मेरी तरह सो जा! अनुराग तू रक्त से भी रंगीन बन जा!

[गाती है]

ओ मेरी जीवन की स्मृति—ओ अन्तर के आतुर अनुराग!
बैठ गुलाबी विजन उषा में गाते कौन मनोहर राग?
चेतन सागर उर्मिल होता यह कैसी कम्पनमय तान,
यों अधीरता से न मीँड़ लो अभी हुए हैं पुलकित प्रान!
कैसा[1] है यह प्रेम तुम्हारा युगल मूर्त्ति की बलिहारी!
यह उन्मत्त विलास—बता दो कुचलेगा किसकी क्यारी?
इस अनन्त जलनिधि[2] के नाविक, हे मेरे अनन्त[3] अनुराग!
पाल सुनहला बन तनती है स्मृति, यों बस अतीत में जाग।
कहाँ ले चले कोलाहल से मुखरित तट को छोड़ सुदूर—
आह! तुम्हारे निर्दय डाँड़ों से होती हैं लहरें चूर!
देख नहीं सकते तुम दोनों चकित निराशा है भीमा,
बहको मत, क्या न है बता दो—क्षितिज तुम्हारी नव-सीमा?

[शयन]

दृ श्या न्त र

पंचम दृश्य

[प्रभात में राजमन्दिर का एक प्रान्त]

चन्द्रगुप्त—**(अकेले टहलता हुआ)** चतुर सेवक के समान संसार को जगाकर अन्धकार हट गया। रजनी की निस्तब्धता काकली से चंचल हो उठी है। नीला आकाश स्वच्छ होने लगा है, या निद्राक्लान्त निशा, उषा की शुभ्र चादर ओढ़कर नींद की गोद में लेटने चली है। यह जागरण का अवसर है। जागरण का अर्थ है कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होना। और कर्मक्षेत्र क्या है? जीवन-संग्राम! किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली-सी है। तो फिर····मेरे पिता, मेरी माता, इनका तो सम्मान आवश्यक था। वे चले गये, मैं देखता हूँ कि नागरिक तो क्या, मेरे आत्मीय भी आनन्द मनाने से वंचित किये गये। यह परतन्त्रता कब तक चलेगी? प्रतिहारी!

१. प्रथम प्रकाशन में—कबका २. वहीं—इस अनन्तता निधि ३. वहीं—अनंग

प्रतिहारी—(प्रवेश करके) जय हो देव !

चन्द्रगुप्त—आर्य चाणक्य को शीघ्र लिवा लाओ ! **(प्रतिहारी का प्रस्थान)** प्रतिकार आवश्यक है। **(चाणक्य का प्रवेश)** आर्य, प्रणाम !

चाणक्य—कल्याण हो आयुष्मन्, आज तुम्हारा प्रणाम भारी-सा है !

चन्द्रगुप्त – मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।

चाणक्य—यह तो मैं पहले से समझता था ! तो तुम अपने स्वागत के लिए लड़कों के सदृश रूठे हो ?

चन्द्रगुप्त—नही आर्य, मेरे माता-पिता—मैं जानना चाहता हूँ कि उन्हें किसने निर्वासित किया ?

चाणक्य—जान जाओगे तो उसका वध करोगे, क्यों ? **(हँसता है)**।

चन्द्रगुप्त—हँसिये मत ! गुरुदेव ! आपकी मर्यादा रखनी चाहिये, यह मै जानता हूँ। परन्तु वे मेरे माता-पिता थे, यह आपको भी जानना चाहिये।

चाणक्य -तभी तो मैंने उन्हे उपयुक्त अवसर दिया। अब उन्हे आवश्यकता थी शान्ति की, उन्होने वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया है। इसमे खेद करने की कौन बात है ?

चन्द्रगुप्त- यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे है ? केवल साम्राज्य का ही नही, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथों मे रखना चाहते है।

चाणक्य—चन्द्रगुप्त ! मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था। आनन्द-समुद्र मे शान्ति द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण—मैं, चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्यश्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी—ब्राह्मण की—जन्मभूमि को छोड़कर कहाँ आ गया। सौहार्द के स्थान पर कुचक्र, फूलो के प्रतिनिधि काँटे, प्रेम के स्थान मे भय। ज्ञानामृत के परिवर्तन मे कुमन्त्रणा। पतन और कहाँ तक हो सकता है ! ले लो मौर्य चन्द्रगुप्त ! अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा। मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रो से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छायाचित्र, काल्पनिक महत्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसन्धान करता दौड़ रहा हूँ। शान्ति खो गई और स्वरूप विस्मृत हो गया है ! जान गया मै कहाँ और कितने नीचे हूँ।

[प्रस्थान]

चन्द्रगुप्त- **(दीर्घ निःश्वास लेकर)** तो क्या मै असमर्थ हूँ ? उँह, सब हो जायगा।

सिंहरण –**(प्रवेश करके)** सम्राट् की जय हो ! कुछ विद्रोही और षड्यन्त्रकारी पकड़े गये है। एक बड़ी दुखद घटना भी हो गयी है।

चन्द्रगुप्त—**(चौंककर)** क्या ?

सिंहरण—मालविका की हत्या····(गद्‌गद् कण्ठ से) आपका परिच्छद पहनकर वह आपकी ही शय्या पर लेटी थी।

चन्द्रगुप्त—तो क्या, उसने इसीलिए मेरे शयन का प्रबन्ध दूसरे प्रकोष्ठ में किया—आह! मालविका!

सिंहरण—आर्य चाणक्य की सूचना पाकर नायक पूरे गुल्म के साथ राजमन्दिर की रक्षा के लिए प्रस्तुत था! एक छोटा-सा युद्ध होकर वे हत्यारे पकड़े गये। परन्तु उनका नेता राक्षस भाग निकला।

चन्द्रगुप्त—क्या! राक्षस—उसका नेता था?

सिंहरण—हाँ सम्राट्! गुरुदेव बुलाये जायें!

चन्द्रगुप्त—वही तो नहीं हो सकता, वे चले गये। कदाचित् न लौटेंगे।

सिंहरण—ऐसा क्यों? क्या आपने कुछ कह दिया?

चन्द्रगुप्त—हाँ सिंहरण! मैंने अपने माता-पिता के चले जाने का कारण पूछा था!

सिंहरण—(निश्वास लेकर) तो नियति कुछ अदृष्ट का सृजन कर रही है! सम्राट्, मैं गुरुदेव को खोजने जाता हूँ!

चन्द्रगुप्त—(विरक्ति से) जाओ, ठीक है--अधिक हर्ष, अधिक उन्नति के बाद ही तो अधिक दुःख और पतन की बारी आती है—(सिंहरण का प्रस्थान) पिता गये, माता गई, गुरुदेव गये, कन्धे-से-कन्धा मिलाकर प्राभ देनेवाला चिर-सहचर सिंहरण गया! तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा और रहेगा, परन्तु मालविका—आह वह स्वर्गीय कुसुम!

[चिन्तित भाव से प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

षष्ठ दृश्य

[सिंधु तट पर, पर्णकुटी में चाणक्य और कात्यायन]

चाणक्य—कात्यायन, सो नहीं हो सकता। मैं अब मन्त्रित्व नहीं ग्रहण करने का। तुम यदि किसी प्रकार मेरा रहस्य खोल दोगे, तो मगध का अनिष्ट करोगे।

कात्यायन—तब मैं क्या करूँ? चाणक्य, मुझे तो अब इस राजकाज में पड़ना अच्छा नहीं लगता।

चाणक्य—जब तक गांधार का उपद्रव है, तबतक तुम्हें बाध्य होकर करना पड़ेगा। बताओ, नया समाचार क्या है?

कात्यायन—राक्षस सिल्यूकस की कन्या को पढ़ाने के लिए वहीं रहता है और

यह सारा कुचक्र उसी का है ! वह इन दिनों वाल्हीक की ओर गया है। मैं अपना वार्त्तिक पूरा कर चुका—इसीलिए मगध से अवकाश लेकर आया था ! चाणक्य, अब मैं मगध जाना चाहता हूँ। यवन शिविर में अब मेरा जाना असम्भव है।

चाणक्य—जितने शीघ्र हो सके, मगध पहुँचो। मैं सिंहरण को ठीक रखता हूँ। तुम चन्द्रगुप्त को भेजो। सावधान, उसे न मालूम हो कि मैं यहाँ हूँ? अवसर पर उपस्थित हो जाऊँगा। देखो शकटार और तुम्हारे भरोसे मगध रहा ! कात्यायन, यदि सुवासिनी को भेजते तो कार्य में आशातीत सफलता होती। समझे ?

कात्यायन—(हँसकर) यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि तुम सुवासिनी… अच्छा… विष्णुगुप्त ! गार्हपत्य जीवन कितना सुन्दर है।

चाणक्य—मूर्ख हो, अब हम-तुम साथ ब्याह करेंगे।

कात्यायन—मैं ? मुझे नहीं—मेरी गृहिणी तो है!

चाणक्य—(हँसकर) एक ब्याह और सही। अच्छा बताओ, काम कहाँ तक हुआ ?

कात्यायन—(पत्र देता हुआ) हाँ यह लो, यवन शिविर का विवरण है। परन्तु विष्णुगुप्त, एक बात कहे बिना न रह सकूँगा। यह यवन-बाला सिर से पैर तक आर्य संस्कृति में पगी है। उसका अनिष्ट !

चाणक्य—(हँसकर) कात्यायन, तुम सच्चे ब्राह्मण हो ! यह करुणा और सौहार्द का उद्रेक ऐसे ही हृदयों में होता है। परन्तु निष्ठुर—हृदयहीन—मुझे तो केवल अपने हाथों खड़ा किए हुए—एक साम्राज्य का दृश्य देख लेना है !

कात्यायन—फिर भी चाणक्य, उसका सरल मुख-मण्डल--उस लक्ष्मी का अमंगल !

चाणक्य—(हँसकर) तुम पागल तो नहीं हो ?

कात्यायन—तुम हँसो मत चाणक्य ! तुम्हारा हँसना क्रोध से भी भयानक है ! प्रतिज्ञा करो कि उसका अनिष्ट न करूँगा। बोलो !

चाणक्य—कात्यायन, अलक्षेंद्र कितने विकट परिश्रम से भारतवर्ष से बाहर किया गया—यह तुम भूल गये ? अभी है कितने दिनों की बात ! अब इस सिल्यूकस को क्या हुआ जो चला आया ? तुम नहीं जानते कात्यायन, इसी सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त की रक्षा की थी, नियति अब उन्हीं दोनों को एक दूसरे के विपक्ष में खड्ग खींचे हुए खड़ा कर रही है !

कात्यायन—कैसे आश्चर्य की बात है !

चाणक्य—परन्तु इससे क्या, वह तो होकर रहेगा—जिसे मैंने स्थिर कर लिया है ! वर्तमान भारत की नियति—मेरे हृदय पर जलद-पटल में बिजली के समान नाच उठती है—फिर मैं क्या करूँ।

कात्यायन--तुम निष्ठुर हो !

चाणक्य—अच्छा तुम सहृदय हो—एक बात कहूँ—कर सकोगे ? बोलो, चन्द्रगुप्त और उस यवन-बाला के परिणय मे आचार्य बनोगे ?

कात्यायन—क्या कह रहे हो ? यह हँसी !.

चाणक्य—यही है तुम्हारे दया की परीक्षा—देखूं तुम क्या करते हो। क्या इसमे यवन-बाला का अमंगल है ?

कात्यायन -**(सोचकर)** मंगल है—मैं प्रस्तुत हूँ।

चाणक्य—**(हँसकर)** तब तुम निश्चय ही एक सहृदय व्यक्ति हो।

कात्यायन—अच्छा, तो मैं जाता हूँ।

चाणक्य—हाँ, जाओ। स्मरण रखना, हमलोगो के जीवन मे यह अन्तिम संघर्ष है। मुझे आज आभीक से मिलना है। यह लोलुप राजा—देखूं, क्या करता है।

[कात्यायन का प्रस्थान/चर का प्रवेश]

चर—महामात्य की जय हो।

चाणक्य इस समय जय की बड़ी आवश्यकता है। आभीक को यदि जय कर सका तो, सर्वत्र जय है। बोलो आभीक ने क्या कहा ?

चर—वे स्वयं आ रहे है।

चाणक्य—आने दो, तुम जाओ।

[चर का प्रस्थान/आंभीक का प्रवेश]

आंभीक—प्रणाम, ब्राह्मण देवता !

चाणक्य--कल्याण हो राजन ? तुम्हे भय तो नही लगता ? मै एक दुर्नाम व्यक्ति हूँ।

आंभीक—नही आर्य, आप कैसी बात कहते है !

चाणक्य—तो ठीक है, इसी तक्षशिला के मठ मे एक दिन मैने कहा था—'सो कैसे होगा क्षत्रिय—तभी तो म्लेच्छ लोग साम्राज्य बना रहे है और आर्यजाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के राह देख रही है।'

आंभीक—स्मरण है।

चाणक्य—तुम्हारी भूल ने कितना कुत्सित दृश्य दिखाया—इसे भी सम्भवतः तुम न भूले होगे।

आंभीक—नही।

चाणक्य - तुम जानते हो चन्द्रगुप्त ने दक्षिणापथ के स्वर्णगिरि से पञ्चनद तक, सौराष्ट्र से बंग तक एक महान् साम्राज्य स्थापित किया है। यह साम्राज्य मगध का नहीं है, यह आर्य साम्राज्य है। उत्तरापथ के सब प्रमुख गणतन्त्र मालव, क्षुद्रक और

यौधेय आदि सिंहरण के नेतृत्व मे इस साम्राज्य के अंग हैं। केवल तुम्ही इससे अलग हो। इस द्वितीय यवन आक्रमण से तुम भारत के द्वार की रक्षा कर लोगे, या पहले के ही समान उत्कोच लेकर—द्वार खोलकर—सब झंझटों से अलग हो जाना चाहते हो ?

आंभीक—आर्य, वही-त्रुटि बार-बार न होगी।

चाणक्य—तब साम्राज्य झेलम तट की रक्षा करेगा। सिंधु-तट का भार तुम्हारे ऊपर रहा।

आंभीक—अकेले मैं यवनो का आक्रमण रोकने मे असमर्थ हूँ।

चाणक्य—फिर क्या उपाय है ? **(नेपथ्य से जयघोष/आंभीक चकित होकर देखने लगता है)** क्या है —सुन रहे हो ?

आंभीक—समझ मे नही आया। **(नेपथ्य की ओर देखकर)** वह एक स्त्री आगे-आगे कुछ गाती हुई आ रही है और उसके साथ बडी-सी भीड है।

[कोलाहल समीप होता है]

चाणक्य—आओ, हमलोग अलग हटकर देखें।

[दोनों अलग छिप जाते है/आर्य पताका लिए गाती अलका का भीड़ के साथ प्रवेश]

अलका तक्षशिला के वीर नागरिको ! एक बार, अभी-अभी सम्राट् चन्द्रगुप्त से इसका उद्धार किया था, आर्यावर्त्त—प्यारा देश ग्रीको की विजय-लालसा से पुन पद-दलित हो जा रहा है। तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्यभूमि को परतन्त्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखो से देखेगा। तुम्हारा राजा कायर है, और तुम ?

नागरिक—हम लोग उसका परिणाम देख चुके है माँ ! हम लोग प्रस्तुत हैं।

अलका—यही तो !

[समवेत गायन]

हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है—बढ़े चलो—बढ़े चलो !
असंख्य कीर्त्ति-रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य-दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के रुको न शूर साहसी !
अराति सैन्य-सिंधु में—सुवाड़वाग्नि से जलो !
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो !

[सबका प्रस्थान/चाणक्य और आंभीक बाहर आते हैं]

आंभीक— यह अलका है। तक्षशिला में उत्तेजना फैलाती हुई—यह अलका !

चाणक्य—हाँ, आंभीक ! तुम उसे बन्दी बनाओ—मुँह बन्द करो !

आंभीक—**(कुछ सोचकर)** असम्भव ! मैं भी साम्राज्य में सम्मिलित होऊँगा !

चाणक्य—यह मै कैसे कहूँ ? मेरी लक्ष्मी—अलका--ने आर्य गौरव के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं उठाये ! वह भी तो इसी वंश की बालिका है ! फिर तुम तो पुरुष हो, तुम्ही सोचकर देखो।

आंभीक—व्यर्थ का अभिमान अब मुझे देश के कल्याण में बाधक न सिद्ध कर सकेगा। आर्य चाणक्य, मै आर्य-साम्राज्य के बाहर नही हूँ।

चाणक्य—तब तक्षशिला के दुर्ग पर मगध-सेना अधिकार करेगी। यह तुम सहन करोगे ? **(आंभीक सिर नीचा करके विचारता है)** क्षत्रिय कह देना और बात है, करना और !

आंभीक—**(आवेश में)** हार ही चुका हूँ, पराधीन हो ही चुका हूँ। अब स्वदेश के अधीन होने मे उससे अधिक कलंक तो मुझे लगेगा नही, आर्य चाणक्य !

चाणक्य—तो इस गांधार और पंचनद का शासन-सूत्र होगा अलका के हाथ में और तक्षशिला होगी उसकी राजधानी, बोलो —स्वीकार है ?

आंभीक—अलका ?

चाणक्य—हाँ, अलका और सिंहरण इस महाप्रदेश के शासक होंगे।

आंभीक—सब स्वीकार है, ब्राह्मण ! मै केवल एक बार यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ। रणक्षेत्र मे एक सैनिक होना चाहता हूँ—और कुछ नहीं।

चाणक्य—तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण हो !

[चाणक्य संकेत करता है/सिंहरण और अलका का प्रवेश]

अलका—भाई, आंभीक !

आंभीक—बहन, अलका ! तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। मैं भूल करता था बहन ! तक्षशिला के लिए अलका पर्याप्त है, आंभीक की आवश्यकता न थी।

अलका—भाई क्या कहते हो ?

आंभीक—मैं देशद्रोही हूँ, नीच--अधम हूँ, तूने गांधार के राजवंश का मुख उज्ज्वल किया है--राज्यासन के योग्य तू ही है।

अलका—भाई, अब भी तुम्हारा भ्रम नहीं गया ! राज्य किसी का नहीं है ! सुशासन का है--जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है। देखते नहीं, प्राच्य में सूर्योदय हुआ है। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त तक इस महान् आर्य-साम्राज्य के सेवक हैं।

स्वतन्त्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा, वही वरेण्य है। उसी की पूजा होगी, भाई! **तक्षशिला मेरी नहीं और तुम्हारी भी नहीं, तक्षशिला आर्यावर्त्त का एक भू-भाग है, वह आर्यावर्त्त की होकर ही रहे, इसके लिए मर मिटो!** फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहाँ की अप्सराएँ विजय-माला लेकर खड़ी होंगी, सूर्य-मण्डल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मण्डित होकर गांधार का राजकुल अमर हो जायगा।

चाणक्य—साधु—अलके—साधु!

आंभीक—**(खड्ग खींचकर)** खड्ग की शपथ—मैं कर्त्तव्य से च्युत न होऊँगा!

सिंहरण—**(उसका आलिंगन करके)** मित्र आंभीक! मनुष्य साधारणतः पशुधर्मा है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और निःस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है।

[आंभीक का प्रस्थान]

सिंहरण—अलका, सम्राट् किस मानसिक वेदना में दिन बिताते होंगे?

अलका—वे वीर हैं मालव, उन्हें विश्वास है कि मेरा कुछ कार्य है। उसकी साधना के लिए प्रकृति, अदृष्ट, दैव या ईश्वर कुछ-न-कुछ अवलम्ब जुटा ही देगा! सहायक चाहे आर्य चाणक्य हों या मालव!

सिंहरण—अलका, उस प्रचण्ड पराक्रम को मैं जानता हूँ। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि सम्राट् मनुष्य हैं। अपने से बार-बार सहायता करने के लिए कहने में, मानव-स्वभाव विद्रोह करने लगता है। यह सौहार्द और विश्वास का सुन्दर अभिमान है। उस समय मन चाहे अभिनय करता हो संघर्ष से बचने का, किन्तु जीवन अपना संग्राम अंध होकर लड़ता है—कहता है—अपने को बचाऊँगा नहीं, जो मेरे मित्र हों, आवें और अपना प्रमाण दें।

[दोनों का प्रस्थान सुवासिनी का प्रवेश]

चाणक्य—सुवासिनी, तुम यहाँ कैसे?

सुवासिनी—सम्राट् को अभी तक आपका पता नहीं, पिताजी ने इसीलिए मुझे भेजा है। उन्होंने कहा—जिस खेल का आरम्भ किया है, उसका पूर्ण और सफल अन्त करना चाहिये।

चाणक्य—क्यों करें सुवासिनी, तुम राक्षस के साथ सुखी जीवन बिताओगी, यदि इतनी भी मुझे आशा होती····वह तो यवन-सेनानी है और तुम मगध की मन्त्रि-कन्या! क्या उससे परिणय कर सकोगी?

सुवासिनी—**(निःश्वास लेकर)** राक्षस से! नहीं—असम्भव! चाणक्य तुम इतने निर्दय हो!

चाणक्य—(हँसकर) सुवासिनी ! वह स्वप्न टूट गया—इस विजन बालुका-सिंधु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक भ्रूभंग ने उसे लौटा दिया ! मैं कंगाल हूं **(ठहरकर)** सुवासिनी—मैं तुम्हें दण्ड दूंगा। चाणक्य की नीति में अपराधों के दण्ड से कोई मुक्त नहीं।

सुवासिनी—क्षमा करो विष्णुगुप्त !

चाणक्य—असम्भव है। तुम्हें राक्षस से ब्याह करना ही होगा, इसी में हमारा तुम्हारा और मगध का कल्याण है !

सुवासिनी—निष्ठुर ! निर्दय !

चाणक्य—(हँसकर) तुम्हें अभिनय भी करना पड़ेगा ! इसमें समस्त संचित कौशल का प्रदर्शन करना होगा। सुवासिनी, तुम्हें बंदिनी बनकर ग्रीक-शिविर में राक्षस और राजकुमारी के पास पहुँचना होगा—राक्षस को देशभक्त बनाने के लिए और राजकुमारी की पूर्वस्मृति में आहुति देने के लिए। कार्नेलिया चन्द्रगुप्त से परिणीता होकर सुखी हो सकेगी—कि नहीं, इसकी परीक्षा करनी होगी। **(सुवासिनी सिर पकड़कर बैठ जाती है / उसके सिर पर हाथ रखकर)** सुवासिनी ! तुम्हारा प्रणय, स्त्री और पुरुष के रूप मे केवल राक्षस मे अंकुरित हुआ, और शैशव का वह सब—केवल हृदय की स्निग्धता थी। आज इसी कारण से राक्षस का प्रणय द्वेष मे बदल रहा है, परन्तु काल पाकर वह अंकुर हरा-भरा और सफल हो सकता है ! चाणक्य यह नही मानता है कि कुछ भी असंभव है। तुम राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती हो, क्रमश. उस प्रेम का सच्चा विकास हो सकता है। और मैं—अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूँ—यही मेरे लिए अच्छा होगा। मानव-हृदय में वह भाव-सृष्टि तो हुआ ही करती है। यही हृदय का रहस्य है, तब हमलोग जिस सृष्टि में स्वतन्त्र हों, उसमे परवशता क्यो मानें ? मैं क्रूर हूं, केवल वर्तमान के लिए, भविष्य के सुख, और शांति के लिए, परिणाम के लिए नही ! श्रेय के लिए मनुष्य को सब त्याग करना चाहिये, सुवासिनी—जाओ !

सुवासिनी—(दीनता से चाणक्य का मुंह देखते हुए) तो विष्णुगुप्त, तुम इतना बड़ा त्याग करोगे ! अपने हाथो बनाये हुए इतने बडे साम्राज्य का शासन हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी को सौंप दोगे ! और सो भी मेरे लिए !

चाणक्य—(घबड़ाकर) मैं बड़ा विलम्ब कर रहा हूं ! सुवासिनी, आर्य दांड्यायन के आश्रम मे पहुँचने के लिए मैं पथ भूल गया हूं ! मेघ के समान मुक्त, वर्षा-सा जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना—यही तो ब्राह्मण का आदर्श है। मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देखकर इस रंगमंच से हट जाना है !

सुवासिनी—महापुरुष ! मैं नमस्कार करती हूँ। विष्णुगुप्त तुम्हारी बहन तुमसे आशीर्वाद की भिखारिन है····। (चरण पकड़ती है)

चाणक्य—सुखी रहो ।

[सजल नेत्र से सुवासिनी के सिर पर हाथ फेरते हुए प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

सप्तम दृश्य

[कपिशा के राज-मन्दिर में कार्नेलिया और उसकी सखी]

कार्नेलिया— बहुत दिन हुए देखा था—वही भारतवर्ष ! वही निर्मल ज्योति का देश—पवित्र भूमि, अब हत्या और लूट से बीभत्स बनायी जायगी। ग्रीक-सैनिक इस शस्यश्यामला पृथ्वी को रक्तरंजित बनावेंगे ! पिता अपने साम्राज्य से सन्तुष्ट नहीं, आशा उन्हें दौड़ावेगी। पिशाची की छलना में पड़कर लाखों प्राणियों का नाश होगा। और, सुना है यह युद्ध होगा उस चन्द्रगुप्त से !

सखी—सम्राट् तो आज स्कन्धावार में जानेवाले हैं।

[राक्षस का प्रवेश]

राक्षस—आयुष्मती ! मैं आ गया।

कार्नेलिया—नमस्कार ! तुम्हारे देश में तो सुना है कि ब्राह्मण जाति बड़ी तपस्वी और त्यागी है !

राक्षस—हाँ कल्याणी, वह मेरे पूर्वजों का गौरव है, किन्तु हमलोग तो बौद्ध हैं !

कार्नेलिया—और तुम उसके ध्वंसावशेष हो। मेरे यहाँ ऐसे ही लोगों को देशद्रोही कहते है। तुम्हारे यहाँ इसे क्या कहते हैं ?

राक्षस—राजकुमारी ! मैं कृतघ्न नही, मेरे देश में कृतज्ञता पुरुषत्व का चिन्ह है। जिसके अन्न से जीवन-निर्वाह होता है; उसका कल्याण—

कार्नेलिया—कृतज्ञता पाश है, मनुष्य की दुर्बलताओं के फन्दे उसे और भी दृढ़ करते हैं परन्तु—जिस देश ने तुम्हारा पालन पोषण करके पूर्व उपकारों का बोझ तुम्हारे ऊपर डाला है, उसे विस्मृत करके क्या तुम कृतघ्न नही हो रहे हो ? सुकरात का तर्क तुमने पढ़ा है।

राक्षस—तर्क और राजनीति मे भेद है, मैं प्रतिशोध चाहता हूँ। राजकुमारी कर्णिक ने कहा—

कार्नेलिया—कि सर्वनाश कर दो। यदि ऐसा है, तो मैं तुम्हारी राजनीति नहीं पढ़ना चाहती।

राक्षस—पाठ थोड़ा अवशिष्ट है। उसे भी समाप्त कर लीजिये, आपके पिता की आज्ञा है।

कार्नेलिया—मैं तुम्हारे उशना और कणिक से ऊब गयी हूँ, जाओ। (**राक्षस का प्रस्थान**) एलिस! इन दिनों जो ब्राह्मण मुझे रामायण पढ़ाता था, वह कहाँ गया? उसने व्याकरण पर अपनी नयी टिप्पणी प्रस्तुत की है। वह कितना सरल और विद्वान है!

एलिस—वह चला गया राजकुमारी!

कार्नेलिया—बड़ा ही निर्लोभी सच्चा ब्राह्मण था (**सिल्यूकस को आते देख**) अरे पिताजी!

सिल्यूकस—हाँ बेटी! अब तुमने अध्ययन बन्द कर दिया, ऐसा क्यों? अभी वह राक्षस मुझसे कह रहा था।

कार्नेलिया—पिताजी! उसके देश ने उसका नाम कुछ समझकर ही रक्खा है—राक्षस! मैं उससे डरती हूँ।

सिल्यूकस—बड़ा विद्वान् है बेटी! मैं उसे भारतीय प्रदेश का क्षत्रप बनाऊँगा।

कार्नेलिया—पिताजी! वह पाप की मलिन छाया है। उसकी भवों में कितना अन्धकार है, आप देखते नहीं। उससे अलग रहिये। विश्राम लीजिये। विजयों की प्रवंचना में अपने को न हारिये। महत्वाकांक्षा के दाँव पर मनुष्यता सदैव हारी है। डिमास्थनीज् ने....

सिल्यूकस—मुझे दार्शनिकों से तो विरक्ति हो गयी है। क्या ही अच्छा होता कि ग्रीस में दार्शनिक न उत्पन्न होकर केवल योद्धा ही होते!

कार्नेलिया—सो तो होता ही है। मेरे पिताजी किससे कम वीर हैं। मेरे विजेता पिता। मैं भूल करती हूँ, क्षमा कीजिये।

सिल्यूकस—यही तो मेरी बेटी! ग्रीक-रक्त वीरता के परमाणुओं से संगठित है। तुम चलोगी युद्ध देखने? सिंधु-तट के स्कंधावार मे रहना।

कार्नेलिया—चलूँगी!

सिल्यूकस—अच्छा तो प्रस्तुत रहना। आंभीक—तक्षशिला का राजा—इस युद्ध में तटस्थ रहेगा, आज उतका पत्र आया है और राक्षम कहता है कि चाणक्य—चन्द्रगुप्त का मन्त्री—उससे क्रुद्ध होकर कहीं चला गया है। पंचनद में चन्द्रगुप्त का कोई सहायक नहीं। बेटी सिकन्दर से बड़ा साम्राज्य—उससे बड़ी विजय! कितना उज्ज्वल भविष्य है।

कार्नेलिया—हाँ पिताजी!

सिल्यूकस—हाँ पिताजी! उल्लास की एक रेखा भी नहीं—इतनी उदासी! तू पढ़ना छोड़ दे! मैं कहता हूँ कि तू दार्शनिक होती जा रही है—ग्रीक—रक्त!

कार्नेलिया—वही तो कर रही हूँ। आप ही तो कभी पढ़ने के लिए कहते हैं, कभी छोड़ने के लिए।

सिल्यूकस—तब ठीक है, मैं ही भूल रहा हूँ। **(दोनों का प्रस्थान)**

दृ श्या न्त र

अष्टम दृश्य

[पथ में चन्द्रगुप्त और सैनिक]

चन्द्रगुप्त—पंचनद का नायक कहाँ है ?

एक सैनिक—वह आ रहे हैं, देव !

नायक—**(प्रवेश करके)** जय हो देव !

चन्द्रगुप्त—सिंहरण कहाँ है ? **(नायक विनम्र होकर पत्र देता है, पत्र पढ़कर उसे फाड़ते हुए)** हूँ ! सिंहरण इस प्रतीक्षा में है कि कोई बलाधिकृत आ जाय तो अपना अधिकार सौंप दें ! नायक ! तुम खड्ग पकड़ सकते हो और उसे हाथ में लिये सत्य से विचलित तो नही हो सकते ? बोलो, चन्द्रगुप्त के नाम से प्राण दे सकते हो ! मैंने प्राण देनेवाले वीरों को देखा है। चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है और विश्वास रखो, उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगल-गान है ! आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ, मैं आज सम्राट् नहीं, सैनिक हूँ ! चिन्ता क्या ? सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें—क्या डर ! सैनिको ! सुन लो, आज से मैं केवल सेनापति हूँ और कुछ नहीं ! जाओ यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो ! कह देना कि तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण ! चन्द्रगुप्त कायर नहीं है—जाओ, जाओ **(नायक जाने लगता है)** ठहरो—आंभीक की क्या लीला है ?

नायक—आंभीक ने यवनों से कहा कि ग्रीक-सेना मेरे राज्य से आ सकती है, परन्तु युद्ध के लिए सैनिक न दूंगा, क्योंकि मैं उन पर स्वयं विश्वास नहीं करता।

चन्द्रगुप्त- और वह कर ही क्या सकता था ! कायर ! अच्छा जाओ, देखो—वितस्ता के उस पार हमलोगों को शीघ्र पहुँचना चाहिये। तुम सैन्य लेकर मुझसे वहीं मिलो **(नायक का प्रस्थान)**

एक सैनिक—मुझे क्या आज्ञा है, मगध जाना होगा ?

चन्द्रगुप्त—आर्य शकटार को पत्र देना और सब समाचार सुना देना मैंने लिख तो दिया है, परन्तु तुम भी उनसे इतना कह देना कि इस समय मुझे सैनिक, शस्त्र तथा अन्न चाहिये। देश में डौंड़ी फेर दें कि आर्यावर्त्त में शस्त्र ग्रहण करने में जो समर्थ हैं—सैनिक हैं और जितनी सम्पति है—युद्ध-विभाग की है—जाओ ! **(सैनिक का प्रस्थान)**

दूसरा सैनिक—शिविर आज कहाँ रहेगा देव ?

चन्द्रगुप्त—अश्व की पीठ पर सैनिक ! कुछ खिला दो और अश्व बदलो। एक क्षण विश्राम नहीं। हाँ ठहरो—सब सेना-निवेशों में आज्ञापत्र भेज दिये गये ?

दूसरा सैनिक—हाँ देव !

चन्द्रगुप्त—तो अब मैं बिजली से भी शीघ्र पहुंचना चाहता हूँ। चलो, शीघ्र प्रस्तुत हो ! **(सैनिकों का प्रस्थान/आकाश की ओर देखकर)** अदृष्ट ! खेल न करना ! चन्द्रगुप्त मरण से अधिक भयानक का आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है ! विजय—मेरे चिर सहचर ! **(हँसते हुए प्रस्थान)**

दृ श्या न्त र

नवम दृश्य

[ग्रीक शिविर]

कार्नेलिया—एलिस ! यहाँ आने पर मन जैसे उदास हो गया है। इस सन्ध्या के दृश्य ने मेरी तन्मयता में एक स्मृति की सूचना दी है ! सरला सन्ध्या पक्षियों के नाद से शान्ति को बुलाने लगी है। देखते-देखते एक-एक करके दो-चार नक्षत्र उदित होने लगे। जैसे प्रकृति, अपनी सृष्टि की रक्षा, हीरों की कील से जड़ी हुई काली ढाल लेकर कर रही है और पवन किसी मधुर कथा का भार लेकर मचलता हुआ जा रहा है यह कहाँ जायगा एलिस !

एलिस—अपने प्रिय के पास !

कार्नेलिया—दुर ! तुझे तो प्रेम-ही-प्रेम सूझता है। **(दासी का प्रवेश)**

दासी—राजकुमारी ! एक स्त्री बन्दी बनकर आयी है।

कार्नेलिया—**(आश्चर्य से)** तो उसे पिताजी ने मेरे पास भेजा होगा, उसे शीघ्र ले आओ ! **(दासी का प्रस्थान / सुवासिनी सहित पुनः प्रवेश)** तुम्हारा नाम क्या है ?

सुवासिनी—मेरा नाम सुवासिनी है। मैं किसी को खोजने जा रही थी, सहसा बंदी कर ली गयी। वह भी कदाचित् आप के यहाँ बंदी हो !

कार्नेलिया—उसका नाम ?

सुवासिनी—राक्षस !

कार्नेलिया—ओहो, तुमने उससे ब्याह कर लिया है क्या ? तब तो तुम सचमुच अभागिनी हो।

सुवासिनी—**(चौंककर)** ऐसा क्यों ? अभी तो ब्याह होनेवाला है, क्या आप उसके सम्बन्ध में कुछ जानती हैं।

कार्नेलिया—बैठो, बताओ, तुम बन्दी बनकर रहना चाहती हो या मेरी सखी ? झटपट बोलो !

सुवासिनी—बन्दी बनकर तो आई हूँ, यदि सखी हो जाऊँ तो अहोभाग्य !

कार्नेलिया—प्रतिज्ञा करनी होगी कि मेरी अनुमति के बिना तुम ब्याह न करोगी।

सुवासिनी—स्वीकार है।

कार्नेलिया—अच्छा, अपनी परीक्षा दो, बताओ तुम विवाहिता स्त्रियों को क्या समझती हो ?

सुवासिनी—धनियों के प्रमोद का कटा-छटा हुआ शोभा-वृक्ष कोई डाली उल्लास से आगे बढी, कुतर दी गयी। माली के मन से सँवरे हुए गोल-मटोल खड़े रहो !

कार्नेलिया—वाह, ठीक कहा। यही तो मैं सोचती थी। क्यो एलिस ! अच्छा, यौवन और प्रेम को क्या समझती हो ?

सुवासिनी—अकस्मात् जीवन-कानन मे, एक राका-रजनी की छाया मे छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल—कौन ? कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी ! फिर उसी मे प्रेम का मुकुल लग जाना है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमे छिपी रहती है।

कार्नेलिया—(उसे गले लगाकर) आह सखी ! तुम तो कवि हो, तुम प्रेम करना चाहती हो और जानती हो उसका रहस्य। तुमसे हमारी पटेगी ! एलिस ! जा पिताजी से कह दे कि मैंने उस स्त्री को अपनी सखी बना लिया।

[एलिस का प्रस्थान]

सुवासिनी—राजकुमारी ! प्रेम मे स्मृति का ही सुख है। एक टीस उठती है, वही तो प्रेम का प्राण है। आश्चर्य तो यह है कि प्रत्येक कुमारी के हृदय मे वह निवास करती है। परन्तु उसे सब प्रत्यक्ष नही कर सकती, सबको उसका मार्मिक अनुभव नही होता।

कार्नेलिया—तुम क्या कहती हो ?

सुवासिनी—वह स्त्री-जीवन का सत्य है। जो कहती है कि मैं नहीं जानती—वह दूसरे को धोखा देती है, अपने को भी प्रवंचित करती है ! धधकते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रखकर उसी कम्पन मे स्वर मिलाकर कामदेव गाता है और राजकुमारी ! काम-संगीत की वही तान सौन्दर्य की रंगीन लहर बनकर, युवतियों में मुख पर लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढाया करती है।

कार्नेलिया सखी ! मदिरा की प्याली में तू स्वप्न-सी लहरों को मत

आन्दोलित कर। स्मृति बड़ी निष्ठुर है। यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है—तो संसार ज्वालामुखी है।

[सिल्यूकस का प्रवेश]

सिल्यूकस—तो बेटी, तुमने इसे अपने पास रख ही लिया! मन बहलेगा, अच्छा तो है। मैं भी इसी समय जा रहा हूँ, कल ही आक्रमण होगा। देखो, सावधान रहना!

कार्नेलिया—किस पर आक्रमण होगा? पिताजी!

सिल्यूकस—चन्द्रगुप्त की सेना पर। वितस्ता के इस पार सेना आ पहुँची है, अब युद्ध में विलम्ब नहीं।

कार्नेलिया—पिताजी, उसी चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा, जिसके लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी? वही तो भारत का सम्राट् हुआ न?

सिल्यूकस—हाँ, बेटी, वही चन्द्रगुप्त!

कार्नेलिया—पिताजी, आपने ही मृत्यु-मुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणों की रक्षा की थी?

सिल्यूकस—हाँ, वही तो!

कार्नेलिया—और उसी ने आपकी कन्या के सम्मान की रक्षा की थी—फिलिप्स का वह अशिष्ट आचरण पिताजी!

सिल्यूकस—तभी तो बेटी, मैंने साइबर्टियस को दूत बनाकर समझाने के लिए भेजा था। किन्तु उसने उत्तर दिया कि मैं सिल्यूकस का कृतज्ञ हूँ—तो भी क्षत्रिय हूँ. रणदान जो भी माँगेगा, उसे दूंगा। युद्ध होना अनिवार्य है।

कार्नेलिया—तब मैं कुछ नहीं कहती।

सिल्यूकस—**(प्यार से)** तू रूठ गयी बेटी! भला अपनी कन्या के सम्मान की रक्षा करनेवाले का मैं वध करूँगा?

सुवासिनी—फिलिप्स को द्वन्द्व-युद्ध में सम्राट् चन्द्रगुप्त ने मार डाला। सुना था, इन लोगों का कोई व्यक्तिगत विरोध....

सिल्यूकस—तुम चुप रहो!—**(कार्नेलिया से)** बेटी, मैं चन्द्रगुप्त को क्षत्रप बना दूंगा, बदला चुक जायगा। मै हत्यारा नहीं—विजेता सिल्यूकस हूँ। **(प्रस्थान)**

कार्नेलिया—**(दीर्घ निःश्वास लेकर)** रात अधिक हो गयी, चलो सो रहें! सुवासिनी, तुम कुछ गाना जानती हो?

सुवासिनी—जानती थी भूल गयी हूँ। कोई वाद्य-यंत्र तो आप न बजाती होंगी?—**(आकाश की ओर देखकर)** रजनी कितने रहस्यों की रानी है, राजकुमारी!

कार्नेलिया—रजनी! मेरी स्वप्न-सहचरी!

[सुवासिनी गाती है]

सखे ! वह प्रेममयी रजनी।

आँखों में स्वप्न बनी सखे ! वह प्रेममयी रजनी।

कोमल द्रुमदल निष्कम्प रहे,

ठिठका-सा चन्द्र खड़ा

माधव सुमनों में गूँथ रहा,

तारों की किरन-कनी। सखे ! वह प्रेममयी रजनी।

नयनों में मदिर विलास लिये,

उज्ज्वल आलोक खिला।

हँसती-सी सुरभि सुधार रही,

अलकों की मृदुल अनी। सखे ! वह प्रेममयी रजनी।

मधु-मन्दिर-सा यह विश्व बना,

मीठी झनकार उठी !

केवल तुमको थी देख रही—

स्मृतियों की भीड़ घनी। सखे ! वह प्रेममयी रजनी।

[मन्द होते प्रकाश में क्षीण संगीत/अन्धकार में दृश्यान्तर]

दशम दृश्य

[युद्ध-क्षेत्र के समीप चाणक्य और सिंहरण]

चाणक्य—तो युद्ध आरंभ हो गया ?

सिंहरण—हाँ आर्य ! प्रचण्ड विक्रम से सम्राट् ने आक्रमण किया है। यवन-सेना थर्रा उठी है। आज के युद्ध मे प्राणो को तुच्छ गिनकर वे भीम-पराक्रम का परिचय दे रहे हैं। गुरुदेव ! यदि कोई दुर्घटना हुई तो ! आज्ञा दीजिये, अब मैं अपने को नही रोक सकता। तक्षशिला और मालवो की चुनी हुई सेना प्रस्तुत है, किस समय काम आवेगी ?

चाणक्य—जब चन्द्रगुप्त की नासीर सेना का बल क्षीण होने लगे और सिन्धु के इस पार की यवनों की समस्त सेना युद्ध में सम्मिलित हो जाय, उसी समय आंभीक आक्रमण करें। और तुम—चन्द्रगुप्त का स्थान ग्रहण करो। दुर्ग की सेना सेतु की रक्षा करेगी, साथ ही चन्द्रगुप्त को सिन्धु के उस पार जाना होगा—यवन-स्कंधावार पर आक्रमण करने, समझे ?

[सिंहरण का प्रस्थान / चर का प्रवेश]

चर—क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—जब चन्द्रगुप्त की सेना सिन्धु के उस पार पहुँच जाय तब तुम्हें ग्रीकों के प्रधान शिविर की ओर उसे आक्रमण को प्रेरित करना होगा। चन्द्रगुप्त के पराक्रम की अग्नि में घी डालने का काम तुम्हारा है।

चर—जैसी आज्ञा! (प्रस्थान/दूसरे चर का प्रवेश)

चर—देव, राक्षस प्रधान शिविर में है।

चाणक्य—जाओ, ठीक है। सुवासिनी से मिलते रहो।

[दोनों का प्रस्थान]

[एक ओर से सिल्यूकस, दूसरी ओर से चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

सिल्यूकस—चन्द्रगुप्त, तुम्हें राजपद की बधाई देता हूँ!

चन्द्रगुप्त—स्वागत सिल्यूकस! अतिथि की-सी तुम्हारी अभ्यर्थना करने में हम विशेष सुखी होते; परन्तु क्षात्र-धर्म बड़ा कठोर है। आर्य कृतघ्न नहीं होते; प्रमाण यही है कि मैं अनुरोध करता हूँ—यवन-सेना बिना युद्ध के लौट जाय।

सिल्यूकस—वाह! तुम वीर हो, परन्तु मुझ तो भारत-विजय करना ही होगा। फिर चाहे तुम्हीं को क्षत्रप बना दूं।

चन्द्रगुप्त—यही तो असम्भव है—तो फिर युद्ध हो!

[रण-वाद्य / युद्ध / लड़ते हुए उन लोगों का प्रस्थान]

[आंभीक का ससैन्य प्रवेश]

आंभीक—मगध सेना प्रत्यावर्त्तन करती है। ओह, कैसा भीषण युद्ध है। ठहरें? अरे, देखो कैसा परिवर्त्तन!—यवन-सेना हट रही है, लो—वह भगी।

चर—(सत्वर प्रवेश करते) आक्रमण कीजिये—जिसमें सिन्धु तक यह सेना लौट न सके। आर्य चाणक्य ने कहा है, युद्ध अवरोधात्मक होना चाहिये।

[चर का प्रस्थान/रण-वाद्य बजते हैं/लौटती हुई यवन-सेना का दूसरी ओर से प्रवेश]

सिल्यूकस—कौन? प्रवंचक आंभीक! कायर!

आंभीक—हाँ सिल्यूकस—आंभीक सदा प्रवंचक रहा, परन्तु यह प्रवंचना कुछ महत्त्व रखती है—सावधान!

[युद्ध/सिल्यूकस को घायल कर आंभीक की मृत्यु/यवन सेना का प्रस्थान/ एक ओर से चन्द्रगुप्त दूसरी ओर से सिंहरण का प्रवेश]

सब—'सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय!'

चन्द्रगुप्त—भाई सिंहरण, बड़े अवसर पर आए!

सिंहरण—हाँ सम्राट्! और समय चाहे मालव न मिलें, पर प्राण देने का महोत्सव-पर्व वे नहीं छोड़ सकते। आर्य चाणक्य ने कहा है कि मालव और तक्षशिला की सेना प्रस्तुत मिलेगी। आप ग्रीकों के प्रधान शिविर का अवरोध कीजिये!

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव ने यहाँ भी मेरा ध्यान नहीं छोड़ा ! मैं उनका अपराधी हूँ सिंहरण !

सिंहरण—मैं यहाँ देख लूंगा, आप शीघ्र जाइये—समय नहीं है ! मैं भी आता हूँ।

सेना—महाबलाधिकृत सिंहरण की जय !

[एक ओर चन्द्रगुप्त का दूसरी ओर सिंहरण आदि का प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

ग्यारहवाँ दृश्य

[यवन शिविर का एक भाग / चिन्तित भाव से राक्षस का प्रवेश]

राक्षस—क्या होगा ? आग लग गयी है, बुझ न सकेगी ? तो मैं कहाँ रहूँगा ? क्या हम सब ओर से गये ?

सुवासिनी—**(प्रवेश करके)** सब ओर से गए राक्षस ! समय रहते तुम सचेत न हुए !

राक्षस—तुम कैसे सुवासिनी !

सुवासिनी—तुम्हे खोजते हुए बन्दी बना ली गयी। अब उपाय क्या है ? चलोगे ?

राक्षस—कहाँ सुवासिनी ? इधर खाई, उधर पर्वत ! कहाँ चलूं ?

सुवासिनी—मैं इस युद्ध-विप्लव से घबरा रही हूँ। वह देखो रण-वाद्य बज रहे हैं ! यह स्थान भी सुरक्षित नहीं—मुझे बचाओ राक्षस ! **(भय का अभिनय करती है)**

राक्षस—**(उसे आश्वासन देते हुए)** मेरा कर्त्तव्य मुझे पुकार रहा है। प्रिये, मैं रणक्षेत्र से भाग नहीं सकता, चन्द्रगुप्त के हाथो प्राण देने मे ही कल्याण है ! किन्तु तुमको···**(इधर-उधर देखता है/रण-कोलाहल बढ़ता है)**

सुवासिनी—बचाओ !

राक्षस—**(निःश्वास लेकर)** अदृष्ट ! दैव प्रतिकूल है—चलो सुवासिनी !

[दोनों का प्रस्थान/एकाकिनी कार्नेलिया का प्रवेश/रण-शब्द]

कार्नेलिया—यह क्या ! पराजय न हुई होती तो शिविर पर आक्रमण कैसे होता—**(विचार करके)** चिन्ता नहीं, ग्रीक बालिका भी प्राण देना जानती है। आत्म-सम्मान—ग्रीक आत्म-सम्मान जिये ! **(छुरी निकालती है)**—तो अन्तिम समय एकबार नाम लेने मे कोई अपराध है ? चन्द्रगुप्त !

[विजयी चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त—यह क्या राजकुमारी ! (छुरी उसके हाथ से छीन लेता है)—

कार्नेलिया—निर्दयी हो चन्द्रगुप्त ! मेरे बूढे पिता की हत्या कर चुके होंगे ! सम्राट् हो जाने पर आँखें रक्त देखने की प्यासी हो जाती है न !

चन्द्रगुप्त -राजकुमारी ! तुम्हारे पिता आ रहे हैं !

[सैनिकों से घिरे सिल्यूकस का प्रवेश]

कार्नेलिया--(हाथों से मुंह छिपाकर) आह ! विजेता सिल्यूकस को भी चन्द्रगुप्त के हाथों से पराजित होना पडा।

सिल्यूकस—हाँ बेटी !

चन्द्रगुप्त—यवन सम्राट् ! आर्य कृतघ्न नही होते। आपको सुरक्षित स्थान पर पहुंचा देना ही मेरा कर्त्तव्य था। सिंधु के इस पार अपने सेना-निवेश मे आप है, मेरे बन्दी नही ! मैं जाता हूं।

सिल्यूकस—इतनी महत्ता !

चन्द्रगुप्त—राजकुमारी ! पिताजी को विश्राम की आवश्यकता है। फिर हम-लोग मित्रों के समान मिल सकते है।

[चन्द्रगुप्त का सैनिकों के साथ प्रस्थान/कार्नेलिया
उसे देखती रहती है/दृश्यान्तर]

बारहवाँ दृश्य

[पथ में साइबर्टियस और मेगास्थनीज]

साइबर्टियस—उसने तो हमलोगो को मुक्त कर दिया था फिर अवरोध क्यो ?

मेगास्थनीज—समस्त ग्रीक शिविर बन्दी है ! यह उसके मन्त्री चाणक्य की चाल है। मालव और तक्षशिला की सेना हिरात के पथ मे खडी है, लौटना असम्भव है।

साइबर्टियस—क्या चाणक्य ! वह तो चन्द्रगुप्त से क्रुद्ध होकर कही चला गया था न—राक्षस ने तो यही कहा था, क्या वह झूठा था ?

मेगास्थनीज सब षड्यन्त्र मे मिले थे। शिविर को अरक्षित अवस्था मे छोड़कर कहे बिना सुवासिनी को लेकर खिसक गया। अभी भी न समझे ! इधर चाणक्य ने आज मुझसे यह भी कहा है कि मुझे ऑटिगोनस के आक्रमण की भी सूचना मिली है। (सिल्यूकस का प्रवेश)।

सिल्यूकस—क्या ? ऑटिगोनस !

मेगास्थनीज हाँ सम्राट्, इस मर्म से अवगत होकर भारतीय कुछ नियमों पर ही मैत्री किया चाहते है।

सिल्यूकस—तो ग्रीक इतने कायर हैं ! युद्ध होगा साइबर्टियस ! हम सबको मरना होगा।

मेगास्थनीज—(पत्र देकर) इसे पढ़ लीजिये, सीरिया पर ऑटिगोनस की चढ़ाई समीप है। आपको उस पूर्व-संचित और सुरक्षित साम्राज्य को न गँवा देना चाहिये।

सिल्यूकस—(पत्र पढ़कर विषाद से)—तो वे चाहते क्या हैं ?

मेगास्थनीज—सम्राट् ! संधि करने के लिए तो चन्द्रगुप्त प्रस्तुत है, परन्तु नियम बड़े कड़े हैं। सिंधु के पश्चिम के प्रदेश—आर्यावर्त्त की नैसर्गिक सीमा—निषध-पर्वत तक वे लोग चाहते हैं। और भी····

सिल्यूकस—चुप क्यों हो गये ? कहो—कहो, चाहे वे शब्द कितने ही कटु हों, मैं सुनना चाहता हूं।

मेगास्थनीज—चाणक्य ने एक और भी अड़ंगा लगाया है। उसने कहा है, सिकन्दर के साम्राज्य में जो भावी विप्लव हैं, वह मुझे भलीभाँति अवगत है। पश्चिम का भविष्य रक्त-रंजित है, इसलिए यदि पूर्व मे स्थायी शांति चाहते हों तो ग्रीक-सम्राट् चन्द्रगुप्त को अपना बन्धु बना लें।

सिल्यूकस—सो कैसे ?

मेगास्थनीज—राजकुमारी कार्नेलिया का सम्राट् चन्द्रगुप्त से परिणय करके।

सिल्यूकस—अधम—ग्रीक ! तुम इतने पतित हो !

मेगास्थनीज—क्षमा हो सम्राट् ! वह ब्राह्मण कहता है कि आर्यावर्त्त की साम्राज्ञी भी तो कार्नेलिया ही होगी।

साइबर्टियस—परन्तु राजकुमारी की सम्मति चाहिये।

सिल्यूकस—असम्भव ! घोर अपमानजनक !

मेगास्थनीज—मैं क्षमा किया जाऊँ तो—सम्राट् ! राजकुमारी का चन्द्रगुप्त से पूर्व परिचय भी है। कौन कह सकता है कि प्रणय अपनी अदृश्य सुनहली रश्मियों से एक-दूसरे को न खींच चुका हो ! सम्राट् सिकन्दर के अभियान का स्मरण कीजिये—मैं उस घटना को भूल नहीं गया हूँ।

सिल्यूकस—मेगास्थनीज—मैं यह जानता हूँ। कार्नेलिया ने इस युद्ध में जितनी बाधायें उपस्थित कीं, वे सब—साक्षी हैं कि उसके मन में कोई भाव है, पूर्व-स्मृति है, फिर भी—फिर भी न जाने क्यों ! वह देखो, आ रही है ! तुम लोग हट तो जाओ !

[साइबर्टियस और मेगास्थनीज का प्रस्थान और
कार्नेलिया का प्रवेश]

कार्नेलिया—पिताजी !

सिल्यूकस—बेटी कार्नी !

कार्नेलिया—आप चिन्तित क्यों हैं ?

सिल्यूकस—चन्द्रगुप्त को दण्ड कैसे दूं ? इसी की चिन्ता है।

कार्नेलिया—क्यों पिताजी, चन्द्रगुप्त ने क्या अपराध किया है ?

सिल्यूकस—हूं ! अभी बताना होगा कार्नेलिया ! भयानक युद्ध होगा, इसमें चाहे दोनों का सर्वनाश हो जाय !

कार्नेलिया—युद्ध तो हो चुका ! अब क्या मेरी प्रार्थना आप सुनेंगे पिताजी ! विश्राम लीजिये ! चन्द्रगुप्त का तो कोई अपराध नहीं, क्षमा कीजिये पिताजी ! (घुटने टेकती है)।

सिल्यूकस—(बनावटी क्रोध से) देखता हूं कि पिता को पराजित करनेवाले पर तुम्हारी असीम अनुकंपा है।

कार्नेलिया—(रोती हुई) मैं स्वयं पराजित हूं। मैंने अपराध किया है पिताजी ! चलिये; इस भारत की सीमा से दूर चले चलिये, नहीं तो पागल हो जाऊंगी।

सिल्यूकस—(उसे गले लगाकर) तब मैं जान गया कार्नी—सुखी हो बेटी ! तुझे भारत की सीमा से दूर न जाना होगा—तू भारत की साम्राज्ञी होगी।

कार्नेलिया—पिताजी !

[सलज्ज कार्नेलिया का सिल्यूकस के साथ प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

तेरहवां दृश्य

[दांड्यायन का तपोवन / ध्यानस्थ चाणक्य / भयभीत भाव से राक्षस और सुवासिनी का प्रवेश]

राक्षस—चारों ओर आर्य-सेना ! कहीं से निकलने का उपाय नहीं। क्या किया जाय सुवासिनी ?

सुवासिनी—यह तपोवन है—यहीं हमलोग छिप रहेंगे।

राक्षस—मैं देशद्रोही—ब्राह्मणद्रोही—बौद्ध ! हृदय कांप रहा है—क्या होगा ?

सुवासिनी—आर्यों के तपोवन—इन राग-द्वेषों से परे है।

राक्षस—तो चलो वहीं (सामने देखकर)—सुवासिनी ! वह देखो—वह कौन ?

सुवासिनी—(देखकर) आर्य चाणक्य !

राक्षस—आर्य-साम्राज्य का महामन्त्री ! इस तपोवन में ?

सुवासिनी—यही तो ब्राह्मण की महत्ता है राक्षस ! यों तो मूर्खों की निवृत्ति

भी प्रवृत्तिमूलक होती है। देखो, यह सूर्य-रश्मियों का-सा रस-ग्रहण कितना निष्काम, कितना निवृत्तिपूर्ण है !

राक्षस—सचमुच मेरा भ्रम था सुवासिनी। मेरी इच्छा होती है कि चल कर इस महात्मा के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लूं और क्षमा भी माँग लूं !

सुवासिनी—बड़ी अच्छी बात सोची तुमने--देखो ! **(दोनों आड़ में छिप जाते हैं)**

चाणक्य—**(आँख खोलता हुआ)** कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है। भगवान् सविता, तुम्हारा आलोक जगत का मंगल करे। मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ। विदित होता है कि आजतक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आयी। आज मुझे अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है। चैतन्य-सागर निस्तरंग और ज्ञानज्योति निर्मल है। तो क्या मेरा कर्म-कुलालचक्र अपना निर्मित भाण्ड उतारकर धर चुका ? ठीक तो, प्रभात पवन के साथ सबकी सुख-कामना शान्ति का आलिंगन कर रही है। देव ! आज मैं धन्य हूँ !

[दूसरी ओर एक झाड़ी में मौर्य]

मौर्य—ढोंग है। रक्त और प्रतिशोध, क्रूरता और मृत्यु का खेल देखते ही जीवन बीता, अब क्या मैं इस सरल पथ पर चल सकूँगा ? यह ब्राह्मण आँखें मूँदने-खोलने का अभिनय भले ही करे, पर मैं ! असम्भव है, अरे जैसे मेरा रक्त खौलने लगा ! हृदय में भयानक चेतना, अवज्ञा का एक अट्टहास, प्रतिहिंसा जैसे नाचने लगी ! यह एक साधारण मनुष्य, दुर्बल कंकाल, विश्व के समूचे शस्त्रबल को तिरस्कृत किये बैठा है ! रख दूं गले पर खड्ग, फिर देखूं तो—यह प्राणों की भिक्षा माँगता है या नहीं ! सम्राट् चन्द्रगुप्त के पिता की अवज्ञा ! नहीं-नहीं ब्रह्महत्या होगी—मेरा प्रतिशोध और चन्द्रगुप्त का निष्कंटक राज्य !

[छुरी निकालकर चाणक्य को मारना चाहता है / सुवासिनी दौड़कर उसका हाथ पकड़ लेती है / दूसरी ओर से अलका, सिंहरण और अपनी माता के साथ चन्द्रगुप्त का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त—**(आश्चर्य और क्रोध से)**—यह क्या पिताजी ! सुवासिनी ! बोलो, बात क्या है ?

सुवासिनी—मैंने देखा कि सेनापति, आर्य चाणक्य को मारना ही चाहते हैं, इसलिए मैंने इन्हें रोका !

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, प्रणाम ! चन्द्रगुप्त क्षमा का भिखारी नहीं, न्याय करना चाहता है। बतलायें, पूरा विवरण सुनना चाहता हूं और पिताजी, आप शस्त्र रख दीजिये—सिंहरण ! **(सिंहरण आगे बढ़कर शस्त्र लेता है)**

चाणक्य -(हँसकर) सम्राट् ! न्याय करना तो राजा का कर्त्तव्य है, परन्तु यहाँ पिता और गुरु का सम्बन्ध है, कर सकोगे ?

चन्द्रगुप्त—पिताजी !

मौर्य—हाँ चन्द्रगुप्त, मैं इस उद्धत ब्राह्मण की—सबकी अवज्ञा करनेवाले इस महत्वाकांक्षी का वध करना चाहता था—कर न सका—इसका दु.ख है। इस कुचक्रपूर्ण रहस्य का अन्त न कर सका।

चन्द्रगुप्त—पिताजी, राज-व्यवस्था आप जानते होंगे—वध के लिए प्राण दण्ड होता है और आपने गुरुदेव का—इस आर्य-साम्राज्य के निर्माणकर्ता ब्राह्मण का वध करने के प्रयास मे कितना गुरुतर अपराध किया है !

चाणक्य—किन्तु सम्राट् वह वध हुआ नही, ब्राह्मण जीवित है। अब यह उसकी इच्छा पर है कि वह व्यवहार के लिए न्यायाधिकरण से प्रार्थना करे या नही।

मौर्य-पत्नी—आर्य चाणक्य !

चाणक्य—ठहरो ! (चन्द्रगुप्त से) प्रसन्न हूँ वत्स ! यह मेरे अभिनय का दण्ड था। मैंने आज तक जो किया, वह नही करना चाहिए था, उसी का महाशक्ति-केन्द्र ने प्रायश्चित्त कराना चाहा। मै विश्वस्त हूँ कि तुम अपना कर्त्तव्य कर लोगे। राजा न्याय कर सकता है—परन्तु ब्राह्मण क्षमा कर सकता है !

राक्षस—(प्रवेश करके)—आर्य चाणक्य ! आप महान् हैं, मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ ! न्यायाधिकरण से, अपने अपराध—विद्रोह का दण्ड पाकर सुखी रह सकूँगा। सम्राट् आपकी जय हो !

चाणक्य—सम्राट्, मुझे आज का अधिकार मिलेगा ?

चन्द्रगुप्त—आज वही होगा—गुरुदेव की जो आज्ञा होगी।

चाणक्य—मेरा किसी से द्वेष नही केवल राक्षस के सम्बन्ध मे अपने पर सन्देह कर सकता था, आज उसका भी अन्त हो गया। सम्राट्—सिल्यूकस अब आते ही होंगे—उसके पहले ही हमे अब अपना समस्त विवाद मिटा लेना चाहिये।

चन्द्रगुप्त—जैसी आज्ञा।

चाणक्य—आर्य शकटार के भावी जमाता, अमात्य राक्षस के लिए मैं अपना मन्त्रि-पद छोड़ता हूँ। राक्षस ! सुवासिनी को सुखी रखना।

[सुवासिनी और राक्षस चाणक्य को प्रणाम करते हैं]

मौर्य—और मेरा दण्ड ? आर्य चाणक्य, मैं क्षमा ग्रहण न करूँ तब आत्महत्या करूँगा !

चाणक्य—मौर्य ! तुम्हारा पुत्र आज आर्यावर्त्त का सम्राट् है—अब और कौन-सा सुख तुम देखना चाहते हो ? काषाय ग्रहण कर लो, इसमें अपने अभिमान को मारने का तुम्हें अवसर मिलेगा। वत्स चन्द्रगुप्त ! शस्त्र दो अमात्य राक्षस को ?

[चन्द्रगुप्त शस्त्र देता है राक्षस सविनय ग्रहण करता है]

सब—सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की जय !

प्रतिहार—(प्रवेश करके)—सम्राट् सिल्यूकस—शिविर से निकल चुके हैं।

चाणक्य—उनकी अभ्यर्थना राजमन्दिर मे होनी चाहिये, तपोवन में नहीं।

चन्द्रगुप्त—आर्य, आप उस समय उपस्थित नहीं रहेंगे।

चाणक्य—देखा जायगा।

[सबका प्रस्थान]

दृ श्या न्त र

चौदहवाँ दृश्य

[राजसभा / एक ओर से सपरिवार चन्द्रगुप्त और दूसरी ओर से साइबर्टियस, मेगास्थनीज, एलिस और कार्नेलिया के साथ सिल्यूकस का प्रवेश / सब बैठते हैं]

चन्द्रगुप्त—विजेता सिल्यूकस का मैं अभिनन्दन करता हूँ—स्वागत !

सिल्यूकस—सम्राट् चन्द्रगुप्त ! आज मैं विजेता नहीं, विजित से अधिक भी नहीं—मैं सन्धि और सहायता के लिए आया हूँ।

चन्द्रगुप्त—कुछ चिन्ता नहीं सम्राट्, हमलोग शस्त्र-विनिमय कर चुके, अब हृदय का विनिमय····

सिल्यूकस—हाँ, हाँ कहिये।

चन्द्रगुप्त—राजकुमारी स्वागत ! मैं उस कृपा को नहीं भूल गया जो ग्रीक-शिविर में रहने के समय मुझे आपसे प्राप्त हुई थी।

सिल्यूकस—हाँ कार्नी—चन्द्रगुप्त उसके लिए कृतज्ञता प्रकट कर रहे हैं।

कार्नेलिया—मैं आपको भारतवर्ष का सम्राट् देखकर कितनी प्रसन्न हूँ।

चन्द्रगुप्त—अनुगृहीत हुआ—(सिल्यूकस से) ऐंटिगोनस से युद्ध होगा ! सम्राट् सिल्यूकस ! गज-सेना आपकी सहायता के लिए जायगी। हिरात में आपके जो प्रतिनिधि रहेंगे, उनसे समाचार मिलने पर और भी सहायता के लिए आर्यावर्त्त प्रस्तुत है।

सिल्यूकस—इसके लिए धन्यवाद देता हूँ। सम्राट् चन्द्रगुप्त आजसे हम लोग दृढ़ मैत्री के बन्धन में बँधे। प्रत्येक का दुःख-सुख दोनों का होगा, किन्तु एक अभिलाषा मन में रह जायगी।

चन्द्रगुप्त—वह क्या ?

सिल्यूकस—उस बुद्धिसागर, आर्य-साम्राज्य के महामन्त्री चाणक्य को देखने की बड़ी अभिलाषा थी।

चन्द्रगुप्त—उन्होंने विरक्त होकर, शान्तिमय जीवन बिताने का निश्चय किया है।

[सहसा चाणक्य का प्रवेश / सब अभ्युत्थान देकर प्रणाम करते हैं]

सिल्यूकस—आर्य चाणक्य ! मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ।

चाणक्य—सुखी रहो सिल्यूकस, हम भारतीय ब्राह्मणों के पास सबकी कल्याण-कामना के अतिरिक्त और क्या है—जिससे अभ्यर्थना करूँ ? मैं आज का दृश्य देखकर चिर-विश्राम के लिए संसार से अलग होना चाहता हूँ।

सिल्यूकस—और मैं सन्धि करके स्वदेश लौटना चाहता हूँ। आपके आशीर्वाद की बड़ी अभिलाषा थी। सन्धि-पत्र....

चाणक्य—किन्तु सन्धि-पत्र स्वार्थों से प्रबल नहीं होते, हस्ताक्षर तलवारों को रोकने में असमर्थ प्रमाणित होंगे। तुम दोनों ही सम्राट् हो, शस्त्र-व्यवसायी हो, फिर भी संघर्ष हो जाना कोई आश्चर्य की बात न होगी। अतएव दो बालुकापूर्ण कगारों के बीच में एक निर्मल स्रोतस्विनी का रहना आवश्यक है।

सिल्यूकस—सो कैसे ?

चाणक्य—ग्रीस की गौरव-लक्ष्मी कार्नेलिया को मैं भारत की कल्याणी बनाना चाहता हूँ !—यही ब्राह्मण की प्रार्थना है।

सिल्यूकस—मैं तो इससे प्रसन्न ही हूँगा, यदि....

चाणक्य—यदि का काम नहीं, मैं जानता हूँ, इसमें दोनों प्रसन्न और सुखी होंगे !

सिल्यूकस—**(कार्नेलिया की ओर देखता है, वह सलज्ज सिर झुका लेती है)**—तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त।

[दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं / सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है / फूलों की वर्षा और जय-ध्वनि]

चाणक्य—**(मौर्य का हाथ पकड़कर)**—चलो, अब हमलोग चलें !

प टा क्षे प

●

एक घूँट

चन्द्रगुप्त और एक घूंट दोनों १९२९ ईसवी मे एक साथ ही मुद्रकों (सरस्वती प्रेस, काशी) को दिए गए थे। एक घूंट तो उसी वर्ष छप गया किन्तु चन्द्रगुप्त दो वर्षो तक रुका रहा। चन्द्रगुप्त (प्रथम प्रकाशन) के प्रकाशकीय वक्तव्य—दिनांक, रथयात्रा, संवत् १९८८ में इसका उल्लेख यों हुआ है—'यह ग्रंथ दो वर्ष पहले प्रेस में दे दिया गया था, किन्तु ऐसे कारण आते गए कि यह अबके पहिले प्रकाशित न हो सका, इसका हमें खेद है' (अवलोक्य-प्रसाद वाङ्मय, पृष्ठ ५२३)। वस्तुतः चन्द्रगुप्त के बाद 'एक घूंट लिखा गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य नामक निबन्ध जो इस नाटक की भूमिका के रूप में व्यवहृत होता रहा संवत १९६६ मे लिखा गया था और कल्याणी परिणय नामक रूपक ईसवी १९१२ मे प्रकाशित हुआ था जो किंचित परिवर्त्तित रूप में यहाँ सम्मिलित हुआ है। अतः कृतित्त्व को काल-संयमित रखने के लिए इसे एक घूंट के पहले रखना आवश्यक और समीचीन रहा।

परिचय

अरुणाचल आश्रम

अरुणाचल पहाड़ी के समीप, एक हरे-भरे प्राकृतिक वन में कुछ लोगों ने मिलकर एक स्वास्थ्य-निवास बसा लिया है। कई परिवारों ने उसमें छोटे-छोटे स्वच्छ घर बना लिये हैं। उन लोगों की जीवन-यात्रा का अपना निराला ढंग है, जो नागरिक और ग्रामीण जीवन की सधि है। उनका आदर्श है सरलता, स्वास्थ्य और सौंदर्य।

कुंज

आश्रम का मंत्री—एक सुदक्ष प्रबंधकार और उत्साही संचालक, सदा प्रसन्न रहने वाला अधेड़ मनुष्य।

रसाल

एक भावुक कवि। प्रकृति से और मनुष्यों से तथा उनके आचार-व्यवहारों से अपनी कल्पना के लिए सामग्री जुटाने में व्यस्त सरल प्राणी।

वनलता

रसाल कवि की स्त्री। अपने पति की भावुकता से असंतुष्ट। उसकी समस्त भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करने मे व्यस्त रहती है।

मुकुल

उत्साही तर्कशील युवक ! कुतूहल से उसका मन सदैव उत्सुकताभरी प्रसन्नता में रहता है।

झाड़ू वाला

एक पढ़ा-लिखा किंतु साधारण स्थिति का मनुष्य अपनी स्त्री की प्रेरणा से उस आश्रम मे रहने लगता है; क्योंकि उस आश्रम मे कोई साधारण काम करनेवाले को लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। सभी कुछ-न-कुछ करते थे। उसकी स्त्री के हृदय मे स्त्री-जन-सुलभ लालसाएँ होती है; किंतु पूर्ति का कोई उपाय नही।

चंदुला

एक विज्ञापन करने वाला विदूषक।

प्रेमलता

मुकुल की दूर के संबंध की बहन। एक कुतूहल से भरी कुमारी। उसके मन में प्रेम और जिज्ञासा भरी है।

आनंद

एक स्वतंत्र प्रेम का प्रचारक, घुमक्कड़ और सुंदर युवक। कई दिनों से आश्रम का अतिथि होकर मुकुल के यहाँ ठहरा है।

[अरुणाचल-आश्रम का एक सघन कुंज / श्रीफल, वट, आम, कदंब और मौलसिरी के बड़े-बड़े वृक्षों की झुरमुट में प्रभात की धूप घुसने की चेष्टा कर रही है / उधर समीर के झोंके, पत्तियों और डालों को हिला-हिलाकर, जैसे किरणों के निर्विरोध प्रवेश में बाधा डाल रहे हैं / वसंत के फूलों की भीनी-भीनी सुगंध, उस हरी-भरी छाया में कलोल कर रही है / वृक्षों के अंतराल के गुंजारपूर्ण नभखंड की नीलिमा में जैसे पक्षियों का कलरव साकार दिखाई देता है !

मौलसिरी के नीचे वेदी पर वनलता बैठी हुई, अपनी साड़ी के अंचल की बेल देख रही है / आश्रम में ही कहीं होते हुए संगीत को कभी सुन लेती है, कभी अनसुनी कर जाती है]

[नेपथ्य में गान]

खोल तू अब भी आँखें खोल !
जीवन-उदधि हिलोरें लेता उठतीं लहरें लोल !
छबि की किरनों से खिल जा तू,
अमृत-झड़ी सुख से झिल जा तू ।
इस अनंत स्वर से मिल जा तू वाणी में मधु घोल ।
जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न ! अह ।
भूल अरे अपने को मत रह जकड़ा, बंधन खोल ।
खोल तू अब भी आँखें खोल ।

[संगीत बंद होने पर कोकिल बोलने लगती है / वनलता अंचल छोड़कर खड़ी हो जाती है / उसकी तीखी आँखें जैसे कोकिल को खोजने लगती हैं / उसे न देखकर हताश-सी वनलता अपने-ही-आप कहने लगती है]

कितनी टीस है, कितनी कसक है, कितनी प्यास है, निरंतर पंचम की पुकार ! कोकिल ! तेरा गला जल उठता होगा । विश्व-भर से निचोड़कर यदि डाल सकती तेरे सूखे गले में एक घूंट । **(कुछ सोचती है)** किंतु इस संगीत का····क्या अर्थ है··· बंधनों को खोल देना, एक विशृंखलता फैलाना, परंतु मेरे हृदय की पुकार क्या कह रही है । आकर्षण किसी को बाहुपाश में जकड़ने के लिए प्रेरित कर रहा है । इस संचित स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकना कर सकती ? **(रसाल को आते**

हुए देखकर) मेरी विश्व-यात्रा के संगी, मेरे स्वामी ! तुम काल्पनिक विचारों के आनंद मे अपनी सच्ची संगिनी को भूल····**(रसाल चुपचाप वनलता की आँखें बंद कर लेता है, वह फिर कहने लगती है)** कौन है ? नीला, शीला, प्रेमलता ! बोलती भी नही; अच्छा, मैं भी खूब छकाऊँगी, तुम लोग बड़े दुलार पर चढ़ गयी हो न !

रसाल – **(निश्वास लेकर हाथ हटाते हुए)** इन लोगो के अतिरिक्त और कोई दूसरा तो हो ही नही सकता। इतने नाम लिये किंतु····किंतु एक मेरा ही स्मरण न आया। क्यो वनलता ?

वनलता—**(सिर पर साड़ी खींचती हुई)** आप थे ? मै नही जान····

रसाल—**(बात काटते हुए)** जानोगी कैसे लता ! मैं भी जानने की, स्मरण होने की वस्तु होऊँ तब न ! अच्छा तो है तुम्हारी विस्मृति भी मेरे लिए स्मरण करने की वस्तु होगी। **(निश्वास लेकर)** अच्छा, चलती हो आज मेरा व्याख्यान सुनने के लिए ?

वनलता –**(आश्चर्य से)** व्याख्यान ! तुम कब से देने लगे ? तुम तो कवि हो कवि, भला तुम व्याख्यान देना क्या जानो, और वह विषय कौन-सा होगा जिस पर तुम व्याख्यान दोगे ? घडी-दो-घडी बोल सकोगे ! छोटी-छोटी कल्पनाओ के उपासक ! सुकुमार सूक्ति के सचालक ! तुम भला क्या व्याख्यान दोगे ?

रसाल—तो मेरे इस भावी अपराध को तुम क्षमा न करोगी। आनंदजी के स्वागत मे मुझे कुछ बोलने के लिए आश्रमवालो ने तग कर दिया है। क्या करूँ वनलता !

वनलता—**(मौलसिरी की एक डाल पकड़कर झुकाती हुई)** आनदजी का स्वागत ! अब होगा ! कहते क्या हो ! उन्हे आये तो कई दिन हो गये !

रसाल –**(सिर पकड़कर)** ओह ! मैं भूल गया था, स्वागत नही उनके परिचय-स्वरूप कुछ बोलना पडेगा ।

वनलता –हाँ परिचय ! अच्छा मुझे तो बताइये यह आनदजी कौन है, क्यो आये है और कब ! नही-नही; कहाँ रहते है ?

रसाल मनुष्य है, उनका कुछ निज का सदेश है, उसी का प्रचार करते हैं। कोई निश्चित निवास नही। **(जैसे कुछ स्मरण करता हुआ)** तुम भी चलो न ! संगीत भी होगा। आनंदजी अरुणाचल पहाडी की तलहटी मे घूमने गये हैं; यदि नदी की ओर भी चले गये हो तो कुछ विलंब लगेगा नही तो अब आते ही होगे। तो मैं चलता हूँ।

[रसाल जाने लगता है / वनलता चुप रहती है / फिर रसाल के कुछ दूर जाने पर उसे बुलाती है]

वनलता -सुनो तो !

रसाल—(लौटते हुए) क्या ?

वनलता—यह अभी-अभी जो संगीत हो रहा था (कुछ सोचकर) मुझे उसका पद स्मरण नहीं हो रहा है, वह....

रसाल—मेरी 'एक घूंट' नाम की कविता मधुमालती गाती रही होगी।

वनलता—क्या नाम बताया—'एक घूंट' ? उहूँ ! कोई दूसरा नाम होगा तुम भूल रहे हो; वैसा स्वर-विन्यास 'एक घूंट' नाम की कविता में हो ही नहीं सकता।

रसाल—तब ठीक है। कोई दूसरी कविता रही होगी। तो मैं जाऊँ न !

वनलता—(स्मरण करके) ओहो, उसमे न जकड़े रहने के लिए, बंधन खोलने के लिए, और भी क्या-क्या ऐसी ही बाते थी। वह किसकी कविता है ?

रसाल—(दूसरी ओर देखकर) तो, तो वह मेरी—हां-हां—मेरी ही कविता थी।

वनलता—(त्योरी चढ़ाकर) अच्छा, तो आप बंधन तोड़ने की चेष्टा में हैं आजकल ! क्यों, कौन बंधन खल रहा है ?

रसाल—(हँसने की चेष्टा करता हुआ) यह अच्छी रही ! किंतु लता ! यह क्या पुराने ढंग की साड़ी तुमने पहन ली है ? यह तो समय के अनुकूल नहीं; और मैं तो कहूँगा, सुरुचि के भी प्रतिकूल है।

वनलता—समय के अनुकूल बनने की मेरी बान नही, और सुरुचि के संबंध मे मेरा निज का विचार है। उसमें किसी दूसरे की सम्मति की मुझे आवश्यकता नही।

रसाल—उस दिन जो नई साड़ी मैं ले आया था, उसे पहन आओ न ! (जाने लगता है)

वनलता—अच्छा-अच्छा, तुम जाते कहाँ हो ? व्याख्यान कहाँ होगा ? ए कवि जी, सुनूं भी !

रसाल—यही तो मै भी पूछने जा रहा था।

[वनलता दाहिने हाथ की तर्जनी से अपना अधर दबाये, बायें हाथ से दाहिनी कुहनी पकड़े हँसने लगती है और रसाल उसकी मुद्रा साग्रह देखने लगता है, फिर चला जाता है]

वनलता—(दाँतों से ओंठ चबाते हुए) हूँ ! निरीह, भावुक प्राणी ! जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कलनाद का अर्थ समझ लेते है। परंतु मेरे आर्त्तनाद को कभी समझने की चेष्टा भी नही करते। और मैंने ही....

[दूर से कुछ लोगों के बातचीत करते हुए आने का शब्द सुनाई पड़ता है / वनलता चुपचाप बैठ जाती है / प्रेमलता और आनंद बात करते

हुए प्रवेश / पीछे-पीछे और भी कई स्त्री-पुरुषों का आपस में संकेत से बातें करते हुए आना—वनलता जैसे उस ओर ध्यान ही नहीं देती]

आनंद—(एक ढीला रेशमी कुरता पहने हुए है, जिसकी बाहें उसे बार-बार चढ़ानी पड़ती है, बीच-बीच में चदरा भी सम्हाल लेता है / पान को रूमाल से पोंछते हुए प्रेमलता की ओर गहरी दृष्टि से देखकर) जैसे उजली धूप सब को हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पँखड़ियो को गद्गद कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरंतर परिस्थिति होनी चाहिए।

प्रेमलता—किंतु जीवन की झंझटे, आकांक्षाएँ, ऐसा अवसर आने दें तब न ! बीच-बीच मे ऐसा अवसर आ जाने पर भी वे चिरपरिचित निष्ठुर विचार गुर्राने लगते है। तब !

आनंद—उन्हे पुचकार दो, सहला दो, तब भी न माने, तो किसी एक का पक्ष न लो। बहुत संभव है कि वे आपस मे लड जायें और तब तुम तटस्थ दर्शक मात्र बन जाओ और खिलखिलाकर हँसते हुए वह दृश्य देख सको। देख सकोगी न !

प्रेमलता – असभव ! विचारो का आक्रमण तो सीधे मुझी पर होता है। फिर वे परस्पर कैसे लड़ने लगे ? (स्वगत) अहा, कितना मधुर यह प्रभात है ! यह मेरा मन जो गुदीगुदी का अनुभव कर रहा है, उसका सघर्ष किससे करा दूं।

[मुकुल भवों को चढ़ाकर अपनी एक हथेली पर तर्जनी से प्रहार करता है, जैसे उसकी समझ में प्रेमलता की बात बहुत सोच-विचारकर कही गई हो / आनंद दोनों को देखता है, फिर उसकी दृष्टि वनलता की ओर चली जाती है]

आनद—(सँभलते हुए) जब तुम्हारे हृदय मे एक कटु विचार आता है, उसके पहले से क्या कोई मधुर भाव प्रस्तुत नही रहता ? जिससे तुलना करके तुम कटुता का अनुभव करती हो।

प्रेमलता – हाँ, ऐसा ही समझ मे आता है।

आनंद –तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि पवित्र मन-मदिर मे दो कटु. और मधुर—भावो का द्वंद्व चला करता है, और उन्ही मे से एक, दूसरे पर आतंक जमा लेता है।

प्रेमलता—लेता है किंतु, यह बात मेरी समझ मे····

आनंद—(हँसकर) न आई होगी। किंतु तुम उस द्वंद्व के प्रभाव से मुक्त हो सकती हो। मान लो कि तुम किसी से स्नेह करती हो (ठहरकर प्रेमलता की

और गूढ़ दृष्टि से देखकर) और तुम्हारे हृदय में इसे सूचित करने····व्यक्त करने के लिए इतनी आकुलता····

प्रेमलता—ठहरिये तो, मैं प्यार करती हूँ कि नही, पहले इस पर भी मुझे दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये।

आनंद—(विरक्ति प्रकट करता हुआ) उँह, दृढ़ निश्चय को बीच में लाकर तुमने मेरी विचार-धारा दूसरी ओर बहा दी। दृढ़ निश्चय! एक बंधन है। प्रेम की स्वतंत्र आत्मा को बंदीगृह में न डालो। इससे उसका स्वास्थ्य, सौंदर्य और सरलता सब नष्ट हो जायगी।

प्रेमलता—ऐं! (और भी कई व्यक्ति आश्चर्य से) ऐं!

आनंद—हाँ-हाँ, उस नियमबद्ध प्रेम-व्यापार का बड़ा ही स्वार्थपूर्ण विकृत रूप होगा। जीवन का लक्ष्य भ्रष्ट हो जायगा।

प्रेमलता—(आश्चर्य से) और वह लक्ष्य क्या है?

आनंद—विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौंदर्य' है, क्योंकि आनंदमयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ—अपने आत्मभाव मे, निर्विशेष रूप से—रहने पर सफल हो सकती है। दृढ़ निश्चय कर लेने पर उसकी सरलता न रहेगी, अपने मोह-मूलक अधिकार के लिए वह झगड़ेगी।

प्रेमलता—किंतु अभी-अभी आपने नदी-तट पर जाल की कड़ियों को आपस में लड़ाते हुए मछुओं की बातें सुनी है। वे न-जाने····

आमन्द—सुनी हैं। आनंद के संबंध मे पहले एक बात मेरी सुन लो। आनंद का अंतरंग सरलता है और बहिरंग सौंदर्य है, इसी मे वह स्वस्थ रहता है।

प्रेमलता—किंतु आपकी ये बाते समझ मे नही आती।

आनन्द—(हँसकर) तो इसमें मेरा अपराध नही। प्रायः न समझने के कारण मेरे इस कथन का अर्थ उलटा ही लगाया जायगा, या तो पागल का प्रलाप समझा जायगा; किंतु करूँ क्या, बात तो जैसी है वैसी ही कही जायगी न! उन मछुओं को सरलता और सौंदर्य दोनों का ज्ञान नही। फिर आनंद के नाम पर वे दुःख का नाम क्यों लें?

प्रेमलता—(उदास होकर) यदि हम लोगों की दृष्टि मे उनके यहाँ सौंदर्य का अभाव हो, तो भी उनके पास सरलता नही है, मैं ऐसा नही मान सकती।

आनन्द—तुम्हारा न मानने का अधिकार मैं मानता हूँ, किंतु वे अपने भीतर ज्ञाता बनने का निश्चय करके, अपने स्वार्थों के लिए दृढ़ अधिकार प्रकट करते हुए, अपनी सरलता की हत्या कर रहे थे और सौंदर्य को मलिन बना रहे थे। काल्पनिक दुःखों को ठोस मानकर····

मुकुल—(बात काटते हुए) ठहरिये तो, क्या फिर 'दु.ख' नाम की वस्तु कोई हुई नही ?

आनन्द—होगी कही ! हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यो करे ? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख के काजल आँखों के आँसू में घोल कर सृष्टि के सुन्दर कपोलों को क्यों कलुषित करे ? मै उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आये हैं कि संसार दु खमय है और दु.ख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।

[वनलता चुपचाप तीव्र दृष्टि से दोनों को देखती हुई अपने बाल संवारने लगती है और प्रेमलता आनन्द को देखती हुई अपने-आप सोचने लगती है]

प्रेमलता—(स्वगत) अहा ! कितना सुन्दर जीवन हो, यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता मे आनन्द है। आनंद ! आह ! इनकी बातों मे कितनी प्रफुल्लता है। हृदय को जैसे अपनी भूली हुई गति स्मरण हो रही है। (वह प्रसन्न नेत्रों से आनन्द को देखती हुई कह उठती है) और !

आनन्द—और दु ख की उपासना करते हुए एक-दूसरे के दु ख से दु खी होकर परंपरागत महानुभूति—नही-नही, यह शब्द उपयुक्त नही, हाँ—सहरोदन करना मूर्खता है। प्रसन्नता की हत्या का रक्त पानी बन जाता है। पतला, शीतल ! ऐसी संवेदनाए संसार मे उपकार मे अधिक अपकार ही करती है।

प्रेमलता—(स्वगत सोचने लगती है) सहानुभूति भी अपराध है ? अरे यह कितना निर्दय ! आनंद ! आनद ! यह तुम क्या कह रहे हो ? इस स्वच्छंद प्रेम से या तुमसे क्या आशा !

मुकुल—फिर संसार मे इतना हाहाकार !

आनन्द—उँह, विश्व विकासपूर्ण है, है न ? तब विश्व की कामना का मूल रहस्य 'आनंद' ही है, अन्यथा वह 'विकास' न होकर दूसरा ही कुछ होता।

मुकुल—और ससार मे जो एक-दूसरे को कष्ट पहुँचाते हैं, झगड़ते है !

आनन्द—दु ख के उपासक उसकी प्रतिमा बनाकर पूजा करने के लिए द्वेष, कलह और उत्पीड़न आदि सामग्री जुटाते रहते है। तुम्हे हँसी के हल्के धक्के से उन्हे टाल देना चाहिए।

मुकुल—महोदय, आपका यह हल्के जोगिया रग का कुरता जैसे आपके सुन्दर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगो की आँखो मे भ्रम उत्पन्न कर देता है, वैसे ही आपको दुख के झलमले अंचल मे सिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नही हो पाता। आपको क्या मालूम कि बुढ्ढ़े के घर की काली-कलूटी हाँड़ी भी कई

दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूंगफलीवाले का एक रुपये की पूंजी का खोमचा लड़कों ने उछल-कूदकर गिरा भी दिया और लूटकर खा भी गये, उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलक पसारे बैठी होगी या खाट पर पड़ी होगी।

प्रेमलता—**(आनन्द की ओर देखकर)** क्यो ?

आनन्द—ठीक वही बात ! यही तो होना चाहिए। स्वच्छंद प्रेम को जकड़कर बांध रखने का, प्रेम की परिधि संकुचित बनाने का यही फल है, यही परिणाम है। **(मुस्कराने लगता है)**

मुकुल—तब क्या सामाजिकता का मूल उद्गम -वैवाहिक प्रथा तोड देनी चाहिए ? यह तो साफ-साफ दायित्व छोडकर उद्भ्रांत जीवन बिताने की घोषणा होगी। परस्पर सुख-दुःख मे गला बांधकर एक दूसरे पर विश्वास करते हुए, संतुष्ट दो प्राणियों की आशाजनक परिस्थिति क्या छोड देने की वस्तु है ? फिर····

प्रेमलता—**(स्वगत)** यह कितनी निराशामयी शून्य कल्पना है -**(आनन्द को देखने लगती है)**।

आनन्द -**(हताश होने की मुद्रा बनाकर)** ओह ! मनुष्य कभी न समझेगा। अपने दुःखों से भयभीत कंगाल दूसरो के दु.ख मे श्रद्धावान बन जाता।

मुकुल—मैने देखा है कि मनुष्य एक ओर तो दूसरे से ठगा जाता है फिर भी दूसरे से कुछ ठग लेने के लिए सावधान और कुशल बनने का अभिनय करता रहता है।

प्रेमलता -ऐसा भी होता होगा !

आनन्द—यह मोह की भूख····

वनलता—**(पास आकर)** और पट की ही भूख-प्यास तो मानव-जीवन में नही होती। हृदय को—**(छाती पर हाथ रखकर)** कभी इसको—भी टटोलकर देखा है ? इनकी भूख-प्यास का भी कभी अनुभव किया है ? **(आनन्द कौतुक से वनलता की ओर देखने लगता है। आश्रम के मंत्री कुंज के साथ रसाल का प्रवेश)।**

आनंद—**(मुस्कराकर)** देवि, तुम्हारा तो विवाहित जीवन है न ! तब भी हृदय भूखा और प्यासा ! इसीसे मैं स्वच्छंद प्रेम का पक्षपाती हूँ।

वनलता—वही तो मैं समझ नही पाती, प्रतिकूलताएँ··· **(कहते-कहते रसाल को देखकर रुक जाती है, फिर प्रेमलता को देखकर)** प्रेमलता ! तुमने आज प्रश्न करके हम लोगों के अतिथि श्री आनंद जी को अधिक समय तक थका दिया

है। अच्छा होता कि कोई गान सुनाकर इन शुष्क तर्कों से उत्पन्न हुई हम लोगों की ग्लानि को दूर करती।

प्रेमलता—(सिर झुकाकर प्रसन्न होती हुई) अच्छा, सुनिए—

[सब प्रसन्नता प्रकट करते हुए एक-दूसरे को देखते हैं]

प्रेमलता (गाती है)—

जीवन-वन में उजियाली है।
यह किरनों की कोमल धारा—
बहती ले अनुराग तुम्हारा—
फिर भी प्यासा हृदय हमारा—
व्यथा घूमती मतवाली है।
हरित दलों के अंतराल से—
बचता-सा इस सघन जाल से—
यह समीर किस कुसुम-बाल से—
माँग रहा मधु की प्याली है।
एक घूंट का प्यासा जीवन—
निरख रहा सबको भर लोचन।
कौन छिपाये है उसका धन—
कहाँ सजल वह हरियाली है।

[गान समाप्त होने पर एक प्रकार का सन्नाटा हो जाता है। संगीत की प्रतिध्वनि उस कुंज में अभी भी जैसे सब लोगों को मुग्ध किये है। वनलता सब लोगों से अलग कुंज से धीरे-धीरे कहती है]

वनलता—कुछ देखा आपने।

कुंज—क्या?

वनलता—हमारे आश्रम मे एक प्रेमलता ही तो कुमारी है। और यह आनदजी भी कुमार ही है।

कुंज—तो इससे क्या?

वनलता—इससे! हाँ, यही तो देखना है कि क्या होता है? होगा कुछ अवश्य! देखूं तो मस्तिष्क विजयी होता है कि हृदय! आपको····

कुंज—(चिंतित भाव से) मुझे तो इसमे····जाने भी दो वह देखो रसालजी कुछ कहना चाहते हैं क्या? मैं चलूं। [दोनों आनंदजी के पास जाकर खड़े हो जाते हैं]

कुंज मंत्री—महोदय! मेरे मित्र श्री रसालजी आपके परिचय स्वरूप एक भाषण देना चाहते हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके व्याख्यान के पहले ही—

आनंद --**(जैसे घबराकर)** क्षमा कीजिए मैं तो व्याख्यान देना नहीं चाहता; परन्तु श्री रसालजी की रसीली वाणी अवश्य सुनूंगा। आप लोगों ने तो मेरा वक्तव्य सुन ही लिया। मैं वक्ता नही हूँ। जैसे सब लोग बातचीत करते हैं, कहते हैं, सुनते हैं, ठीक उसी तरह मैंने भी आप लोगों से वाग्विलास किया है। **(रसाल को देखकर सविनय)** हां, तो श्रीमान् रसाल जी !

प्रेमलता —किंतु बैठने का प्रबंध तो कर लिया जाय !

वनलता—आनंदजी इस वेदी पर बैठ जायें और हम लोग इन वृक्षों की ठंडी छाया में बड़ी प्रसन्नता से यह गोष्ठी कर लेगे।

आनंद—हां-हां, ठीक तो है।

[सब लोग बैठ जाते हैं और वनलता एक वृक्ष से टिक कर खड़ी हो जाती है। रसाल आनंद के पास खड़ा होकर, व्याख्यान देने की चेष्टा करता है। सब मुस्कराते हैं / फिर वह सम्हल कर कहने लगता है]

रसाल—व्यक्ति का परिचय तो उसकी वाणी, उसके व्यवहार से वस्तुतः स्वयं हो जाता है; किंतु यह प्रथा-सी चल पड़ी है कि····

वनलता—**(सस्मित, बीच में ही बात काटकर)** कि जो उस व्यक्ति के संबंध में भी कुछ नही जानते, उन्ही के सिर पर परिचय देने का भार लाद दिया जाता है।

[सब लोग वनलता को असंतुष्ट होकर देखने लगते हैं और वह अपनी स्वाभाविक हँसी से सबका उत्तर देती है और कहती है]—

अस्तु, कविजी, आगे फिर····**(सब हंस पड़ते हैं।)**

रसाल—अच्छा, मैं भी श्री आनंदजी का परिचय न देकर आपके संदेश के संबंध में दो-एक बातें कहना चाहता हूँ, क्योंकि आपका संदेश हमारे आश्रम के लिए एक विशेष महत्त्व रखता है। आपका कहना है कि—**(रुककर सोचने लगता है।)**

मुकुल—कहिए-कहिए ! .

रसाल—कि अरुणाचल-आश्रम इस देश की एक बड़ी सुंदर संस्था है, इसका उद्देश्य बड़ा ही स्फूर्तिदायक है। इसके आदर्श वाक्य, जिन्हें आप लोगों ने स्थान-स्थान पर लगा रक्खे हैं, बड़े ही उत्कृष्ट हैं; किंतु उन तीनों में एक और जोड़ देने से आनंद जी का संदेश पूर्ण हो जाता है—

स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य में प्रेम को भी मिला देने से इन तीनों की प्राण-प्रतिष्ठा हो जायगी। इन विभूतियों का एकत्र होना—विश्व के लिए आनंद का उत्स खुल जाना है।

प्रेमलता—किंतु महोदय ! मैं आपके विरुद्ध आप ही की एक कविता गाकर सुनाना चाहती हूँ।

मुकुल—ठहरो प्रेमलता !

वनलता—वाह ! गाने न दीजिए ! अब तो मैं समझती हूँ कि कविजी को जो कुछ कहना था, कह चुके।

[सब लोग एक दूसरे का मुँह देखने लगते हैं, आनंद सबको विचार-विमूढ़-सा देखकर हंसने लगता है]

प्रेमलता तो फिर क्या आज्ञा है ?

आनद—हाँ-हाँ, बड़ी प्रसन्नता से, हम लोगो के तर्कों, विचारो और विवादों से अधिक संगीत से आनंद की उपलब्धि होती है।

प्रेमलना—किंतु यह दु ख का गान है। तब भी मैं गाती हूँ।

[गान]

जलधर की माला
घुमड़ रही जीवन-घाटी पर—जलधर की माला।
—आशा लतिका कंपती थरथर—
गिरे कामना-कुंज हहरकर
अंचल में है उपल रही भर—यह करुणा-बाला।
यौवन ले आलोक किरन की
डूब रही अभिलाषा मन की
क्रंदन चुंबित निठुर निधन की बनती बनमाला।
अंधकार गिरि-शिखर चूमती—
असफलता की लहर घूमती
क्षणिक सुखों पर सतत झूमती—शोकमयी ज्वाला।

[संगीत समाप्त होने पर एक-दूसरे का मुँह बड़ी गम्भीरता की मुद्रा से देखने लगते हैं]

आनद—यह स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। ऐसी भावनाएँ हृदय को कायर पनाती हैं। रसालजी, यह आपकी ही कविता हे। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि····

रसाल—मैं स्वीकार करता हूँ कि यह मेरी कल्पना की दुर्बलता है। मैं इससे बचने का प्रयत्न करूँगा। (सब लोगों की ओर देखकर) और आप लीग भी अनिश्चित जीवन की निराशा के गान भूल जाइये। प्रेम का प्रचार करके, परस्पर प्यार करके, दु.खमय विचारों को दूर भगाइये।

मुकुल—किंतु प्रेम मे क्या दु.ख नही हैं ?

रसाल—होता है, किंतु वह दुःख मोह का है, जिसे प्रायः लोग प्रेम के सिर मढ़ देते हैं। आपका प्रेम, आनंदजी के सिद्धांत पर सबसे सम-भाव का होना चाहिए। भाई, पिता, माता और स्त्री को भी इन विशेष उपाधियों से मुक्त होकर प्यार करना सीखिए। सीखिए कि हम मानवता के नाते स्त्री को प्यार करते है। मानवता के नाम····**(सब लोग वनलता की ओर देख व्यंग्य से हँसने लगते हैं। रसाल जैसे अपनी भूल समझता हुआ चुप हो जाता है)**

वनलता—**(भवें चढ़ाकर तीखेपन से)** हाँ, मानवता के नाम पर, बात तो बड़ी अच्छी है। किंतु मानवता आदान-प्रदान चाहती है, विशेष स्वार्थों के साथ। फिर क्यो न झरनों, चाँदनी रातों, कुंज और वनलताओ को ही प्यार किया जाय—जिनकी किसी से कुछ माँग नही। **(ठहरकर)** प्रेम की उपासना का एक केंद्र होना चाहिए, एक अंतरंग साम्य होना चाहिए।

प्रेमलता—मानवता के नाम पर प्रेम की भीख देने मे प्रत्येक व्यक्ति को बड़ा गर्व होगा। उसमे समर्पण का भाव कहाँ ?

कुंज—सो तो ठीक है, किंतु अंतरग साम्यवाली बात पर मै भी एक बात कहना चाहता हूँ। अभी कल ही मैने 'मधुरा' मे एक टिप्पणी देखी थी और उसके साथ कुछ चित्र भी थे, जिनमे दो व्यक्तियो की आकृति का साम्य था। एक वैज्ञानिक कहता है कि प्रकृति जोडे उत्पन्न करती है।

वनलता—**(शीघ्रता से)** और उसका उद्देश्य दो को परस्पर प्यार करने का संकेत करना है। क्यो, यही न ? किंतु प्यार करने के लिए हृदय का साम्य चाहिए, अंतर की समता चाहिए। वह कहाँ मिलती है ? दो समान अंतःकरणों का चित्र भी तुमने देखा है ? सो भी–

कुंज—एक स्त्री और एक पुरुष का, यही न ! **(मुँह बनाकर)** ऐसा न देखने का अपराध करने के लिए मै क्षमा माँगता हूँ।

[सब हंसने लगते हैं। ठीक उसी समय एक चँदुला, गले में विज्ञापन लटकाये आता है। उसकी चँदुली खोपड़ी पर बड़े अक्षरों में लिखा है 'एक घूँट'—और विज्ञापन में लिखा है "पीते ही सौंदर्य चमकने लगेगा।" स्वास्थ्य के लिए सरलता से सुधारस मिला हुआ सुअवसर हाथ से न जाने दीजिए—पीजिए 'एक घूँट']

कुंज—**(उसे देखकर आश्चर्य से)** हमारे आश्रम के आदर्श शब्द ! सरलता, स्वास्थ्य और सौंदर्य। वाह !

रसाल—और मेरी कविता का शीर्षक 'एक घूँट' !

चंदुला—**(दाँत निकालकर)** तब तो मै भी आप ही लोगो की सेवा कर रहा हूँ। है न ? आप लोग भी मेरी सहायता कीजिये। इसीलिए मैं यहाँ····

रसाल—(उसे रोककर) किंतु तुमने अपनी खोपड़ी पर यह क्या भद्दापन अंकित कर लिया है ?

चंदुला—(सिर झुकाकर दिखाते हुए) महोदय ! प्रायः लोगों की खोपड़ी में ऐसा ही भद्दापन भरा रहता है। मैं. तो उसे निकाल बाहर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। आपको इससे सहमत होना चाहिए। यदि इस समय आप लोगों की कोई सभा, गोष्ठी या ऐसी ही कोई समिति इत्यादि हो रही हो तो गिन लीजिए, मेरे पक्ष में बहुमत होगा। होगा न ?

रसाल—किंतु यह अ-सुंदर है।

चंदुला—किंतु मैं ऐसा करने के लिए बाध्य था। महोदय, और करता ही क्या ?

रसाल—क्या ?

चंदुला—मैंने खिड़की से एक दिन झाँककर देखा, एक गोरा-गोरा प्रभावशाली मुख, उसके साथ दो-तीन मनुष्य सीढी और बड़े-बड़े कागज लिये मेरे मकान पर चढ़ाई कर रहे हैं। मैंने चिल्लाकर कहा--हैं-हैं-हैं-हैं, यह क्या ?

रसाल— तब क्या हुआ ?

चंदुला—उसने कहा, विज्ञापन चिपकेगा। मैंने बिगड़कर कहा—तुम उस पर लगा हुआ विज्ञापन स्वयं नही पढ रहे हो, तब तुम्हारा विज्ञापन दूसरा कौन पढेगा। वह मेरी दीवार पर लिखा हुआ विज्ञापन पढने लगा—'यहाँ विज्ञापन चिपकाना मना है।' मै मुंह बिचकाकर उसकी मूर्खता पर हंसने लगा था कि उसने डाँटकर कहा—"तुम नीचे आओ।"

रसाल—और तुम नीचे उतर आये, क्यो ?

चंदुला—उतरना ही पडा। मै चँदुला जो था। वह मेरा सिर सहला कर बोला—अरे तुम अपनी सब जगह बेकार रखने हो। इतनी बड़ी दीवार ! उस पर विज्ञापन लगाना मना है ! और इतना बढ़िया प्रमुख स्थान, जैसा किसी अच्छे पत्र में मिलना असंभव है। तुम्हारी खोपडी खाली ! आश्चर्य ! तुम अपनी मूर्खता से हानि उठा रहे हो। तुमको नही मालूम कि नंगी खोपड़ी पर प्रेत लोग चपत लगाते है।'

वनलता —तो उसने भी चपत लगाया होगा ?

चंदुला - नही-नही, **(मुँह बनाकर)** वह बड़ा भलामानुष था। उसने कहा-- तुम लोग उपयोगिता का कुछ अर्थ नही जानते। मैं तुम्हें प्रतिदिन एक सोने का सिक्का दूंगा और तब मेरा विज्ञापन तुम्हारी चिकनी खोपड़ी पर खूब सजेगा। सोच लो।

रसाल—और तुम सोचने लगे ?

चंदुला—हां, किंतु मैंने सोचने का अवसर कहां पाया ? ऊपर से वह बोलीं।

रसाल—ऊपर से कौन ?

चंदुला—वही-वही, **(दांत से जीभ दबाकर)** जिनका नाम धर्मशास्त्र की आज्ञा के अनुसार लिया ही नही जा सकता।

रसाल—कौन, तुम्हारी स्त्री ?

चंदुला—**(हँसकर)** जी-ई-ई, उन्होंने तीखे स्वर से कहा—'चुप क्यों हो, कह दो कि हां ! अरे पंद्रह दिनों मे एक बढ़िया हार ! बड़े मूर्ख हो तुम !' मैंने देखा कि वह विज्ञापनवाला हंस रहा है। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं मूर्ख तो नहीं-ही बनूंगा, और चाहे कुछ भी बन जाऊँ। तुरंत कह उठा—हां—ना नही निकला, क्योंकि जिसकी कृपा से खोपड़ी चंदुली हो गई थी उसी का डर गला दबाये था।

रसाल—**(निश्वास लेकर वनलता की ओर देखता हुआ)** तब तुमने स्वीकार कर लिया ?

चंदुला—हां, और लोगों के आनंद के लिए।

आनंद—**(आश्चर्य से)** आनंद के लिए ?

चंदुला—जी, मुझे देखकर सब लोग प्रसन्न होते हैं। सब तो होते हैं, एक आप ही का मुंह बिचका हुआ देख रहा हूं। मुझे देखकर हँसिए तो ! और यह भी कह देना चाहता हूँ कि उसी विज्ञापनदाता ने यह गुरु-भार अपने ऊपर लिया है—बीमा कर लिया है—कि कोई मुझे चपत नही लगा सकेगा। आप लोग समझ गये ? यह मेरी कथा है।

आनंद—किंतु आनंद के लिए तुमने यह सब किया ! कैसे आश्चर्य की बात है ? **(वनलता को देखकर)** यह सब स्वच्छंद प्रेम को सीमित करने का कुफल है, देखा न ?

चंदुला—आश्चर्य क्यों होता है महोदय ! मान लिया कि आपको मेरा विज्ञापन देखकर आनंद नहीं मिला, न मिले; किंतु इन्ही पंद्रह दिनों में जब मेरी श्रीमती हार पहनकर अपने मोटे-मोटे अंधेरों की पगडंडी पर हंसी को धीरे-धीरे दौड़ावेंगी और मेरी चंदुली खोपड़ी पर हल्की-सी चपत लगावेंगी तब क्या मैं आंख मूंदकर आनंद न लूंगा—आप ही कहिये ? आपने ब्याह किया है तो !

आनंद—**(डांटते हुए)** मैंने ब्याह नहीं किया है; किंतु इतना मैं कह सकता हूँ कि आनंद को इन गड़बड़-झाला में घोटना ठीक नहीं। अंतरात्मा के उस प्रसन्न-गंभीर उल्लास को इस तरह कदर्थित करना अपराध है।

चंदुला—कदापि नहीं, एक घूंट सुधारस पान करके देखिए तो, वही भीतर की

सुन्दर प्रेरणा आपकी आँखों में, कपोलों पर, सब जगह, चाँदनी-सी खिल जायगी। और संभवत. आप ब्याह करने के लिए....

रसाल—(**डाँटकर**) अच्छा बस, अब जाइए।

चंदुला—(**झुककर**) जाता हूँ। किंतु इस सेवक को न भूलियेगा। सुधारस भेजने के लिए शीघ्र ही पत्र लिखियेगा। मैं प्रतीक्षा करूँगा (**जाता है**)

[कुछ लोग गंभीर होकर निश्वास लेते हैं जैसे प्राण बचा हो, और कुछ हँसने लगते हैं]

रसाल—(**निश्वास लेकर**) ओह! कितना पतन है! कितना वीभत्स! कितना निर्दय! मानवता! तू कहाँ है?

आनंद—आनन्द मे, मेरे कवि-मित्र! यह जो दुःखवाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है उसका रहस्य क्या है? डर उत्पन्न करना! बिभीषिका फैलाना! जिससे स्निग्ध गंभीर जल मे, अबाधगति से तैरनेवाली मछली-सी विश्व-सागर की मानवता चारों ओर जाल-ही-जाल देखे, उसे जल न दिखाई पड़े; वह डरी हुई, संकुचित-सी अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे। सबसे भयभीत, सब से सशंक!

रसाल—अब मेरी समझ मे आया!

वनलता—क्या?

रसाल—यही कि हम लोगों को शोक-संगीतों से अपना पीछा छुड़ा लेना चाहिये। आनंदातिरेक से आत्मा की साकारता ग्रहण करना ही जीवन है। उसे सफल बनाने के लिए स्वच्छंद प्रेम करना सीखना-सिखाना होगा।

वनलता—(**आश्चर्य से**) सीखना होगा और सिखाना होगा? क्या उसके लिए कोई पाठशाला खुलनी चाहिए?

आनन्द—नही; पाठशाला की कोई आवश्यकता इस शिक्षा के लिए नही है। हम लोग वस्तु या व्यक्ति विशेष से मोह करके और लोगों से द्वेष करना सीखते है न! उसे छोड देने ही से सब काम चल जायगा।

प्रमलता—तो फिर हम लोग किसी प्रिय वस्तु पर अधिक आकर्षित न हों—आपका यही तात्पर्य है क्या?

[आनंद कुछ बोलने की चेष्टा करता है कि आश्रम का झाड़ूवाला और उसकी स्त्री कलह करती हुई आ जाती है / सब लोग उनकी बातें सुनने लगते हैं]

झाड़ूवाला—(**हाथ से झाड़ू को हिलाकर**) तो तेरे लिए मैं दूसरे दिन उजली साड़ी कहाँ से लाऊँ? और कहाँ से उठा लाऊँ सत्ताईस रुपये का सितार (**सब लोगों की ओर देखकर**) आप लोगो ने यह अच्छा रोग फैलाया।

मंत्री—क्या है जी !

झाड़ूवाला—**(सिसकती हुई अपनी स्त्री को कुछ कहने से रोककर)** आप लोगों ने स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य का ठेका ले लिया है; परन्तु मैं कहूंगा कि इन तीनों का गला घोंटकर आप लोगों ने इन्हें बंदी बनाकर सड़ा डाला है, सड़ा; इन्हीं आश्रम की दीवारों के भीतर ! उनकी अंत्येष्टि कब होगी ?

रसाल—तुम क्या बक रहे हो ?

झाड़ूवाला—हां, बक रहा हूं ! यह बकने का रोग उसी दिन से लगा जिस दिन मैंने अपनी स्त्री से इन विष भरी बातों को सुना ! और सुना अरुणाचल-आश्रम नाम के स्वास्थ्य-निवास का यश। स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य के त्रिदोष ने मुझे भी पागल बना दिया। विधाता ने मेरे जीवन को नये चक्कर मे जुतने का संकेत किया। मैंने सोचा कि चलो इसी आश्रम मे मैं झाड़ू लगाकर महीने में पंद्रह रुपये ले लूंगा और श्रीमतीजी सरलता का पाठ पढ़ेंगी। किंतु यहां तो····

झाड़ूवाले की स्त्री—अत्यंत कठोर अपमान ! भयंकर आक्रमण ! स्त्री होने के कारण मैं कितना सहती रहूं। सत्ताईस रुपये के सितार के लिए कहना विष हो गया विष ! **(कान छूती है)** कानों के लिए फूल नहीं—**(हाथों को दिखाकर)** इनके लिए सोने की चूड़ियां नहीं मांगती, केवल संगीत सीखने के लिए एक सितार मांगने पर इतनी विडंबना—**(रोने लगती है)**

सब लोग—**(झाड़ूवाले से सक्रोध)** यह तुम्हारा घोर अत्याचार है। तुम श्रीमती से क्षमा मांगो। समझे ?

झाड़ूवाला—**(जैसे डरा हुआ)** समझ गया। **(अपनी स्त्री से)** श्रीमतीजी, मैं तुमसे क्षमा मांगता हूं। और, कृपाकर अपने लिए, तुम इन लोगों से सितार के मूल्य की भीख मांगो। देखूं तो ये लोग भी कुछ····

रसाल—**(डांटकर)** तुम अपना कर्त्तव्य नहीं समझते और इतना उत्पात मचा रहे हो !

झाड़ूवाला—जी, मेरा कर्त्तव्य तो इस समय यहां झाड़ू लगाने का है। किंतु आप लोग यहां व्याख्यान झाड़ रहे है। फिर भला मैं क्या करूं। अच्छा तो अब आप लोग यहां से पधारिये, मैं····**(झाड़ू देने लगता है। सब रूमाल नाक से लगाते हुए एक स्वर से 'हैं-हैं-हैं' करने लगते हैं)**

आनंद—चलिये यहां से !

झाड़ूवाला—वायुसेवन का समय है। खुली सड़क पर, नदी के तट, पहाड़ी के नीचे या मैदानों में निकल जाइये। किंतु—नहीं-नहीं, मैं सदा भूल करता आया हूं। मुझे तो ऐसी जगहों में रोगी ही मिले है जिन्हें वैद्य ने बता दिया हो—मकरध्वज के साथ एक घंटा वायुसेवन। अच्छा, आप लोग व्याख्यान दीजिये। मैं चलता हूं;

चलिये श्रीमतीजी ! उँहूँ आप तो सुनेंगी न ! आप ठहरिये। **(झाड़ू देना बंद कर देता है)**

आनंद—मुझे भी आज आश्रम से बिदा होना है। आप लोग आज्ञा दीजिए। किंतु····नही, अब मैं उस विषय पर अधिक कुछ न कहकर केवल इतना ही कह देना चाहता हूँ कि इस परिणाम से—स्वच्छंद प्रेम को बंधन मे डालने के कुफल—आप लोग परिचित तो हैं; पर उसे टालते रहने का अब समय नहीं है।

[वनलता, झाड़ूवाला और उसकी स्त्री को छोड़कर सबका प्रस्थान]

वनलता—**(झाड़ू वाले से)** क्यों जी, तुम तो पढ़े-लिखे मनुष्य हो, समझदार हो ?

झाड़ूवाला—हाँ, देवि, किंतु समझदारी मे एक दुर्गुण है। उस पर चाहे अन्य लोग कितने ही अत्याचार कर लें; परन्तु वह नही कर सकता—ठीक-ठीक उत्तर भी नहीं देने पाता ! **(झाड़ू फटकार कर एक वृक्ष से टिका देता है)**

वनलता—प्लेटो-अफलातून ने कहा है कि मनुष्य-जीवन के लिए संगीत और व्यायाम दोनों ही आवश्यक हैं। हृदय में संगीत और शरीर मे व्यायाम नवजीवन की धारा बहाता रहता है। मनुष्य····

झाड़ूवाला—और पतंजलि ने कहा है कि जो मनुष्य—क्लेश, कर्म और विपाक इत्यादि से अर्थात्–रहित-तात्पर्य, वही-वही कुछ-कुछ सूना-सूना जो पुरुष मनुष्य हो, वही ईश्वर है।

वनलता—इससे क्या ?

झाड़ूवाला—आपने प्लेटो को पुकारा, मैने पतंजलि को बुलाया। आपने एक प्रमाण कहकर अपनी बातों का समर्थन किया और मैंने भी एक बड़े आदमी का नाम ले लिया। उन्होने इन बातो को जिस रूप मे समझा था वैसी मेरी और आपकी परिस्थिति नही—समय नही, हृदय नही। फिर मुझे तो अपनी स्त्री को समझाना है, और आपको अपने पति का हृदय समझना है।

वनलता—**(चौंककर)** मुझे समझना है और तुमको समझाना है ! कहते क्या हो ?

झाड़ूवाला—जी—**(अपनी स्त्री से)** कहो, अब भी तुम समझ सकी हो या नहीं !

झाड़ूवाले की स्त्री—मैंने समझ लिया है कि मुझे सितार की आवश्यकता नहीं, क्योंकि—

झाड़ूवाला—क्योंकि हम लोग दीवार से घिरे हुए एक बड़े भारी कुंजवन में सुखी और संतुष्ट रहना सीखने के लिए वंदी बने हैं। जब जगत से, आकांक्षा और अभाव के संसार से, कामना और प्राप्ति के उपायों की क्रीड़ा से विरत होकर एक

सुंदर जीवन, बिता देने के लोभ मे मैंने झाड लगाना स्वीकार किया है; विद्यालय की परीक्षा और उपाधि को भुला दिया है तब तुम मेरी स्त्री होकर....

झाड़वाले की स्त्री--बस-बस, मैं अब तुमसे कुछ न कहूंगी, मेरी भूल थी। अच्छा तो मैं जाती हूँ।

झाड़ूवाला मै भी चलता हूँ - **(दोनों का प्रस्थान)**

वनलता—यही तो, इसे कहते है झगड़ा, और यह कितना सुखद है, एक-दूसरे को समझकर जब समझौता करने के लिए, मनाने के लिए, उत्सुक होते है तब जैसे स्वर्ग हसने लगता है—हा, इस भीषण ससार मे। मै पागल हूँ। **(सोचती हुई करुण मुख मुद्रा बनाती है, फिर धीरे-धीरे सिसकने लगती है)** वेदना होती है। व्यथा कसकती है। प्यार के लिये। प्यार करने के लिये नही, प्रेम पाने के लिये। विश्व की इस अमूल्य सपत्ति मे क्या मेरा अश नही। इन असफलताओं के सकलन मे मन को बहलाने के लिए, जीवन-यात्रा मे थके हृदय के सतोष के लिए कोई अवलम्ब नही। मैं प्यार करती हूँ और प्यार करती रहूं, किन्तु मुझे ? मानवता के नाते....इसे सहने के लिए मै कदापि प्रस्तुत नही। आह ! कितना तिरस्कार है **(वनलता सिर झुकाकर सिसकने लगती है/आनन्द का प्रवेश)**।

आनन्द - आप कुछ दुःखी हो रही हैं क्यो ?

वनलता - मान लीजिये कि हाँ मैं दुःखी हूँ।

आनन्द- और वह दुःख ऐसा है कि आप रो रही है।

वनलता -**(तीखेपन से)** मुझे यह नही मालम कि कितना दुःख हो तब रोना चाहिए। आपने इसका श्रेणी-विभाग किया होगा। मुझे तो यही दिखलाई देता है कि सब दुःखी है, सब विकल है, सबको एक--'एक घूंट' की प्यास बनी है !

आनन्द- किंतु मै दुःख का अस्तित्व ही नहीं मानता। मेरे पास तो प्रेम रूपी अमूल्य चितामणि है।

वनलता—और मै उसी के अभाव से दुःखी हूँ।

आनन्द— आश्चर्य। आपको प्रेम नही मिला। कल्याणी ! प्रेम तो....

वनलता—हा, आश्चर्य क्यो होता है आपको ! ससार मे लेना तो सब चाहते है, कुछ देना ही तो कठिन काम है। गाली, देने की वस्तुओ मे सुलभ है, किंतु सब को वह भी देना नहीं आता। मै स्वीकार करती हूँ कि मुझे किसी ने अपना निश्छल प्रेम नही दिया, और बड़े दुःख के साथ इसे न देने का, ससार का, उपकार मानती हूँ। **(आँखों में जल भर लेती है, फिर जैसे अपने को सम्हालती हुई)** क्षमा कीजिए, मेरी यह दुर्बलता थी।

आनन्द—नही श्रीमती ! यही तो जीवन की परम आवश्यकता है। आह ! कितने दुःख की बात है कि आपको ...

वनलता—तो आप दुःख का अस्तित्व मानने लगे !

आनन्द—**(विनम्रता से)** अब मैं इस विवाद को न बढ़ाकर इतना मान लेता हूँ कि आपको प्रेम की आवश्यकता है। और आप दुःखी हैं। क्या आप मुझे प्यार करने की आज्ञा देंगी ? क्योंकि····

वनलता—'क्योंकि' न लगाइये; फिर प्यार करने में असुविधा होगी। 'क्योंकि' में एक कड़वी दुर्गन्ध है।

[रसाल चुपचाप आकर दोनों की बातें सुनता है और समय-समय पर उसकी मुख-मुद्रा में आश्चर्य, क्रोध, और विरक्ति के चिन्ह झलकते हैं]

आनन्द—क्योंकि मैं किसी को प्यार नही करता, इसलिए आपसे प्रेम करता हूँ।

वनलता—**(सक्रोध)** वाग्जाल से क्या तात्पर्य ?

आनन्द—मैं--मैं।

वनलता—हाँ, आप ही का, क्या तात्पर्य है ?

आनन्द—मेरा किसी से द्वेष नही, इसलिए मैं सबको प्यार कर सकता हूँ। प्रेम करने का अधिकारी हूँ।

वनलता—कदापि नहीं, इसलिये कि मैं आपको प्यार नही करती। फिर आपके प्रेम का मेरे लिये क्या मूल्य है ?

आनन्द—तब ! **(ओठ चाटने लगता है)**

वनलता—तब यही कि **(कुछ सोचती हुई)** मैं जिसे प्यार करती हूँ वही—केवल वही व्यक्ति—मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार करे, मेरे शरीर को—जो मेरे सुन्दर हृदय का आवरण है—सतृष्ण देखे। उस प्यास में तृप्ति न हो, एक-एक घूंट वह पीता चले, मैं भी पिया करूँ। समझे ? इसमें आपकी पोली दार्शनिकता या व्यर्थ के वाक्यों को स्थान नही।

आनन्द—**(जैसे झेंप मिटाता हुआ)** मैं तो पथिक हूँ और संसार ही पथ है। सब अपने-अपने पथ पर घसीटे जा रहे हैं, मैं अपने को ही क्यों कहूँ। एक क्षण, एक युग कहिये या एक जीवन कहिये; है वह एक ही क्षण, कहीं विश्राम किया और फिर चले। वैसा ही निर्मोह प्रेम संभव है। सबसे एक-एक घूंट पीते-पिलाते नूतन जीवन का संचार करते चल देना। यही तो मेरा संदेश है।

वनलता—शब्दावली की मधुर प्रवंचना से आप छले जा रहे हैं।

आनन्द—क्या मैं भ्रांत हूँ ?

वनलता—अवश्य ! असंख्य जीवनों की भूल-भूलैया में अपने चिरपरिचित को खोज निकालना और किसी शीतल छाया में बैठकर एक घूंट पीना और पिलाना—क्या समझे ! प्रेम का 'एक घूंट' ! बस इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

आनन्द—(हताश होकर अंतिम आक्रमण करता हुआ) तो क्या आपने खोज लिया है—पहचान लिया है ?

वनलता—मैंने तो पहचान लिया है। किंतु वही, मेरे जीवन-धन अभी नही पहचान सके। इसी का मुझे…

[रसाल आकर प्यार से वनलता का हाथ पकड़ता है और आनन्द को गूढ़ दृष्टि से देखता है]

आनद—अरे आप यही—

रसाल—जी…(वनलता से) प्रिये ! आज तक मैं भ्रात था। मैंने आज पहचान लिया। यह कैसी भूल-भुलैया थी।

आनद—तो मै चलूं…(सिर खुजलाने लगता है)

वनलता—यही तो मेरे प्रियतम !

आनंद—(अलग खड़ा होकर) यह क्या ! यही क्या मेरे सदेश का मेरी आकाक्षा का व्यक्ति रूप है ! (वनलता और रसाल परस्पर स्निग्ध दृष्टि से देख रहे है। आनंद उस सुंदरता को देखकर धीरे-धीरे मन में सोचता-सा) असख्य जीवनो की भूल-भुलैवा मे अपने चि…र…प…रि…चि…त—

[रसाल और वनलता दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़े आनंद की ओर देखकर हँसते हुए, चले जाते है; आनंद उसी तरह चिता में निमग्न अपने-आप कहने लगता है :—]

चिरपरिचित को खोज निकालना ! कितनी असभव बात ! किंतु…परन्तु… बिल्कुल ठीक…मिलते है—हाँ मिल ही जाते ह, खोजने वाला चाहिए।

प्रेमलता—(सहसा हाथ मे शर्बत लिये प्रवेश करके) खोजते-खोजते मैं तो थक गयी। और शर्बत छलकते-छलकते कितना ब ।।, इसे आप ही देखिए। आप यही बैठे है और मैं कहाँ-कहाँ खोज आई।

आनंद—मुझे आप खोज रही थी ?

प्रेमलता—हाँ-हाँ, आप ही को (हँसती है)

आनद—(रसाल और वनलता की बात मन-ही-मन-स्मरण करता हुआ) सचमुच ! बडा आश्चर्य है ! (फिर कुछ सोचकर) अच्छा, क्यो ? (प्रेमलता को गहरी दृष्टि से देखने लगता है)

प्रेमलता—(जैसे खीझकर) आप ही ने कहा था न ! कि मै जा रहा हूँ। भोजन तो न करूँगा। हाँ, शर्बत या ठढाई एक घूंट पी लूंगा। कहा था न ? मीठी नारंगी का शर्बत ले आयी हूँ। पी लीजिए एक घूंट !

आनंद एक घूंट ! मुझे पिलाने के लिये खोजने का आपने कष्ट उठाया है ! **(विमूढ़-सा सोचने लगता है और शर्बत लिये प्रेमलता जैसे कुछ लज्जा का अनुभव करती है)**

प्रेमलता —आप मुझे लज्जित क्यों करते है ?

आनंद—**(चौंककर)** ऐ ! आपको मै लज्जित कर रहा हूँ ! क्षमा कीजिये। मैं कुछ सोच रहा था।

प्रेमलता—यही आज न जाने की बात ! वाह, तब तो अच्छा होगा। ठहरिये—दो-एक दिन !

आनंद--नही प्रेमलता। आह ! क्षमा कीजिये। मुझसे भूल हुई। मुझे इस तरह आपका नाम····

[हँसती हुई वनलता का प्रवेश]

वनलता-- कान पकड़िये, बडी भूल हुई। क्यों आनंदजी, यह कौन है ? आप बिना समझे-बूझे नाम जपने लगे।

[प्रेमलता लज्जित-सी सिर झुका लेती है। वनलता फिर अदृश्य हो जाती है / आनंद प्रेमलता के मधुर मुख पर अनुराग की लाली को सतृष्ण देखने लगता है / और प्रेमलता कभी आनंद को देखती है, कभी आँखे नीची कर लेती है]

आनंद—प्रेमलता ! प्रेमलता ! तुम्हारी स्वच्छ आँखो मे तो पहले इसका संकेत भी न था। यह कितना मादक है।

प्रेमलता -क्या ! मैंने किया क्या ?

आनंद—मेरा भ्रम मुझे दिखला दिया। मेरे कल्पित संदेश मे सत्य का कितना अंश था, उसे अलग झलका दिया। मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हूँ। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है।

वनलता--**(फिर हँसती हुई प्रवेश करके)** मैं कहती थी न ! खोजते-खोजते चिरपरिचित को पाकर एक घूंट पीना और पिलाना। कैसे पते की कही थी ? हमारे आश्रम की एकमात्र सरला कुमारी प्रेमलता आपसे एक घूंट पीने का अनुरोध कर रही है तब भी····

आनंद—क्षमा कीजिए श्रीमती ! मै अपनी मूर्खता पर विचार कर रहा हूँ। इतनी ममता कहाँ छिपी थी प्रेमलता ? लाओ एक घूंट पी लूं।

वनलता—**(प्रेमलता के साथ)** महाशय ! आज से यहीं इस अरुणाचल-आश्रम का नियम होगा उच्छृंखल प्रेम को बाँधने का। चलो प्रेमलता !

[वनलता के संकेत करने पर प्रेमलता सलज्ज अपने हाथों से आनंद को पिलाती है—आश्रम की अन्य स्त्रियाँ पहुँचकर गाने लगती हैं, रसाल, मुकुल और कुंज भी आकर फूल बरसाते हैं]

मधुर मिलन कुंज में—.

जहाँ खो गया जगत का, सारा श्रम-संताप।
सुमन खिल रहे हों जहाँ, सुखद सरल निष्पाप।।

उसी मिलन कुंज में—

तरु लतिका मिलते गले, सकते कभी न छूट।
उसी स्निग्ध छाया तले....पी... लो ...न .. एक घूँट।।

ध्रुवस्वामिनी

पात्र सूची

•

ध्रुवस्वामिनी

मन्दाकिनी

कोमा

•

चन्द्रगुप्त

रामगुप्त

शिखर स्वामी

पुरोहित

•

शकराज

खिंगिल

मिहिर देव

•

सामन्त कुमार, शक सामन्त, प्रतिहारी, प्रहरी, दासी, कुबड़ा, बौना, नर्त्तकियाँ

प्रथम अंक

[शिविर का पिछला भाग, जिसके पीछे पर्वतमाला की प्राचीर है, शिविर का एक कोना दिखलाई दे रहा है, जिससे सटा हुआ चन्द्रातप टँगा है / मोटी-मोटी रेशमी डोरियों से सुनहले काम के परदे खम्भों से बँधे हैं / दो-तीन सुन्दर मंच रक्खे हुए हैं / चन्द्रातप और पहाड़ी के बीच छोटा-सा कुंज / पहाड़ी पर से एक पतली जलधारा उस हरियाली में बहती है / झरने के पास शिलाओं से चिपकी हुई लता की डालियाँ पवन में हिल रही हैं / दो-चार छोटे-बड़े वृक्ष, जिन पर फूलों से लदी हुई सेवती की लता छोटा-सा झुरमुट बना रही है।

शिविर के कोने से ध्रुवस्वामिनी का प्रवेश / पीछे-पीछे एक लम्बी और कुरूप स्त्री चुपचाप नंगी तलवार लिये आती]

ध्रुवस्वामिनी—**(सामने पर्वत की ओर देख कर)** सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर ! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न ! **(साथवाली खड्गधारिणी की ओर देखकर)** क्यो, मन्दाकिनी नही आई ? **(वह उत्तर नहीं देती है)** बोलती क्यों नही ? यह तो मैं जानती हूँ कि इस राजकुल के अन्तःपुर में मेरे लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला; किन्तु क्या तुम-जैसी दासियों से भी वही मिलेगा ? इसी शैलमाला की तरह मौन रहने का अभिनय तुम न करो, बोलो ! **(वह दाँत निकालकर विनय प्रकट करती हुई कुछ और आगे बढ़ने का संकेत करती है)** अरे, यह क्या; मेरे भाग्य-विधाता ! यह कैसा इन्द्रजाल ? उस दिन राजमहापुरोहित ने कुछ आहुतियो के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था, क्या वह अभिशाप था ? इस राजकीय अन्तःपुर मे मब जैसे एक रहस्य छिपाये हुए चलते है, बोलते है और मौन हो जाते है। **(खड्गधारिणी विवशता और भय का अभिनय करती हुई आगे बढ़ने का संकेत करती है)** तो क्या तुम मूक हो ? तुम कुछ बोल न सको, मेरी बातों का उत्तर भी न दो, इसीलिए तुम मेरी सेवा में नियुक्त की गयी हो ? यह असह्य है। इस राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन न मिलेगा क्या ? जिधर देखो कुबड़े, बौने, हिजड़े, गूंगे और बहरे....। **(चिढ़ती हुई ध्रुवस्वामिनी आगे बढ़कर झरने के**

किनारे बैठ जाती है, खड्गधारिणी भी इधर-उधर देखकर ध्रुवस्वामिनी के पैरों के समीप बैठती है)

खड्गधारिणी—(सशंक चारों ओर देखती हुई) देवि, प्रत्येक स्थान और समय बोलने के योग्य नही होता, कभी-कभी मौन रह जाना बुरी बात नही है। मुझे अपनी दासी समझिए। अवरोध के भीतर मैं गूँगी हूँ। यहाँ संदिग्ध न रहने के लिए मुझे ऐसा ही करना पडता है।

ध्रुवस्वामिनी—अरे तो क्या तुम बोलती भी हो? पर यह तो कहो, यह कपट-आचरण किस लिए?

खड्गधारिणी—एक पीडित की प्रार्थना सुनाने के लिए। कुमार चन्द्रगुप्त को आप भूल न गयी होगी।

ध्रुवस्वामिनी—(उत्कण्ठा से) वही न, जो मुझे बदिनी बनाने के लिए गये थे।

खड्गधारिणी—(दाँतों से जीभ दबाकर) यह आप क्या कह रही है? उनको तो स्वय अपने भीषण भविष्य का पता नही। प्रत्येक क्षण उनके प्राणो पर सदेह करता है। उन्होने पूछा है कि मेरा क्या अपराध है?

ध्रुवस्वामिनी—(उदासी की मुस्कराहट के साथ) अपराध? मैं क्या बताऊँ! तो क्या कुमार भी बन्दी है?

खड्गधारिणी—कुछ-कुछ वैसा ही है देवि! राजाधिराज से कहकर क्या आप उनका कुछ उपकार कर सकेंगी?

ध्रुवस्वामिनी—भला मैं क्या कर सकूँगी? मैं तो अपने ही प्राणो का मूल्य नही समझ पाती। मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है, यह भी मैं आज तक न जान सकी। मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नही। विलासिनियो के साथ मदिरा मे उन्मत्त, उन्हे अपने आनन्द से अवकाश कहाँ!

खड्गधारिणी—तब तो अदृष्ट ही कुमार के जीवन का सहायक होगा। उन्होने पिता का दिया हुआ स्वत्व और राज्य का अधिकार तो छोड ही दिया, इसके साथ अपनी एक अमूल्य निधि भी...। (कहते-कहते सहसा रुक जाती है)

ध्रुवस्वामिनी—अपनी अमूल्य निधि! वह क्या?

खड्गधारिणी—वह अत्यन्त गुप्त है देवि, किन्तु मैं प्राणो की भीख माँगती हुई कह सकूँगी।

ध्रुवस्वामिनी—(कुछ सोचकर) तो जाने दो, छपी हुई बातो से मैं घबरा उठी हूँ। हाँ, मैंने उन्हे देखा था, वह निरभ्र प्राची का बाल-अरुण! आह! राज-चक्र सबको पीसता है, पिसने दो, हम निस्सहायो को और दुर्बलो को पिसने दो।

खड्गधारिणी—देवि, वह वल्लरी जो झरने के समीप पहाड़ी पर चढ़ गयी है,

उसकी नन्हीं-नन्हीं पत्तियों को ध्यान से देखने पर आप समझ जायेंगी कि वह काई की जाति की है। प्राणों की क्षमता बढ़ा लेने पर वही काई जो बिछलन बनकर गिरा सकती थी, अब दूसरों के ऊपर चढ़ने का अवलम्बन बन गयी है।

ध्रुवस्वामिनी—(आकाश की ओर देखकर) वह, बहुत दूर की बात है। आह, कितनी कठोरता है! मनुष्य के हृदय मे देवता को हटाकर राक्षस कहाँ से घुस आता है? कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्त्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है। किन्तु, उन्ही का भाई? आश्चर्य?

खड्गधारिणी—कुमार को इतने मे ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वास-पूर्वक स्मरण कर लेता है। रही अभ्युदय की बात, सो तो उनको अपने बाहु-बल और भाग्य पर ही विश्वास है।

ध्रुवस्वामिनी—किन्तु उन्हे कोई ऐसा साहस का काम न करना चाहिए जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक हो जाय। **(खड्गधारिणी खड़ी होती है)**

—अच्छा, तो अब तू जा और अपने मौन संकेत से किसी दासी को यहाँ भेज दे। मैं अभी यहीं बैठना चाहती हूँ।

[खड्गधारिणी नमस्कार करके जाती है/और एक दासी का प्रवेश]

दासी—(हाथ जोड़कर) देवि, सायंकाल हो चला है। वनस्पतियाँ शिथिल होने लगी हैं। देखिए न, व्योम-विहारी पक्षियों का झुण्ड भी अपने नीड़ों में प्रसन्न कोलाहल से लौट रहा है। क्या भीतर चलने की अभी इच्छा नही है?

ध्रुवस्वामिनी—चलूंगी क्यों नही? किन्तु मेरा नीड़ कहाँ? यह तो स्वर्ण-पिञ्जर है।

[करुण भाव से उठकर दासी के कन्धे पर हाथ रखकर चलने को उद्यत होती है / नेपथ्य में कोलाहल / 'महादेवी कहाँ हैं? उन्हें कौन बुलाने गयी है?']

ध्रुवस्वामिनी—हें-हें, यह उतावली कैसी?

प्रतिहारी—(प्रवेश करके घबराहट से) भट्टारक इधर आये हैं क्या?

ध्रुवस्वामिनी—(व्यंग से मुस्कराती हुई) मेरे अंचल मे तो छिपे नही हैं। देखो किसी कुञ्ज में ढूंढो।

प्रतिहारी—(संभ्रम से) अरे महादेवी, क्षमा कीजिए। युद्ध-सम्बन्धी एक आवश्यक संवाद देने के लिए महाराज को खोजती हुई मैं इधर आ गयी हूँ।

ध्रुवस्वामिनी—होंगे कहीं, यहाँ तो नही हैं।

[उदास भाव से दासी के साथ ध्रुवस्वामिनी का प्रस्थान / दूसरी ओर से खड्गधारिणी का पुनः प्रवेश और कुञ्ज में से अपना उत्तरीय सँभालता

हुआ रामगुप्त निकलकर एक बार प्रतिहारी की ओर फिर खड्गधारिणी की ओर देखता है]

प्रतिहारी—जय हो देव ! एक चिन्ताजनक समाचार निवेदन करने के लिए अमात्य ने मुझे भेजा है।

रामगुप्त—**(झुंझला कर)** चिन्ता करने-करते देखता हूँ कि मुझे मर जाना पड़ेगा ! ठहरो **(खड्गधारिणी से)** हाँ जी, तुमने अपना काम तो अच्छा किया, किन्तु मैं समझ न सका कि चन्द्रगुप्त को वह अब भी प्यार करती है या नही ?

[खड्गधारिणी प्रतिहारी की ओर देखकर चुप रह जाती है]

रामगुप्त—**(प्रतिहारी की ओर क्रोध से देखता हुआ)** तुमसे मैंने कह न दिया कि अभी मुझे अवकाश नही, ठहर कर आना।

प्रतिहारी—राजाधिराज ! शकों ने किसी पहाडी राह से उतर कर नीचे का गिरि-पथ रोक लिया है। हम लोगो के शिविर का सम्बन्ध राज-पथ से छूट गया है। शकों ने दोनो ही ओर से घेर लिया है।

रामगुप्त—दोनों ओर से घिरा रहने मे शिविर और भी सुरक्षित है। मूर्ख ! चुप रह **(खड्गधारिणी से)** तो ध्रुवदेवी, क्या मन-ही-मन चन्द्रगुप्त को''''है न मेरा सन्देह ठीक ?

प्रतिहारी—**(हाथ जोड़ कर)** अपराध क्षमा हो देव ! अमात्य, युद्ध-परिषद् में आपकी प्रतीक्षा कर रहे है।

रामगुप्त—**(हृदय पर हाथ रखकर)** युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है, देखता नही, जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझ से स्नेह नही करतीं और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज !

प्रतिहारी—महाराज, शकराज का सन्देश लेकर एक दूत भी आया है।

रामगुप्त आह ! किन्तु ध्रुवदेवी ! उसके मन मे टीस है **(कुछ सोच कर)** जो स्त्री दूसरे के शासन मे रहकर और प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उसमें एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा। वही तो ''नही, जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कब चोट कर बैठे ? 'भीतर-भीतर न जाने कितने कुचक्र घूमने लगेगे **(खड्गधारिणी से)** सुना न, ध्रुवदेवी से कह देना चाहिए कि वह मुझे और मुझसे ही प्यार करे। केवल महादेवी बन जाना ठीक नही।

[खड्गधारिणी का प्रतिहारी के साथ प्रस्थान और शिखरस्वामी का प्रवेश]

शिखरस्वामी—कुछ आवश्यक बातें कहनी है देव !

रामगुप्त—**(चिन्ता से उंगली दिखाते हुए, जैसे अपने-आप बातें कर रहा हो)** ध्रुवदेवी को लेकर क्या साम्राज्य से भी हाथ धोना पड़ेगा ! नहीं तो

फिर ? **(कुछ सोचने लगता है)** ठीक तो, सहसा मेरे राजदण्ड ग्रहण कर लेने से पुरोहित, अमात्य और सेनापति लोग छिपा हुआ विद्रोह-भाव रखते हैं। **(शिखर से)** है न ? केवल एक तुम्हीं मेरे विश्वासपात्र हो। समझा न ? यही गिरि-पथ सब झगड़ों का अन्तिम निर्णय करेगा। क्यों अमात्य, जिसकी भुजाओं में बल न हो, उसके मस्तिष्क में तो कुछ होना चाहिए ?

शिखरस्वामी -**(एक पत्र देकर)** पहले इसे पढ़ लीजिए ! **(रामगुप्त पत्र पढ़ते-पढ़ते जैसे आश्चर्य से चौंक उठता है)** चौंकिए मत, यह घटना इतनी आकस्मिक है कि कुछ सोचने का अवसर नहीं मिलता।

रामगुप्त—**(ठहर कर)** है तो ऐसा ही; किन्तु एक बार ही मेरे प्रतिकूल भी नहीं। मुझे इसकी सम्भावना पहले से भी थी।

शिखरस्वामी—**(आश्चर्य से)** ऐ ? तब तो महाराज ने अवश्य ही कुछ सोच लिया होगा। मेघ-संकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो, उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए।

रामगुप्त—**(सशंक)** कह दूँ ! सोचा तो है मैंने; परन्तु क्या तुम उसका समर्थन करोगे ?

शिखरस्वामी – यदि नीति-युक्त हुआ तो अवश्य समर्थन करूँगा। सबके विरुद्ध रहने पर भी स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल मैंने ही आपका समर्थन किया था। नीति-सिद्धान्त के आधार पर ज्येष्ठ राजपुत्र को....।

रामगुप्त—**(बात काटकर)** वह तो—वह तो मैं जानता हूँ, किन्तु इस समय जो प्रश्न सामने आ गया है उस पर विचार करना चाहिए। यह तुम जानते हो कि मेरी इस विजय-यात्रा का कोई गुप्त उद्देश्य है। उसकी सफलता भी सामने दिखाई पड़ रही है। हाँ, थोड़ा-सा साहस चाहिए।

शिखरस्वामी—वह क्या ?

रामगुप्त—शक-दूत सन्धि के लिए जो प्रमाण चाहता हो, उसे अस्वीकार न करना चाहिए। ऐसा करने से इस संकट के बहाने जितनी विरोधी प्रकृति है उस सबको हम लोग सहज में ही हटा सकेंगे।

शिखरस्वामी—भविष्य के लिए यह चाहे अच्छा हो; किन्तु इस समय तो हम लोगों को बहुत-से विघ्नों का सामना करना पड़ेगा।

रामगुप्त—**(हँसकर)** तब तुम्हारी बुद्धि कब काम में आयेगी ? और हाँ, चन्द्रगुप्त के मनोभाव का कुछ पता लगा ?

शिखरस्वामी – कोई नयी बात तो नहीं।

रामगुप्त—मैं देखता हूँ कि मुझे पहले अपने अन्तःपुर के ही विद्रोह का दमन

करना होगा। (निःश्वास लेकर) ध्रुवदेवी के हृदय में चन्द्रगुप्त की आकांक्षा धीरे-धीरे जाग रही है।

शिखरस्वामी—यह असम्भव नही; किन्तु महाराज ! इस समय आपको द्यूत से साक्षात् करके उपस्थित राजनीति पर ध्यान देना चाहिए। यह एक विचित्र बात है कि प्रबल पक्ष सन्धि के लिए सन्देश भेजे।

रामगुप्त—विचित्र हो चाहे सचित्र, अमात्य, तुम्हारी राजनीतिज्ञता इसी में है कि भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल मे परास्त हों। तो चलो।

[दोनों का प्रस्थान / मन्दाकिनी का सशंक भाव से प्रवेश]

मन्दाकिनी—(चारों ओर देखकर) भयानक समस्या है। मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है ! सच है, वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छन्द की धूल उड़ती है। (कुछ सोचकर) कुमार चन्द्रगुप्त को यह सब समाचार शीघ्र ही मिलना चाहिए। गूंगी के अभिनय में महादेवी के हृदय का आवरण तनिक-सा हटा है, किन्तु वह थोड़ा-सा स्निग्ध भाव भी कुमार के लिए कम महत्त्व नही रखता। कुमार चन्द्रगुप्त ! कितना समर्पण का भाव है उसमे—और उसका बड़ा भाई रामगुप्त ! कपटाचारी रामगुप्त ! जी करता है इस कलुषित वातावरण से कहीं दूर, विस्मृति मे अपने को छिपा लूं। पर मन्दा ! तुझे विधाता ने क्यों बनाया ? (सोचने लगती है) नही, मुझे हृदय कठोर करके, अपना कर्त्तव्य करने के लिए यहाँ रुकना होगा। न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना होगा।

[गाती है]

यह कसक अरे आँसू सह जा।
बनकर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता, रह जा।
बन प्रेम छलक कोने कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा।
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा।

[जाती है / ध्रुवस्वामिनी का उदास भाव से धीरे-धीरे प्रवेश / पीछे एक परिचारिका पान का डिब्बा और दूसरी चमर लिये आती है / ध्रुवस्वामिनी एक मंच पर बैठकर अधरों पर उंगली रखकर कुछ सोचने लगती है और चमरधारिणी चमर डुलाने लगती है]

ध्रुवस्वामिनी—(दूसरी परिचारिका से) हाँ, क्या कहा ! शिखरस्वामी कुछ कहना चाहते हैं ? कह दो, कल सुनूंगी, आज नही।

परिचारिका-- जैसी आज्ञा। तो मैं कह आऊँ कि अमात्य से कल महादेवी बातें करेंगी ?

ध्रुवस्वामिनी—**(कुछ सोच कर)** ठहरो तो, वह गुप्त-साम्राज्य का अमात्य है, उससे आज ही भेंट करना होगा। हाँ, यह तो बताओ, तुम्हारे राजकुल में नियम क्या है ? पहले अमात्य की मंत्रणा सुननी पड़ती है, तब राजा से भेंट होती है ?

परिचारिका—**(दाँतों से जीभ दबा कर)** ऐसा नियम तो मैंने नहीं सुना। यह युद्ध-शिविर है न ? परमभट्टारक को अवसर न मिला होगा। महादेवी ! आपको सन्देह न करना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी—मैं महादेवी ही हूँ न ? यदि यह सत्य है तो क्या तुम मेरी आज्ञा से कुमार चन्द्रगुप्त को यहाँ बुला सकती हो ? मैं चाहती हूँ कि अमात्य के साथ ही कुमार से भी कुछ बातें कर लूँ।

परिचारिका--क्षमा कीजिए, इसके लिए तो पहले अमात्य से पूछना होगा।

[ध्रुवस्वामिनी क्रोध से उसकी ओर देखने लगती है और वह पान का डिब्बा रख कर चली जाती है / एक बौने का कुबड़े और हिजड़े के साथ प्रवेश]

कुबड़ा—युद्ध ! भयानक युद्ध ! !

बौना—हो रहा है, कि कहीं होगा मित्र !

हिजड़ा—बहनों, यहीं युद्ध करके दिखाओ न, महादेवी भी देख लें।

बौना— **(कुबड़े से)** सुनता है रे ! तू अपना हिमाचल इधर कर दे—मैं दिग्विजय करने के लिए कुबेर पर चढ़ाई करूँगा।

[उसकी कूबड़ को दबाता है और कुबड़ा अपने घुटनों और हाथों के बल बैठ जाता है / हिजड़ा कुबड़े की पीठ पर बैठता है / बौना एक मोर्छल लेकर तलवार की तरह उसे घुमाने लगता है]

हिजड़ा—अरे ! यह तो मैं हूँ नल-कूबर की वधू ! दिग्विजयी वीर, क्या तुम स्त्री से युद्ध करोगे ? लौट जाओ, कल आना। मेरे श्वशुर और आर्यपुत्र दोनों ही उर्वशी और रम्भा के अभिसार से अभी नहीं आये। कुछ आज ही तो युद्ध करने का शुभ मुहूर्त नहीं है।

बौना—**(मोर्छल से पटा घुमाता हुआ)** नहीं, आज ही युद्ध होगा। तुम स्त्री नहीं हो, तुम्हारी उँगलियाँ तो मेरी तलवार से भी अधिक चल रही हैं। कूबड़ तुम्हारे नीचे है। तब मैं कैसे मान लूँ कि तुम न तो नल-कूबर हो और न कुबेर ! तुम्हारे वस्त्रों से मैं धोखा न खा जाऊँगा। तुम पुरुष हो, युद्ध करो।

हिजड़ा—**(उसी तरह मटकते हुए)** अरे, मैं स्त्री हूँ। बहनों कोई मुझसे ब्याह भले ही कर सकता है, लडाई मैं क्या जानूँ ?

[दासी के साथ शिखरस्वामी का प्रवेश]

शिखरस्वामी—महादेवी की जय हो !

[दूसरी ओर से एक युवती-दासी के कन्धे का सहारा लिये कुछ-कुछ मदिरा के नशे में रामगुप्त का प्रवेश / मुस्कराता हुआ बौने का खेल देखने लगता है / ध्रुवस्वामिनी उठकर खड़ी हो जाती है और शिखरस्वामी राम गुप्त को संकेत करता है]

रामगुप्त—**(कुछ भर्राये हुए कंठ से)** महादेवी की जय हो !

ध्रुवस्वामिनी—स्वागत महाराज !

[रामगुप्त एक मंच पर बैठ जाता है और शिखरस्वामी ध्रुवस्वामिनी के इस उदासीन शिष्टाचार से चकित होकर सिर खुजलाने लगता है]

कुबड़ा—दोहाई राजाधिराज की ! मुझ हिमालय का कूबड़ दुखने लगा। न तो यह नल-कूबर की बहू मेरे कूबड से उठती है और न तो यह बौना मुझे विजय ही कर लेता है।

रामगुप्त—**(हंसते हुए)** वाह रे वामन वीर ! यहाँ दिग्विजय का नाटक खेला जा रहा है क्या ?

बौना—**(अकड़ कर)** वामन के बलि-विजय की गाथा और तीन पगो की महिमा सब लोग जानते है। मैं भी तीन लात मे इसका कूबड सीधा कर सकता हूँ।

कुबड़ा—लगा दे भाई बौने ! फिर यह अचल हेमकूट बनना तो छूट जाय !

हिजड़ा—देखो जी, मै नल-कूबर की वधू इस पर बैठी हूँ।

बौना—झूठ ! युद्ध के डर से पुरुष होकर भी यह स्त्री बन गया है।

हिजडा—मैं तो पहले ही कह चुकी मैं युद्ध करना नही जानती।

बौना—तुम नल-कूबर की स्त्री हो न, तो अपनी विजय का उपहार समझ कर मै तुम्हारा हरण कर लूंगा। **(और लोगों की ओर देखकर उसका हाथ पकड़ कर खींचता हुआ)** ठीक होगा न ? कदाचित् यह धर्म के विरुद्ध न होगा !

[रामगुप्त ठठाकर हंसने लगता है]

ध्रुवस्वामिनी—**(क्रोध से कड़ककर)** निकलो ! अभी निकलो, यहाँ ऐसी निर्लज्जता का नाटक मैं नही देखना चाहती। **(शिखरस्वामी की ओर भी सक्रोध देखती है / शिखर के संकेत करने पर वे सब भाग जाते हैं)**

रामगुप्त—अरे, ओ दिग्विजयी ! सुन तो **(उठ कर ताली पीटता हुआ हंसने लगता है। ध्रुवस्वामिनी क्षोभ और घृणा से मुँह फिरालेती है / शिखरस्वामी के संकेत से दासी मदिरा का पात्र ले आती है, उसे देख कर प्रसन्नता से आँखें फाड़ कर शिखर की ओर अपना हाथ बढ़ा देता है)**

अमात्य, आज ही महादेवी के पास मैं आया और आप भी पहुँच गये, यह एक विलक्षण घटना है। है न ? (पात्र लेकर पीता है)

शिखरस्वामी—देव, मैं इस समय एक आवश्यक कार्य से आया हूँ।

रामगुप्त—ओह, मै तो भूल ही गया था ! वह बर्बर शकराज क्या चाहता है ? मैं आक्रमण न करूँ, इतना ही तो ? जाने दो, युद्ध कोई अच्छी बात तो नही !

शिखरस्वामी—वह और भी कुछ चाहता है।

रामगुप्त—क्या कुछ सहायता भी माँग रहा है ?

शिखरस्वामी—(सिर झुका कर गम्भीरता से) नही देव, वह बहुत ही असंगत और अशिष्ट याचना कर रहा है।

रामगुप्त—क्या ? कुछ कहो भी।

शिखरस्वामी—क्षमा हो महाराज ! दूत तो अबध्य होता ही है; इसलिए उसका सन्देश सुनना ही पडा। वह कहता था कि शकराज से महादेवी ध्रुवस्वामिनी का (रुक कर ध्रुवस्वामिनी की ओर देखने लगता है—ध्रुवस्वामिनी सिर हिला कर कहने की आज्ञा देती है) विवाह-सम्बन्ध स्थिर हो चुका था, बीच में ही आर्य समुद्रगुप्त की विजय यात्रा मे महादेवी के पिताजी ने उपहार मे उन्हे गुप्तकुल में भेज दिया, इसलिए महादेवी को वह····।

रामगुप्त—ऐं, क्या कहते हो अमात्य ? क्या वह महादेवी को माँगता है !

शिखरस्वामी—हाँ देव ! साथ ही वह अपने सामन्तो के लिए भी मगध के सामन्तों की स्त्रियों को माँगता है।

रामगुप्त—(श्वाँस लेकर) ठीक ही है, जब उसके यहाँ सामन्त है, तब उन लोगों के लिए भी स्त्रियाँ चाहिए। हाँ, क्या यह सच है कि महादेवी के पिता ने पहले शकराज से इनका सम्बन्ध स्थिर कर लिया था

शिखरस्वामी—यह तो मुझे नही मालूम ?

[ध्रुवस्वामिनी रोष से फूलती हुई टहलने लगती है]

रामगुप्त—महादेवी, अमात्य क्या पूछ रहे है ?

ध्रुवस्वामिनी—इस प्रथम सम्भाषण के लिए मै कृतज्ञ हुई महाराज ! किन्तु मैं भी यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त-साम्राज्य क्या स्त्री-सम्प्रदान से ही बढा है ?

रामगुप्त—(झेंप कर हँसता हुआ) हे-हे-हे, बताइए अमात्य जी !

शिखरस्वामी—मै क्या कहूँ ? शत्रु-पक्ष का यही सन्धि-सन्देश है। यदि स्वीकार न हो तो युद्ध कीजिए। शिविर दोनो ओर से घिर गया है। उसकी बाते मानिए, या मर कर भी अपनी कुल-मर्यादा की रक्षा कीजिए। दूसरा कोई उपाय नहीं।

रामगुप्त—**(चौंक कर)** क्या प्राण देने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नही ? ऊँ-हूँ, तब तो महादेवी से पूछिए।

ध्रुवस्वामिनी - **(तीव्र स्वर से)** और आप लोग, कुबड़ों, बौनों और नपुंसकों का नृत्य देखेंगे। मै जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुख मे मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्नि-वेदी के सामने की है ?

रामगुप्त—**(चारों ओर देख कर)** किसने की है, कोई बोलता क्यों नही ?

ध्रुवस्वामिनी—तो क्या मैं राजाधिराज रामगुप्त की महादेवी नही हूँ ?

रामगुप्त—क्यों नही ? परन्तु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं तो उस दिन द्राक्षासव में डुबकी लगा रहा था। पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ा दिया होगा। उन सब बातो का बोझ मेरे सिर पर ! **(सिर हिला कर)** कदापि नही !

ध्रुवस्वामिनी—**(निस्सहाय होकर दीनता से शिखरस्वामी के प्रति)** यह तो हुई राजा की व्यवस्था, अब सुनूं मंत्री महोदय क्या कहते है !

शिखरस्वामी—मैं कहूँगा देवि, अवसर देख कर राज्य की रक्षा करने वाली उचित सम्मति दे देना ही तो मेरा कर्तव्य है। राजनीति के सिद्धान्त मे राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है। उसके लिए राजा, रानी, कुमार और अमात्य सब का विसर्जन किया जा सकता है; किन्तु राज-विसर्जन अन्तिम उपाय है।

रामगुप्त—**(प्रसन्नता से)** वाह ! क्या कहा तुमने ! तभी तो लोग तुम्हें नीति-शास्त्र का बृहस्पति समझते है !

ध्रुवस्वामिनी—अमात्य, तुम बृहस्पति हो चाहे शुक्र, किन्तु धूर्त्त होने से ही क्या मनुष्य भूल नही करता ? आर्य समुद्रगुप्त के पुत्र को पहचानने मे तुमने भूल तो नही की ? सिंहासन पर भ्रम से किसी दूसरे को तो नही बिठा दिया !

रामगुप्त—**(आश्चर्य से)** क्या ? क्या ?? क्या ???

ध्रुवस्वामिनी—कुछ नही, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नही चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नही कर सकते, अपने कुल की मर्यादा नारी का गौरव, नही बचा सकते, तो मुझे बेच भी नही सकते हो। हाँ, तुम लोगों को आपत्ति से बचाने के लिए मैं स्वयं यहाँ से चली जाऊँगी।

शिखरस्वामी—**(मुंह बना कर)** उंह, राजनीति मे ऐसी बातों को स्थान नही। जब तक नियमों के अनुकूल सन्धि का पूर्ण रूप से पालन न किया जाय, तब तक सन्धि का कोई अर्थ ही नही।

ध्रुवस्वामिनी—देखती हूँ कि इस राष्ट्र-रक्षा-यज्ञ में रानी की बलि होगी ही।

शिखरस्वामी--दूसरा कोई उपाय नही।

ध्रुवस्वामिनी--**(क्रोध से पैर पटक कर)** उपाय नही, तो न हो निर्लज्ज अमात्य ! फिर ऐसा प्रस्ताव मै सुनना नही चाहती।

रामगुप्त--**(चौंक कर)** इस छोटी सी बात के लिए इतना बड़ा उपद्रव ! **(दासी की ओर देख कर)** मेरा तो कण्ठ सूखने लगा।

[वह मदिरा देती है]

ध्रुवस्वामिनी--**(दृढ़ता से)** अच्छा, तो अब मै चाहती हूँ कि अमात्य अपने मंत्रणा-गृह में जायें। मै केवल रानी ही नही, किन्तु स्त्री भी हूँ; मुझे अपने को पति कहनेवाले पुरुष से कुछ कहना है, राजा से नही।

[शिखरस्वामी का दासियों के साथ प्रस्थान]

रामगुप्त--ठहरो जी, मै भी चलता हूँ **(उठना चाहता है / ध्रुवस्वामिनी उसका हाथ पकड़ कर रोक लेती है)** तुम मुझसे क्या कहना चाहती हो ?

ध्रुवस्वामिनी--**(ठहर कर)** अकेले यहाँ भय लगता है क्या ? बैठिए, सुनिए। मेरे पिता ने उपहार-स्वरूप कन्या-दान किया था। किन्तु गुप्त-सम्राट् क्या अपनी पत्नी शत्रु को उपहार में देगे ? **(घुटने के बल बैठकर)** देखिए, मेरी ओर देखिए। मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नही कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राणो का पण लगा सके।

रामगुप्त--**(उसे देखता हुआ)** तुम सुन्दर हो, ओह, कितनी सुन्दर; किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में डुबा नही सकता। तुम्हारी सुन्दरता--तुम्हारा नारीत्व--अमूल्य हो सकता है। फिर भी अपने लिए मै स्वयं कितना आवश्यक हूँ, कदाचित् तुम यह नही जानती हो।

ध्रुवस्वामिनी--**(उसके पैरों को पकड़ कर)** मै गुप्त-कुल की वधू होकर इस राज-परिवार मे आयी हूँ। इसी विश्वास पर...।

रामगुप्त--**(उसे रोक कर)** वह सब मै नही सुनना चाहता।

ध्रुवस्वामिनी--मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मै शरण की प्रार्थिनी हूँ। मै स्वीकार करती हूँ, कि आज तक मै तुम्हारे विलास की सहचरी नही हुई; किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मै तुम्हारी होकर रहूँगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को--पुरुष को बहुत-सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं; किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नही मिलता।

रामगुप्त--**(घबराकर उसका हाथ हटाता हुआ)** ओह, तुम्हारा यह घातक स्पर्श बहुत ही उत्तेजनापूर्ण है ! मै,--नही। तुम, मेरी रानी ? नही, नही। जाओ, तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मै तुम्हे किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हे क्यों आपत्ति हो ?

ध्रुवस्वामिनी—(**खड़ी होकर रोष से**) निर्लज्ज ! मद्यप !! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नही ? (**ठहर कर**) नही, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी ! मैं उपहार मे देने की वस्तु, शीतल मणि नही हूँ। मुझमे रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमे आत्म-सम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा म ही करूँगी। (**रशना से कृपाणी निकाल लेती है**)

रामगुप्त—(**भयभीत होकर पीछे हटता हुआ**) तो क्या तुम मेरी हत्या करोगी ?

ध्रुवस्वामिनी—तुम्हारी हत्या ? नही, तुम जिओ। भेड की तरह तुम्हारा क्षुद्र जीवन ! उसे न लूंगी ! मैं अपना ही जीवन समाप्त करूँगी।

रामगुप्त किन्तु तुम्हारे मर जाने पर उस बर्बर शकराज के पास किसको भेजा जायगा ? नही, नही, ऐसा न करो। हत्या ! हत्या ! ! दौडो ! दौडो ! ! (**भागता हुआ निकल जाता है। दूसरी ओर से वेग सहित चन्द्रगुप्त का प्रवेश**)

चन्द्रगुप्त हत्या ! कैसी हत्या ! ! (**ध्रुवस्वामिनी को देख कर**) यह क्या ? महादेवी ठहरिए !

ध्रुवस्वामिनी -कुमार, इसी समय तुम्हे भी आना था ! (**सकरुण देखती हुई**) मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम यहाँ से चले जाओ ! मुझे अपने अपमान मे निर्वसन—नग्न देखने का किसी पुरुष को अधिकार नही ! मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढँक लेने दो।

चन्द्रगुप्त—किन्तु क्या कारण सुनने का मै अधिकारी नही हूँ ?

ध्रुवस्वामिनी —सुनोगे ? (**ठहर कर सोचती हुई**) नही, अभी आत्महत्या नही करूँगी। जब तुम आ गये हो तो थोडा ठहरूँगी। यह तीखी छुरी इस अतृप्त हृदय मे, विकासोन्मुख कुसुम मे विषैले कीट के डक की तरह चुभा दूं या नही, इस पर विचार करूँगी। यदि नही तो मेरी दुर्दशा का पुरस्कार क्या कुछ और है ? हाँ, जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्म-विज्ञापन का भार ढोती रहूँ—यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है ? छुटकारा नही ? जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही ? तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नही है ?

चन्द्रगुप्त—देवि, जीवन विश्व की सम्पत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दुःख की कठिनाइयो मे उसे नष्ट करना ठीक तो नही। गुप्त-कुल-लक्ष्मी आज यह छिन्नमस्ता का अवतार किसलिए धारण करना चाहती है ? सुनूं भी ?

ध्रुवस्वामिनी—नही, मैं न मरूँगी ! क्योकि तुम आ गये हो। मेरी शिविका के साथ चामर-सज्जित अश्व पर चढ कर तुम्ही उस दिन आये थे ? तुम्हारा विश्वासपूर्ण मुखमण्डल मेरे साथ आने मे क्यो इतना प्रसन्न था ?

चन्द्रगुप्त -मैं गुप्त-कुल-वधू को आदरसहित ले आने के लिए गया था। फिर प्रसन्न क्यों न होता ?

ध्रुवस्वामिनी -तो फिर आज मुझे शक-शिविर मे पहुँचाने के लिए उसी प्रकार तुमको मेरे साथ चलना होगा। **(आँखों से आँसू पोंछती है)**

चन्द्रगुप्त **(आश्चर्य से)** यह कैसा परिहास !

ध्रुवस्वामिनी—कुमार ! यह परिहास नही, राजा की आज्ञा है। शकराज को मेरी अत्यन्त आवश्यकता है। यह अवरोध, बिना मेरा उपहार दिये नही हट सकता।

चन्द्रगुप्त—**(आवेश से)** यह नही हो सकता। महादेवि ! जिस मर्यादा के लिए—जिस महत्त्व को स्थिर रखने के लिए, मैने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड दिया, उसका यह अपमान ! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पद-दलित होना न पडेगा। **(ठहर कर)** और भी एक बात है। मेरे हृदय के अन्धकार मे प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञातभाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था, उसको भी मैंने केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया कि- **(सहसा चुप हो जाता है)**

ध्रुवस्वामिनी **(आँख बन्द किये हुए कुतूहल-भरी प्रसन्नता से)** हाँ—हाँ, कहो- कहो।

[शिखरस्वामी के साथ रामगुप्त का प्रवेश]

रामगुप्त —देखो तो कुमार ! यह भी कोई बात है ? आत्महत्या कितना बड़ा अपराध है !

चन्द्रगुप्त- और आप मे तो यह भी नहीं करते बनता।

रामगुप्त—**(शिखरस्वामी से)** देखो, कुमार के मन में छिपा हुआ कलुष कितना····कितना····भयानक है ?

शिखरस्वामी कुमार, विनय गुप्त-कुल का सर्वोत्तम गृह-विधान है, उसे न भूलना चाहिए !

चन्द्रगुप्त—**(व्यंग्य से हँसकर)** अमात्य, तभी तो तुमने व्यवस्था दी है, कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय ! क्यों, यही तो विनय की पराकाष्ठा है ! ऐसा विनय प्रवंचकों का आवरण है, जिसमे शील न हो। और शील परस्पर सम्मान की घोषणा करता है। कापुरुष ! आर्य समुद्रगुप्त का सम्मान····

शिखरस्वामी--**(बीच में बात काट कर)** उसके लिए मुझे प्राणदण्ड दिया जाय ! मैं उसे अविचल भाव से ग्रहण करूँगा परन्तु राजा और राष्ट्र की रक्षा होनी चाहिए।

मन्दाकिनी—**(प्रवेश करके)** राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करने मे असमर्थ है, तब भी उस राजा की रक्षा होनी ही चाहिए। अमात्य, यह कैसी विवशता है ! तुम

मृत्युदण्ड के लिए उत्सुक ! महादेवी आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत ! फिर यह हिचक क्यों ? एक बार अन्तिम बल से परीक्षा कर देखो। बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नही तो सर्वनाश !

चन्द्रगुप्त —आहा, मन्दा ! भला तू कहाँ से यह उत्साहभरी बात कहने के लिए आ गयी ? ठीक तो है अमात्य ! सुनो, यह स्त्री क्या कह रही है ?

रामगुप्त—**(अपने हाथों को मसलते हुए)** दुरभिसन्धि, छल, मेरे प्राण लेने का कौशल !

चन्द्रगुप्त —तब आओ, हम स्त्री बन जायँ और बैठ कर रोए।

हिजड़ा—**(प्रवेश करके)** कुमार, स्त्री बनना सहज नही है। कुछ दिनो तक मुझसे सीखना होगा। **(सबका मुँह देखता है और शिखरस्वामी के मुँह पर हाथ फेरता है)** उहूँ, तुम नही बन सकते। तुम्हारे ऊपर बडा कठोर आवरण है। **(कुमार के समीप जाकर)** कुमार ! मै शपथ खाकर कह सकती हूँ कि यदि मैं अपने हाथो से सजा दूं तो आपको देख कर महादेवी का भ्रम हो जाय।

[चन्द्रगुप्त उसका कान पकड़ कर बाहर कर देता है]

ध्रुवस्वामिनी—उसे छोड दो कुमार ! यहाँ पर एक वही नपुंसक तो नही है। बहुत-से लोगो मे से किसको-किसको निकालोगे ?

[चन्द्रगुप्त उसे छोड़ कर चिन्तित-सा टहलने लगता है और शिखर-स्वामी रामगुप्त के कानों में कुछ कहता है]

चन्द्रगुप्त —**(सहसा खड़े होकर)** अमात्य, तो तुम्हारी ही बात रही। हाँ, उसमे तुम्हारे सहयोगी हिजडे की भी सम्मति मुझे अच्छी लगी। मैं ध्रुवस्वामिनी बन कर अन्य सामन्त कुमारो के साथ शकराज के पास जाऊँगा। यदि मैं सफल हुआ तब तो कोई बात ही नही, अन्यथा मेरी मृत्यु के बाद तुम लोग जैसा उचित समझना, वैसा करना।

ध्रुवस्वामिनी —**(चन्द्रगुप्त को अपनी भुजाओं मे पकड़ कर)** नही, मैं तुमको न जाने दूँगी। मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी-जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नही।

रामगुप्त —**(आश्चर्य और क्रोध से)** छोडो, छोड़ो, यह कैसा अनर्थ ! सब के सामने यह कैसी निर्लज्जता !

ध्रुवस्वामिनी—**(चन्द्रगुप्त को छोड़ती हुई जैसे चैतन्य होकर)** यह पाप है ? जो मेरे लिए अपनी बलि दे सकता हो, जो मेरे स्नेह **(ठहर कर)** अथवा इससे क्या ? शकराज क्या मुझे देवी बना कर भक्ति-भाव से मेरी पूजा करेगा ! वाह रे लज्जाशील पुरुष !

[शिखरस्वामी फिर रामगुप्त के कान में कुछ कहता है / रामगुप्त स्वीकारसूचक सिर हिलाता है]

शिखरस्वामी—राजाधिराज, आज्ञा दीजिए, यही एक उपाय है, जिसे कुमार बता रहे हैं। किन्तु राजनीति की दृष्टि से महादेवी का भी वहाँ जाना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त—**(क्रोध से)** क्यों आवश्यक है ! यदि उन्हे जाना ही पड़ा, तो फिर मेरे जाने से क्या लाभ ! तब मैं न जाऊँगा।

रामगुप्त—नही, यह मेरी आज्ञा है। सामन्त-कुमारो के साथ जाने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।

ध्रुवस्वामिनी—तो कुमार हम लोगो का चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलम्ब की आवश्यकता नही।

[चन्द्रगुप्त का प्रस्थान / ध्रुवस्वामिनी मंच पर बैठ कर रोने लगती है]

रामगुप्त—अब यह कैसा अभिनय ! मुझे तो पहले से ही शंका थी, और आज तों तुमने मेरी आँखें भी खोल दी।

ध्रुवस्वामिनी—अनार्य ! निष्ठुर ! मुझे कलंक-कालिमा के कारागार में बन्द कर, मर्म-वाक्य के धुँएँ से दम घोंटकर मार डालने की आशा न करो। आज मेरी असहायता मुझे अमृत पिलाकर मेरा निर्लज्ज जीवन बढ़ाने के लिए तत्पर है। **(उठ कर, हाथ से निकल जाने का संकेत करती हुई)** जाओ, मै एकान्त चाहती हूँ।

[शिखरस्वामी के साथ रामगुप्त का प्रस्थान]

ध्रुवस्वामिनी—कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन ! कितने सन्तोष से मरा था ! नियति ने अज्ञान भाव से मानो लू मे तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो। **(ठहर कर)** जिस वायुविहीन प्रदेश मे उखड़ी हुई साँसो पर बन्धन हो -अर्गला हो, वहाँ रहते-रहते यह जीवन असह्य हो गया था। तो भी मरूँगी नही। संसार के कुछ दिन विधाता के विधान मे अपने लिए सुरक्षित करा लूँगी। कुमार ! तुमने वही किया, जिसे मैं बचाती रही। तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा मे मै भीगी जा रही हूँ। ओह, **(हृदय पर ऊँगली रख कर)** इस वक्षस्थल मे दो हृदय है क्या ? जब अन्तरंग 'हाँ' करना चाहता है, तब ऊपरी मन 'ना' क्या कहला देता है ?

चन्द्रगुप्त—**(प्रवेश करके)** महादेवि, हम लोग प्रस्तुत है किन्तु ध्रुवस्वामिनी के साथ शक-शिविर में जाने के लिए हम लोग सहमत नहीं।

ध्रुवस्वामिनी—**(हँस कर)** राजा की आज्ञा मान लेना ही पर्याप्त नही। रानी की भी एक बात न मानोगे ? मैने तो पहले ही कुमार से प्रार्थना की थी कि मुझे जैसे ले आये हो, उसी तरह पहुँचा भी दो।

चन्द्रगुप्त—नहीं,—मैं अकेला ही जाऊँगा।

ध्रुवस्वामिनी—कुमार! यह मृत्यु और निर्वासन का सुख, तुम अकेले ही लोगे, ऐसा नहीं हो सकता। राजा की इच्छा क्या है, यह जानते हो? मुझसे और तुमसे एक साथ ही छुटकारा। तो फिर वही क्यों न हो? हम दोनों ही चलेंगे। मृत्यु के गह्वर मे प्रवेश करने के समय मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ। और भी एक विनोद, प्रलय का परिहास, देख सकूँगी। मेरी सहचरी, तुम्हारा वह ध्रुवस्वामिनी का वेश, ध्रुवस्वामिनी ही न देखें तो किस काम का?

[दोनों हाथों से चन्द्रगुप्त का चिबुक पकड़ कर सकरुण देखती है]

चन्द्रगुप्त—(अधखुली आँखों से देखता हुआ) तो फिर चलो।

[सामन्त-कुमारों के आगे-आगे मन्दाकिनी का गम्भीर स्वर से गाते हुए प्रवेश]

पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले,
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बेमेल चलें,
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे,
तब भी गिरि पथ का अथक पथिक, ऊपर ऊँचे सब झेल चले,
पृथ्वी की आँखों में बन कर छाया का पुतला बढ़ता हो,
सूने तम में हो ज्योति बना, अपनी प्रतिमा को गढ़ता हो,
पीड़ा की धूल उड़ाता-सा, बाधाओं को ठुकराता-सा,
कष्टों पर कुछ मुसक्याता-सा, ऊपर ऊँचे सब झेल चलें,
खिलते हों क्षत के फूल जहाँ, बन व्यथा तमिस्रा के तारे,
पद-पद पर ताण्डव नर्तन हो, स्वर सप्तक होवें लय सारे,
भैरव रव से हो व्याप्त दिशा, हो काँप रही भय-चकित निशा,
हो स्वेद धार बहती कपिशा, ऊपर ऊँचे सब झेल चलें,
विचलित हो अचल न मौन रहे निष्ठुर शृंगार उतरता हो,
क्रंदन कंपन न पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो,
अपनी ज्वाला को आप पिये, नव नील कंठ की छाप लिये,
विश्राम शान्ति को शाप दिए, ऊपर ऊँचे सब झेल चलें,

[चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के साथ सब का धीरे-धीरे, प्रस्थान / अकेली मन्दाकिनी क्रमशः मन्द होते आलोक में खड़ी रह जाती है]

प टा क्षे प

•

द्वितीय अंक

[शक दुर्ग के भीतर सुनहले काम वाले खम्भों पर एक दालान, बीच में छोटी-छोटी दो सीढ़ियाँ, उसी के सामने काश्मीरी खुदाई का सुन्दर लकड़ी का सिंहासन / बीच के दो खम्भे खुले हुए है, उनके दोनों ओर मोटे-मोटे चित्र बने हुए तिब्बती ढंग के रेशमी पर्दे पड़े हैं / सामने बीच में छोटा-सा आँगन की तरह, जिसके दोनों ओर क्यारियाँ, उनमें दो-चार पौधे और लताएँ फूलों से लदी दिखलाई पड़ती है]

कोमा—**(धीरे-धीरे पौधों को देखती हुई प्रवेश करके)** इन्हे सींचना पडता है, नही तो इनकी रुखाई और मलिनता सौन्दर्य पर आवरण डाल देती है। **(देखकर)** आज तो इनके पत्ते धुले हुए भी नही है। इनसे फूल, जैसे मुकुलित होकर ही रह गये है। खिलखिलाकर हँसने का मानो इन्हे बल नही। **(सोच कर)** ठीक, इधर कई दिनो से महाराज अपने युद्ध-विग्रह म लगे हुए है और मैं भी यहाँ नही आयी, तो फिर इनकी चिन्ता कौन करता ? उस दिन मैंने यहाँ दो मञ्च और भी रख देने के लिए कह दिया था, पर सुनता कौन है ? सब जैसे रक्त के प्यासे ! प्राण लेने और देने मे पागल ! वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उसके स्पर्श मे परिचित नही। ऐसा तो वास्तविक जीवन नही है ? **(सीढ़ी पर बैठकर सोचने लगती है)** प्रणय ! प्रेम ! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखो मे प्रकाश-पुञ्ज उँड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती है। अपनी ओर से कोई भी प्रकाश की किरण नही। तब वही केवल वही ! हो पागलपन, भूल हो, दु:ख मिले, प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमे चूकना, उसमे सोच-समझ कर चलना, दोनो बराबर है। सुना है, दोनों ही संसार के चतुरो की दृष्टि मे मूर्ख बनते है, तब कोमा, तू किसे अच्छा समझती है ?

[गाती है]

यौवन ! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली समाया।
जीवन-वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया।
पल भर रुकने वाले ! कह, तू पथिक ! कहाँ से आया ?

[चुप होकर आँखे बन्द किये तन्मय होकर बैठी रह जाती है। शकराज का प्रवेश / हाथ में एक लम्बी तलवार लिये हुए चिन्तित भाव से आकर इस तरह खड़ा होता है, जिससे कोमा को नहीं देखता]

शकराज—खिंगिल अभी नहीं आया, क्या वह बन्दी तो नहीं कर लिया गया ? नहीं, यदि वे अन्धे नही हैं तो उन्हें अपने सिर पर खड़ी विपत्ति दिखाई देनी चाहिये। **(सोच कर)** विपत्ति ! केवल उन्ही पर तो नही है, हम लोगों को भी रक्त की नदी बहानी पड़ेगी। चित्त बड़ा चञ्चल हो रहा है। तो बैठ जाऊँ? इस एकान्त में अपने बिखरे हुए मन को सँभाल लूँ ? **(इधर-उधर देखता है, कोमा आहट पा कर उठ खड़ी होती है / उसे देख कर)** अरे, कोमा ! कोमा !

कोमा—हाँ, महाराज ! क्या आज्ञा है ?

शकराज—**(उसे स्निग्ध भाव से देखकर)** आज्ञा नही, कोमा ! तुम्हें आज्ञा न दूँगा ! तुम रूठी हुई-सी क्यों बोल रही हो ?

कोमा—रूठने का सुहाग मुझे मिला कब ?

शकराज—आज-कल मैं जैसी भीषण परिस्थिति मे हूँ, उसमें अन्यमनस्क होना स्वाभाविक है, तुम्हें यह भूल जाना चाहिए।

कोमा—तो क्या आपकी दुश्चिन्ताओं मे मेरा भाग नही ? मुझे उससे अलग रखने से क्या वह परिस्थिति कुछ सरल हो रही है ?

शकराज—तुम्हारे हृदय को उन दुर्भावनाओ मे डाल कर व्यथित नही करना चाहता। मेरे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है।

कोमा—प्रश्न स्वयं किसी के सामने नही आते। मैं तो समझती हूँ, मनुष्य उन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है। मकड़ी की तरह लटकने के लिए अपने-आप ही जाला बुनता है। जीवन का प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमंत्रित करता है। उससे उदासीन न होना चाहिए महाराज !

शकराज—सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के नाम हैं। मैं तो पुरुषार्थ को ही सबका नियामक समझता हूँ ! पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है। हाँ, मैं इस युद्ध के लिए उत्सुक नही था कोमा, मैं ही दिग्विजय के लिए नही निकला था।

कोमा—संसार के नियम के अनुसार आप अपने से महान के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बनकर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे।

शकराज—यही तो मुझ से नही हो सकता।

कोमा—अभावमयी लघुता मे मनुष्य अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नही है ?

शकराज—**(चिढ़ कर)** यह शिक्षा अभी रहने दो कोमा, किसी से बड़ा नहीं हूँ तो छोटा भी नही बनना चाहता। तुम अभी तक पाषाणी प्रतिमा की तरह वहीं खड़ी हो, मेरे पास आओ।

कोमा—पाषाणी ! हाँ, राजा ! पाषाणी के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं। उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है। प्यासों की तृप्ति—

शकराज—किन्तु मुझ तो इस समय स्फूर्ति के लिए एक प्याला मदिरा ही चाहिए।

[कोमा एक छोटा-सा मंच रख देती है और चली जाती है / शकराज मंच पर बैठ जाता है / खिंगिल का प्रवेश]

कोमा—**(स्थिर दृष्टि से देखती हुई)** मैं ले आती हूँ। आप बैठिए।

शकराज—कहो जी, क्या समाचार है।

खिंगिल—महाराज ! मैंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया कि हम लोगों का अवरोध दृढ़ है। उन्हें दो में से एक करना ही होगा। या तो अपने प्राण दे अन्यथा मेरे सन्धि के नियमो को स्वीकार करे।

शकराज—**(उत्सुकता से)** तो वे समझ गये ?

खिंगिल—दूसरा उपाय ही क्या था। यह छोकड़ा रामगुप्त, समुद्रगुप्त की तरह दिग्विजय करने निकला था। उसे इन बीहड़ पहाड़ी घाटियों का परिचय नहीं मिला था। किन्तु सब बातों को समझ कर वह आपके नियमो को मानने के लिए बाध्य हुआ।

शकराज—**(प्रसन्नता से उठकर उसके दोनों हाथ पकड़ लेता है)** एँ, तुम सच कहते हो ! मुझे आशा नहीं। क्या मेरा दूसरा प्रस्ताव भी रामगुप्त ने मान लिया ?

[स्वर्ण के कलश में मदिरा लेकर कोमा चुपके से आकर पीछे खड़ी हो जाती है]

खिंगिल—हाँ महाराज ! उसने माँगे हुए सब उपहारों को देना स्वीकार किया और ध्रुवस्वामिनी भी आपकी सेवा मे शीघ्र ही उपस्थित होती है।

[कोमा चौंक उठती है और शकराज प्रसन्नता से खिंगिल के हाथों को झकझोरने लगता है]

शकराज—खिंगिल ! तुमने कितना सुन्दर समाचार सुनाया। आज देवपुत्रों की स्वर्गीय आत्माएं प्रसन्न होंगी। उनकी पराजयो का यह प्रतिशोध है। हम लोग गुप्तों की दृष्टि में जंगली, बर्बर और असभ्य है तो फिर मेरी प्रतिहिंसा भी बर्बरता के ही अनुकूल होगी। हाँ, मैंने अपने शूर सामन्तों के लिए स्त्रियाँ भी माँगी थीं।

खिंगिल—वे भी साथ ही आएँगी।

शकराज—तो फिर सोने की झांझ वाली नाच का प्रबन्ध करो, इस विजय का उत्सव मनाया जाय। और मेरे सामन्तों को भी शीघ्र बुला लाओ।

[खिंगिल का प्रस्थान / शकराज अपनी प्रसन्नता में उद्विग्न-सा इधर-उधर टहलने लगता है और कोमा अपना कलश लिये हुए धीरे-धीरे सिंहासन के पास आकर खड़ी हो जाती है / चार सामन्तों का प्रवेश / दूसरी ओर से नर्तकियों का दल आता है / शकराज उनकी ओर ही देखता हुआ सिंहासन पर बैठ जाता है / सामन्त लोग उसके पैरों के नीचे सीढ़ियों पर बैठते हैं / नर्तकियाँ नाचती हुई गाती है]

अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है।
लो, मानिक मदिरा की धारा अब बहने लगी निराली है।
भर ली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने वल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है।
यह लगा पिघलने मानिनियों का हृदय मृदु-प्रणय-रोष भरा।
वे हँसती हुई दुलार-भरी मधु लहर उठाने वाली है।
भरने निकले हैं प्यार-भरे जोड़े कुंजों की झुरमुट से।
इस मधुर अँधेरे में अब तक क्या इनकी प्याली खाली है।
भर उठीं प्यालियाँ, सुमनों ने सौरभ मकरन्द मिलाया है।
कामिनियों ने अनुराग-भरे अधरों से उन्हें लगा ली है।
वसुधा मदमाती हुई उधर आकाश लगा देखो झुकने।
सब झूम रहे अपने सुख में तूने क्यों बाधा डाली है!

[नर्तकियाँ जाने लगती है]

एक सामंत—श्रीमान ! इतनी बडी विजय के अवसर पर इस सूखे उत्सव से सन्तोष नही होगा, जब कि कलश सामने भरा हुआ रखा है।

शकराज—ठीक है, इन लोगो को केवल कहकर ही नही, प्यालियाँ भर कर भी देनी चाहिए।

[सब पीते हैं और नर्तकियाँ एक-एक को सानुरोध पान कराती हैं]

दूसरा सामंत—श्रीमान् की आज्ञा मानने के अतिरिक्त दूसरी गति नही। उन्होने समझ से काम लिया, नही तो हम लोगों को इस रात की कालिमा में रक्त की लाली मिलानी पडती।

तीसरा सामंत—क्यो बक-बक करते हो? चुप-चाप इस बिना परिश्रम की विजय का आनन्द लो। लडना पडता तो सारी हेकडी भूल जाती।

दूसरा सामंत—(क्रोध से लड़खड़ाता हुआ उठता है) हमसे !

तीसरा सामंत—हाँ जी तुमसे !

दूसरा सामंत—तो फिर आओ तुम्ही से निपट ले। (सब परस्पर लड़ने की

चेष्टा करते हैं / शकराज खिंगिल को संकेत करता है / वह उन लोगों को बाहर लिवा जाता है / तूर्यनाद)

शकराज—रात्रि के आगमन की सूचना हो गयी। दुर्ग का द्वार अब शीघ्र ही बन्द होगा। अब तो हृदय अधीर हो रहा है—खिंगिल !

[खिंगिल का पुनः प्रवेश]

खिंगिल—दुर्ग तोरण में शिविकाएँ आ गई हैं।

शकराज—**(गर्व से)** तब विलम्ब क्यों ? उन्हें अभी ले आओ।

खिंगिल—**(सविनय)** किन्तु रानी की एक प्रार्थना है।

शकराज—क्या ?

खिंगिल—वह पहले केवल श्रीमान् से ही सीधे भेंट करना चाहती हैं। उनकी मर्यादा···

शकराज—**(ठठा कर हँसते हुए)** क्या कहा ? मर्यादा ! भाग्य ने झुकने के लिए जिन्हें विवश कर दिया है, उन लोगों के मन में मर्यादा का ध्यान और भी अधिक रहता है। यह उनकी दयनीय दशा है।

खिंगिल—वह श्रीमान् की रानी होने के लिए आ रही है।

शकराज—**(हँस कर)** अच्छा, तुम मध्यस्थ हो न ! तुम्हारी बात मान कर मैं उससे एकान्त में ही भेंट करूँगा—जाओ।

[खिंगिल का प्रस्थान]

कोमा—महाराज ! मुझे क्या आज्ञा है।

शकराज—**(चौंक कर)** अरे, तुम अभी यहीं खड़ी हो ? मैं तो जैसे भूल ही गया था। हृदय चञ्चल हो रहा है। मेरे समीप आओ कोमा !

कोमा—नयी रानी के आगमन की प्रसन्नता से ?

शकराज—**(सँभल कर)** नयी रानी का आना क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगा कोमा ?

कोमा—**(निर्विकार भाव से)** संसार में बहुत-सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती हैं, और बहुत-सी अच्छी बातें बुरी मालुम पड़ती हैं।

शकराज—**(झुंझला कर)** तुम तो आचार्य मिहिरदेव की तरह दार्शनिकों की-सी बातें कर रही हो !

कोमा—वे मेरे पिता-तुल्य हैं, उन्ही की शिक्षा में मैं पली हूँ। हाँ ठीक है, जो बातें राजा को अच्छी लगें, वे ही मुझे भी रुचनी ही चाहिए।

शकराज—**(अव्यवस्थित होकर)** अच्छा, तुम इतनी अनुभूतिमयी हो, यह मैं आज जान सका।

कोमा—राजा, तुम्हारी स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों

ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गयी हूँ। क्या वह मेरा भ्रम था? कह दो—कह दो कि वह तेरी भूल थी।

[उत्तेजित कोमा सिर उठा कर राजा से आँख मिलाती है]

शकराज—(संकोच से) नही कोमा, वह भ्रम नही था। मैं सचमुच तुम्हें प्यार करता हूँ।

कोमा—(उसी तरह) तब भी यह बात?

शकराज—(सशंक) कौन-सी बात?

कोमा—वही जो आज होने जा रही है! मेरे राजा! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो?

शकराज—(हँस कर बात उड़ाते हुए) पागल कोमा! वह मेरी राजनीति का प्रतिशोध है।

कोमा—(दृढ़ता से) किन्तु, राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले बिना पूरा नही हो सकता?

शकराज—जो विषय न समझ मे आवे, उस पर विवाद न करो।

कोमा—(खिन्न होकर) मैं क्यो न करूँ। **(ठहर कर)** किन्तु नही, मुझे विवाद करने का अधिकार नही। यह मैं समझ गयी।

[कोमा दुखी होकर जाना चाहती है कि दूसरी ओर से मिहिरदेव का प्रवेश, हाथ में लम्बा त्रिशूल घुटने तक परिच्छद और छाती तक सफेद दाढ़ी]

शकराज—(संभ्रम से खड़ा होकर) धर्मपूज्य! मैं वन्दना करता हूँ।

मिहिरदेव—कल्याण हो! **(कोमा के सिर पर हाथ रखकर)** बेटी! मैं तो तुझको ही देखने चला आया। तू उदास क्यों है?

[शकराज की ओर गूढ़ दृष्टि से देखने लगता है]

शकराज—आचार्य! रामगुप्त का दर्प दलन करने के लिए, मैंने ध्रुवस्वामिनी को उपहार मे भेजने की आज्ञा दी थी। आज रामगुप्त की रानी मेरे दुर्ग मे आयी है। कोमा को इसमे आपत्ति है।

मिहिरदेव—(गम्भीरता से) ऐसे काम मे तो आपत्ति होनी ही चाहिए राजा! स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा? और भी, यह अपनी भावी पत्नी के प्रति तुम्हारा अत्याचार होगा।

शकराज—(क्षोभ से) भावी पत्नी?

मिहिरदेव—अरे, क्या तुम इस क्षणिक सफलता से प्रमत्त हो जाओगे? क्या

तुमने अपने आचार्य की प्रतिपालिता कुमारी के साथ स्नेह का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया है ? क्या इसमें भी संदेह है। राजा! स्त्रियों का स्नेह—विश्वास भंग कर देना, कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है, परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो।

शकराज—मैं समझता हूँ कि आप मेरे राजनीतिक कामों में हस्तक्षेप न करें तो अच्छा हो।

मिहिरदेव—राजनीति ? राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नहीं है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्वमानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो। परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है। शकराज! दो प्यार करने वाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास है।

शकराज—बस, बहुत हो चुका! आपके महत्व की भी एक सीमा होगी। अब आप यहाँ से नही जाते हैं, तो मैं ही चला जाता हूँ **(प्रस्थान)**

मिहिरदेव—चल कोमा! हम लोगों को लताओं, वृक्षों और चट्टानों से छाया और सहानुभूति मिलेगी। इस दुर्ग से बाहर चल।

कोमा—**(गद्‌गद् कण्ठ से)** पिता जी! **(खड़ी रहती है)**

मिहिरदेव—बेटी! हृदय को सँभाल। कष्ट सहन करने के लिए प्रस्तुत हो जा। प्रतारणा में बड़ा मोह होता है। उसे छोड़ने को मन नहीं करता। कोमा! छल का बहिरंग सुन्दर होता है—विनीत और आकर्षक भी, पर दुखदायी और हृदय को बेधने के लिए। इस बंधन को तोड़ डाल।

कोमा—**(सकरुण)** तोड़ डालूं पिताजी! मैंने जिसे अपने आँसुओं से सीचा, वही दुलार भरी बल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने मे मेरे ही पैरों से उलझ गयी है। दे दूं एक झटका— उसकी हरी-हरी पत्तियाँ कुचल जायँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे ? ना, ऐसी कठोर आज्ञा न दो!

मिहिरदेव—**(निश्वास लेकर आकाश को देखते हुए)** यहाँ तेरी भलाई होती, तो मैं चलने के लिए न कहता। हम लोग अखरोट की छाया में बैठेंगे— झरनों के किनारे, दाख के कुंजों में विश्राम करेंगे। जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े, मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूंगा।

कोमा—तो चलूं! **(एक बार चारों ओर देख कर)** एक घड़ी के लिए मुझे....

मिहिरदेव- **(ऊब कर आकाश की ओर देखता हुआ)** तू नही मानती।

वह देख, नील लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है।

कोमा—(**उधर देखते हुए**) तब भी एक क्षण मुझे····

मिहिरदेव—पागल लड़की ! अच्छा, मैं फिर आऊँगा। तू सोच ले, विचार कर ले। (**जाता है**)

कोमा—जाना ही होगा ! तब यह मन की उलझन क्यों ? अमंगल का अभिशाप अपनी क्रूर हँसी से इस दुर्ग को कँपा देगा, और सुख के स्वप्न विलीन हो जायँगे। मेरे यहाँ रहने से उन्हें अपने भावों को छिपाने के लिए बनावटी व्यवहार करना होगा; पग-पग पर अपमानित होकर मेरा हृदय उसे सह नहीं सकेगा। तो चलूँ ! यही ठीक है ! पिताजी ! ठहरिए, मैं आती हूँ।

शकराज—(**प्रवेश करके**) कोमा ?

कोमा—जाती हूँ, राजा !

शकराज—कहाँ ? आचार्य के पास ? मालूम होता है कि वे बहुत ही दुःखी होकर चले गये हैं।

कोमा—धूमकेतु को दिखाकर उन्होंने मुझसे कहा है कि तुम्हारे दुर्ग में रहने से अमंगल होगा।

शकराज—(**भयभीत होकर उसे देखता हुआ**) ओह ! भयावनी पूँछवाला धूमकेतु ! आकाश का उच्छृंखल पर्यटक ! नक्षत्रलोक का अभिशाप ! कोमा ! आचार्य को बुलाओ। वे जो आदेश देंगे, वही मैं करूँगा। इस अमंगल की शान्ति होनी चाहिए।

कोमा—वे बहुत चिढ़ गये हैं। अब उनको प्रसन्न करना सहज नहीं है। वे मुझे अपने साथ लिवा जाने के लिए मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

शकराज—कोमा ! तुम कहाँ जाओगी ?

कोमा—पिताजी के साथ।

शकराज—और मेरा प्यार, मेरा स्नेह, सब भुला दोगी ? इस अमंगल की शान्ति करने के लिए आचार्य को न समझाओगी ?

कोमा—(**खिन्न होकर**) प्रेम का नाम न लो ! वह एक पीड़ा थी जो छूट गयी। उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जायगी। राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती। मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्त्वमयी पुरुष-मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं। अपने तेज की अग्नि में जो सब कुछ भस्म कर सकता हो, उस दृढ़ता का, आकाश के नक्षत्र कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। तुम आशंका-मात्र से दुर्बल-कंपित और भयभीत हो।

शकराज—(धूमकेतु को बार-बार देखता हुआ) भयानक ! कोमा, मुझे बचाओ !

कोमा—जाती हूँ महाराज ! पिताजी मेरी प्रतीक्षा करते होंगे। (जाती है)

[शकराज अपने सिंहासन पर हताश होकर बैठ जाता है]

प्रहरी—(प्रवेश करके) महाराज ! ध्रुवस्वामिनी ने पूछा है कि एकांत हो तो आऊँ।

शकराज—हाँ, कह दो कि यहाँ एकात है। और देखो, यहाँ दूसरा कोई न आने पावे।

[प्रहरी जाता है / शकराज चञ्चल होकर टहलने लगता है / धूमकेतु की ओर दृष्टि जाती है तो भयभीत होकर बैठ जाता है]

शकराज—तो इसका कोई उपाय नही ? न जाने क्यो मेरा हृदय घबरा रहा है। कोमा को समझा-बुझा कर ले आना चाहिए। (सोच कर) किन्तु इधर ध्रुवस्वामिनी जो आ रही है ! तो भी देखूँ, यदि कोमा प्रसन्न हो जाय....(जाता है)

[स्त्री-वेश में चन्द्रगुप्त आगे और पीछे ध्रुवस्वामिनी स्वर्ण-खचित उत्तरीय में सब अंग छिपाये हुए आती है / केवल खुले हुए मुँह पर प्रसन्न चेष्टा दिखाई देती है]

चन्द्रगुप्त—तुम आज कितनी प्रसन्न हो !

ध्रुवस्वामिनी—और तुम क्या नही ?

चन्द्रगुप्त—मेरे जीवन-निशीथ का ध्रुव-नक्षत्र इस घोर अन्धकार मे अपनी स्थिर उज्ज्वलता से चमक रहा है। आज महोत्सव है न ?

ध्रुवस्वामिनी—लौट जाओ, इस तुच्छ नारी-जीवन के लिए इतने महान् उत्सर्ग की आवश्यकता नही।

चन्द्रगुप्त—देवि ! यह तुम्हारा क्षणिक मोह है। मेरी परीक्षा न लो। मेरे शरीर ने चाहे जो रूप धारण किया हो, किन्तु हृदय निश्छल है।

ध्रुवस्वामिनी—अपनी कामना की वस्तु न पाकर यह आत्महत्या—जैसा प्रसंग तो नही है ?

चन्द्रगुप्त—तीखे वचनो से मर्माहत कर के भी आज कोई मुझे इस मृत्यु-पथ से विमुख नही कर सकता। मैं केवल अपना कर्तव्य करूँ, इसी मे मुझे सुख है।
(ध्रुवस्वामिनी संकेत करती है / शकराज का प्रवेश / दोनों चुप हो जाते हैं / वह दोनों को चकित होकर देखता है)

शकराज—मैं किसको रानी समझूँ ? रूप का ऐसा तीव्र आलोक ! नही मैंने कभी नही देखा था। इसमे कौन ध्रुवस्वामिनी है ?

ध्रुवस्वामिनी—(आगे बढ़कर) यह मैं आ गयी हूँ।

चन्द्रगुप्त—(**हँसकर**) शकराज को तुम धोखा नही दे सकती हो। ध्रुवस्वामिनी कौन है ? यह एक अन्धा भी बता सकता है।

ध्रुवस्वामिनी—(**आश्चर्य से**) चन्द्रे ! तुमको क्या हो गया है ? यहाँ आने पर तुम्हारी इच्छा रानी बनने की हो गई,है ? या मुझे शकराज से बचा लेने के लिए यह तुम्हारी स्वामिभक्ति है ?

[शकराज चकित होकर दोनों की ओर देखता है]

चन्द्रगुप्त—कौन जाने तुम्ही ऐसा कर रही हो ?

ध्रुवस्वामिनी—चन्द्रे ! तुम मुझे दोनो ओर से नष्ट न करो। यहाँ से लौट जाने पर भी क्या मै गुप्तकुल के अन्त पुर मे रहने पाऊँगी ?

चन्द्रगुप्त—चन्द्रे कह कर मुझको पुकारने से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ? यह अच्छा झगड़ा तुमने फैलाया। इसीलिए मैंने एकान्त मे मिलने की प्रार्थना की थी।

ध्रुवस्वामिनी—तो क्या मैं यहाँ भी छली जाऊँगी ?

शकराज—ठहरो, (**दोनों को ध्यान से देखता हुआ**) क्या चिन्ता यदि मैं दोनों को ही रानी समझ लूं ?

ध्रुवस्वामिनी—ऍं···

चन्द्रगुप्त—हे···

शकराज—क्यो ? इसमे क्या बुरी बात है ?

चन्द्रगुप्त—जी नही, यह नही हो सकता। ध्रुवस्वामिनी कौन है, पहले इसका निर्णय होना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी—(**क्रोध से**) चन्द्रे ! मेरे भाग्य के आकाश मे धूमकेतु-सी अपनी गति वन्द करो।

शकराज—(**धूमकेतु की ओर देखकर भयभीत-सा**) ओह भयानक !

[व्यग्र भाव से टहलने लगता है]

चन्द्रगुप्त—(**शकराज की पीठ पर हाथ रखकर**) सुनिए····

ध्रुवस्वामिनी—चन्द्रे !

चन्द्रगुप्त—इस धमकी से तो कोई लाभ नही।

ध्रुवस्वामिनी—तो फिर मेरा और तुम्हारा जीवन-मरण साथ ही होगा।

चन्द्रगुप्त—तो डरता कौन है (**दोनों ही शीघ्र कटार निकाल लेते हैं**)।

शकराज—(**घबरा कर**) हैं, यह क्या ? तुम लोग यह क्या कर रही हो ? ठहरो ! आचार्य ने ठीक कहा है, आज शुभ मुहूर्त नही। मैं कल विश्वसनीय व्यक्ति को बुला कर इसका निश्चय कर लूंगा। आज तुम लोग विश्राम करो।

ध्रुवस्वामिनी—नही, इसका निश्चय तो आज ही होना चाहिए।

शकराज—(**बीच में खड़ा होकर**) मैं कहता हूँ न !

चन्द्रगुप्त—वाह रे कहने वाले !

[ध्रुवस्वामिनी मानो चन्द्रगुप्त के आक्रमण से भयभीत हो कर पीछे हटती है और तूर्यानाद करती है। शकराज आश्चर्य से उसे सुनता हुआ सहसा घूम कर चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़ लेता है। ध्रुवस्वामिनी झटके से चन्द्रगुप्त का उत्तरीय खींच लेती है और चन्द्रगुप्त हाथ छुड़ा कर शकराज को घेर लेता है]

शकराज—(चकित-सा) ऐ, यह तुम कौन प्रवचक ?

चन्द्रगुप्त—मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल। मैं अकेला आया हूँ, तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने। सावधान !

[शकराज भी कटार निकाल कर युद्ध के लिए अग्रसर होता है। युद्ध और शकराज की मृत्यु। बाहर दुर्ग मे कोलाहल। 'ध्रुवस्वामिनी की जय' का हल्ला मचाते हुए रक्ताक्त कलेवर सामन्त-कुमारो का प्रवेश। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को घेर कर समवेत स्वर से 'ध्रुवस्वामिनी की जय हो !']

[पटाक्षेप]

तृतीय अंक

[शक-दुर्ग के भीतर का एक प्रकोष्ठ। तीन मंचो मे दो खाली और एक पर ध्रुवस्वामिनी पादपीठ के ऊपर बाये पैर दाहिना पैर रख कर अधरों से उँगली लगाये चिन्ता मे निमग्न बैठी है बाहर कुछ कोलाहल होता है]

सैनिक—(प्रवेश करके) महादेवी की जय हो !

ध्रुवस्वामिनी—(चौंककर) क्या ?

सैनिक—विजय का समाचार सुनकर राजाधिराज भी दुर्ग मे आ गये है। अभी तो वे सैनिको से बाते कर रहे है। उन्होने पूछा है, महादेवी कहाँ है। आपकी जैसी आज्ञा हो, क्योकि कुमार ने कहा है....।

ध्रुवस्वामिनी—क्या कहा है ? यही न कि मुझसे पूछ कर राजा यहाँ आने पावे ? ठीक है, अभी मै बहुत थकी हू। (सैनिक जाने लगता है उसे रोक कर) और सुनो तो ! तुमने यह नही बताया कि कुमार के घाव अब कैसे है ?

सैनिक—घाव चिन्ताजनक नही है, उन पर पट्टियाँ बँध चुकी है। कुमार प्रधान-मण्डप मे विश्राम कर रहे है।

ध्रुवस्वामिनी—अच्छा जाओ। (सैनिक का प्रस्थान)

मन्दाकिनी—**(सहसा प्रवेश करके)** भाभी ! बधाई है। **(जैसे भूल कर गयी हो)** नहीं, नहीं ! महादेवी, क्षमा कीजिए।

ध्रुवस्वामिनी—मन्दा ! भूल से ही तुमने आज एक प्यारी बात कह दी। उसे क्या लौटा लेना चाहती हो ? आह ! यदि वह सत्य होती ?

[पुरोहित का प्रवेश]

मन्दाकिनी—क्या इसमें भी सन्देह है ?

ध्रुवस्वामिनी—मुझे तो सन्देह का इन्द्रजाल ही दिखलाई पड़ रहा है। मैं न तो महादेवी हूँ और न तुम्हारी भाभी.... **(पुरोहित को देखकर चुप रह जाती है)**

पुरोहित—**(आश्चर्य से इधर-उधर देखता हुआ)** तब मैं क्या करूँ ?

मन्दाकिनी—क्यों, आपको कुछ कहना है क्या ?

पुरोहित—ऐसे उपद्रवों के बाद शान्तिकर्म होना आवश्यक है। इसीलिए मैं स्वस्त्ययन करने आया था; किन्तु आप तो कहती हैं कि मैं महादेवी ही नहीं हूँ।

ध्रुवस्वामिनी—**(तीखे स्वर में)** पुरोहित जी ! मैं राजनीति नहीं जानती; किन्तु इतना समझती हूँ कि जो रानी शत्रु के लिए उपहार में भेज दी जाती है, वह महादेवी की उच्च पदवी से पहले ही वंचित हो गयी होगी।

मन्दाकिनी—किन्तु आप तो भाभी होना भी अस्वीकार करती हैं।

ध्रुवस्वामिनी—भाभी कहने का तुम्हें रोग हो तो कह लो। क्योंकि इन्हीं पुरोहित जी ने उस दिन कुछ मन्त्रों को पढ़ा था। उस दिन के बाद मुझे कभी राजा से सरल सम्भाषण करने का अवसर ही न मिला। हाँ, न जाने मेरे किस अपराध पर सन्दिग्ध-चित्त होकर उन्होंने जब मुझे निर्वासित किया, तभी मैंने उनसे अपने स्त्री होने के अधिकार की रक्षा की भीख माँगी थी। वह भी न मिली और मैं बलि-पशु की तरह, अकरुण आज्ञा की डोरी में बँधी हुई शक-दुर्ग में भेज दी गयी। तब भी तुम मुझे भाभी कहना चाहती हो ?

मन्दाकिनी—**(सिर झुका कर)** यह गर्हित और ग्लानि-जनक प्रसंग है।

पुरोहित—यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? मुझे तो यह जान कर प्रसन्नता हुई थी कि वीर रमणी की तरह, अपने साहस के बल पर महादेवी ने इस दुर्ग पर अधिकार किया है।

ध्रुवस्वामिनी—आप झूठ बोलते हैं।

पुरोहित—**(आश्चर्य से)** मैं और झूठ !

ध्रुवस्वामिनी—हाँ, आप और झूठ, नहीं स्वयं आप ही मिथ्या हैं।

पुरोहित—**(हँस कर)** क्या आप वेदान्त की बात कहती हैं ? तब तो संसार मिथ्या है ही।

ध्रुवस्वामिनी—**(क्रोध से)** संसार मिथ्या है या नहीं, यह तो मैं नहीं जानती,

परन्तु आप, आपका कर्मकाण्ड और आपके शास्त्र क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीया स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है ?

पुरोहित—(मन्दाकिनी से) बेटी ! तुम्हीं बताओ, यह मेरा भ्रम है या महादेवी का रोष ?

ध्रुवस्वामिनी—रोष है, हाँ मैं रोष से जली जा रही हूँ। इतना बड़ा उपहास—धर्म के नाम पर स्त्री की आज्ञाकारिता की यह पैशाचिक परीक्षा, मुझसे बलपूर्वक ली गयी है। पुरोहित ! तुमने जो मेरा राक्षस-विवाह कराया है, उसका उत्सव भी कितना सुन्दर है ! यह जन-संहार देखो, अभी उस प्रकोष्ठ में रक्त से सनी हुई शकराज की लोथ पड़ी होगी। कितने ही सैनिक दम तोड़ते होंगे, और इस रक्तधारा में तिरती हुई मैं राक्षसी-सी साँस ले रही हूँ। तुम्हारा स्वस्त्ययन मुझे शान्ति देगा ?

मन्दाकिनी—आर्य ! आप बोलते क्यों नहीं ? आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँधकर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार—कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें ? क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप सन्तुष्ट रहने की आज्ञा देकर विश्राम ले लेते हैं ?

पुरोहित—नहीं, स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।

ध्रुवस्वामिनी—खेल हो या न हो, किन्तु एक क्लीव पति के द्वारा परित्यक्ता नारी का मृत्यु-मुख में जाना ही मंगल है। उसे स्वस्त्ययन और शान्ति की आवश्यकता नहीं।

पुरोहित—(आश्चर्य से) यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? विश्वास नहीं होता। यदि ये बातें सत्य हैं, तब तो मुझे फिर से एक बार धर्मशास्त्र को देखना पड़ेगा।
(प्रस्थान)

[मिहिरदेव के साथ कोमा का प्रवेश]

ध्रुवस्वामिनी—तुम लोग कौन हो ?

कोमा—मैं पराजित शक-जाति की एक बालिका हूँ।

ध्रुवस्वामिनी—और ?

कोमा—और मैंने प्रेम किया था।

ध्रुवस्वामिनी—इस घोर अपराध का तुम्हें क्या दण्ड मिला ?

कोमा—वही, जो स्त्रियों को प्रायः मिला करता है—निराशा ! निष्पीड़न ! और उपहास ! रानी, मैं तुमसे भीख माँगने आयी हूँ।

ध्रुवस्वामिनी—शत्रुओं के लिए मेरे पास कुछ नही है। अधिक हठ करने पर दण्ड मिलना भी असम्भव नहीं।

मिहिरदेव—(**दीर्घ निःश्वास लेकर**) पागल लड़की, हो चुका न? अब भी तू न चलेगी?

[कोमा सिर झुका लेती है]

मन्दाकिनी—तुम चाहती क्या हो?

कोमा—रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार चाहे तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किन्तु सब के जीवन मे एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है। मुझे शकराज का शव चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी—(**सोच कर**) जलो, प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम उस शव को ले जाकर जलो। जीवित रहने पर मालूम होता है कि तुम्हें अधिक शीतलता मिल चुकी है। अवश्य तुम्हारा जीवन धन्य है। (**सैनिक से**) इसे ले जाने दो।

[कोमा का प्रस्थान]

मन्दाकिनी- स्त्रियो के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नही। कितनी असहाय दशा है। अपने निर्बल और अवलम्ब खोजने वाले हाथो से यह पुरुषो के चरणो को पकड़ती है और वह. सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है। तब भी यह बावली मानती है?

ध्रुवस्वामिनो—भूल है—भ्रम है। (**ठहर कर**) किन्तु उसका कारण भी है। पराधीनता की एक परम्परा-सी उनकी नस-नस मे—उनकी चेतना मे न जाने किस युग से घुस गयी है। उन्हे समझ कर भी भूल करनी पडती है। क्या वह मेरी भूल न थी—जब मुझे निर्वासित किया गया, तब मै अपनी आत्म-मर्यादा के लिए कितनी तड़प रही थी और राजाधिराज रामगुप्त के चरणों मे रक्षा के लिए गिरी; पर कोई उपाय चला? नही। पुरुषो की प्रभुता का जाल मुझे अपने निर्दिष्ट पथ पर ले ही आया। मन्दा! दुर्ग की विजय मेरी सफलता है या मेरा दुर्भाग्य, इसे मैं नही समझ सकी हूँ। राजा से मै सामना करना नही चाहती। पृथ्वी-तल से जैसे एक साकार घृणा निकल कर मुझे अपने पीछे लौट चलने का संकेत कर रही है। क्यों, क्या यह मेरे मन का कलुष है? क्या मैं मानसिक पाप कर रही हूँ?

[उन्मत्त भाव से प्रस्थान]

मन्दाकिनी—नारी-हृदय, जिसके मध्य-बिन्दु से हट कर, शास्त्र का एक मंत्र,

कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल प्रवर्त्तन-चक्र मे घूमने से रोक रहा है। निश्चय ही वह कुमार चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी है।

चन्द्रगुप्त—**(सहसा प्रवेश करके)** कौन ?—मन्दा !

मन्दाकिनी—अरे कुमार ! अभी थोड़ा विश्राम करते।

चन्द्रगुप्त—**(बैठते हुए)** विश्राम ! मुझे कहाँ विश्राम ? मैं अभी यहाँ से प्रस्थान करने वाला हूँ। मेरा कर्तव्य पूर्ण हो चुका। यहाँ मेरा ठहरना अच्छा नही।

मन्दाकिनी—किन्तु, भाभी की जो बुरी दशा है।

चन्द्रगुप्त—क्यो, उन्हे क्या हुआ ? **(मन्दाकिनी चुप रहती है)** बोलो, मुझे अवकाश नही ! राजाधिराज का सामना होते ही क्या हो जायगा—मैं नही कह सकता। क्योकि अब यह राजनीतिक छल-प्रपंच मै नही सह सकता।

मन्दाकिनी—किन्तु, उन्हे इस असहाय अवस्था मे छोड़कर आपका जाना क्या उचित होगा ? और··· **(चुप रह जाती है)**

चन्द्रगुप्त—और क्या ? वही क्यो नहीं कहती हो ?

मन्दाकिनी—तो क्या उसे भी कहना होगा ? महादेवी बनने के पहले ध्रुवस्वामिनी का जो मनोभाव था, वह क्या आपसे छिपा है ?

चन्द्रगुप्त—किन्तु मन्दाकिनी ! उसकी चर्चा करने से क्या लाभ ?

मन्दाकिनी—हृदय मे नैतिक साहस—वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र करके सोचिए तो कुमार, कि अब आपको क्या करना चाहिए ? **(चन्द्रगुप्त चिन्तित भाव से टहलने लगता है। नेपथ्य में कुछ लोगों के आने-जाने का शब्द और कोलाहल)** देखूँ तो यह क्या है ? और महादेवी कहाँ गयी ? **(प्रस्थान)**

चन्द्रगुप्त—विधान की स्याही का एक बिन्दु गिर कर भाग्य-लिपि पर कालिमा चढ़ा देता है। मैं आज यह स्वीकार करने मे भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवदेवी मेरी है। **(ठहर कर)** हाँ, वह मेरी है, उसे मैने आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है। मेरे हृदय के गहन अन्तस्तल से निकली हुई यह मूक स्वीकृति आज बोल रही है। मै पुरुष हूँ ? नही, मै अपनी आँखो से अपना वैभव और अधिकार दूसरो को अन्याय से छीनते देख रहा हूँ और मेरी वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी नही रही। नही, यह शील का कपट, मोह और प्रवञ्चना है। मै जो हूँ, वही तो नही स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका। यह कैसी विडंबना है ! विनय के आवरण मे मेरी कायरता अपने को कब तक छिपा सकेगी ?

[एक ओर से मन्दाकिनी का प्रवेश]

मन्दाकिनी—शकराज का शव लेकर जाते हुए आचार्य और उसकी कन्या का राजाधिराज के साथी सैनिको ने बध कर डाला !

ध्रुवस्वामिनी—(दूसरी ओर से प्रवेश करके) ऐं !

[सामन्त-कुमारों का प्रवेश]

सामन्त-कुमार—(सब एक साथ ही) स्वामिनी ! आपकी आज्ञा के विरुद्ध राजाधिराज ने निरीह शकों का संहार करवा दिया है।

ध्रुवस्वामिनी—फिर आप लोग इतने चञ्चल क्यों है ? राजा को आज्ञा देनी चाहिए और प्रजा को नत-मस्तक होकर उसे मानना होगा।

सामन्त-कुमार—किन्तु अब वह असह्य है। राजसत्ता के अस्तित्व की घोषणा के लिए इतना भयंकर प्रदर्शन। मै तो कहूँगा, इस दुर्ग में, आपकी आज्ञा के बिना राजा का आना अन्याय है।

ध्रुवस्वामिनी—मेरे वीर सहायकों ! मैं तो स्वयं एक परित्यक्ता और हतभागिनी स्त्री हूँ। मुझे तो अपनी स्थिति की कल्पना से भी क्षोभ हो रहा है। मैं क्या कहूँ ?

सामन्त-कुमार—मै सच कहता हूँ, रामगुप्त—जैसे राजपद को कलुषित करने वाले के लिए मेरे हृदय में तनिक भी श्रद्धा नही। विजय का उत्साह दिखाने यहाँ वे किस मुँह मे आएँ, जो हिंसक, पाखण्डी, क्षीव और क्लीव हैं।

रामगुप्त—(सहसा शिखरस्वामी के साथ प्रवेश करके) क्या कहा ? फिर से तो कहना !

सामन्त-कुमार—गुप्त-कुल के गौरव को कलंक-कालिमा के सागर में निमज्जित करनेवाले !

शिखरस्वामी—(उसे बीच ही में रोककर) चुप रहो ! क्या तुम लोग किसी के बहकाने से आवेश में आ गये हो ? (चन्द्रगुप्त की ओर देखकर) कुमार ! यह क्या हो रहा है ?

[चन्द्रगुप्त उत्तर देने की चेष्टा करके चुप रह जाता है]

रामगुप्त—दुर्विनीत, पाखण्डी, पामरो ! तुम्हें इस धृष्टता का क्रूर दण्ड भोगना पड़ेगा। (नेपथ्य की ओर देखकर) इन विद्रोहियों को बन्दी करो।

[रामगुप्त के सैनिक आकर सामन्त-कुमारों को बन्दी बनाते हैं। रामगुप्त का संकेत पाकर सैनिक लोग चन्द्रगुप्त की ओर भी बढ़ते हैं और चन्द्रगुप्त शृंखला में बँध जाता है]

ध्रुवस्वामिनी—कुमार ! मै कहती हूँ कि तुम प्रतिवाद करो। किस अपराध के लिए यह दण्ड ग्रहण कर रहे हो ?

[चन्द्रगुप्त एक दीर्घ निःश्वास लेकर चुप रह जाता है]

रामगुप्त—(हँसकर) कुचक्र करने वाले क्या बोलेंगे ?

ध्रुवस्वामिनी—और जो लोग बोल सकते हैं, जो अपनी पवित्रता की दुन्दुभी बजाते हैं, वे सबके-सब साधु होते है न ? (चन्द्रगुप्त से) कुमार ! तुम्हारी जिह्वा पर कोई बन्धन नही। कहते क्यों नही कि मेरा यही अपराध है कि मैंने कोई अपराध नही किया ?

रामगुप्त—महादेवी !

ध्रुवस्वामिनी—(उसे न सुनते हुए चन्द्रगुप्त से) झटक दो इन लोह-शृंखलाओं को ! यह मिथ्या ढोंग कोई नही सहेगा। तुम्हारा क्रुद्ध दुर्दैव भी नही।

रामगुप्त—(डाँट कर) महादेवी ! चुप रहो !

ध्रुवस्वामिनी—(तेजस्विता से) कौन महादेवी ! राजा, क्या अब भी मैं महादेवी ही हूँ ? जो शकराज की शय्या के लिए क्रीतदासी की तरह भेजी गयी हो, वह भी महादेवी ! आश्चर्य !

शिखरस्वामी—देवि, इस राजनीतिक चातुरी मे जो सफलता....।

ध्रुवस्वामिनी—(पैर पटक कर) चुप रहो ! प्रवञ्चना के पुतले ! स्वार्थ के घृणित प्रपंच ! चुप रहो !

रामगुप्त—तो तुम महादेवी नही हो न ?

ध्रुवस्वामिनी—नही। मनुष्य की दी हुई उपाधि मैं लौटा देती हूँ।

रामगुप्त—और मेरी सहधर्मिणी ?

ध्रुवस्वामिनी—धर्म ही इसका निर्णय करेगा।

रामगुप्त—ऐ, क्या इसमे भी सन्देह !

ध्रुवस्वामिनी—उसे अपने हृदय से पूछिए कि क्या मैं वास्तव मे सहधर्मिणी हूँ ?

[पुरोहित का प्रवेश / सामने सबको देखकर चौंक उठता है / शिखरस्वामी उसे चले जाने का संकेत करता है]

पुरोहित—नही, मैं नही जाऊँगा। प्राणि-मात्र के अन्तस्तल मे जाग्रत रहने वाले महान् विचारक धर्म की आज्ञा, मैं न टाल सकूँगा। अभी जो प्रश्न अपनी गम्भीरता मे भीषण होकर आप लोगो को विचलित कर रहा है, मैं ही उसका उत्तर देने का अधिकारी हूँ। विवाह का धर्मशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ध्रुवस्वामिनी—आप सत्यवादी ब्राह्मण हैं। कृपा करके बतलाइए....।

शिखरस्वामी—(विनय से उसे रोककर) मैं समझता हूँ कि यह विवाद अधिक बढ़ाने से कोई लाभ नही !

ध्रुवस्वामिनी—नही, मेरी इच्छा इस विवाद का अन्त करने की है। आज यह निर्णय हो जाना चाहिए कि मैं कौन हूँ।

रामगुप्त—ध्रुवस्वामिनी, निर्लज्जता की भी एक सीमा होती है।

ध्रुवस्वामिनी—मेरी निर्लज्जता का दायित्व क्लीव कापुरुष पर है। स्त्री की लज्जा लूटने वाले उस दस्यु के लिए मैं ...।

रामगुप्त—(रोक कर) चुप रहो ! तुम्हारा पर-पुरुष मे अनुरक्त हृदय अत्यन्त कलुषित हो गया है। तुम काल-सर्पिणी-सी स्त्री ! ओह, तुम्हे धर्म का तनिक भी भय नही। शिखर ! इसे भी बन्दी करो।

पुरोहित—ठहरिए ! महाराज, ठहरिए ! धर्म की ही बात मैं सोच रहा था।

शिखरस्वामी—(क्रोध से) मैं कहता हूँ कि तुम चुप न रहोगे, तो तुम्हारी भी यही दशा होगी।

[सैनिक आगे बढ़ता है]

मन्दाकिनी—(उसे रोक कर) महाराज, पुरुषार्थ का इतना बडा प्रहसन ! अबला पर ऐसा अत्याचार ! यह गुप्त-सम्राट् के लिए शोभा नही देता।

रामगुप्त—(सैनिक से) क्या देखते हो जो !

[सैनिक आगे बढ़ता है और चन्द्रगुप्त आवेश में आकर लौह-शृंखला तोड़ डालता है / सब आश्चर्य और भय से देखते हैं]

चन्द्रगुप्त—मैं भी आर्य समुद्रगुप्त का पुत्र हूं। और शिखरस्वामी, तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं ही उनके द्वारा निर्वाचित युवराज भी हूँ। तुम्हारी नीचता अब असह्य है। तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ। यहाँ अब मैं ही शकराज के समस्त अधिकारो का स्वामी हूँ।

रामगुप्त—(भयभीत होकर चारों ओर देखता हुआ) क्या ?

ध्रुवस्वामिनी—(चन्द्रगुप्त से) यही तो कुमार !

चन्द्रगुप्त—(सैनिकों से डपट कर) इन सामन्त-कुमारो को मुक्त करो !

[सैनिक वैसा ही करते हे और शिखरस्वामी के संकेत से रामगुप्त धीरे-धीरे भय से पीछे हटता हुआ बाहर चला जाता है]

शिखरस्वामी—कुमार ! इस कलह को मिटाने के लिए हम लोगो को परिषद् का निर्णय माननीय होना चाहिए। मुझे आपके आधिपत्य मे कोई विरोध नही है, किन्तु सब काम विधान के अनुकूल होना चाहिए। मैं कुल-वृद्धो को और सामन्तों को, जो यहाँ उपस्थित है, लिवा लाने जाता हू। (प्रस्थान)

[सैनिक लोग और भी मच ले आते हैं और सामन्त-कुमार अपने खड्गों को खींचकर चन्द्रगुप्त के पीछे खड़े हो जाते हैं / ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त परस्पर एक दूसरे को देखते हुए खड़े रहते हैं / परिषद् के साथ रामगुप्त का प्रवेश / सब लोग मंच पर बैठते हैं]

पुरोहित—कुमार ! आसन ग्रहण कीजिए।

चन्द्रगुप्त—मैं अभियुक्त हूँ।

शिखरस्वामी—बीती हुई बातों को भूल जाने में ही भलाई है। भाई-भाई की तरह गले से लग कर गुप्त-कुल का गौरव बढ़ाइए।

चन्द्रगुप्त—अमात्य, तुम गौरव किसको कहते हो ? वह है कहीं ? रोग-जर्जर शरीर पर अलंकारों की सजावट, मलिनता और कलुष की ढेरी पर बाहरी कुंकुम-केसर का लेप गौरव नहीं बढाता। कुटिलता की प्रतिमूर्ति, बोलो ! मेरी वाग्दत्ता पत्नी और पिता-द्वारा दिये हुए मेरे सिंहासन का अपहरण किसके संकेत से हुआ ? और छल से····।

रामगुप्त—यह उन्मत्त प्रलाप बन्द करो। चन्द्रगुप्त ! तुम मेरे भाई ही हो न ! मैं तुमको क्षमा करता हूँ।

चन्द्रगुप्त—मैं उसे माँगता नहीं और क्षमा देने का अधिकार भी तुम्हारा नहीं रहा। आज तुम राजा नहीं हो। तुम्हारे पाप प्रायश्चित्त की पुकार कर रहे है। न्यायपूर्ण निर्णय के लिए प्रतीक्षा करो और अभियुक्त बनकर अपने अपराधों को सुनो।

मन्दाकिनी—(**ध्रुवस्वामिनी को आगे खींच कर**) यह है गुप्तकुल की वधू।

रामगुप्त--मन्दा !

मन्दाकिनी--राजा भय, मन्दा का गला नहीं घोट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती, तो इस अपनी कुल-मर्यादा, नारी को, शत्रु के दुर्ग मे यों न भेजते। भगवान् ने स्त्रियो को उत्पन्न करके ही अधिकारो से वंचित नही किया है। किन्तु तुम लोगों की दस्यु-वृत्ति ने उन्हे लूटा है। इस परिषद् से मेरी प्रार्थना है कि आर्य समुद्रगुप्त का विधान तोड कर जिन लोगो ने राज-किल्बिष किया हो उन्हे दण्ड मिलना चाहिए।

शिखरस्वामी—तुम क्या कह रही हो ?

मन्दाकिनी—मैं तुम लोगों की नीचता की गाथा सुना रही हूँ। अनार्य ! सुन नही सकते ? तुम्हारी प्रवञ्चनाओं ने जिस नरक की सृष्टि की है उसका अन्त समीप है। यह साम्राज्य किसका है ? आर्य समुद्रगुप्त ने किसे युवराज बनाया था ? चन्द्रगुप्त को या इस क्लीव रामगुप्त को ? जिसने छल और बल से विवाह करके भी इस नारी को अन्य पुरुष की अनुरागिनी बताकर दण्ड देने के लिए आज्ञा दी है। वही, रामगुप्त, जिसने कापुरुषों की तरह इस स्त्री को शत्रु के दुर्ग मे बिना विरोध किये भेज दिया था, तुम्हारे गुप्त-साम्राज्य का सम्राट् है ! और यह ध्रुवस्वामिनी ! जिसे कुछ दिनों तक तुम लोगों ने महादेवी कह कर सम्बोधित किया है, वह क्या है ? कौन है ? और उसका कैसा अस्तित्व है ? कहीं धर्मशास्त्र हो तो उसका मुँह खुलना चाहिए।

पुरोहित—शिखर, मुझे अब भी बोलने दोगे या नहीं। मैं राज्य के सम्बन्ध में

कुछ नहीं कहना चाहता। वह तुम्हारी राजनीति जाने। किन्तु इस विवाह के सम्बन्ध में तो मुझे कुछ कहना ही चाहिए।

गुप्तकुल का एक वृद्ध—कहिए देव, आप ही तो धर्मशास्त्र के मुख हैं।

पुरोहित—विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नही सकते; परन्तु यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है। और भी (रामगुप्त को देखकर) यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं; पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नही।

रामगुप्त—(खड़ा होकर क्रोध से) मूर्ख ! तुमको मृत्यु का भय नहीं !

पुरोहित—तनिक भी नही। ब्राह्मण केवल धर्म से भयभीत है। अन्य किसी भी शक्ति को वह तुच्छ समझता है। तुम्हारे बधिक मुझे धार्मिक सत्य कहने से रोक नहीं सकते। उन्हें बुलाओ, मैं प्रस्तुत हूँ।

मन्दाकिनी—धन्य हो ब्रह्मदेव !

शिखरस्वामी—किन्तु निर्भीक पुरोहित, तुम क्लीब शब्द का प्रयोग कर रहे हो !

पुरोहित—(हँस कर) राजनीतिक दस्यु ! तुम शास्त्रार्थ न करो। क्लीव ! श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्लीव किस लिए कहा था ? जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नही, वह क्लीव नही तो और क्या है ? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्म-शास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।

परिषद् के सब लोग—अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त, गुप्तसाम्राज्य के पवित्र राज-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नही।

रामगुप्त—(सशंक और भयभीत-सा इधर-उधर देखकर) तुम सब पाखण्डी हो, विद्रोही हो। मैं अपने न्यायपूर्ण अधिकार को तुम्हारे-जैसे कुत्तों के भौंकने पर न छोड़ दूंगा।

शिखरस्वामी—किन्तु परिषद् का विचार तो मानना ही होगा।

रामगुप्त—(रोने के स्वर में) शिखर ! तुम भी ऐसा कहते हो ? नहीं, मैं यह न मानूंगा।

ध्रुवस्वामिनी—रामगुप्त ! तुम अभी इस दुर्ग के बाहर जाओ।

रामगुप्त—ऐं ! यह परिवर्तन ? तो मैं सचमुच क्लीव हूँ क्या ?

[रामगुप्त धीरे-धीरे हटता हुआ चन्द्रगुप्त के पीछे पहुँचकर कटार निकाल कर उसे मारना चाहता है / चन्द्रगुप्त को विपन्न देखकर कुछ लोग चिल्ला उठते हैं / जब तक चन्द्रगुप्त घूमता है तब तक एक सामन्त-कुमार रामगुप्त पर प्रहार करके चन्द्रगुप्त की रक्षा कर लेता है / रामगुप्त गिर पड़ता है]

सामन्त-कुमार - राजाधिराल चन्द्रगुप्त की जय !

परिषद्—महादेवी ध्रुवस्वामिनी की जय !

यवनिका

•

अग्निमित्र

प्रसाद वाङ्मय की यह अन्तिम और अपरिसमाप्त नाट्यकृति है जो इरावती उपन्यास में परिवर्त्तित हुई। इसके आरंभ में दृश्य संकेत और साढ़े आठ संवादों का क्षेपक लगाना परिस्थितिवशात् मेरे लिए अनिवार्य हो गया—इसके लिए पाठक मुझे क्षमा करें।

—रत्नशंकर प्रसाद

[उज्जयिनी में शिप्रा तट पर कुक्कुंटाराम का द्वार / एक भिक्षु सिर झुकाए टहल रहा है / एक उद्विग्न अश्वारोही सैनिक वेग से आकर उसके समीप रुकता है]

सैनिक—**(रोषपूर्वक)** क्या तुम्ही इस कुक्कुटाराम के स्थविर हो ?

भिक्षु—**(मन्द स्वर में)** शान्त हो उपासक । ऐसा अविनय क्यों ?

सैनिक –**(क्षोभ से)** शान्त ! मृत्यु-शीतल शून्यता की व्यवस्था देने वाले वाग्जाल की विज्ञप्ति बहुत हो चुकी । उत्तर दो तुम्ही स्थविर हो या अन्य कोई ?

भिक्षु- **(अन्तरिक्ष को देखते)** यह पिशंग सन्ध्या शून्य का ही विवर्त्त कर रही है । देखो ! न दिन है न रात, दिवापति का निर्वाण हो रहा है –मानो समग्र विश्व तथागत की पीली संघाटी मे आश्रय ले रहा है····

सैनिक—**(पैर पटकते)** बको मत ।

भिक्षु—धैर्य धरो, अनुद्विग्न हो जाओ, धर्म का पथ प्रशस्त है, सुआख्यात है । मैं तुम्हें आर्य सत्य बताकर शील मे प्रतिष्ठित करूँगा । आओ, यहाँ निर्वाण का····

सैनिक—निर्वाण ! मैं उसमे विश्वास नही करता वह भी शून्य है—असत् है—सबसे बडा अन्धकार है । तुम्हे उस दिवापति का निर्वाण दीख रहा है जो आगामी कल अपनी सम्पूर्ण प्रभा से उदित होने वाला है, तथागत की पीली संघाटी की छाया के बाद -आ रहा है निविड़ अन्धकार ! तुम्हारा वह निर्वाण ढूंढ़ लूंगा किसी दूसरे जन्म मे जब जीवन अपनी सार्थकता खो देगा । मालव पुनर्जन्मवादी है । •

भिक्षु --कदाचित् इस पवित्र कुक्कुटाराम के महास्थविर को तुम पूछ रहे थे····

सैनिक—**(व्यंगपूर्वक)** मेरा प्रश्न भी शून्य बन गया ? अभी कदाचित् लगा रखा है **(कुक्कुटाराम की ओर इंगित करते)**[1] इस नीहार भरे कुहर मे मनुष्य सामान्य जीवन को भी नही देख पाता । न जाने कब तुम्हारे इस कुक्कुटाराम की प्राचीर गिरेगी और उसमे बन्दिनी मानवता मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य करने के लिए स्वतन्त्र होगी ।

भिक्षु—**(घृणा से)** अनार्य ! तुम कितने पाप-मति हो ?

सैनिक—भिक्षु ! तुम्हारा पुण्य न जाने कब धोखे में पाप बन गया—हाँ, वह पुण्य था ! किन्तु अब मानवता को वह किधर ले जा रहा है, इस पर कभी

१ आरंभ से यहाँ तक क्षेपक है । (सं०)

विचार किया ? इस पवित्र मानव-जीवन की, इस चैतन्य ज्वाला की उपयोगिता क्या निर्वाण में बुझ जाने मे है ?

[भिक्षु हताश होकर उसकी ओर देखता चुप रह जाता है / भीतर घंटा की ध्वनि होती है और उसी द्वार से भिक्षुणियों का दल निकलता है / घंटा की ध्वनि बन्द हो जाती है और सजीव शोक-प्रवाह-सी भिक्षुणियों की पाँत, अभ्यास से विषादपूर्ण पाद विक्षेप करती हुई एक ओर चली जाती है / नेपथ्य में गीत]

सुख साधन में भूल न रे मन !
भव तृष्णा न मिटेगी तेरी
आशा दोला झूल न रे मन !
रूप, वेदना, क्षणिक रंग हैं
खिल-खिल कर यों फूल न रे मन !

[भिक्षु और सैनिक जैसे उन्हें न देखते हुए सविनय सिर झुका लेते हैं / सहसा सैनिक एक सुपरिचित मूर्त्ति देखकर जिधर भिक्षुणियों का दल नेपथ्य में चला जाता है उसी ओर देखने लगता है / आवेश से आगे बढ़ता हुआ]

सैनिक—**(ऊँचे स्वर से)** इरावती ! इरावती ! सुन लो, चली न जाओ।

भिक्षु- फिर वही अभिनय !

सैनिक—चुप रहो भिक्षु ? यह किस क्रूरकर्मा का विधान है ! जिसे ऊषा की उल्लसित लालिमा में विकसित होना चाहिए, उसे तुम—नहीं, तुम्हारे धर्म-दम्भ ने दिनान्त की सन्ध्या के पीलेपन में डूबते हुए—मुरझायी साँस लेने की आज्ञा दी है। इरावती. जिसको वसन्त की कोकिला की तरह मादक तान लेनी चाहिए वह चिर शोक संगीत-सी महाशून्य मे चली जा रही। तुम कहोगे कि इससे धर्म का प्रचार होता है। किन्तु....।

भिक्षु—युवक ! धर्म ही मानव हृदय मे शान्ति और उपशम का साधन है।

सैनिक—हृदयहीन धार्मिक ! शान्ति होगी कहाँ ? तुम्हारे क्षणिक विज्ञान के राज्य मे शान्ति ठहरेगी कहाँ ? तुम क्या जानो ? यौवन-काल के सम्पूर्ण समर्पण करने वाले हृदय में घोर दुःख और कष्ट में भी कितना विश्वास और कितनी शान्ति होती है। वह शान्ति तुम्हारी-जैसी मृतक-शान्ति नही। किन्तु मैं यह क्या कह रहा हूँ ? तुम उसे क्या समझोगे ? **(विनम्र होकर)** स्थविर ! क्षमा करो ! मैं अतिवादी हूँ। बताओ इरावती को संघ की मृत्यु-शीतल छाया मे किसने भेज दिया है ?

भिक्षु—**(हँसकर)** सम्राट् ने।

सैनिक -ओह ! सम्राट् ने ?

[भिक्षु नेपथ्य की ओर देखकर चुप रहने का संकेत करता है / उल्काधारी सैनिकों और परिचारिकाओं से घिरा हुआ शिविकारूढ़ सम्राट् का प्रवेश / युवक झुककर अभिवादन करता हुआ हट जाता है]

सम्राट्—**(भिक्षु को देखकर)** भन्ते! मैं वन्दना करता हूँ।

भिक्षु—कल्याण लाभ हो।

सम्राट्—संघ सकुशल है न? धर्म-चर्या मे कोई व्याघात तो नही?

भिक्षु—आपके यशस्वी शासन मे संघ सब प्रकार से सुखी होकर धर्माचरण कर रहा है।

सम्राट्—यह प्रसन्नता की बात है। मालूम होता है कि आप वायु सेवन करके लौट रहे है।

भिक्षु—नही, भिक्षणियो की मै प्रतीक्षा कर रहा हूँ। वे टहलकर आती ही होगी।

सम्राट्—अच्छा उन कुमारियो का क्या हुआ जिन्हे मैने सघ मे भिजवा दिया था। युवतियाँ खड्ग लिए एक ध्वज की परिक्रमा करे—यह मुझे अच्छा नही लगा। मैंने ठीक किया न?

भिक्षु—वह तो सम्राट् ने धर्मानुकूल ही किया। भूली हुई अधार्मिक क्रियाओ का पुनः प्रचार करने मे आपकी मालव सेना ने न जाने क्या गुप्त रहस्य रखा है?

सम्राट—**(जैसे सचेत होकर)** ठीक कहा आपने! इन्द्रध्वज का तो बहुत दिनो से नाम भी नही सुना गया था। उहँ, होगा कुछ।

भिक्षु—महाराज, मुझे तो बडा सन्देह है।

सम्राट्—**(भय से इन्द्रध्वज को देखता हुआ)** बलमित्र! कुमारामात्य सेनापति पुष्यमित्र को यही बुला लो।

[बलमित्र जाता है / सम्राट् के संकेत से शिविका रख दी जाती है]

सम्राट्—स्थविर! आप भी इस शिला खंड पर बैठ जायें मै सेनापति की प्रतीक्षा करूंगा।

[भिक्षु शिला खंड पर बैठ जाता है और भिक्षुणियों का दल उसी तरह लौटता है]

सम्राट्—**(कुतूहल से देखता हुआ)** सुन्दर! सघ ने बहुत-सी धार्मिक क्रियाओ मे रोचक परिवर्तन किये हैं।

भिक्षु—भगवान् तथागत ने समयानुकूल नियमो मे परिवर्तन करने की इसीलिए आज्ञा दी है। **(भिक्षुणियाँ समीप आती हैं)**

सम्राट्—आर्य, क्या ये सब इन्द्र-कुमारियाँ हैं?

भिक्षु— नही, इनमें केवल एक ही है। और सब तो संघ के कड़े नियमों का पालन करने में अस्वस्थ हो गयी हैं।

सम्राट्—जो स्त्रियाँ अवरोध के नियमों का न पालन करे उनके लिए संघ ही उत्तम आश्रय है।

इरावती —**(आगे बढ़ कर)** सम्राट् ! यह अन्याय है। मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध भिक्षुणी बना देना राजशक्ति का परिहास है।

सम्राट्—**(उसे सस्पृह देखता हुआ)** तुम अन्याय का नाम न लो।

[वेग से सैनिक का प्रवेश]

सैनिक- सम्राट् की जय हो ! अन्याय का नाम न लेने से वह छिप जाय, ऐसी बात नही। वह पीड़ित के प्रतिबिम्ब में भयकर मूर्त्तिमान होकर सबकी आँखों के सामने नाचता है।

सम्राट्—**(रोष से)** तुम कौन हो ? दुर्विनीत। वाचाल !

सैनिक—मालव सेना का एक नायक।

सैनिक—**(इरावती से)** इरे, तुम सम्राट् से अपने कुल मे लौटने की आज्ञा माँगो।

सम्राट्—नही, जो स्त्रियाँ अवरोध मे न रह सके, उनके लिए संघ ही उत्तम आश्रय है। नियमों का पालन करना राष्ट्र की प्रजा के लिए उतना ही आवश्यक है जितना श्वास-प्रश्वास लेना।

सैनिक—देव, जीवन के स्वतन्त्र विकास को रोकने वाले नियम राष्ट्र की उन्नति को भी रोकते है। भारतीय विचारको ने इसे अच्छी तरह समझा है। स्वर्गीय विश्व-विश्रुत महाराज धर्माशोक ने श्रमण और ब्राह्मण के धर्माचरण मे बाधा न डालते हुए जो साधारण संशोधन प्रचलित किये थे, उनका अब अतिक्रमण किया जा रहा है। मालवों ने राज सिंहासन की जिस निष्ठा के साथ सेवा की है, उसकी यो अवहेलना न होनी चाहिए। इस मालव कुमारी को संन्यास-बन्धन से मुक्त करने की आज्ञा दीजिए !

सम्राट्—**(सरोष)** धृष्ट युवक ! तू मुझे शिक्षा देना चाहता है ? **(भिक्षुणियों की ओर देख कर)** आर्य स्थविर ! इन्हे संघाराम मे जाने की अनुमति दीजिए। **(भिक्षु के संकेत करने पर भिक्षुणियाँ जाने लगती हैं)**

सैनिक—ठहरो इरा ! **(इरावती रुक जाती है)**

सम्राट्—ऐं ! **[सेनापति पुष्यमित्र और बलमित्र का प्रवेश]**

पुष्यमित्र — राजाधिराज की जय हो ! **(बलमित्र से कड़क कर)** इन दोनों युवक और युवती को बंदी करो, और शीघ्र यहाँ से ले जाओ।

[पुष्यमित्र के इस आकस्मिक आचरण से सम्राट् कुछ चकित और कुछ विमूढ़-सा हो जाता है / सैनिक और इरावती का बलमित्र के साथ प्रस्थान]

भिक्षु—देव ! संघ की सीमा मे आज यह पहला अवसर है कि एक भिक्षुणी बन्दिनी बनायी जाय। संघ-महास्थविर की आज्ञा ही यहाँ ऐसे विषयों में प्रधान होती रही।

सेनापति—(विनम्र होकर) आर्य ! मुझे तो यह नही मालूम था कि राज-शक्ति से ऊपर भी किसी की शक्ति माननीय है, चाहे वह संघ ही क्यों न हो।

सम्राट्—(कुछ प्रसन्न-सा होकर) आर्य ! इस विवाद को मैं स्वयं महास्थविर से जाकर समझ लूंगा। अभी तो जो सेनापति ने किया वही ठीक है।

सेनापति—मैं अनुगृहीत हुआ महाराज ! किन्तु मेरी पहले की प्रार्थना के अनुमार क्या इन्द्रध्वज महोत्सव को श्रीमान् न कृतार्थ करेंगे ? आज उत्सव का अन्तिम समारोह है। मालव सैनिक रात्रि की रणचर्या का कृत्रिम प्रदर्शन करेंगे।

सम्राट्—(विरक्त होकर सन्दिग्ध भाव से) मुझे तुम्हारा इन्द्रध्वज कुछ समझ मे नही आता। यह क्या उपद्रव है ?

पुष्यमित्र—देव, आर्य जाति के महावीर इन्द्र की पताका की पूजा राष्ट्र में शौर्य और तेज की वृद्धि के लिए आवश्यक है।

भिक्षु—सेनापति ! हिंमा को उत्तेजना देना धर्म-विरुद्ध है।

सम्राट्—(कुछ चंचल-सा होकर) सेनापति ! धार्मिक विधानों में हस्तक्षेप करने का तुम्हारा अभिप्राय तो नही होगा ?

सेनापति—कदापि नही महाराज ! आर्य स्थविर की यह अहिसा एक प्रतिक्रिया है। राष्ट्र मे जैसे नृशंसता स्पृहणीय नही वैसे ही कायरता भी अभीष्ट न होगी। उत्तर-पश्चिम मे यवन मिलिन्द तथा पूर्व-दक्षिण में जैन खारवेल अपने बल को बढ़ा रहे है। किसी भी क्षण मौर्य-साम्राज्य को निगल जाने के लिए ये दोनों शक्तियाँ अग्रसर हो सकती है।

सम्राट्—सेनापति ! हम लोग भविष्य की चिन्ता में प्रायः वर्तमान को भी नष्ट कर देते है। आक्रमण की वैमी सम्भावना नही जैमी आप सुना रहे हैं। तो भी मैं चाहता हूँ कि यह इन्द्रध्वज शीघ्र हटा दिया जाये।

पुष्यमित्र—(सिर झुकाकर) उत्तम होता कि सम्राट् अपनी आज्ञा पर फिर विचार करते। मालवों की दुर्द्धष वीर सेना....।

सम्राट्—दुर्द्धर्ष ! क्या कहते हो सेनापति ! मालवों का नाम मैं इतनी बार नही सुनना चाहता। मै विनीत और दुर्द्धर्ष दोनों का नियामक हूँ। मैं सम्राट् हूँ।

[पुष्यमित्र सिर झुका लेता है और भिक्षु के साथ सम्राट् सपरिवार खुले फाटक से भीतर जाता है]

पुष्यमित्र—इधर ? या उधर ? यह दुर्बल, धर्म के आडम्बर में महा-विलासी नाममात्र का सम्राट् ! क्षत्रिय दार्शनिक और संन्यासी भिक्षु हो रहे हैं। इसलिए ब्राह्मण पुष्यमित्र ने शस्त्र ग्रहण करके आज तक मगध राष्ट्र की रक्षा की है, किन्तु भीतर उपप्लव और बाहर से आक्रमण ! पुष्यमित्र ! अब तुम क्या करोगे ? और अग्निमित्र, जिसे मैं इतने दिनों तक बचाता रहा, आज उसकी भेंट सम्राट् से हो ही गयी। कैसी विचित्र परिस्थिति है ? उस उच्छृंखल युवक को मैं विदिशा से आने नहीं देता था। क्या करूँ ? **(व्यग्र होकर टहलने लगता है / नैष्ठिक ब्रह्मचारी के वेश में पतंजलि का प्रवेश)**

पुष्यमित्र—नमस्कार, इस समय आपकी मुझे अत्यन्त आवश्यकता थी।

पतंजलि—**(शिला खंड पर बैठते हुए)** मेरी आवश्यकता ? आश्चर्य !

पुष्यमित्र—मैं इस समय अत्यन्त उद्विग्न हूँ।

पतंजलि—**(सहज भाव से)** होना ही चाहिए। किन्तु इस जड़ता से आच्छन्न, निर्मम उदासीनता में किसी तरह की बौद्धिक उत्तेजना में पड़े हुए सेनापति को देखकर मुझे तो प्रसन्नता ही हो रही है।

पुष्यमित्र—मैं क्या करूँ ?

पतंजलि —यही तो संसार का सबसे बड़ा प्रश्न है—'मैं क्या करूँ' ? इस पर विचार और कर्म के पहले मनुष्य अपना शरीर, मन और वाणी शुद्ध कर ले।'[1] जो मन से कायर, शरीर से शिथिल होने पर भी वचन का वीर है, उससे कुछ नहीं होता। विश्व शक्ति-तरंग है। वह तरल अग्नि जो इसके अन्तरतम में द्रुत-वेग से चक्कर लगा रही है, विषाद के कलुष से पीड़ित अपने को कुछ न समझने वाले प्राणी के द्वारा अनुकरण करने की वस्तु नहीं।

पुष्यमित्र—आर्य ! तब क्या इस दुःखवाद, श्रद्धाहीन निराशा की ओर ले जाने-वाले अनात्मवाद के निर्वाण का अन्धकार अनन्त है ? आर्य जाति कहाँ जा रही है ? और....।

पतंजलि—जहाँ उसे जाना है, चिति-शक्ति अपने अभाव पक्ष की लीला देख रही है। तुम क्षात्रधर्मा ब्राह्मण अभी भी दुविधा में पड़े हो। जीवन का विकास इस दुःखपूर्ण बुद्धिवाद के बन्दीगृह में अवरुद्ध है। उसे आनन्द पथ पर ले चलने की क्षमता तुममें अन्तर्निहित है। दुःखवाद की निद्रा छोड़कर आनन्द की जागृति के लिए मानवता चंचल हो रही है। यह सब उसी के क्षुद्र उपसर्ग हैं, तुम, मंगलपूर्ण सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह के पंच-कृत्य करने में कुशल चिरानन्दमयी

---

१. भगवान् पतंजलि के लिए कहा है—'मनो वाक्काय दोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः'। वे शेष के अवतार कहे जाते हैं।

आत्मसत्ता में विश्वास करो। तुम्हारे कर्म विश्व के अनुकूल होंगे। वही करोगे जो होना चाहिए।

[पुष्यमित्र कुछ समय के लिए सिर झुकाकर प्रकृतिस्थ हो जाता है / पतञ्जलि का प्रस्थान / नेपथ्य से कोलाहल करते हुए मालव सैनिकों का प्रवेश / पुष्यमित्र चौंककर खड़ा हो जाता है]

पुष्यमित्र—क्या है ?

बलमित्र—आर्य ! इस अपमान का प्रतिशोध लिये बिना हम लोग शान्त नही होंगे। कुक्कुटाराम शान्त तपस्वी भिक्षुओं के निवास योग्य अब नही रहा। अब यह अपने नाम को सार्थक करेगा। और उसमें कुक्कुट ही रहेंगे।

पुष्यमित्र—तो क्या तुम लोग उपद्रव करने पर तुले हुए हो ?

एक मालव सैनिक—मालव कुल की वीर बालिकाएँ इस तरह पकड़ कर धर्म के नाम पर कारागार में बन्द कर दी जायँ और हम लोग देखते रहें। यह नहीं हो सकता।

दूसरा सैनिक—धर्म कहाँ है ? जनता को क्या वास्तव में संघ वही दे रहा है जो उससे आशा थी ?

तीसरा सैनिक—ठीक है सेनापति। मिठाई न मिले तो मीठी बात तो मिलनी ही चाहिए। हम पर अत्याचार भी हो और ऊपर से डाँट-फटकार।

पुष्यमित्र—**(रोष से)** मूर्खो ! सम्राट् भी इस समय संघाराम में ही हैं, लौट जाओ। मैं इसकी व्यवस्था कर दूँगा।

बलमित्र—आपकी व्यवस्था तो कुछ ही क्षण पहले मैंने देखी है। अभी-अभी आपने राज-शक्ति को प्रसन्न करने के लिए अन्यायपूर्वक अपने पुत्र को बन्दी करने की आज्ञा दी है।

तीसरा सैनिक—और राजशक्ति संघ को प्रसन्न करने में तत्पर है। कहा भी है कि 'संघे शक्तिः कलौ युगे'।

पुष्यमित्र—तुम अपनी परिहासप्रियता को रोको। **(बलमित्र से)** सुनते हो बलमित्र ! बृहद्रथ केवल सम्राट् ही नही, अपितु वह मेरी एकान्त राजनिष्ठा का प्रतिनिधि है। सुनो, यह पुष्यमित्र नहीं कह रहा है किन्तु सेनापति की आज्ञा है, मेरे प्रिय सैनिको, लौट जाओ।

बलमित्र—पूज्यपाद, आप मेरे पितृव्य हैं किन्तु सेनापति नही। जो सैनिक की मर्यादा सुरक्षित नही रख सका ऐसे सेनापति की अधीनता में सैनिक भी नहीं।

[नेपथ्य से—'महानायक अग्निमित्र की जय।' पुष्यमित्र चौंककर देखने लगता है / इरावती और कुछ सैनिकों के साथ अग्निमित्र का प्रवेश]

पुष्यमित्र—(**उन्मत्त भाव से**) तो क्या तुम सब विद्रोही हो ? नहीं, अग्निमित्र, तुमसे मुझे यह आशा न थी। तुमको बन्दीगृह में जाने की मैंने आज्ञा दी थी।

अग्निमित्र—तात, वह आज्ञा शिरोधार्य करके मैं बन्दीगृह तक गया।

पुष्यमित्र—तो फिर कैसे चला आया ?

अग्निमित्र—आपकी आज्ञा पालन करके मैं लौट आया।

पुष्यमित्र—(**उद्विग्न भाव से टहलता हुआ**) हूँ ऽ। (**फिर सहसा खड्ग खींच लेता है**) तो फिर आओ आज सेनापति और सैनिकों की शस्त्र-परीक्षा होगी। साम्राज्य का एक स्वामिभक्त पुरुष यहाँ उपस्थित था, इसे संसार जान ले।

बलमित्र—मालव की पवित्र कुमारियों के नाम पर, उनके उज्ज्वल सम्मान के नाम पर कुक्कुटाराम में जाने का पथ माँगता हूँ। प्रतिज्ञा करता हूँ कि मालव कुमारियों को लाने के अतिरिक्त संघाराम में और कुछ न करूँगा।

पुष्यमित्र—मेरे जीवित रहते यह नहीं हो सकता।

[पतंजलि का सहसा पुनः प्रवेश]

पतंजलि—वाणी का अपव्यय न करो। एक कदाचित् शब्द लगा लेने से क्या बुरा होता ? किन्तु यह क्या ? तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो ? सेनापति, तुम्हारा इन्द्रध्वज महोत्सव विघ्नसंकुल है। उत्सव के संरक्षक व्याकुल है। स्थविरों की मन्त्रणा से विमूढ़ होकर सम्राट् बृहद्रथ की कोई विकट आज्ञा उन्हे मिली है। मैं स्वस्त्ययन करने जाकर लौट आया। चलिए शीघ्र उधर चलिए।

[चिन्तित भाव से पुष्यमित्र का प्रस्थान]

बलमित्र—अग्निमित्र! अब क्या देख रहे हो ?

[मालव सैनिकों का संघाराम के द्वार में प्रवेश]

इरावती—अब क्या होगा ?

पतंजलि—वही जो होनेवाला है।

इरावती—आचार्य, क्या होनेवाला है ? मै तो हतबुद्धि-सी हो रही हूँ।

पतंजलि—क्षत्रिये ! यह मनुष्य की तर्क-बुद्धि की प्रतिक्रिया है। सहस्रों वर्ष की दार्शनिकता ने अपना अतिवादी स्वरूप प्रकट किया है। आज हम लोग दर्शन का सृष्टि से सामंजस्य करना भूलकर बौद्धिक मोह मे पड़े हुए है। हममें सब कर्मों को भस्म करनेवाली अग्नि-ज्वाला, आत्मा की आहुति समझकर सबको ग्रहण करनेवाली शक्ति का ह्रास हो रहा है। चिरकाल से ब्राह्मणों ने विरोध में क्षत्रियों ने जिस दार्शनिकता की सृष्टि की है उसी का यह परिणाम है कि एक वीर बालिका उपद्रव की आशंका से घबराकर पूछती है कि अब क्या होगा ? आर्य चाणक्य ने शूद्रप्राय भारतवर्ष में जिस क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा की थी वह अनात्मवाद के चक्कर में छिन्न-

भिन्न हो रहा है, अब ब्राह्मण को ही समतोलन के लिए क्षत्रिय बनना पड़ेगा। यह उसी का समारम्भ है।

इरावती—तो क्या विप्लव होगा ?

पतंजलि--(हँसकर) विप्लव ? नही ! संशोधन होगा। महाशक्ति की सृष्टि—महायज्ञ है। इसकी आहुतियाँ बन्द कर दी गयी है। मन, वाणी और शरीर से इसीलिए आर्य लोग अपवित्र हो गये है। आत्म-केन्द्र के अभाव मे कर्मो की प्रतिष्ठा नही रही। इसलिए अब फिर से यज्ञ का आरम्भ हो रही है।[1]

[कुक्कुटाराम के द्वार से मालव सैनिकों के साथ इन्द्र कुमारियाँ आती हैं]

अग्निमित्र--(**पतंजलि से**) आचार्य, हम लोग किधर चले ?

पतंजलि—(**इन्द्रध्वज की ओर हाथ उठाकर**) इन्द्रध्वज के नीचे।

दृ श्या न्त र

[मालवों के साथ पतञ्जलि आकर इन्द्रध्वज की वन्दना करते हैं / विस्तृत भूमिका में इन्द्रध्वज, जिसके चारों ओर खड्ग लिए आठ कुमारियाँ गाती हुई घूमती हैं]

अग्निमित्र —आचार्य ! अब क्या आज्ञा है ?

पतंजलि—आज्ञा न पूछो। यज्ञ का आरम्भ है। जिस दृढता के साथ तुम लोगों ने अब तक इसकी रक्षा की है उससे विचलित न हो। जो कुछ करना है वह धीरे-धीरे नही, बडी तीव्र गति से मेघ-ज्योति की तरह स्वय उपस्थित होकर तुम से कर्त्तव्य करा लेगा।

एक मालव– यह तो बात समझ मे नही आती। बुद्धि से जिसका आदि और अन्त न समझा गया हो उस कर्म को करने के लिए कौन प्रस्तुत होगा ?

पतंजलि—तुम पक्के बुद्धिवादी हो। मालूम होता है कि तुमने जन्म लेने से पहले भी भली भाँति सोच विचार लिया था।

एक मालव —आर्य ! ऐसा तो नही, फिर भी जब हम सोचने-विचारने के योग्य हो जायँ तब अविचार से चलना क्या ठीक होगा ?

पतंजलि —तुम्हारी ज्ञान-श्लाघा नयी नही है। विचार करने पर भी तुम आज तक की घटनाओं को नियति का सुनिश्चित कर्म नही समझ रहे हो। अभी हृदय के यौवन से, आनन्द से जिस सीमा तक बढ आये हो वह कदाचित् बुद्धि क्षेत्र से दूर है। सम्राट् की आज्ञा भंग करके जो बीज तुमने आरोपित किया है, वह शीघ्र ही फलीभूत होगा।

---

१ पतंजलि के आचार्यत्व मे पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किए थे। मालविकाग्निमित्र नाटक और पातंजल महाभाष्य तथा अयोध्या के धनदेव-स्तंभ की पंक्ति 'कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य····' इस प्रसंग मे अवलोक्य हैं। (सं०)